Naatak Evam Kathetar Gadya

DHIN503

LOVELY
PROFESSIONAL
UNIVERSITY

नाटक एवं कथेतर गद्य

NATAK EVAM KATHETAR GADYA

Copyright © 2012
All rights reserved with publishers

Produced & Printed by
USI PUBLICATIONS
2/31, Nehru Enclave, Kalkaji Extn.,
New Delhi-110019
for
Lovely Professional University
Phagwara

पाठ्यक्रम (SYLLABUS)

नाटक एवं कथेतर गद्य

उद्देश्यः

1. विद्यार्थियों को गद्य विधाओं से परिचित करवाना।
2. विद्यार्थियों में कल्पना शक्ति का विकास करना।
3. विद्यार्थियों को गद्यकारों के साहित्य में योगदान से परिचित करवाना।
4. विद्यार्थियों को गद्य विधाओं की समीक्षा करने के योग्य बनाना।

Sr. No.	Content
1	भारतेंदु हरिश्चंद्र की लेखन कुशलता। अँधेर नगरी का सारांश, मुख्य उद्देश्य, प्रमुख गद्यांशों की सप्रसंग व्याख्या, प्रमुख पात्रों का चरित्र-चित्रण, भाषा शैली एवं संवाद योजना।
2	चंद्रगुप्त का सारांश एवं मुख्य उद्देश्य, प्रमुख गद्यांशों की सप्रसंग व्याख्या, प्रमुख पात्रों का चरित्र चित्रण, भाषा शैली एवं संवाद योजना, तात्विक समीक्षा।
3	मोहन राकेश की लेखन कुशलता, आधे अधूरे की कथा वस्तु एवं मुख्य उद्देश्य, प्रमुख गद्यांशों की सप्रसंग व्याख्या, प्रमुख पात्रों का चरित्र चित्रण, भाषा शैली एवं संवाद योजना, तात्विक समीक्षा।
4	महादेवी वर्मा की लेखन कुशलता, अतीत के चलचित्र ः कथावस्तु एवं मुख्य उद्देश्य, प्रमुख गद्यांशों की सप्रसंग व्याख्या, प्रमुख पात्रों का चरित्र चित्रण, भाषा शैली एवं संवाद योजना, तात्विक समीक्षा।
5	धर्मवीर भारती- व्यक्तित्व एवं कृतित्व।
6	अंधायुग - कथासार एवं महत्वपूर्ण अंशों की सप्रसंग व्याख्या, प्रमुख पात्रों का चरित्र चित्रण, अभिनेयता एवं रंगमंचीयता।
7	अपने-अपने अजनबी - कथासार एवं महत्वपूर्ण अंशों की सप्रसंग व्याख्या,प्रमुख पात्रों का चरित्र चित्रण, भाषा शैली, तात्विक समीक्षा।
8	मोहन राकेश की लेखन कुशलता, आषाण का एक दिन की कथा वस्तु एवं मुख्य उद्देश्य, प्रमुख गद्यांशों की सप्रसंग व्याख्या, प्रमुख पात्रों का चरित्र चित्रण, भाषा शैली एवं संवाद योजना, तात्विक समीक्षा।
9	अज्ञेय की लेखन कुशलता, स्मृति लेखा ः कथा वस्तु एवं मुख्य उद्देश्य, प्रमुख गद्यांशों की सप्रसंग व्याख्या।
10	प्रमुख पात्रों का चरित्र चित्रण, भाषा शैली एवं संवाद योजना, तात्विक समीक्षा।

अनुक्रमणिका (Contents)

इकाई 1:	अंधेर नगरी: कथासार एवं महत्त्वपूर्ण अंशों की सप्रसंग व्याख्या	1
इकाई 2:	अन्धेर नगरी: पात्र परिकल्पना एवं चरित्र-चित्रण	11
इकाई 3:	अंधेर नगरी: भाषा-शैली एवं संवाद योजना	15
इकाई 4:	भारतेंदु की नाट्य कला	21
इकाई 5:	चंद्रगुप्त: कथासार एवं महत्त्वपूर्ण अंशों की सप्रसंग व्याख्या	28
इकाई 6:	चंद्रगुप्त: प्रमुख पात्रों का चरित्र-चित्रण	65
इकाई 7:	चंद्रगुप्त: भाषा-शैली एवं संवाद-योजना	81
इकाई 8:.	चंद्रगुप्त: तात्त्विक समीक्षा	90
इकाई 9:.	आधे-अधूरे: कथासार एवं महत्त्वपूर्ण अंशों की सप्रसंग व्याख्या	99
इकाई 10:	आधे-अधूरे: प्रमुख पात्रों का चरित्र-चित्रण	122
इकाई 11:	आधे-अधूरे: भाषा-शैली एवं संवाद योजना	134
इकाई 12:	आधे-अधूरे: तात्त्विक समीक्षा	146
इकाई 13:	अतीत के चलचित्र: प्रमुख रेखाचित्रों का सारांश एवं सप्रसंग व्याख्या	153
इकाई 14:	अतीत के चलचित्र: प्रमुख पात्रों का चरित्र-चित्रण	173
इकाई 15:	अतीत के चलचित्र: भाषा वैशिष्ट्य	184
इकाई 16:	अतीत के चलचित्र: प्रमुख रेखाचित्रों की तात्त्विक समीक्षा	192
इकाई 17:	अंधायुग– कथासार एवं महत्त्वपूर्ण अंशों की सप्रसंग व्याख्या	201
इकाई 18:	धर्मवीर भारती–व्यक्तित्व एवं कृतित्व, अंधायुग की काव्यगत विशेषताएँ	233
इकाई 19:	अंधायुग– प्रमुख पात्रों का चरित्र चित्रण	244
इकाई 20:	अंधायुग–अभिनेयता एवं रंगमंचीयता	256
इकाई 21:	अपने-अपने अजनबी– कथासार एवं महत्त्वपूर्ण अंशों की सप्रसंग व्याख्या	264
इकाई 22:	अपने-अपने अजनबी-प्रमुख पात्रों का चरित्र-चित्रण	285
इकाई 23:	अपने-अपने अजनबी–भाषा शैली	296
इकाई 24:	अपने-अपने अजनबी– तात्त्विक समीक्षा	306
इकाई 25:	आषाढ़ का एक दिन: कथासार एवं प्रमुख गद्यांशों की सप्रसंग व्याख्या	314
इकाई 26:	आषाढ़ का एक दिन: प्रमुख पात्रों का चरित्र-चित्रण	330
इकाई 27:	आषाढ़ का एक दिन: भाषा-शैली एवं संवाद योजना	346
इकाई 28:.	आषाढ़ का एक दिन: तात्त्विक समीक्षा	354

नोट

इकाई 1: अंधेर नगरी: कथासार एवं महत्त्वपूर्ण अंशों की सप्रसंग व्याख्या

अनुक्रमणिका

उद्देश्य

प्रस्तावना

1.1 अंधेर नगरी– कथासार

1.2 अंधेर नगरी– सप्रसंग व्याख्या

1.3 शब्दकोश

1.4 अभ्यास-प्रश्न

1.5 संदर्भ पुस्तकें

उद्देश्य

विद्यार्थी इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् सक्षम होंगे–

- भारतेंदु द्वारा रचित प्रहसन 'अंधेर नगरी' की कथा से परिचित होंगे।
- अंधेर नगरी प्रह्सन के महत्त्वपूर्ण अंशों की व्याख्या करने में सक्षम होंगे।

प्रस्तावना

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने कुल मिलाकर अट्ठारह नाटकों की रचना की है। इनमें से 'प्रवास नाटक' अपूर्ण है। शेष सत्रह नाटकों में से दस मौलिक नाटक हैं और सात अनूदित। उनके मौलिक नाटकों को चार उपवर्गों में विभाजित किया जा सकता है। (1) पौराणिक नाटक (2) ऐतिहासिक नाटक (3) सामाजिक राजनीतिक नाटक जिनमें युग-बोध पर आग्रह है तथा (4) प्रहसन। अंधेर नगरी नाट्यशिल्प की दृष्टि से प्रहसन है और कथ्य की दृष्टि से सामाजिक-राजनीतिक नाटक जिसके द्वारा लेखक ने देश और समाज की दुर्दशा और अव्यवस्था की झांकी प्रस्तुत कर पाठकों-दर्शकों में नई चेतना जगाने का महति प्रयास किया है। सन् 1989 में लिखे गये इस नटक में छोटे-छोटे छः दृश्य हैं और कहा जाता है कि भारतेन्दु ने एक ही रात में बिहार के किसी राजा के कुशासन और उसके रजवाड़े में प्रजा की दुर्दशा पर व्यंग्य का कठोर प्रहार करने तथा साथ ही अप्रत्यक्ष रूप से अंग्रेजी शासन-व्यवस्था, आर्थिक शोषण और न्याय-व्यवस्था की कटु आलोचना करने के लिए इसकी रचना की थी। अंधेर नगरी का मूर्ख, विवेकहीन शराबी राजा वस्तुतः उन रजवाड़ों के आधिपतियों का प्रतिनिधि है जो भारत की विभिन्न रियासतों में ऐश्वर्य-विलास का जीवन बिता रहे थे और अपने लिए सुख-सुविधाएँ जुटाने के लिए निरीह प्रजा का शोषण कर रहे थे, इनकी रियासतों में सर्वत्र कुव्यवस्था थी, न्याय के नाम पर अन्याय होता था, अच्छे-बुरे, अपराधी-निरपराध, पण्डित-गंवार की परख नहीं थी, सबको एक लाठी से हाँका जाता था। इस प्रहसन में लोभ, लालच और विवेकहीनता के दुष्परिणाम दिखाकर–गोवर्धनदास को वध-स्थल तक पहुँचा कर बहुत-सी उन बुराइयों की ओर भी संकेत किया गया है जो उस समय समाज में व्याप्त थीं।

सामान्य लोकोक्ति है 'अन्धेर नगरी चौपट्ट राजा, टके सेर भाजी टके सेर खाजा।' भारतेन्दु ने इस सामान्य लोकोक्ति को अपनी प्रतिभा से व्यंग्यात्मक, सार्वजनिक और सृजनात्मक अर्थ प्रदान किया है।

नोट

1.1 अंधेर नगरी– कथासार

इस नाटक का कथानक एक दृष्टांत की तरह है और उसका संक्षिप्त सार इस प्रकार है–

एक महन्त अपने दो चेलों–गोवर्धनदास और नारायणदास के साथ भजन गाते हुए एक भव्य और सुन्दर नगर में आता है। महन्त अपने दोनों चेलों को भिक्षाटन के लिए नगर में भेजता है–एक को पूर्व दिशा में दूसरे को पश्चिम दिशा में। गोवर्धनदास जब आश्वासन देता है कि लोग मालदार हैं और वह पर्याप्त भिक्षा लेकर लौटेगा तो महन्त उपदेश देता है कि अधिक लोभ नहीं करना चाहिए–

लोभ पाप को मूल है, लोभ मिटावत मान।
लोभ कभी नहीं कीजिए, या मैं नरक निदान।।

अगला दृश्य बाजार का है। यहाँ सब तरह का माल बेचने वाले दुकानदार हैं– चने जोर गरम बेचने वाला घासीराम है, साग-भाजी-फल बेचने वाली कुँजड़िन है, तरह-तरह की मिठाइयाँ बेचने वाला हलवाई है, कबाब बेचने वाला है, मेवा बेचने वाला अफगान है, चूरन बेचने वाला है, मछली बेचने वाली है और परचून की दुकान करने वाला बनिया भी। प्रत्येक दुकानदार अपने-अपने सामान को आवाज लगाकर अपने व्यवसाय के विशिष्ट लहजे में बेच रहा है। इस दृश्य का इस नाटक में बड़ा महत्त्व है। प्रथम तो इसमें सारा देश समाया है, यहां की संस्कृति-सभ्यता की झलक मिलती है और दूसरी ओर देश की तत्कालीन शासन-व्यवस्था पर, आर्थिक शोषण एवं अंधी-नीतियों पर प्रहार है। यहाँ हर चीज का एक भाव है, हर चीज टके सेर मिलती है, भाजी और खाजा (मिठाई) सबका एक दाम है। बंगाली, जुलाहा,, बीबी गफूरन, अफगान, मन्दिर का भितरिया, वेश्या, रिश्वत लेने वाले सरकारी कर्मचारी, नाटककार, महाजन बनिये व्यापारी, एडिटर, अंग्रेज शासक, पुलिस कर्मी-लंपट युवक, टके के लिए सब कुछ बेचने वाले पण्डित-पुरोहित– सबकी झांकी दी गई है और बड़ी कुशलता से उनकी दुर्बलताओं पर प्रकाश डाला गया है। अंग्रेजों पर व्यंग्य ऐसी मीठी छुरी से किया गया है कि प्रशासन चाहते हुए भी लेखक का कुछ नहीं बिगाड़ सकता क्योंकि वह घासीराम तथा चूरन बेचने वाले के गानों का हिस्सा होकर आया है–

चना हाकिम सब जो खाते । सब पर दूना टिकस लगाते।
या
चुरन जब से हिन्द में आया। इसका धन बल सभी घटाया।
चूरन अमले सब जो खावे। दूनी रिश्वत तुरत पचावै।
चूरन साहब लोग जो खाता। सारा हिन्द हजम कर जाता।
चूरन पुलिस वाले खाते। सब कानून हजम कर जाते।

इसी प्रकार ब्राह्मण पोंगा पण्डितों की खबर ली गई है–टके के वास्ते जैसी कहो वैसी व्यवस्था दे दें। टके के वास्ते झूठ को सच करें....टके के वास्ते धर्म और प्रतिष्ठा दोनों बेचें, टके के वास्ते झूठी गवाही दें।

गोवर्धन नगर में प्रवेश कर देखता है कि यहाँ पर हर चीज टके सेर बिक रही है। वह आश्चर्यचकित रह जाता है और उत्सुकतावश नगर और वहाँ के राजा का नाम पूछता है। हलवाई बताता है कि राजा का नाम 'चैपट राजा' तथा नगर का 'अंधेर नगरी' है। उसे लगता है कि यहाँ तो बड़ा आनन्द है अत: भिक्षा में प्राप्त सात पैसों से ढेर सारी मिठाई खरीदता है, भर पेट खाता है और शेष लेकर नाचता-गाता जंगल में पहुँच जाता है। वहाँ पहुँच कर वह गुरू जी को सारी बात बताता है और उनसे भी उसी नगरी में रहने का आग्रह करता है। महन्त जी उसे समझाते हैं कि ऐसी नगरी में रहना उचित नहीं है जहाँ सभी माल एक दाम पर बिकता हो।

सेत सेत सब एक से जहाँ कपूर कपास।
ऐसे देसा कुदेसा में, कबहुं न कीजै वास।।
कोकिल बायस एक सम, पण्डित मूरख एक।

नोट

इन्द्रायन दाड़िम विषय, जहाँ न नेकु विवेकु।।
बसिये ऐसे देश नहि, कनक वृष्टि जो होय।
रहिए तो दु:ख पाइये, प्रान दीजिए रोय।।

पर गोवर्धनदास लोभ-मोह वश वहीं रहने की जिद करता है, अत: महन्त जी उसे वहाँ छोड़कर चले जाते हैं।

चौथा दृश्य राज-दरबार का है जहाँ पतिक में पड़ा मूर्ख, शराबी , डरपोक, कायर, फूहड़ राजा है, खुशामदी चाटुकार मंत्री है, शराब पिलाने वाला सेवक है। तभी एक फरियादी करियाद लेकर उपस्थित होता है कि उसकी बकरी कल्लू बनिये की दीवार के गिरने से मर गई है, उसका न्याय होना चाहिए, अपराधी को दंड तथा उसे बकरी के मरने के कारण मुआवजा मिलना चाहिए। राजा की मूर्खता के कारण अपराधी का ठीक-ठीक पता लगाने के लिए अनेक व्यक्तियों को अपराधी मानकर दरबार में हाजिर किया जाता है। बनिया, कारीगर, चूना बनाने वाला, भिश्ती, कसाई, गड़रिया और कोतवाल एक के बाद एक उपस्थित किए जाते हैं सभी एक-दूसरे पर दोष थोप कर स्वयं को निर्दोष सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। अन्त में राजा की मूर्खता के कारण बकरी की हत्या के अपराध के लिए कोतवाल को फांसी की सजा देकर दरबार को बर्खास्त कर दिया जाता है। फरियाद की फर्याद पूरी नहीं होती, उसे बकरी के बदले मुआवजा नहीं मिलता।

टास्क प्रहसन से क्या तात्पर्य है।

पांचवाँ दृश्य जंगल का है। गोवर्धनदास मिठाई खा-खाकर मोटा हो गया है और बड़े आनन्द से सोने, खाने और गाने में अपना समय बिताता है। दृश्य के आरम्भ में ही वह अपना हर्षोल्लास गीत के माध्यम से प्रकट करता है। पर यह गीत सामान्य गीत नहीं है जिसकी योजना केवल दर्शकों का मनोरंजन करने के लिए की गई हो। इस गीत के द्वारा भी लेखक तत्कालीन समाज में व्याप्त कुरीतियों, अव्यवस्था और नैतिक पतन की ओर इशारा करता है–वहाँ नीच-ऊँच में, पंडित-मूर्ख में, वेश्या-गृहलक्ष्मी में सत्यवादी और झूठों में कोई अन्तर नहीं रह गया है, इतना ही नहीं यहाँ सत्यवादी, पण्डित, चरित्रवान लोग मारे-मारे फिरते हैं और धूर्त, कपटी, प्रपंची मजे करते हैं, लोगों में आडम्बर और दिखावा है, कथनी-करनी में अन्तर है। राजा को विदेश में रहने वाला, विधर्मी तथा अन्यायी बताकर लेखक ने अंग्रेजों की ओर ही इशारा किया है। गोवर्धनदास को मिठाई खा-खाकर मोटा तथा चैन की नींद सोते तथा यह कहते दिखाकर, "माना कि देश बहुत बुरा है, पर अपना क्या? अपने किसी राज-काज में थोड़े हैं कि कुछ डर है।" साधु-महात्माओं, पण्डे-पुजारियों की अकर्मण्यता एवं देश के प्रति उदासीनता का पर्दाफाश किया है और इस प्रकार समाज को उसने सचेत रहने का संकेत दिया है। कोतवाल को फांसी की सजा तो सुना दी गई पर जब सिपाही उसके पास गए तो देखा कि फांसी की रस्सी का फन्दा बड़ा है और कोतवाल की गर्दन पतली अत: उसे फांसी नहीं दी जा सकती। जब राजा को इस बात की सूचना दी गई है तो कोतवाल को मुक्त करने और उसके स्थान पर किसी ऐसे व्यक्ति को फांसी देने का आदेश देता है जिसकी गर्दन फन्दे के लायक हो। अत: कोतवाल के स्थान पर मोटे आदमी की तलाश होती है और सिपाही गोवर्धनदस को पकड़ कर ले जाते हैं। वह बहुत दुहाई देता है, गिड़गिड़ाता है, स्वयं को निरपराध बताता है पर सिपाही यह कहकर कि वे तो हुक्मी बन्दे हैं, वही करेंगे जो राजा का हुक्म है, उसकी एक नहीं सुनते। लेखक ने एक सिपाही के मुख से यह कहलवाकर कि "नगर भर में राजा के न्याय के डर से कोई मुटाता ही नहीं ..... फिर इस राज में साधु महात्मा इन्हीं लोगों की दुर्दशा है।" समाज में व्याप्त विकृति और न्याय व्यवस्था पर कटाक्ष किया है।

अन्तिम दृश्य में फांसी के तख्ते की ओर ले जाए जाते समय गोवर्धनदास रोता है, गिड़गिड़ाता है,, दया की भीख मांगता है पर कुछ नहीं होता तो अपने गुरु का स्मरण करता है,! कहाँ हैं? बचाओ– गुरु जी–गुरु जी....." गुरु

नोट

प्रकट होते हैं और गोवर्धन के कान में मंत्र फूँकते हैं। वह मंत्र यह है कि जो इस साइत (शुभ घड़ी) में मरेगा, वह सीधा स्वर्ग में जाएगा। यह सुनकर सबमें प्रतियोगिता होने लगती है कि हम फांसी पर चढ़ेंगे। अन्ततः राजा। कहता है कि, "चुप रहो सब लोग। राजा के होते और कौन बैकुंठ जा सकता है। हमको फांसी चढ़ाओ।" और राजा के आदेश के अनुसार उसे ही फांसी के तख्ते पर खड़ा कर दिया जाता है।

महंत जी की उक्ति बड़ी सटीक है–

जहाँ न धर्म्म न बुद्धि नाह, नीति न सुजान समाज।
ते ऐसहिं आपुहिं नसे, जैसे चौपटराज।

और इसी के साथ यह नाटक समाप्त होता है।

स्व-मूल्यांकन

सही विकल्प चुनिए–

1. अंधेर नगरी एक–
   (क) नटक है (ख) प्रहसन है (ग) गीति नाट्य है
2. 'मानहुँ राजा रहत विदेसा' कहर व्यंग्य किया गया है–
   (क) अंग्रेजी शासन पर (ख) भारतीयों के आलस्य पर (ग) मुगल शासक पर
3. 'टके सेर भाजी, टके सेर ख्वाजा' का व्यंग्यार्थ है–
   (क) अंग्रेज और भारतीय एक हैं (ख) ऊँच नीच सब एक हैं
   (ग) सभी वस्तुओं का मूल्य बराबर है।
4. 'अंधेर नगरी' प्रहसन का रचना काल है–
   (क) मुगलकाल (ख) अंग्रेजी शासन (ग) गाँधी का युग

1.2 अंधेर नगरी सप्रसंग व्याख्या

राम के नाम से काम बनै सब,
राम के भाजन बिनु सबहिं नसाई।।
राम के नाम से दोनों नयन बिनु
सूरदास भए कबिकुलराई।
राम के नाम से घास जंगल की,
तुलसी दास भए भजि रघुराई।।

शब्दार्थ– दोनों नयन बिनु=जिनके दोनों नेत्रों की ज्योति लुप्त हो गयी थी, पूर्णतः अन्धे, महाकवि सूरदास। **कविकुल राई**=कवि-समुदाय में श्रेष्ठ। **घास जंगल की**=तुलसी का बिरबा, पौधा। गोस्वामी तुलसीदास का नाम तुलसी था। **भजि**=भजन कर, भक्ति-आराधना के द्वारा।

सन्दर्भ– यह पद्यांश भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कृत 'अंधेरी नगरी' नामक प्रहसन से अवतरित है। नाटक के आरम्भ में ही महन्त जी अपने दो चेलों–गोवर्धनदास तथा नारायण दास के साथ भजन गाते हुए आते हैं। ये पंक्तियाँ उसी भजन की अन्तिम पंक्तियाँ हैं जिनमें भगवद्भक्ति का गुणगान किया गया है।

व्याख्या– राम नाम की महिमा अपार है भगवान का भजन करने, उनकी आराधना-उपासना से तुच्छ व्यक्ति भी महान बन जाता है, गुणहीन भी गुणवान बन जाता है, पापी भी स्वर्ग प्राप्त कर लेता है। दृष्टान्त देते हुए कवि

नोट

कहता है–सूरदास जन्मान्ध थे। अन्धे होने के कारण न पढ़े-लिखे थे और न उन्होंने संसार को देखा था फिर भी भक्त होने के कारण भगवान की अनुकम्पा से उन्होंने ऐसा सरस, मधुर तथा पाठकों का मन मोहने वाला, विद्वानों को चकित करने वाला काव्य लिखा कि वह महाकवि सूरदास कहलाए और आज हिन्दी साहित्य के इतिहस में उनका नाम स्वर्णाक्षरों में लिखा जाता है। इसी प्रकार आरम्भ में तुलसीदास माया-मोह में फंसे कामासक्त साधारण पुरुष थे परंतु पत्नी के द्वारा फटकारे जाने पर जब उनका चित्त सांसारिकता से हटकर भगवान के चरणों में लीन हो गया और वह राम-भक्ति में पूर्णत: तन्मय हो गये तो संसार उन्हें महाकवि गोस्वामी तुलसीदास कहने लगा क्योंकि उन्होंने राम की भक्ति करते हुए राम सम्बन्धी अनेक काव्य लिखे। अत: स्पष्ट है कि सामान्य व्यक्ति भी यदि भगवान का भजन करने से महान् हो जाता है।

विशेष– 1. पहली पंक्ति में राम का अर्थात् भगवान है क्योंकि सूरदास कृष्ण-भक्त थे।

2. सूरदास ने स्वयं अपने एक पद में भगवान की भक्ति का गुणगान करते हुए लिखा है–तुम्हारी कृपा पंगु गिरि लंघै– अर्थात् लंगड़ा व्यक्ति भी भगवान की कृपा से पर्वत पार कर सकता है।

3. नाटक के पद्यांशों में ब्रज भाषा का प्रयोग किया गया है।

लोभ पाप को मूल है, लोभ मिटावत मान।
लोभ कभी नहीं कीजिए, यामैं नरक निदान।।

शब्दार्थ– मूल=जड़, मूल कारण। **मान**=मान-मर्यादा, प्रतिष्ठा, सम्मान। **या मैं**=इसके कारण। **निदान**=अन्त।

प्रसंग– यह दोहा भारतेन्दु कृत 'अन्धेर नगरी' नामक नाटक से उद्धृत किया गया है। अंधेर नगरी के वैभव और चमक-दमक को देख गोवर्धनदास को आशा बंधती है कि यहाँ के लोग सम्पन्न हैं अत: भिक्षा भी खुले हाथों देंगे अत: वह अपने गुरुजी को आश्वस्त करता है कि वह बहुत-सी भिक्ष लेकर लौटेगा। इस पर महन्त जी उसे यह नीति-वचन सुनाते हुए सावधान करते हैं–

व्याख्या– लोभ मनुष्य को पाप के मार्ग पर चलने का प्रलोभन देता है। लोभ-लालच के कारण व्यक्ति पाप कर्म करने लगता है, उचित-अनुचित का विवेक खो बैठता है और ऐसे कार्य कर बैठता है जिसके फलस्वरूप उसका समाज में आदर, मान-प्रतिष्ठा सब नष्ट होने लगते हैं– वह बदनाम हो जाता है, लोग उसे लोभी-लालची कहकर उसे धिक्कारने लगते हैं। अत: लोभ कभी नहीं करना चाहिए। लोभी व्यक्ति अपने दुष्कर्मों के कारण अनैतिक आचरण करता है, पाप करता है और उसके दुष्कर्मों का परिणाम यह होता है कि उसे इस संसार में भी अपमान तथा कष्ट सहने पड़ते हैं और मृत्यु के बाद वह नरक में डाल दिया जाता है, जहाँ उसे नाना प्रकार की यातनाएँ सहनी पड़ती है।

विशेष– 1. नीति की सूक्ति है जिसमें दर्शकों–पाठकों को भी चेतावनी दी गयी है कि लोभ से बचना चहिए।

नोट्स

लोभ पाप का मूल है लोभ मिटावत: मान, लोभ कभी नहीं कीजिए, यामैं नरक निदान
नाट्य कला की दृष्टि से यह दोहा नाटक के अन्त का संकेत करता है कि लोभ के कारण गोवर्धनदास को कष्ट उठाना पड़ा। इसे 'ड्रामैटिक आयरनी' कह सकते हैं।

आमारा ऐसा मुल्क जिसमें अंगरेज का भी दाँत खट्टा ओ गया। नाहक को रुपया खराब किया। हिन्दोस्तान का आदमी लकलक हमारे यहाँ का आदमी बुंबक बुंबक लो सब मेवा टके सेर।

शब्दार्थ– आमारा=हमारा। **दांत खट्टा ओ गया**=परेशान, दु:खी, लड़ते-लड़ते तंग आ गया। **नाहक**=व्यर्थ, बेकार। **लकलक**=दुबला-पतला। **बुंबक**=हट्टा-कट्टा।

नोट

प्रसंग– यह गद्यांश भारतेन्दु कृत नाटक 'अंधेर नगरी' के दूसरे दृश्य से लिया गया है। अंधेर नगरी के बाजार का दृश्य है जहाँ तरह-तरह का माल बेचने वाले अपना माल बेच रहे हैं और अपने व्यावसाय के अनुरूप अपने माल का प्रचार कर ग्राहकों को लुभाने की चेष्टा कर रहे हैं। इनमें एक अफगान है जो काबुल से मेवा बेचने के लिए आया है। जब देखता है कि यहाँ तो मेवा भी टके सेर बिकेग तो वह क्षुब्ध होता है, पश्चाताप करता है कि बेकार इतनी दूर से यहाँ व्यापार करने आया क्योंकि यहाँ तो घाटा ही उठाना होगा।

व्याख्या– मेरा देश है अफगानिस्तान। यह देश बहादुर, हट्टे-कट्टे, देशभक्त और अपनी मातृभूमि के लिए प्राणों का बलिदान करने के लिए तैयार लोगों का देश है। अंग्रेजों ने भारत में तो आसानी से अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया; इतने बड़े देश को थोड़े से अंग्रेजों ने एक के बाद एक प्रदेश जीतकर अपने अधिकार में कर लिया और यहाँ के शासक बन बैठे। परन्तु अफगानिस्तान जैसे छोटे प्रदेश पर वे अधिकार नहीं कर सके। वर्षों तक युद्ध हुआ, अफगान वीरों ने डटकर मुकाबला किया और इस लम्बे युद्ध में अंग्रेजों के दाँत खट्टे कर दिये, उन्हें बहुत परेशान होना पड़ा। इसका कारण यह है कि हिन्दुस्तान के लोग दुर्बल हैं और वे वीर हैं। उन्हें अपनी मातृभूमि से अटूट प्रेम है। इन्हीं गुणों के कारण वे अंग्रेजों से वर्षों तक टक्कर लेते रहे और अंग्रेज सेना तथा सरकार को परेशान करने में सफल रहे।

अपने व्यवसाय के विषय में वह कहता है–इतनी दूर से बादाम, पिस्ता, अखरोट आदि मेवा लेकर यहाँ आया। सोचा था मेवा बेचकर लाभ होगा पर यहाँ का तो हाल ही बेहाल है। यहाँ तो बाजार में हर माल एक दाम बिकता है। मिठाई, मेवा, भाजी सब टका सेर बिकती है। मुझे भी अपना मेवा इसी भाव पर बेचना पड़ेगा वरना खाली हाथ लौटना पड़ेगा। यहाँ आकर बड़ी गलती की। नाहक इतनी लम्बी यात्रा की, परेशानी उठायी। अब सब लोक कहेंगे कि यह बड़ा मूर्ख है जो अन्धेर नगरी में पहुँचकर वहाँ मेवा बेचने का विचार किया। पर अब करूँ भी तो क्या? अब तो कोई चारा ही नहीं हैं इस मेवा के बोझ को बिना बेचे ले जाना और भी मूर्खता होगी।

फिर वह भारतवासियों और अफगान पठानों की तुलना करता है। भारत का आम आदमी दुबला-पतला, मरियल, ठिगना और कायर है। इसके विपरीत अफगानिस्तान में रहने वाले लोग कहीं अधिक स्वस्थ, हट्टे-कट्टे, लम्बे डील-डौल वाले, वीर तथा देशभक्त हैं। यही कारण है कि वे अंग्रेजी सेना के आगे आसानी से नहीं झुके।

विशेष– (1) भाषा तथा उच्चारण पात्र (अफगान पठान) के अनुरूप है।

(2) मुहावरे 'दांत खट्टा हो गया' का प्रयोग।

(3) अफगान-अंग्रेज युग का संकेत।

(4) भारतीयों की दुर्बलता एवं परस्पर फूट पर व्यंग्य है।

मछरिया एक टके कै बिकाय।
लाख टका के वाला जोबन, गाहक सब ललचाय।
नैन मछरिया रूप जाल में, देखतही फंसि जाय।
बिनु पानी मछरी बिरहिया, मिले बिना अकुलाय।

शब्दार्थ– मछरिया=मछली। **टका**=दो पैसे। **बिकाय**=बिकती है। **बाला जोवन**=अल्हड़, किशोरावस्था की सुन्दर युवती। **ग्राहक**=कामासक्त पुरुष, रूप-यौवन के लोभी खरीदर लोगा। **नैन-मछरिया**=मछली के आकार के सुन्दर, मोहक नेत्र। **रूप-जाल**=सौन्दर्य के जाल में। **बिरहिया**=बिरहिणी, अपने प्रिय से बिछुड़ी नायिका। **अकुलाय**=व्याकुल, दु:खी होता है, विरह की ज्वाल में जलती रहती है।

प्रसंग– यह पद भारतेन्दु कृत 'अंधेर नगरी' नाटक से अवतरित किया गया है। बाजार के दृश्य में अन्य लोगों के साथ एक जगह मछली बेचने वाली भी बैठी है और ग्राहकों को आकृष्ट करने के लिए लय के सथ संगीत स्वरों में गाती है।

नोट

व्याख्या– इस बाजार में अन्य वस्तुओं के समान मछली का भाव भी एक टके की एक मछली है। टका दो और एक मछली खरीद लो। मछली खरीदने के साथ-साथ ग्राहक को एक अतिरिक्त लाभ भी होता है। मछली बेचने वाली, अल्हड़, सुन्दरी है। वह रूप सम्पन्न है तथा उसका मादक यौवन सबको लुभाता है। अत: बाजार में आने वाले रूप और यौवन के लोभी लोगों की उसके पास भीड़ लगी रहती है। मछली न खरीदने वाले भी उसके निकट खड़ो होकर उसके अमूल्य रूप-यौवन की मदिरा पीने के लिए इकट्ठे हो जाते हैं और देर तक बिना काम-काज के खड़े होकर केवल उसे निहारते रहते हैं। वे मछली बेचने वाली के मछली के आकार के नेत्रों के जाल में फंस कर तड़पते हैं जैसे मछली जाल में फंस कर तड़पती है। वैसे ही वे युवती के रूप-जाल में फंस गये हैं। उधर मछली बेचने वाली अपने प्रिय से बिछुड़ी हुई है, उसे विरहाग्नि सता रही है, अपने प्रिय की विरहाग्नि में झुलस कर सन्तप्त हो रही है, विरह की ज्वाला में जल रही है। उसकी स्थिति जलहीन या जल से निकाली हुई सूखी रेत पर पड़ी तड़पती मछली की तरह हो रही है।

विशेष– (1) गीत मछली वाली की स्थिति एवं व्यवसाय के अनुरूप है।

(2) श्रृंगार रस का यह पद अत्यन्त सरस है।

(3) ब्रजभाषा ने माधुर्य को और बढ़ा दिया है।

(4) नेत्र पर मछली का आरोप किया गया है अत: रूपक अलंकार है।

(5) अन्तिम पंक्ति पर परम्परागत उपमा है।

क्या आप जानते हैं भारतेंदु के रचनाकर्म एवं उनके साहित्यिक अवदान के कारण आधुनिक काल के आरंभिक युग को भारतेंदु युग के नाम से भी जाना जाता है।

सेत सेत सब एक से, जहाँ कपूर कपास।
ऐसे देस कुदेस में, कबहु न कीजै बास।।
कोकिल वायस एक सम, पण्डित मूरख एक।
इन्द्रायन दाड़िम विषय, जहां न नेकु विवेकु।।
बसिए ऐसे देस नहिं, कनक वृष्टि जो होय।
रहिए तो दुख पाइये, प्रान दीजिए रोय।।

शब्दार्थ– सेत=श्वेत, सफेद रंग वाले। **कुदेस**=बुरा देश। **बास**=निवास, रहना। **वायस**=कौआ। **इन्द्रायन**=लाल रंग का सुन्दर परन्तु कड़ुवा फल। **दाड़िम**=अनार। **नेकु**=तनिक सभी। **विवेक**=सक्षम, अच्छे-बुरे का अन्तर जानने की बुद्धि। कनक-वृष्टि=सोने की वर्षा, अर्थात् धन-वैभव।

प्रसंग– प्रस्तुत पंक्तियाँ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र लिखित प्रहसन 'अंधेर नगरी' से ली गई हैं। गोवर्धनदास नगर में सात पैसे भिक्षा में पाकर बहुत-सी मिठाई खरीद कर अपने गुरू के पास जाता है। गुरू के प्रश्न, करने पर कि इतनी मिठाई कैसे मिली जब गोवर्धनदास कहता है कि उस नगर में सब माल टके सेर बिकता है, तो गुरू जी उस नगरी तथा नगरवासियों की विवेकहीनता, अराजकता एवं दुर्व्यवस्था जान जाते हैं और वहाँ न रहने का उपदेश देते हैं।

व्याख्या– जिस देश के लोगों में अच्छे-बुरे, गुणवान-गुणहीन, अपराधी-निरपराध, पंडित-मूर्ख की पहचान नहीं, जहाँ सबको एक लाठी से हाँका जाता है, जहाँ कपूर और कपास का श्वेत रंग देख दोनों को एक समान समझा जाता है, दोनों का एक मूल्य आंका जाता है केवल रंग देखा जाता है, गुण नहीं, निश्चय ही उस देश के लोग विवेकशून्य, दुर्बुद्धि एवं मूर्ख हैं तथा उस देश में अराजकता, दुर्व्यवस्था और मूल्यहीनता होगी। अत: ऐसे देश में नहीं रहना चाहिए। वहाँ रहने से अवश्य एक न एक दिन विपत्ति में पड़ना पड़ेगा। अत: भविष्य के मंगल के लिए

नोट

ऐसे नगर को त्याग कर अन्यत्र चले जाने में ही कुशल है।

जहाँ के लोग कोयल और कौए को समान रंग वाला (काला) समझ कर, दोनों के गुण-दोष न परख कर, उन्हें समान समझें उस देश की भगवान ही रक्षा कर सकते हैं। ये लोग गुण नहीं देखते केवल आकार, रंग, बाह्य वेशभूषा देखते हैं। इनमें इतनी बुद्धि और विवेक नहीं कि मूर्ख व्यक्ति और विद्वान व्यक्ति में अन्तर कर सकें और विद्वान का आदर करें, मूर्ख की उपेक्षा। वे तो दोनों को एक समान मानते हैं। इसी प्रकार से इन्द्रायण और अनार के बाहरी रंग-रूप में समानता देखकर दोनों के बाह्याकार को मोहक पाकर दोनों को एक समान मानते हैं। वे इस बात की चेष्टा नहीं करते कि दोनों को चख कर, उनका स्वाद पहचान कर उनका मूल्यांकन करें– अनार के दानों की मिठास तथा इन्द्रायन की कड़वाहट का अनुभव कर अनार खरीदें और इन्द्रायन का तिरस्कार करें। ऐसे विवेकशून्य, मूढ़ तथा पदार्थ की सही पहचान न रखने वालों की संगति अवश्य ही अनिष्ट लाती है, उसका दुष्परिणाम होता है। अत: ऐसे देश में रहना उचित नहीं है। भले ही वह देश वैभव सम्पन्न हो, धन-धान्य से भरा-पूर हो, उसमें सब सुख-सुविधाएँ हों पर ऐसे देश में रहना विपत्ति मोल लेना है, आज नहीं तो कल मुसीबत आएगी और कष्ट उठाना होगा। यदि कोई व्यक्ति इस वास्तविकता को नहीं समझता, क्षणिक सुख और प्रलोभन में पड़कर उस नगर में रहने की जिद् करता है तो उसे जीवन-भर कष्ट उठाना पड़ता है और अन्त में पश्चाताप की आग में झुलसते हुए रो-रोकर प्राण देने पड़ते हैं। अत: यदि कुशल-मंगल चाहते हो तो इस नगर को तुरन्त छोड़कर अन्यत्र चले जाओ।

विशेष– (1) सूक्तिपरक दोहों द्वारा उपदेश दिया गया है।

(2) ये पंक्तियाँ महन्त जी के चरित्र एवं स्वभाव के अनुरूप ही हैं।

(3) यहाँ आगे आने वाली घटनाओं का संकेत भी मिलता है कि गोवर्धन के गुरु-उपदेश न मानने का परिणम क्या होगा।

धर्म अधर्म एक उरसाई।
रजा कैर सो न्याव सदाई॥
भीतर स्वाहा बाहर सादे।
राज करहिं अमले अरु प्यादे॥
अन्धाधुन्ध मच्यौ सब देसा।
मानहुं राजा रहत बिदेसा॥
गो द्विज श्रुति आदर नहिं होई।
मानहुं नृपति बिधर्मी कोई॥
ऊँच नीच सब एकहिं सारा।
मानहुं ब्रहम ज्ञान बिस्तारा॥

शब्दार्थ– एक दरसाई=एक समान हैं, दोनों में कोई भेद नहीं किया जाता। **न्याव**=न्याय। **सदाई**=सदैव, हमेशा। **स्याहा**=काले दोषपूर्ण। **अमले**=कर्मचारी गण, नौकरशाही। **प्यादे**=पुलिस के सिपाही, अर्धसैनिक बल। **अन्धाधुन्ध**=अव्यवस्था, अराजकता, मनमानी। **विदेशा**=विदेश में (इंग्लैंड में)। **गो**=गाय। **द्विज**=ब्राह्मण। **श्रुति**=वेद, शास्त्र। **नृपति**=राजा, शासक। **विधर्मी**=दूसरे धर्म को मानने वाला (ईसाई)। **एकहिं सारा**=एक समान। **ब्रह्मज्ञान**=अध्यात्य ज्ञान। **विस्तारा**=विस्तार हो गया है, व्याप्त हो गया है।

प्रसंग– ये पंक्तियाँ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कृत नाटक 'अंधेर नगरी' प्रहसन से उद्धृत हैं। नाटक के पांचवें दृश्य में गोवर्धनदास जंगल में जाते हुए विचरण कर रहा है अपने गाने में वह अंधेर नगरी, वहाँ के राजा, उनकी नीति तथा नगर-वासियों के आचरण और चरित्र के विषय में बताता है।

व्याख्या– इस नगरी के राजा ही नहीं वहाँ के निवासी भी विवेकशून्य और मूढ़ हैं। इनमें अच्छे-बुरे की पहचान

नोट

ही नहीं है। अत: इनके लिए धर्म कार्य करने वाला और पापी, अधर्मी दोनों एक समान हैं। इन्हें पता ही नहीं कि धर्म क्या है और अधर्म क्या है, पाप और पुण्य की भी पहचान करने की शक्ति कुण्ठित हो गयी है। यहाँ के लोगों की अपने राजा में अन्ध श्रद्धा है अत: उनकी मान्यता है कि राजा जो करता है ठीक करता है, वह परमात्मा का अवतार है अत: गलती, अन्याय, अनाचार कर ही नहीं सकता। यहाँ का शासक और उसके अधीन कर्मचारी गोरे रंग के हैं, सफेद पोश हैं, तड़क-भड़क से रहते हैं पर उनके हृदय काला है, उनका आचरण दूषित है, वे अन्यायी और अत्याचारी हैं। इनके राज्य में सारी सत्ता, प्रशासन की सारी जिम्मेदारी कर्मचारियों तथा कार्यालयों में काम करने वाले लोगों पर है या फिर पुलिस के सिपाही और दरोगा अपनी मनमानी कर आतंक फैलाये हुए हैं। इस नौकरशाही तथा पुलिस राज्य का दुष्परिणाम यह हुआ है कि सब ओर अव्यवस्था है, अन्धेरगर्दी है, अराजकता है। शासन मनमानी करता है उसकी इच्छा ही कानून है। न्याय और नीति का दम घुट रहा है। लगता है यहाँ कोई शासक है ही नहीं, और यदि है भी तो वह सात समुद्र पार किसी विदेश में रहता है और उसे यहाँ की असली हालत का पता ही नहीं है कि देश में क्या हो रहा है। विदेशी शासन एवं विदेशी जीवन मूल्यों को अपनाने के कारण भारतीय संस्कृति और प्राचीन उदात्त जीवन मूल्यों का ह्रास हो रहा है। पहले गो, ब्राह्मण तथा वेद शास्त्रों का आदर होता था पर अब गो हत्या हो रही है, विद्वान ब्राह्मणों का तिरस्कृत किया जा रहा है तथा वेद शास्त्र पढ़ने में किसी की रुचि नहीं। उनका अपमान किया जा रहा है। इस सबको देखकर लगता है कि सत्ता विधर्मियों के हाथ में चली गयी है और वह विधर्मी शासक हिन्दू धर्म तथा हिन्दू संस्कृति को मिटाने पर तुला है। अन्त में व्यंग्य करते हुए लेखक कहता है– अविवेक के कारण इस राज्य में ऊंच-नीच, अच्छे-बुरे, गुणवान-गुणहीन, ध र्मात्मा-पापी के बीच कोई भोद ही नहीं रह गया है। सबको एक लाठी से हाँका जाता है। लगता है यहाँ के लोग सब ब्रह्म ज्ञानी हो गए हैं और ब्रह्म ज्ञान प्राप्त कर सबको समदृष्टि से देखने लगे हैं। तभी तो सबको परमात्मा की सन्तान मान कर एक समान समझते हैं।

विशेष– (1) शब्दों के कुशल प्रयोग द्वारा लेखक ने अप्रत्यक्ष रूप से अंग्रेजी शासन के दोष की ओर संकेत किया है। "मानहु रजा रहत विदेसा" तथा "मानहु नृपति विधर्मी कोई" ऐसे ही वाक्य है।

(2) "राजा करै ..... न्याव सदाई' ं में अंग्रेजी उक्ति "द किंग मैन डू नो रोंग" की ध्वनि है।

(3) अन्धाधुन्ध मच्यो .....। मुहावरा है।

(4) अन्तिम पंक्ति में करारा व्यंग्य है।

(5) शब्द-चयन करते हुए लेखक ने केवल एक बात का ध्यान रखा है कि शब्द उपयुक्त एवं अधिकाधिक प्रभाव डालने वाले हों अत: ब्रजभाषा के साथ-साथ उर्दू शब्द (स्याह, अमले, प्यादे) भी हैं।

जहाँ न धर्म्म न बुद्धि नाह, नीति न सुजान समाज।
ते ऐसहिं आपुहिं नसे, जैसे चौपटराज।।

शब्दार्थ– बुद्धि=सुबुद्धि, विवेक, समझदारी। **सुजन समाज**=सज्जन, सुशील, चरित्रवान व्यक्तियों का समूह। **आपुहिं**=अपने आप। **नसै**=नष्ट होते हैं, आत्मघात करते हैं। **चौपट राज**=कुशासन।

प्रसंग– प्रस्तुत सूक्तिवाक्य भारतेन्दु हरिश्चन्द्र रचित प्रहसन 'अन्धेर नगरी' से उद्धृत किया गया है। नाटक के अन्त में महन्त जी के कौशल से जब राजा आत्मघात करने को प्रस्तुत हो जाता है तब वह भरत वाक्य के रूप में यह नीति-वचन कहते हैं।

व्याख्या– जिस देश में धर्म का पालन नहीं किया जाता, जनता अधर्म और पाप के मार्ग पर चलती है, जिस देश की जनता और शासक विवेकहीन, मूढ़ तथा बुर्बुद्धि वाले हों, जहाँ नीति को त्याग अनीति के मार्ग का अनुसरण किया जाय और नित्य-प्रति अनैतिक कार्य किए जाएं, जहाँ के लोग सज्जन और सच्चरित्र न होकर दुर्जन एवं दुष्चरित्र हों उस देश की जनता और शासक आत्मघात के मार्ग पर चलकर स्वयं अपना सर्वनाश करते हैं। उनकी गति यही होती है जो अन्धेर नगरी के चौपट (चौपट करने वाले, सर्वनाश करने वाले) राजा की हुई।

नोट

विशेष– (1) सत्संगति एवं सुशासित देश में रहने का परामर्श दिया गया है।

(2) विवेकहीन व्यक्ति दूसरों के कारण नहीं स्वयं अपनी दुर्बुद्धि तथा मूर्खता के कारण नष्ट होता है।

(3) नीति वाक्य के अनुरूप उपदेशात्मक शैली है।

(4) सरल एवं सहज ब्रजभाषा का प्रयोग किया गया है।

1.3 शब्दकोश

1. **संतप्त–** दु:खी, उदास, खिन्न।
2. **प्रहसन–** प्रसन्नतापूर्वक हँसना, परिहास, दिल्लगी, भाण की तरह का हास्य रस प्रधान रूपक।
3. **खाजा–** मैदे से बनी टोपी के आकार की एक प्रसिद्ध मिठाई।
4. **टका–** अंग्रेजी शासन में प्रचलित दो पैसे का सिक्का।

1.4 अभ्यास-प्रश्न

1. अंधेर नगरी प्रहसन की कथा अपने शब्दों में लिखिए।
1. अंधेर नगरी प्रहसन के व्यंग्यार्थ का विवेचन कीजिए।

उत्तर: स्व-मूल्यांकन

1. (ख) 2. (क) 3. (ग) 4. (ख)

1.5 संदर्भ पुस्तकें

पुस्तकें

1. *भरतेन्दु समग्र–* सम्पादक: हेमन्त शर्मा, हिन्दी प्रचारक पब्लिकेशन प्रा. लि. वाराणसी।
2. *अंधेर नगरी–* भारतेंदु हरिश्चन्द्र, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली।
3. *नाटककार भारतेंदु की रंग परिकल्पना–* सम्पादक: सत्येन्द्र कुमार तनेजा, राधा कृष्ण प्रकाशक, दिल्ली।
4. *भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिंदी नवजागरण की समस्याएँ*–रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
5. *अंधेर नगरी*–सृजन-विश्लेषण और पाठ, रमेश गौतम, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली।

नोट

इकाई 2: अंधेर नगरी: पात्र परिकल्पना एवं चरित्र-चित्रण

अनुक्रमणिका

उद्देश्य

प्रस्तावना

2.1 अंधेर नगरी: पात्र परिकल्पना एवं चरित्रिक विशेषताएँ

2.2 सारांश

2.3 शब्दकोश

2.4 अभ्यास-प्रश्न

2.5 संदर्भ पुस्तकें

उद्देश्य

विद्यार्थी इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् सक्षम होंगे–

- भारतेंदु के रचित प्रहसन अंधेर नगरी की पात्र परिकल्पना से परिचित होंगे।

प्रस्तावना

भारतीय नाट्यशास्त्र में नाटक के तीन प्रमुख तत्त्व माने गये हैं–कथावस्तु, नायक तथा रस। इनमें भी रस को इसलिए महत्व दिया गया क्योंकि उसे काव्य का एक भेद दृश्य काव्य माना जाता था। 'काव्येषु नाटकम् रम्यम्' उक्ति भी इसी ओर संकेत करती है। नायक के भी जो भेदोपभेद किये गए हैं उनमें भी केवल प्रमुख पात्र की अवधारणा बनती है, अन्य पात्रों को महत्व नहीं दिया गया है। वस्तुत: प्राचीन नाटक कथानक प्रधान होते थे, उनमें सर्वाधिक बल कथावस्तु पर दिया जाता था, पात्र केवल उसे गति देने के लिए होते थे। इसके विपरीत पश्चिम में आरम्भ से ही पात्रों और चरित्र-चित्रण पर बल दिया जाता रहा है। यद्यपि भारतेन्दु ने भारतीय और पाश्चात्य नाट्यशास्त्र दोनों का अनुशीलन किया था परन्तु उनके नाटकों में जितना महत्व कथावस्तु का है उतना पात्रों के चरित्रांकन का नहीं। फिर नाटक का प्रतिपाद्य तथा उद्देश्य भी उनके स्वरूप और संरचना को निर्धारित करता है। अन्धेर नगरी एक प्रहसन है और उसका उद्देश्य था पाठक-प्रेक्षक को तत्कालीन दुर्व्यवस्था एवं सामाजिक कुरीतियों का परिचय देकर उसे सचेत करना, युग-बोध कराना तथा उनमें सामाजिक जागृति एवं राष्ट्रीय चेतना जगाना। और यही कारण है कि नाटक में पात्र-सृष्टि एवं चरित्रांकन पर बल नहीं है।

2.1 अंधेर नगरी: पात्र परिकल्पना एवं चरित्रिक विशेषताएँ

अंधेर नगरी नाटक में यूँ कहने को तो इसमें अनेक पात्र हैं विशेषत: बाजार वाले दृश्य में। पर वे केवल एक दृश्य तक सीमित हैं और उनके द्वारा लेखक या तो बाजार का वातावरण उपस्थित करता है या फिर तत्कालीन राजतंत्र एवं न्याय व्यवस्था पर कटाक्ष करता है। ये पात्र केवल एक-एक वक्तव्य देते हैं–कुछ गद्य में अपने माल की विशेषताए बताते हैं तो कुछ अपने लटके भरे गीतों में व्यंग्य-विनोद द्वारा समाज की विसंगतियों पर मीठी चुटकी लेते हैं जात वाले ब्राह्मण के पास तो बेचने के लिए कोई खाने-पीने की चीज भी नहीं है, वह तो जात बेचता है और वह भी टके के लिए। उसका धर्म ही टका धर्म है। अत: उसका वक्तव्य केवल ब्राह्मण जाति का अध:पतन

नोट

दिखाने के लिए नियोजित किया गया है। पूरे दृश्य का एक ही स्वर है–'टका सेर भाजी, टका सेर खाजा' अर्थात् वह बताता है कि देश में अन्धेरगर्दी है, अराजकता है, अव्यवस्था है, मूल्यहीनता है– सद्-असद्, अपराधी-निरपराध, गुणवान-गुणहीन के बीच कोई भेद नहीं हैं, सबको एक ही लाठी से हाँका जाता है। अतः इस दृश्य के पात्रों का स्वतंत्र व्यक्तित्व नहीं हैं, वे केवल अपने व्यवसाय की बातें करते हैं।

क्या आप जानते हैं 'अंधेर नगरी' व्यंग्यात्मक रूप में लिखा गया हास्य-प्रधान रूपक है।

अन्य दृश्यों में भी उल्लेखनीय पात्र हैं केवल तीन–राजा, महंत और उसका शिष्य गोवर्धनदास। तीनों पात्र स्थिर हैं, अपने वर्ग के गुण-दोषों का प्रतिनिधित्व करते हैं और इनमें भी राजा का स्वरूप अतिरंजित एवं अवाभाविक है। तत्कालीन रजवाड़ों के शासकों और कुछ हद तक अंग्रेज शासन की न्याय व्यवस्था पर प्रहार करने के लिए ही उसका चरित्र गढ़ा गया है। उसकी मूढ़ता, विवेकहीनता, मद्यपान, सनकी प्रवृत्ति, दंड-विधान, फूहड़ आचरण सब अतिरंजित हैं। उसका आचरण, गाली-गलौज, उसका फरियाद सुनने का ढंग, एक के बाद एक संदिग्ध अपराधियों को बुलाना, बार-बार निर्णय बदलना, दीवार या उसके दोस्त–आशना को पेश करने का आदेश–यह सब पाठक-प्रेक्षक को हंसाते-हंसाते लोटपोट कर दें, प्रहसन के लिए उपयुक्त हों पर चरित्रांकन की दृष्टि से नितान्त अनुपयोगी हैं। वस्तुतः लेखक का उद्देश्य भी उसके माध्यम से किसी ठोस पात्र की सृष्टि करना नहीं था।

नोट्स 'अंधेर नगरी' के पात्रों की सृष्टि इसके कथ्य के अनुरूप अवश्य है किंतु चरित्रांकन की दृष्टि से उसके पात्रों का कोई महत्त्व नहीं है।

महन्त और गोवर्धनदास के चरित्र अधिक यर्थाथ हैं, जीवन के निकट हैं। वे स्थिर पात्र हैं, अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनका विकास दिखाना लेखक का अभीष्ट नहीं है। फिर भी वे उनमें ठोस पात्र बनने की पात्रता है।

महन्त के रूप में लेखक ने एक विवेकशील, समझदार, रामभक्त सन्त का चित्र उरेहा है। वह भिक्षा मांगना अपना धर्म और अधिकार समझता है पर उसे केवल इतनी भिक्षा चाहिए कि ठाकुर जी का भोग लग जाये। वह गोवर्धनदास की तरह न तो लोभी है और न पेटू। मिठाई देखकर उसकी लार भी नहीं टपकती, हां मन ही मन प्रसन्न अवश्य होता है। सन्तों की तरह उसे अनेक धार्मिक सूक्तियां, दोहे और पद याद हैं और वह उनका उपयुक्त अवसर पर प्रयोग करता है। गोवर्धनदास का लोभ देख वह कहता है–बच्चा, बहुत लोभ मत करना।

लोभ पाप को मूल है, लोभ मिटावत मान।
लोभ कभी नहिं कीजिए, या मैं नरक समान।।

इसी प्रकार गोवर्धनदास से यह सुनकर कि नगरी में सब चीजें टके सेर मिलती हैं, वह उसे समझाते हुए कहता है–बच्चा, ऐसी नगरी में रहना उचित नहीं है और अपनी बात की पुष्टि के लिए तीन दोहे सुनाता है। अन्तिम दोहा है–

बसिए ऐसे देस नहिं, कनक-वृष्टि जो होय।
रहिए तो दुख पाइए, प्रान दीजिए रोय।।

नाटक के अन्त में तो उसके वचन प्राचीन नाटकों के भरत-वाक्य की तरह हैं–

जहां न धर्म न बुद्धि नहिं नीति न सुजन समाज।
ते ऐसेहिं आपुहिं बसै, जैसे चौपट राज।।

नोट

सारांश यह है कि साधु-सन्तों के समान उसे अनेक नीति-वचन एवं भक्ति के पद कण्ठस्थ हैं।

वह चतुर तथा चालाक भी कम नहीं है। अपने शिष्य गोवर्धनदास की प्राणरक्षा के लिए जिस युक्ति से और जिस तरह सिपाहियों का उपट का अपना मंत्र शिष्य के कानों में फूंकता है और स्वयं फांसी पर चढ़ने का नाटक करता है, वह उसकी कुशाग्रबुद्धि एवं मानव-मनोविज्ञान से परिचय का प्रमाण है।

स्व-मूल्यांकन

दिए गए कथन के सामने सही [✓] अथवा गलत [X] का निशान लगाइए–

1. 'अंधेर नगरी' प्रहसन तत्कालीन भारत में अंग्रेजी राज-काज पर व्यंग्य है। [ ]
2. 'अंधेर नगरी' प्रहसन की मंचीयता संदिग्ध है। [ ]
3. 'टके सोर भाजी', 'टके सेर खाजा' प्रस्तुत मुहावरा पूरे नाटक का मूल स्वर है। [ ]
4. 'अंधेर नगरी' खड़ी बोली गद्य में लिखा गया पहला नाटक है। [ ]

गोवर्धनदास उन लोभी, पेटू तथा मोह-माया में फंसे साधुओं का प्रतिनिधित्व करता है जो केवल पेट भरने तथा आराम से जिन्दगी बिताने के लिए भगवा वस्त्र एवं कमण्डल धारण करते हैं। अन्धेर नगरी के वैभव को देख चकाचौंध हो जाना, वहां अच्छी भिक्षा का डौल देख तथा प्रतिदिन भरपेट मिठाई छकने का अवसर पा वह गुरुजी के उपदेश को ठुकरा देता है और वहीं रहने का निर्णय कर लेता है। "दो पैसा पास रहने में मजे से पेट भरता है। मैं तो इस नगर को छोड़ कर नहीं जाऊंगा।" और गुरुजी के जाने के बाद निश्चिन्त होकर मिठाई खाता है।

वह आत्मकेन्द्रित है। 'मन चंगा तो कठौती में गंगा' का अनुयायी गोवर्धनदास जानता है कि देश अच्छा नहीं है फिर भी वहीं रहने का निश्चय करता है, "माना कि देश बहुत बुरा है। पर अपना क्या? अपने किसी राज-काज में थोड़े हैं कि कुछ डर है। रोज मिठाई चाभना, मज़े में आनन्द से राम भजन करना।" वह भीरू डरपोक है, प्राणों का उसे मोह है और प्राण बचाने के लिए नाक रगड़ता है, गिड़गिड़ाता है, रोता है, हाय-हाय करता है। स्पष्ट है कि उस समय और आज भी ऐसे स्वार्थी, समाज के हित-अहित से निरपेक्ष, साधुओं की देश में कमी नहीं है और भारतेन्दु ने गोवर्धनदास के माध्यम से ऐसे पाखण्डी साधुओं पर ही व्यंग्य किया है।

सारांश यह कि पात्र-परिकल्पना और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से 'अन्धेर नगरी' का कोई महत्व नहीं है। क्योंकि पात्रों का सृजन मात्र व्यंग्य की प्रखरता को और तीव्र करने हेतु किया गया है।

2.2 सारांश

- भारतीय नाट्यशास्त्र में नाटक के तीन प्रमुख तत्त्व माने गये हैं–कथावस्तु, नायक तथा रस। इनमें भी रस को इसलिए महत्व दिया गया क्योंकि उसे काव्य का एक भेद दृश्य काव्य माना जाता था। 'काव्येषु नाटकम् रम्यम्' उक्ति भी इसी ओर संकेत करती है। नायक के भी जो भेदोपभेद किये गए हैं उनमें भी केवल प्रमुख पात्र की अवधारणा बनती है, अन्य पात्रों को महत्व नहीं दिया गया है। वस्तुतः प्राचीन नाटक कथानक प्रधान होते थे, उनमें सर्वाधिक बल कथावस्तु पर दिया जाता था, पात्र केवल उसे गति देने के लिए होते थे। इसके विपरीत पश्चिम में आरम्भ से ही पात्रों और चरित्र-चित्रण पर बल दिया जाता रहा है। यद्यपि भारतेन्दु ने भारतीय और पाश्चात्य नाट्यशास्त्र दोनों का अनुशीलन किया था परन्तु उनके नाटकों में जितना महत्व कथावस्तु का है उतना पात्रों के चरित्रांकन का नहीं। फिर नाटक का प्रतिपाद्य तथा उद्देश्य भी उनके स्वरूप और संरचना को निर्धारित करता है। अन्धेर नगरी एक प्रहसन है और उसका उद्देश्य था पाठक-प्रेक्षक को तत्कालीन दुर्व्यवस्था एवं सामाजिक कुरीतियों का परिचय देकर उसे सचेत करना, युग-बोध कराना तथा उनमें सामाजिक जागृति एवं राष्ट्रीय चेतना जगाना।

नोट

2.3 शब्दकोश

1. प्रहसन– हास्य रस प्रधान रूपक
2. अतिरंजित– अत्यधिक बढ़ा-चढ़ाकर कहा गया
3. उरेहना– तस्वीर बनाना, चित्र खींचना

उत्तर: स्व-मूल्यांकन

1. ✓ 2. X 3. ✓ 4. X

2.4 अभ्यास-प्रश्न

1. अंधेर नगरी प्रहसन के व्यंग्यात्मक स्वर का विश्लेषण कीजिए।
2. अंधेर नगरी के पात्रों की चारित्रिक विशेषताएँ बताइए।

2.5 संदर्भ पुस्तकें

पुस्तकें

1. *अंधेर नगरी*– भारतेंदु हरिश्चन्द्र, रजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली।
2. *भरतेन्दु समग्र*– सम्पादक: हेमन्त शर्मा, हिन्दी प्रचारक पब्लिकेशन प्रा. लि. वाराणसी। 3. *नाटककार भारतेंदु की रंग परिकल्पना*– सम्पादक: सत्येन्द्र कुमार तनेजा, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली।
4. *भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिंदी नवजागरण की समस्याएँ*–रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
5. *अंधेर नगरी*–सृजन-विश्लेषण और पाठ, रमेश गौतम, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली।

इकाई 3: अंधेर नगरी: भाषा-शैली एवं संवाद योजना

नोट

अनुक्रमणिका

उद्देश्य

प्रस्तावना

3.1 अंधेर नगरी– भाषा-शैली एवं संवाद योजना

3.1.1 संवाद योजना

3.1.2 रस

3.1.3 गीत

3.1.4 भाषा

3.2 सारांश

3.3 शब्दकोश

3.4 अभ्यास-प्रश्न

3.5 संदर्भ पुस्तकें

उद्देश्य

विद्यार्थी इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् सक्षम होंगे–

- अंधेर नगरी की भाषा-शैली एवं संवाद-योजना को समझने में।

प्रस्तावना

संवाद नाटक की आत्मा होते हैं। उन्हीं के आधार पर नाटक की कथा निर्मित और विकसित होती है, पात्रों के चरित्र के सम्बन्ध में जानकारी मिलती है, उनका विकास होता है। संवाद ही नाटक में सजीवता, रोचकता तथा पाठक के मन में जिज्ञासा और कौतूहल जगाते हैं नाटकीय संवादों में पात्रों के मनोभावों को अभिव्यक्त करने उनके मानसिक द्वन्द्व को चित्रित करने की शक्ति होती है। कथा के उद्देश्य को करने और नाटक को अभिनेय बनाने की दृष्टि से भी संवादों की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती है। नाटक के संवादों की उत्तमता की कसौटी है उनका संक्षिप्त तथा त्वरित गति का होना। स्वयं भारतेन्दु ने नाटक के संवादों के गुण बताते हुए लिखा था, "ग्रन्थकर्ता ऐसी चातुरी और नैपुण्य से पात्रों की बातचीत बिरचित करे कि जिस पात्र का जो स्वभाव हो वैसी ही उसकी बात भी विरचित हो ..... पात्र की बात सुनकर उसके स्वभाव का परिचय ही नाटक का प्रधान अंग है ..... नाटक में वाचालता की अपेक्ष के साथ वाग्मिता का भी सम्यक् आदर होता है। .... थोड़ी-सी बाात में अधिक भाव की अवतारणा ही नाटक-जीवन की महौषधि है।"

नोट

3.1 अंधेर नगरी– भाषा-शैली एवं संवाद योजना

3.1.1 संवाद योजना

संवाद हेतु मान्य कसौटी के आधार पर यदि अंधेर नगरी के सम्वादों को परखा जाए तो उनमें प्रायः सभी गुण पाये जाते हैं। वे सुन्दर, छोटे, नाटकीय, व्यंग्यपूर्ण, सशक्त, सजीव और गति-शील हैं। उनमें चरित्रगत विशेषताओं और कथा के अभीष्ट को स्पष्ट करने की क्षमता है। वे वातावरण की स्वाभाविकता उत्पन्न करने में समर्थ हैं; दूसरे दृश्य में बाजार का वातावरण सम्वादों के माध्यम से ही सजीव और स्वाभाविक बनाया गया है। बाजार वालों की अपनी भाषा और अपना लहजा होती है। लेखक ने उन्हीं का प्रयोग किया है। कबाब वाला, हलवाई, कुंजड़िन, चूरन वाला जातवाला ब्रह्मण सब अपनी-अपनी भाषा और मुहावरों में बात करते हैं सबकी भाषा सजीव और उनके व्यवसाय तथ वर्ग के अनुरूप है कबाव वाला कहता है, "कबाब गरमा-गरम मसालेदार, तो हलवाई पुकार लगाता है, जलेबियाँ गरमा-गरम... मोमनदार कचौड़ी कचाका हलुआ नरम मचाका। नारंगी वाली की भाषा अलग है, मछली वाली की भाषा अलग और सब मिलकर ऐसा वातावरण निर्मित करते हैं कि पाठक के सम्मुख बाजार का दृश्य साकार हो उठता है। इनके पद्वबद्ध संवादों में पारसी शैली के पैबन्द लगाकर लेखक ने उन्हें और भी सजीव बना दिया है। महन्त तथा उनके शिष्यों की भाषा उनके वर्ग की है, वह साधुओं की बोल-चाल की भाषा है–भिच्छा-उच्छा मिलै तो ठाकुर जी का भोग लगै।" अथवा, 'गुरु जी, महाराज, नगर तो नारायण के आसरे से बहुत ही सुन्दर है जो है सो, पर भिच्छा सुन्दर मिलै तो बड़ा आनन्द होय।" अथवा, "देख, जो कुछ सीधा-सामग्री मिलै तो श्री शालग्राम जी का बालभोग सिद्ध हो।" गोवर्धनदास की लोभवृत्ति उसकी बातों से प्रकट होती है– छक जायेंगे, रोज मिठाई चाभना, वाह-वाह बड़ा आनन्द है।" राजा मूर्ख है, असंस्कृत है फूहड़ है अतः उसकी भाषा भी फूहड़पन से भरी है–क्यों बे भिश्ती, गंगा-जमुना की किश्ती या क्यों बे खैर सुपारी, चूने वाले, क्यों बे अखपौंड़े के गड़रिये।" पीनक में वह बकरी को कभी कुबरी बोलता है कभी लरकी तो कभी बरकी। भाषा में बोलचाल का पुट तथा चुलबुलापन संवादों को अतिरिक्त शक्ति प्रदान करता है। ये संवाद मात्र के व्यक्तित्व और आचरण की रेखएं उकेरते हैं। राजा के संवाद और उनकी भाषा उसकी मूर्खता, उजड्डता, अशिष्टता, बुद्धि के स्तर की ओर संकेत करते हैं। उसके तुक और लय वाले संवाद 'भिश्ती-किश्ती' उसकी अतिसरलीकरण तथा सिर पर आन पड़ी वाली मनोवृत्ति के सूचक हैं।

अंधेर नगरी के संवादों की भाषा की अन्य विशेषताएँ हैं–नकल-भड़ैत शैली, तुकमय संवाद-दीवार लगाई, बकरी दबाई', व्यंग्य-कटाक्ष, विशेष संबोधन शब्दों की आवृत्ति, वग्मिता एवं वाक्य-रचना। राजा सबको अपनी अशिष्ट भाषा में, 'दुष्ट, लुच्चा, पाजी, क्यों बे' पुकारता है; गोवर्धनदास प्यादों द्वारा पकड़े जाने पर सहायता के लिए पुकारते समय इन संबोधनों का प्रयोग करता है, "अरे बाप रे बाप, हाय बाप रे, दुहाई परमेशवर, अरे भाइयो'। इन संबोधनों से पात्र के स्वभाव, चरित्र और उसकी परिस्थिति विशेष का पता लगता है। किसी शब्द की सार्थक आवृत्ति उस वाक्य के मूल बिम्ब को पैना कर देती है गोवर्धन की उत्तेजना और भय 'फांसी' शब्द की आवृत्ति से तीखे हो जाते हैं, "फांसी! अरे बाप रे बाप फांसी, मैंने किसकी जमा लूटी है कि मुझको फांसी! मैंने किसके प्राण मारे हैं कि मुझको फांसी।" उनके संवादों की सफलता की कुंजी है वाक्य-रचना। इनकी वाक्य-रचना में अभिनय की गति, मुद्रा, स्वर के आरोह-अवरोह की अनेक संभावनाएं छिपी हैं। भारतेन्दु प्रायः एक जैसे दो वाक्य लगातार नहीं लिखते क्योंकि वाक्य में परिवर्तन अभिनय में मोड़ या लोच ले आता हैं संवाद की विशोषता वाचालता नहीं, वाग्मिता है अंधेर नगरी में वाग्मिता का निर्वाह पूरी सफलता से हुआ है।

क्या आप जानते हैं

गद्य लेखन की शुरुआत भारतेंदु युग से हुई और यही युग हिंदी साहित्य में आधुनिक काल के नाम से अभिहीत है।

नोट

एकालाप आज नाटक का दोष माना जाता है; उसे अस्वाभाविक कहकर उसका तिरस्कार किया जाता है परन्तु यदि एकालाप छोटा हो, परिस्थिति के अनुरूप हो तो वह नाटक का मूल्य, उसकी संवेदन शक्ति बढ़ा देता हे, अंधेर नगरी के एकालाप ऐसे ही हैं उनका प्रयोग भावपूर्ण स्थलों पर किया गया है। पांचवें अंक के आरम्भ में गोवर्धनदास का एकालाप कुछ लम्बा तो अवश्य हो गया है पर वह नगरी की अवस्था पर उसकी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है अत: प्रखरता नहीं है। फिर वह गद्य में न होकर पद्य में है अत: विशेष नहीं खटकता। दूसरे दृश्य के संवाद भी एक प्रकर से पात्रों के एकालाप हैं पर वे परम्परागत अर्थ के एकालाप नहीं है। जिसमें पात्र अपना अन्तर्द्वन्द्व व्यक्त करता है, अतीत के विषय में सोचता है। उनके द्वारा लेखक दृश्य का काम लेता है और वे सामूहिक रूप से नगरी की वस्तु-स्थिति का चित्र प्रस्तुत करते हैं।

3.1.2 रस

अंधेर नगरी प्रहसन है और उसमें हास्य-व्यंग्य की प्रधान है। अत: इस नाटक का प्रधान रस हास्य है। हास्य का परिपाक नाटक के आरंभ से होता है। कथा के विकास के साथ तीव्र होता जाता है। चौथे दृश्य में हंसी फूट चलती है। पांचवें दृश्य के अन्त तक पाठक दर्शक ठहाके लगाने लगता है और अन्तिम दृश्य में तो जब राजा स्वयं फांसी पर चढ़ने लगता है तो वह उसके पेट में हंसी के कारण बल पड़ने लगते हैं।

टास्क भारतेंदु रचित अन्य नाटकों के नामोल्लेख कीजिए।

1.3.3 गीत

अंधेर नगरी में कुल मिलाकर पांच गीत हैं। पहले दृश्य में महन्त का राम-भजन सम्बन्धी गीत, दूसरे दृश्य में चने वाले का, पाचक चूरन बेचने वाले का गीत तथा मछली वाली का गीत तथा पाँचवें दृश्य में गोवर्धनदास का गीत। पहला गीत नाटक के आरम्भ में है और पात्र तथा स्थिति के अनुरूप है। दूसरे दृश्य के तीनों गीत व्यंग्य को स्पष्ट करने वाले गीत हैं तथा गाने वलों के स्वभाव, व्यवसाय एवं नोवृत्ति के अनुरूप हैं। पांचवें दृश्य में गोवर्धनदास का गीत नगर के प्रति उसकी प्रतिक्रिया को व्यक्त करता है। अत: प्रसाद के गीतों की तरह न तो उनकी भाषा क्लिष्ट है और न उनमें व्यक्त भाव एवं विचार सामान्य पाठक-प्रेक्षक की बुद्धि और समझ के बाहर हैं। लोकगीतों की शैली अथवा भजन-शैली के ये गीत सुपाठ्य हैं, प्रेक्षकों के लिए सुगम एवं मनोरंजन के साधन हैं तथा कथ्य को स्पष्ट करने एवं व्यंग्य की शक्ति को पेस कर पाठक-प्रेक्षक पर अभीष्ट प्रभाव डालने की दृष्टि से पूर्णत: सफल, अभिनेय एवं रंजक हैं। पारसी थिएटर के गीतों की तरह न उनमें कामोत्तेजक श्रृंगार वर्णन है, न अश्लील और फूहड़ श्ब्दावली और गाली-गलौच उनका चूरन बेचने वाला भी अपने गीत का अरंभ कृष्णमुरारी और श्याम-सलौना से करता है–

चूरन अमल वेद का भारी।
जिसको खते कृष्णमुरारी।।
मेरा पाचक है पचलोनाा।
जिसको खाता श्याम सलोना।।

नोट्स आज भी गाँवों, कस्बों तथा शहरों की गलियों में चूरन और चने बेचने वाले ऐसे ही गानों के साथ अपना सौदा बेचते हैं और लोग उनके गाने सुनने के लिए उनके खोमचों के चारें और इकट्ठा हो जाते हैं, एक ओर चूरन चने वाले का आनन्द लेते हैं और दूसरी ओर इन गानों का।

नोट

3.1.4 भाषा

भारतेन्दु युग में पद्य में ब्रजभाषा का ही वर्चस्व था; हाँ, गद्य में खड़ी बोली का प्रयोग होने लगा था पर वह भी शुद्ध खड़ी बोली न थी; उसमें भी ब्रज भाषा तथा पूर्वी प्रयोग मिलते हैं। उधर कचहरियों में बोचलाल की भाषा में भी उर्दू शब्दों का प्रयोग धड़ल्ले से होता रहा जो स्वतन्त्रता-प्राप्ति तक चलता रहा और आज भी उत्तर प्रदेश के पश्चिमी हिस्सों में खूब होता है। भारतेन्दु के नाटक 'अन्धेर नगरी' में आपको भाषा-प्रयोग का यह वैविध्य देखने को मिलता है। इन नाटक के गीतों में तथा अन्य पद्यों में भी ब्रजभाषा का ही उपयोग किया गया है। प्रथम दृश्य में महन्त जी का गीत, दूसरे दृश्य में मछली वाली का पद्य ब्रज-भाषा में ही है। इसके अतिरिक्त महन्त जी की उपदेशात्मक उक्तियों में ब्रजभाषा ही प्रयुक्त की गयी है–

लोभ पाप कौ मूल लो, लेभ मिटावत मान।
लोभ कभी नहिं कीजिए, यामै नरक निदान।।

अथवा नाटक के अन्त में महन्त जी का वचन–

जहैं न धर्म न बुद्धि नहिं नीति न सुजन समाज।
ते ऐसेहिं आपुहिं नसै, जैसे चौपट राज।।

गद्यमय संवादों में खड़ी बोली तथा ब्रजभाषा दोनों के ही शब्द तथा वाक्य-रचना मिलती है। शब्द-भंडार की दृष्टि से इस नाटक की भाषा में तत्सम, तद्भव, ग्रामीण, उर्दू, तथा बोलचाल की भाषा के शब्द मिलते हैं। कुछ उदाहरण देखिए–

तत्सम शब्द– कृष्णमुरारी, श्याम सलौना, व्यवस्था, समर्थ, रक्षा, शिष्य, अन्तिम उपदेश, आनन्द, भिक्षा, सामग्री।

तद्भव शब्द– भिच्छा, आसरे, पूरब।

ग्रामीण शब्द– बोदा, टिकस, चौपट्ट, नैनुवा, गया, लकलक, बुंबक-बुंबक, चाभना, मुटाना, बाजे-बाजे, साइत, टका, भाजी, खाजा।

उर्दू शब्द– हाकिम, हुकुम, हजम, कानून, हिंद, काजी, पाजी, रैयत, आशना, दोस्त, दरबार, बरखास्त, इन्तजाम, हुक्मी, बन्दे, कसूर।

कुछ शब्द ऐसे हैं जो केवल अनपढ़ लोग प्रयोग में लाते हैं और उन्हीं के द्वारा गढ़े गए हैं जैसे बेफायदा, बेअपराध, बेकसूर, नाहक। कुछ शब्दों में प्राचीनता के चित्र भी हैं जैसे करै, वोई, हई आदि।

भाषा में पैनापन लाने के लिए, उसे सजीव बनाने के लिए मुहावरों– गोल गाल करना, दांत खट्टे करना, छक जाना आदि लोकोक्तियों का प्रयोग भी किया गया है। नाटक के नामकरण का आधार तो है ही लोकोक्ति–

अन्धेर नगरी चौपट्ट राजा
टका सेर भाजी, टका सेर खाजा।

दूसरे दृश्य में कबाब वाला कहता है– खाय सो होंठ चाटै, न खाय सो जीभ काटै और हलवाई कहता है–जो खाय सो भी पछताय, जो न खाय सो भी पछताय।

इस नाटक की सबसे बड़ी भाषागत विशेषता है पात्रानुरूप भाषा का प्रयोग। बाजार वाले दृश्य में कबाब वाला, घासीराम चने वाला, जात वाला ब्राह्मण चूरन वाला, अफगान, हलवाई, कुंजड़िन, मछली वाला, नारंगी वाली, बनिया सब अपने-अपने स्तर, व्यवसाय और वर्ग की भाषा बोलते हैं। उनका उच्चारण और लहजा भी बिल्कुल सहज और स्वाभाविक है।

कबाब वाला पुकारता है–कबाब गरमागरम, मलालदार;

चने वाला आवाज लगाता है–

नोट

चना चुरमुर-चुरमुर बोलै।
बाबू खाने को मुँह खोलै।

स्व-मूल्यांकन

रिक्त स्थान भरिए–

1. नाटक में अफगान व्यक्ति हट्टे-कट्ठे व्यक्तियों के लिए ..... शब्द का प्रयोग करता है।
2. लोभ पाप को मूल है, लोभ मिटवात.....।
3. दुसरे दृश्य में ..... कहता है, खाय सो होंठ चाटै, न खाय सो जीभ काटे।
4. नाटक के गीतों में ..... भाषा का प्रयोग किया गया है।

हलवाई कहता है–रेवड़ी कड़ाका, पापड़ पड़ाका मुगल अफगानी उच्चारण में अपनी मेवा बेचता है– आमारा ऐसा मुल्क जिसमें अंग्रेज का दाँत खट्टा हो गया। नाहक को रुपया खराब किया। हिन्दोस्तान का आदमी लकलक हमारे यहाँ का आदमी बुंबक-बुंबक। इसी प्रकार राजा की भाषा उसके बौद्धिक स्तर तथा फूहड़ प्रकृति के अनुरूप है और महन्त तथा उसके शिष्यों की भाषा और उनका उच्चारण उस समय के साधु-सन्तों जैसा है– कुछ भिच्छ/-उच्छा मिलै तो ठाकुर जी का भोग लगै। और क्या। इस पर नारायण दास कहता है–गुरुजी महाराज! नगर तो नारायण के आसरे से बहुत ही सुन्दर है जो है, सो पर भिच्छा सुन्दर मिलै तो बड़ा आनन्द होय। ये लोग अपनी आदत और अभ्यास के करण शब्दों का शुद्ध उच्चारण नहीं करते–सचमुच की जगह शचमुच, करना की जगह करणा, बनिये की जगह बणिये और कितने की जगह कितणें बोलते हैं। अन्यत्र भी न्याय की जगह न्याय और रिश्वत की जगह रूशवत उच्चारण करते हैं लयात्मकता ओर तुक का प्रयोग कर भी भाषा को अभिनेकात्मक एवं सजीव बनाया गया है। नारंगी वाली कहती है–भई नीबू से नारंगी, मैं तो पिया के रंग रंगी और हलवाई कहता है– ऐसी जात हलवाई, जिसके छत्तीस कौम हैं भाई। यही सब देखकर गिरीश रस्तोगी ने लिखा है, "नितान्त हरकत भरी, जीवन्त, सक्रिय भाषा, उच्चरित शब्दों की ध्वनियों और लयों का सौन्दर्य लिए हुए मिलती है।" यही गुण बाद में मोहन राकेश के नाटकी की भाषा में मिलता है जिसके कारण उन्हें ख्याति प्राप्त हुई। 'अन्धेर नगरी' की भाषा-शैली सरस, साधारण और जनता की शैली है। अपनी सादगी और स्वाभाविकता के कारण वह नाटक-रचना तथा रंगमंच के लिए सर्वथा उपयुक्त है। डॉ. सत्येन्द्र तनेजा ने अन्धेर नगरी की भाषा में ठीक ही लिखा है– अन्धेर नगरी की खड़ी बोली और ब्रज भाषा की तेवर बिल्कुल भिन्न परन्तु नया है। .....भाषिक धरातल पर एक विचित्र समन्वय मिलता है जो पुनरुत्थान की मूल विशेषता है।"

3.2 सारांश

संवाद नाटक की आत्मा होते हैं। उन्हीं के आधार पर नाटक की कथा निर्मित और विकसित होती है, पात्रों के चरित्र के सम्बन्ध में जानकारी मिलती है, उनका विकास होता है। संवाद ही नाटक में सजीवता, रोचकता तथा पाठक के मन में जिज्ञासा और कौतूहल जगाते हैं नाटकीय संवादों में पात्रों के मनोभावों को अभिव्यक्त करने उनके मानसिक द्वन्द्व को चित्रित करने की शक्ति होती है। कथा के उद्देश्य को करने और नाटक को अभिनेय बनाने की दृष्टि से भी संवादों की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती है।

अंधेर नगरी के सम्वादों को परखा जाए तो उनमें प्राय: सभी गुण पाये जाते हैं। वे सुन्दर, छोटे, नाटकीय, व्यंग्यपूर्ण, सशक्त, सजीव और गति-शील हैं। उनमें चरित्रगत विशेषताओं और कथा के अभीष्ट को स्पष्ट करने की क्षमता है। वे वातावरण की स्वाभाविकता उत्पन्न करने में समर्थ हैं।

नोट

भाषा में बोलचाल का पुट तथा चुलबुलापन संवादों को अतिरिक्त शक्ति प्रदान करता है। ये संवाद मात्र के व्यक्तित्व और आचरण की रेखएं उकेरते हैं। राजा के संवाद और उनकी भाषा उसकी मूर्खता, उजड्डता, अशिष्टता, बुद्धि के स्तर की ओर संकेत करते हैं। उसके तुक और लय वाले संवाद 'भिश्ती-किश्ती' उसकी अतिसरलीकरण तथा सिर पर आन पड़ी वाली मनोवृत्ति के सूचक हैं।

नाटक के गीतों में तथा अन्य पद्यों में भी ब्रजभाषा का ही उपयोग किया गया है।

भाषा में पैनापन लाने के लिए, उसे सजीव बनाने के लिए मुहावरों– गोल गाल करना, दांत खट्टे करना, छक जाना आदि लोकोक्तियों का प्रयोग भी किया गया है।

इस नाटक की सबसे बड़ी भाषागत विशेषता है पात्रानुरूप भाषा का प्रयोग। बाजार वाले दृश्य में कबाब वाला, घासीराम चने वाला, जात वाला ब्राह्मण चूरन वाला, अफगान, हलवाई, कुंजड़िन, मछली वाला, नारंगी वाली, बनिया सब अपने-अपने स्तर, व्यवसाय और वर्ग की भाषा बोलते हैं। उनका उच्चारण और लहजा भी बिल्कुल सहज और स्वाभाविक है।

3.3 शब्दकोश

1. **लकलक–** दुबला-पतला
2. **बुंबक-बुंबक–** हृष्ट-पुष्ट
3. **नाहक–** बेकार, व्यर्थ
4. **साइत–** मुहूर्त

3.4 अभ्यास-प्रश्न

1. भरतेंदु की संवाद योजना की महत्त्वपूर्ण विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
2. भारतेंदु की संवाद योजना एवं भाषा शैली पात्रों के अनुकूल सटीक एवं पैनापन लिए हुए हैं उदाहरण के साथ समझाइए।

उत्तरः स्व-मूल्यांकन

1. बुंबक-बुंबक
2. मान
3. कबाबवाला
4. ब्रज

3.5 संदर्भ पुस्तकें

पुस्तकें

1. *अंधेर नगरी*– भारतेंदु हरिश्चन्द्र, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली।
2. *भरतेन्दु समग्र*– सम्पादकः हेमन्त शर्मा, हिन्दी प्रचारक पब्लिकेशन प्रा. लि. वाराणसी।
3. *नाटककार भारतेंदु की रंग परिकल्पना*– सम्पादकः सत्येन्द्र कुमार तनेजा, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली।
4. *भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिंदी नवजागरण की समस्याएँ*–रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
5. *अंधेर नगरी*–सृजन-विश्लेषण और पाठ, रमेश गौतम, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली।

नोट

इकाई 4: भारतेंदु की नाट्य-कला

अनुक्रमणिका

उद्देश्य

प्रस्तावना

4.1 भारतेंदु की नाट्य-कला

4.2 सारांश

4.3 शब्दकोश

4.4 अभ्यास-प्रश्न

4.5 संदर्भ पुस्तकें

उद्देश्य

विद्यार्थी इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् सक्षम होंगे–

- भारतेंदु की नाट्य लेखन शैली की विशेषताओं को समझने में।

प्रस्तावना

भारतेंदु के समय तक भारत की समृद्ध साहित्यिक नाट्य परंपरा, जिसकी अविच्छिन्न धारा भरत के नाटकों से लेकर लगभग 10वीं शताब्दी तक संस्कृत, रंगमंच से जुड़ी रही, वह लुप्त हो चुकी थी। दसवीं शताब्दी के बाद संस्कृत में जो नाटक लिखे गए उनका रंगमंच से कोई साक्षात् संबंध नहीं रहा और वे मात्र नाट्य-शास्त्र एवं नाट्यशास्त्र के परवर्ती ग्रंथ 'दशरूपक', 'साहित्यदर्पण' आदि में वर्णित नाटक के तत्वों को ही आधार बनाकर लिखे गए थे तथा मंच की दृष्टि से अभिनेय नहीं थे, यद्यपि इन नाटकों में काव्य पक्ष में कलात्मकता का समावेश अवश्य मिलता है। इस तरह हिंदी साहित्य की जो परंपरा संस्कृत नाटक और रंगमंच की मिलनी चाहिए थी, वह सदियों पहले ही लुप्त हो चुकी थी। अत: मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य में साहित्यिक नाटकों की परंपरा संस्कृत नाट्य साहित्य के दाय के रूप में हमें नहीं मिल पायी। इसका अर्थ यह नहीं है कि नाट्याभिनय की परंपरा ही सर्वथा लुप्त हो गई थी। वह वस्तुत: इस युग में भी लोक नाट्य के रूप में जीवित थी जो सदियों से संस्कृत के शास्त्रीय नाटकों के समानांतर सामान्य जनता के मनोरंजन के लिए तत्त्वत: प्रादेशिक क्षेत्रों में अविच्छिन्न रूप में प्रचलित थी और जिसका स्वरूप आज भी हिन्दी भाषाभाषी क्षेत्र में एक ओर धार्मिक रासलीलाओं आदि में और दूसरी ओर नौटंकी, ख्याल आदि के रूप में उपलब्ध है। यह लोक नाट्य परंपरा मध्ययुग के अभिजात कवियों द्वारा बिल्कुल नहीं अपनाई गई, न इसके साथ कोई शिष्ट प्रयोग ही किए गए इसका एक कारण यह भी था कि मध्ययुग में अभिजात रंगमंच के केंन्द्र ही लुप्त हो चुके थे। भारत का अंग्रेजों से संपर्क होने के बाद एक भिन्न नाट्य परंपरा अपने रंगमंच के साथ सबसे पहले शेक्सपियर के नाटकों के मंचन के साथ बंगाल में शुरू हुई। इन्हीं के प्रभाव से पारसी नाटक कंपनियों का विकास हुआ और भारतेंदु हरिश्चंद्र के समय में ये पारसी नाटक कंपनियाँ शेक्सपियर के नाटकों के हिंदी रूपांतर के साथ हमारी पौराणिक कथा वस्तु को लेकर भी कुछ नाटक खेलने लगीं। इन नाटक कंपनियों का अभिनय इतना अधिक पाश्चात्य प्रभावापन्न और अतिनाटकीय था कि उससे नाट्य-वस्तु की भारतीय आत्मा ही लुप्त होने लगी थी। भारतेन्दु के विषय में यह घटना प्रसिद्ध है कि पारसी नाटक कंपनी द्वारा शकुंतला नाटक का अभिनय देखकर भारतेंदु को इतना क्षोभ हुआ कि उनन्होंने स्वयं एक ओर नाटकों की रचना और दूसरी ओर हिंदी के अपने रंगमंच के निर्माण की ओर ध्यान देने का विचार किया।

नोट

4.1 भारतेंदु की नाट्य कला

स्पष्ट है कि भारतेंदु के समक्ष नाट्य साहित्य की तीन परंपराएँ थीं, 1. साहित्यिक संस्कृत नाटकों की परंपरा जो आरंभ में भरत के नाट्य शास्त्रीय सिद्धांतों के अनुसार और बाद में परवर्ती नाट्य शास्त्रीय ग्रंथों के अनुसार लिखे गए थे, 2. लोक नाट्य की परंपरा जिसकी भारतेंदु को पूरी जानकारी थी। 3. अंग्रेजी के रोमाण्टिक नाट्य साहित्य की परंपरा जिनमें मुख्यत: शेक्सिपियर के नाटक थे। रंगमंच की दृष्टि से भारतेंदु के समक्ष केवल दो परंपराएं थी, एक लोक नाट्य के रंगमंच की परंपरा जो गाँवों की नाट्य मण्डलियों में जीवित थी और दूसरी ओर पारसी नाट्य कंपनियों के रंगमंच की परंपरा। भारतेंदु के सामने यह प्रश्न था कि इन नाटकों और रंगमंचों की परंपराओं में से किन्हें चुनकर वे अपने नाट्य प्रयोग करें। संस्कृत नाट्य परंपरा के ढंग पर भारतेंदु से पूर्व लिखे दो नाटक अवश्य उनके समक्ष थे जिनमें एक 'आनंद रघुनंदन' नाटक था, जिसके पात्र पद्य के अतिरिक्त ब्रज भाषा में गद्य संवादों का भी प्रयोग करते थे। उसी संस्कृत की साहित्यिक नाट्य परंपरा की शैली में भारतेंदु के पिता बाबू गोपालचंद्र गिरधरदास ने भी 'नहुष' नाटक की रचना की थी जिसके विषय में भारतेन्दु ने अपने प्रसिद्ध निबंध 'नाटक' में लिखा है– "विशुद्ध नाटक रीति से पात्र प्रवेशादि नियम रक्षण द्वारा भाषा का प्रथम नाटक मेरे पिता पूज्य चरण श्री कविवर गोपालचंद्र गिरधरदास का है।" इससे स्पष्ट है कि यद्यपि भारतेंदु 'नहुष' नाटक को हिन्दी का पहला नाटक मानते थे तथापि वे हिंदी नाटक के लिए स्वयं परती जमीन तोड़ रहे थे और उसके प्रयोग के लिए हिंदी के स्वतंत्र रंगमंच का निर्माण भी करने जा रहे थे क्योंकि उनके पिता का 'नहुष' 'नाटक भारतेंदु की अपनी नाट्य कला का आदर्श कतई नहीं रहा।

क्या आप जानते हैं कवि एवं गद्य लेखक भारतेंदु 'रसा' नाम से उर्दू में भी कविताएँ लिखते थे।

भारतेंदु का साहित्यिक व्यक्तित्व मात्र साहित्य का नहीं है। वे एक ऐसे कवि, नाटककार, निबंध लेखक और पत्रकार के रूप में हमारे समक्ष अवतरित होते हैं जो अपने युग और समाज की आशाओं-आकांक्षाओं को, तनाव और संघर्षो को अपनी रचनाओं द्वारा वाणी दे रहे थे। एक ओर वे समाज की गलित मध्ययुगीन सामंती रूढ़ियों का विरोध कर रहे थे, यद्यपि वे स्वयं सामंती वर्ग के उस अवशेष से जन्मे थे जो 19 शती के उत्तरार्द्ध में अभिजात मध्यवर्ग की शक्ल ले रहा था, तो दूसरी ओर उन्हें अपने समय की राजनीतिक परिस्थितियों का भी पूरा अहसास था। विदेशी साम्राज्य के आर्थिक और राजनीतिक शोषण के शिकंजे में जकड़ी राष्ट्रीय चेतना से उनका हृदय निरंतर उद्वेलित हो रहा था। यद्यपि भारतेंदु की राष्ट्र भावना में हमें अंतर्विरोध अवश्य दिखाई पड़ता है। तथापि यह अन्तर्विरोध भारतेंदु का मात्र अपना न होकर उस समग्र युग का है जो एक ओर ब्रिटिश हुकूमत से आर्थिक शोषण के कारण घृणा करता था, किंतु दूसरी ओर उसकी शासन व्यवस्था की अच्छाइयों को भी स्वीकार करता था। भारतेंदु ने अपने नाटकों को इस दृष्टि से अपने सामाजिक और राष्ट्रीय विचारों के वाहक अस्त्र के रूप में भी इस्तेमाल किया है।

भारतेंदु ने इसे बखूबी महसूस किया था कि संस्कृत नाटकों की परंपरा समृद्ध होते हुए भी उसकी तकनीक का प्रयोग कर आाज उनके समय में नाटकों की रचना करना समीचीन नहीं है, किंतु इसके साथ वे यह भी स्वीकार करते थे कि पुरानी भारतीय नाट्य परंपरा का सर्वथा परित्याग भी ठीक नहीं होगा क्योंकि उस स्थिति में भारतीय नाट्य परंपरा की आत्मा ही लुप्त हो जाएगी। भारतेंदु ने अपने 'नाटक' शीर्षक निबंध में इस मान्यता को स्पष्ट शब्दों में उल्लिखित किया है– "वर्तमान समय में इस काल के कवि तथा सामाजिक लोगों की रुचि उस काल की अपेक्षा अनेकांश में विलक्षण है, उससे सम्प्रति प्राचीन मतावलम्बन करके नाटकादि दृश्य काव्य लिखना युक्तिसंगत नहीं बोध होता है। मैं जिस समय में जैसे सहृदय जन्म ग्रहण करें और देशीय रीति-नीति का प्रवाह जिस रूप से चलता रहे, उस समय में उक्त सहृदय गण के अन्त:करण की वृत्ति और सामाजिक रीतिपद्धति, इन दोनों विषयों की समीचीन समालोचना करके नाटक आदि दृश्य काव्य का प्रणयन करना योग्य है।" वहीं दूसरी ओर भारतेंदु यह भी कहते हैं– "नाटकादि दृश्य काव्य प्रणयन करना हो तो प्राचीन समस्त रीति ही परित्याग करे, यह आवश्यक नहीं है क्योंकि

जो सब प्राचीन रीति व पद्धति आधुनिक सामाजिक लोगों की मतपोषिका होंगी, वह सब अवश्य ग्रहण होंगी।"

नोट

टास्क भारतेंदु के मूल एवं अनूदित नाटकों का अलग-अलग विवरण दीजिए।

भारतेंदु की नाट्य कला का आधार उनके उपर्युक्त सिद्धांत हैं। स्पष्ट है कि वे भारतीय नाट्य-परंपरा की कड़ी जहाँ टूट चकी है, वहीं से सूत्र लेकिन युगानुरुप हिंदी नाट्य परंपरा के विकास के लिए अभिनव प्रयाग करने जा रहे थे। उनकी समस्त नाट्यकृतियाँ इसी विकास क्रम की दृष्टि से देखी जानी चाहिए। अपने नाट्य रचनाकाल के पहले युग में भारतेंदु का ध्यान बंगला तथा संस्कृत नाट्य परंपरा की ओर गया। उन्होंने सर्वप्रथम बंगला के प्रसिद्ध कवि भारतचंद्र के काव्य 'विद्यासुंदर' के आधार परिलिखे बंगला नाटक का 'विद्यासुंदर' नाम से हिंदी अनुवाद उपस्थित किया जो संवत् 1925 की रचना है। यहीं से नाटककार भारतेंदु का उदय होता है। उस नाटक की तकनीक संस्कृत नाट्य परंपरा के ही अनुसार है जिसमें नान्दी और प्रस्तावना के अतिरिक्त पंच संधियों का भी निर्वाह मिलता है। इसके बाद उनका ध्यान संस्कृत के चार रुपकों की ओर गया ये चारों रूपक अलग-अलग रुपक विधान के निदर्शन हैं। आरंभ में वे संस्कृत के प्रसिद्ध नाटक 'प्रबोध चंद्रोदय' के तृतीय अंक को स्वतंत्र एकांकी के रूप में उपस्थित करते हैं। जिसमें समाज में फैले पाखंडपूर्ण आडंबर की कटु भर्त्सना की गयी है। जाहिर है कि भारतंदु ने 'प्रबोध चंद्रोदय का यह अंश अनुवाद के लिए अपने युग के तकाजे से उठाया था। इसके द्वारा वे अपने युग में फैले खंडपूर्ण सामाजिक एवं धार्मिक जीवन की भी लाक्षणिक शैली में भर्त्सना कर रहे थे। इसके बाद उन्होंने संस्कृत का एक ऐसा एकांकी उठाया जो स्त्री पात्र रहित रूपक अर्थात् व्यायोग है इसमें वे भारत की प्रसिद्ध सांस्कृतिक कथा महाभारत से अर्जुन और दुर्योधन की नोंक-झोंक के प्रसंग को लेकर असत् पक्ष पर सत् पक्ष की विजय की व्यंजना करा रहे थे। इस व्यायोग को उनहेंने विशेष रूप से खेलने के लिए लिखा था। उन दिनों मंच पर अवतरित होने के लिए स्त्रियां नहीं मिलती थीं। स्त्री पात्रों का अभिनय बेचारे पुरुषों को ही करना पड़ता था। इस संबंध में भारतेंदु जी के एक साथी प्रतापनारायण मिश्र के बारे में यह किस्सा मशहूर है कि उन्हें मंच पर एक नाट्यभिनय में स्त्री के रूप में उतरना था, पर मूछों वाले मिश्र जी के लिए यह अभिनय करने में समस्या थी। कहते हैं कि उन्होंने अपने पिता के पास जाकर उनसे मूँछे मुंड़वाले की इजाजत चाहा ही ताकि वे स्त्री पात्र का अभिनय कर सकें। यह किस्सा भारतेंदु युग के लेखकों की जिंदादिली का प्रतीक है। इस तरह के जिंदादिल पुरुष उस युग में कम थे जो स्त्री के रूप में मंच पर बेझिझक अवतरित हो सकें। फलत: भारतेंदु को 'धनंजय विजय व्यायोग' लिखने की जरूरत पड़ी। अब उनका ध्यान राजशेखर के 'कर्पूर मंजरी' नाटक की ओर गया जो प्राकृत भाषा में निबद्ध चार यवनिकांतरों में विभक्त उपरूपक है। इसे एक प्रकार से संस्कृत नटिका के पैटर्न पर लिखी प्राकृत नाटिका कहा जा सकता है। इस नाटक के अनुवाद द्वारा भारतेंदु एक ओर तो भारतीय रूमानी रूपक का स्वरूप प्रस्तुत करना चाहते थे, दूसरी ओर विदूषक की मनोरस हास्य का स्वरूप देना चाहते थे जो पारसी नाटक मण्डलियों में दिखाये जाने वाले विदूषक के भोंड़े हास्य की अपेक्षा अधिक परिष्कृत थी और साथ ही यह भी सूचित करना चाहते थे कि संस्कृत नाटक परंपरा किस तरह परिवर्तित होकर प्राकृत में निबद्ध नाट्य कृतियों के रूप में विकसित हुई थी और इस तरह वह अपने समय के नाटककारों को इस परंपरा को युगानुरूप आगे बढ़ाने की प्रेरणा दे रहे थे। भारतेंदु ने अब जिस संस्कृत नाटक को चुना, वह विशिष्ट अर्थवत्ता लेकर आया था। यह नाटक था विशाखदत्त का 'मुद्राराक्षस' जो संस्कृत का एकमात्र ऐसा नाटक है जिसमें भारत के प्राचीन इतिहास से राजनीतिक संघर्ष और अंतर्द्वंद्व की कथा को नाटकीय रूप में उपस्थित किया गया है। इस नाटक की तकनीक 'अभिज्ञान शाकुंतल' जैसे रूमानी संस्कृत नाटकों और 'वेणी संहार' जैसे वीर रसात्मक पौराणिक नाटकों की ही नहीं, 'मृच्छकटिक' जैसे रूमानी और राजनीतिक उथल-पुथल वाले यथार्थवादी नाटक से भिन्न कोटि की है जिसकी आधुनिक दृष्टि समीक्षक भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। इस नाटक का अनुवाद करने में भारतेंदु की जागरूक राष्ट्रीय चेतना उत्प्रेरक तत्त्व रही है। वस्तुत: इस नाटक के द्वारा वे मलयकेतु को ब्रिटिश साम्राज्य को प्रतीक और चन्द्रगुप्त को भारतीय राष्ट्रीय अस्मिता का प्रतीक

नोट

मानकर चलते जान पड़ते हैं जहाँ चाणक्य जो कि उस युग का प्रमुख बुद्धिवादी है इस बात का संकेत करता है कि भारतेंदु के युग में मलयकेतु को पराजित करने में बुद्धिवादी चाणक्य की भूमिका निभानी होगी। इस तरह इस संस्कृत नाटक को हिंदी पाठकों के समक्ष उपस्थित करने में भारतेंदु की दृष्टि मात्र अनुवाद करने की नहीं है, बल्कि वे समसामयिक तकाजे के तहत इसे कर रहे थे। तकनीक की दृष्टि से भी यह नाटक अत्यधिक सुगठित नाट्य रचना है और दूसरी ओर इसमें स्त्री पात्र अत्यधिक स्वल्प हैं। समस्त नाटक का द्वंद्व बाह्य न होकर अभ्यंतर अधिक है जहाँ वास्तविक लड़ाई चाणक्य और राक्षस की बुद्धियों की है। चंद्रगुप्त भले ही परंपरावादी समीक्षकों की दृष्टि से फलभोक्ता नायक हो किंतु वह चाणक्य का मात्र मोहरा है और इस दृष्टि से इस नाटक में बुद्धिवादी राजनीति चाणक्य को ही नायक मनना अधिक उचित जान पड़ता है।

नोट्स

'भारत वर्षोन्नति कैसे हो सकती है' विषय पर भारतेंदु ने बलिया के ददरी मेले में एक ऐतिहासिक व्याख्यान दिया था जो हर प्रकार सचेत होकर भारतीयों को आजादी की राह पर चलने की प्रेरणा देता है।

भारतेंदु के मौलिक नाटकों में संवत् 1930 में उन्होंने 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' प्रहसन की रचना की। यह प्रहसन पाखण्ड विडंबन' के ठीक बाद की रचना है जो संवत् 1929 में लिखा गया। दोनों का मूल स्वर एक है। दोनो में ही धार्मिक, सामाजिक कुरीतियों का मखौल उड़ाया गया है। इसके बाद संवत् 1932 में उन्होंने 'सत्य हरिश्चंद्र' नाटक लिखा। इस नाटक को उन्होंने संस्कृत के 'चण्डकौशिक' नाटक को आधार बनाकर लिखा था किंतु यह उसका अनुवाद नहीं है। पूरा नाटक एक दर्दनाक ट्रैजीकामेडी (TragiComedy) का वातावरण लेकर आता है जिसका अंतर अवश्य सुखात्मक है किंतु बीच में नाटक की कथावस्तु जिस रूप में बढ़ती है वह सामाजिक को स्थान-स्थान पर गलदश्रु बनाने में सक्षम है। इस नाटक का वस्तु-संयोजन 'चण्डकौशिक' के वस्तु संयोजन से भिन्न है जहाँ भारतेंदु ने वस्तु-विन्यास में नयी मौलिक उद्भावनाएँ की हैं। इसकी तकनीक संस्कृत शास्त्रीय नाटकों वाली ही है किंतु इसमें जहाँ एक ओर भातरेंदु का अपना व्यक्ति लाक्षणिक रूप में उपस्थित किया गया है वहीं दूसरी ओर भारतेंदु की जन्म भूमि और कर्म-भूमि काशी का चित्र भी उभरकर सामने आता है। इसके बाद उनका ध्यान नाटिका के रचना ढंग की ओर गया जो रूमानी बातावरण की रचना हो किंतु चूँकि भारतेंदु आस्तिक वैष्णव थे और ऐसे परिवार में पैद हुए थे जो कृष्ण-भक्त था अत: उन्होंने ऐसी कथा-वस्तु उठायी जो उदयन और रत्नावली की या रजा चण्डपात्र और कर्पूर मंजरी की अन्त: पुरी में खेली गयी गुपचुप प्रेमलीला का चित्र न हो बल्कि रूमानी वातावरण के साथ भक्ति का गाम्भीर्य भी उसमें घुला-मिला हो। इस तहर के गंभीर और साथ ही रूमानी प्रणय को चित्रित करने के लिए उन्होंने कृष्ण एवं चंद्रावली के प्रेम को लेकर 'चंद्रावली' नाटिका की रचना की जो स्थान-स्थान पर एक ओर भारतेंदु के कवित्त और दूसरी ओर उनके भक्तत्व को उजागर करती है। इस नटिका में एक ओर भक्तिकाल के कृष्ण-भक्त कवियों और दूसरी ओर रीतिकाल के पद्माकर जैसे रीतिबद्ध कवियों के साथ ही साथ घनानंद जैसे रीतिमुक्त कवियों की परंपरा का निर्वाह करते हुए भारतेंदु दिखायी पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त इसकी तकनीक और संवाद शैली में ब्रजभूमि में रास मण्डलियों द्वारा कृष्ण के जीवन से संबद्ध रासलीलाओं की परंपरा का प्रभाव दिखाई पड़ता है।

भारतेंदु ने मौलिक नाटकों की दृष्टि से अन्य प्रकार के प्रयोग भी किये। उनका 'विषस्यविषमौषधम्' शीर्षक एकांकी एकपात्रीय भाण है, किंतु इस भाण की कथावस्तु संस्कृत के उन भाणों की कथावस्तु से भिन्न है जहाँ एक रसिक पात्र गणिकाओं के बाजार में घूमकर आकाश-भाषित के द्वारा विलासिता एवं स्वेच्छाचारिता पर व्यंग्य करता दिखाया जाता है। विलासिता और स्वेच्छाचारिता के चित्र 'विषस्यविषमौषधम्' में भी हैं जहाँ भण्डाचार्य इंदौर के राजा मल्हाराव होल्कर के समय की इंदौर की दुर्दशा पर व्यंग्य करता दिखाया गया है। किंतु इस भाण की राजनीतिक अर्थवत्ता भी है कि किस तरह भारतीय सामंतों और राजाओं का ही यह परिणाम है– "सन् 1599 में जो लोग सौदागीरी करने आये थे वे आज स्वतंत्र राजाओं को दूध की मक्खी बना देते हैं।"

नोट

भारतेंदु की यह राजनीतिक चेतना जो ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरोध में धीरे-धीरे पनप रही थी, 'भारत दुर्दुशा' (नाट्य रासक) और 'अंधेर नगरी' (प्रहसन) में और अधिक प्रखर रूप में उपस्थित होती है। इन दोनों नाटकों में भारतेंदु लाक्षणिक ढंग से ब्रिटिश साम्राज्य की भर्त्सना करते दिखाई पड़ते हैं। दूसरी ओर इन नाट्य कृतियों में वे तकनीक की दृष्टि से भी नये प्रयोग करते हैं। उन्हीं दिनों भारतेंदु ने मुगलकालीन इतिहास के आधार पर 'नील देवी' गीति रूपक की रचना की जिसमें नाटक की प्रमुख पात्र नील देवी को कुशल कूटनीतिज्ञ के रूप में चित्रित किया गया है। इस नाटक में भारतेंदु मुस्लिम पात्रों के मुंह से उर्दू शैली के संवाद कहलाते हैं और ये पात्र उर्दू गजलों का भी प्रयोग करते हैं। इस तरह यहाँ भी भारतेंदु नाट्यकला के साथ एक नया प्रयोग करते हुए देखे जाते हैं।

स्व-मूल्यांकन

दिए गए कथन के सामने सही (✓) अथवा गलत (×) का निशान लगाइए–

1. छायावादी कवियों में भारतेंदु का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

   ☐

2. भारतेंदु के साहित्य में पदार्पण से एक नए युग की शुरुआत हुई और भारतेंदु के विशिष्ट अवदान के कारण उसे हिंदी साहित्य में भारतेंदु युग नाम दिया गया।

   ☐

3. 'नाटक' नामक आलोचनात्मक निबंध लिखकर भारतेंदु ने हिंदी आलोचना की बुनियाद डाली।

   ☐

4. खड़ी बोली में कविता करने का श्रेय भारतेंदु को है।

   ☐

5. सन 1867 में भारतेंदु ने महत्त्वपूर्ण साहित्यिक पत्रिका के विवचन सुधा का प्रकाशन किया।

   ☐

भारतेंदु के दो अपूर्ण नाटक उपलब्ध हैं एक 'सती प्रताप' गीति रूपक जिसकी कथावस्तु सावित्री-सत्यवान को पौराणिक कथ्य पर आधृत है। उनकी दूसरी अपूर्ण रचना 'प्रेमयोगिनी' नाट्य कला की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व की हैं इसकी तकनीक में कई नये प्रयोग मिलते हैं एक ओर इसमें काशी के पक्के माहौल में अलग-अलग लोगों द्वारा बोली जाने वाली बोलियों के प्रयोग किए गए हैं तो दूसरी ओर धर्म के आडंबर में विलासमय जीवन व्यतीत करते बल्लभा संप्रदाय के गोसाइयों के जीवन पर कटाक्ष है जो संभवत: काशी के गोपाल मंदिर के महंतों का चित्रण जान पड़ता है। इतना ही नहीं, इन मंदिरों मे दर्शन करने जाने वाले स्त्री-पुरूषों की गुपचुप प्रणय लीला पर भी वे व्यंग्य करते दिखाई देते हैं। काशी के गंगा-पुत्र महाराष्ट्रीय एवं दाक्षिणार्त्य पण्डियों का दलाल दुकानदार आदि अनेक पात्रों का ऐसा चित्र यहाँ खींचा गया है कि उनकी दैनिकचर्या एवं अनावृत्ति का निराला परिचय मिल जाता है। 'प्रमयोगिनी' में भारतेंदु की नाट्य-कला कैमरा का काम करती हैं। वे ठठेरा बाजार के अपने घेरे से निकलकर जैसे गोपाल मंदिर के गुजराती भक्तों, भकितनियों ओर महंतों, दूध विनायक और ब्रह्माघट के दाक्षिणात्य ब्राह्मणों, कुञ्जगली के रेशम व्यापारियों और साड़ियों के दलालों या इनके संपर्क में आने वाले अन्य लोगों को अपने कैमरे के लेंस से कवि चेतना के निगेटिव पर उतार कर इस नाटिका में पाजिटिव प्रिंटिंग के रूप में उपस्थित करते हैं। इतना ही नहीं, वे अपने समय की काशी की भौगोलिक, धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक गतिविधि का गत्वर चित्र भी यहाँ दिखाते चलते हैं जिसे देखकर हम भी उनके पात्र की तरह कह सकते हैं– 'देखी तेरी काशी भइया, देखी तेरी काशी।"

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भारतेंदु संस्कृत तथा प्राकृत की नाट्य-परंपरा के साथ लोक नाट्य परंपरा को भी जोड़कर एक नयी नाट्य परंपरा की तलाश कर रहे थे जो उनकी विविध नाट्य कृतियों की कथा वस्तु और

नोट

तकनीक के साथ किए गये प्रयोगों से स्पष्ट है। खेद है कि द्विवेदी युग के नाटककारों ने इस परंपरा को आगे नहीं बढ़ाया। आज जबकि हिंदी रंगमंच क साथ अनेक दिशाओं में नये प्रयोग हो रहे हैं, भारतेंदु की नाट्य-कला वह दीपस्तंभ है जो हमें हिंदी नाटक और रंगमंच के कारण युगानुरूप नये प्रयोग करते रहने की प्रेरणा देता रहेगा।

4.2 सारांश

भारतेंदु के समय तक भारत की समृद्ध साहित्यिक नाट्य परंपरा, जिसकी अविच्छिन्न धारा भरत के नाटकों से लेकर लगभग 10वीं शताब्दी तक संस्कृत, रंगमंच से जुड़ी रही, वह लुप्त हो चुकी थी। दसवीं शताब्दी के बाद संस्कृत में जो नाटक लिखे गए उनका रंगमंच से कोई साक्षात् संबंध नहीं रहा और वे मात्र नाट्य-शास्त्र एवं नाट्यशास्त्र के परवर्ती ग्रंथ 'दशरूपक', 'साहित्यदर्पण' आदि में वर्णित नाटक के तत्वों को ही आधार बनाकर लिखे गए थे तथा मंच की दृष्टि से अभिनेय नहीं थे, यद्यपि इन नाटकों में काव्य पक्ष में कलात्मकता का समावेश अवश्य मिलता है। इस तरह हिंदी साहित्य की जो परंपरा संस्कृत नाटक और रंगमंच की मिलनी चाहिए थी, वह सदियों पहले ही लुप्त हो चुकी थी। भारतेन्दु के विषय में यह घटना प्रसिद्ध है कि पारसी नाटक कंपनी द्वारा शकुंतला नाटक का अभिनय देखकर भारतेंदु को इतना क्षोभ हुआ कि उनन्होंने स्वयं एक ओर नाटकों की रचना और दूसरी ओर हिंदी के अपने रंगमंच के निर्माण की ओर ध्यान देने का विचार किया। भारतेंदु का साहित्यिक व्यक्तित्व मात्र साहित्य का नहीं है। वे एक ऐसे कवि, नाटककार, निबंध लेखक और पत्रकार के रूप में हमारे समक्ष अवतरित होते हैं जो अपने युग और समाज की आशाओं-आकांक्षाओं को, तनाव और संघर्षों को अपनी रचनाओं द्वारा वाणी दे रहे थे। भारतेंदु ने इसे बखूबी महसूस किया था कि संस्कृत नाटकों की परंपरा समृद्ध होते हुए भी उसकी तकनीक का प्रयोग कर आाज उनके समय में नाटकों की रचना करना समीचीन नहीं है, किंतु इसके साथ वे यह भी स्वीकार करते थे कि पुरानी भारतीय नाट्य परंपरा का सर्वथा परित्याग भी ठीक नहीं होगा क्योंकि उस स्थिति में भारतीय नाट्य परंपरा की आत्मा ही लुप्त हो जाएगी। भारतेंदु ने अपने 'नाटक' शीर्षक निबंध में इस मान्यता को स्पष्ट शब्दों में उल्लिखित किया है– "वर्तमान समय में इस काल के कवि तथा सामाजिक लोगों की रुचि उस काल की अपेक्षा अनेकांश में विलक्षण है, उससे सम्प्रति प्राचीन मतावलम्बन करके नाटकादि दृश्य काव्य लिखना युक्तिसंगत नहीं बोध होता है। भारतेंदु ने मौलिक नाटकों की दृष्टि से अन्य प्रकार के प्रयोग भी किये। उनका 'विषस्यविषमौषधम्' शीर्षक एकांकी एकपात्रीय भाण है, किंतु इस भाण की कथावस्तु संस्कृत के उन भाणों की कथावस्तु से भिन्न है जहाँ एक रसिक पात्र गणिकाओं के बाजार में घूमकर आकाश-भाषित के द्वारा विलासिता एवं स्वेच्छाचारिता पर व्यंग्य करता दिखाया जाता है। राजनीतिक चेतना जो ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरोध में धीरे-धीरे पनप रही थी, 'भारत दुर्दुशा' (नाट्य रासक) और 'अंधेर नगरी' (प्रहसन) में और अधिक प्रखर रूप में उपस्थित होती है। इन दोनों नाटकों में भारतेंदु लाक्षणिक ढंग से ब्रिटिश साम्राज्य की भर्त्सना करते दिखाई पड़ते हैं। दूसरी ओर इन नाट्य कृतियों में वे तकनीक की दृष्टि से भी नये प्रयोग करते हैं।

4.3 शब्दकोश

1. **रोमांटिक–** कल्पना प्रधान, कल्पित, स्वच्छंद
2. **प्रहसन–** हास्य रस प्रधान नाटक
3. **यवनिका–** परदा, नाटक का पर्दा

4.4 अभ्यास-प्रश्न

1. भारतेंदु की नाट्य कला की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
2. भारतेंदु द्वारा नाटकों में किए गए नए प्रयोगों पर एक टिप्पणी लिखिए।

उत्तर: स्व-मूल्यांकन **नोट**

1. (×) 2. (✓) 3. (✓) 4. (×) 5. (✓)

4.5 संदर्भ पुस्तकें

1. *भरतेन्दु समग्र*– सम्पादक: हेमन्त शर्मा, हिन्दी प्रचारक पब्लिकेशन प्रा. लि. वाराणसी।
2. *अंधेर नगरी*– भारतेंदु हरिश्चन्द्र, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली।
3. *नाटककार भारतेंदु की रंग परिकल्पना*– सम्पादक: सत्येन्द्र कुमार तनेजा, राधा कृष्ण प्रकाशन, दिल्ली।
4. *भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और हिंदी नवजागरण की समस्याएँ*–रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
5. *अंधेर नगरी*–सृजन-विश्लेषण और पाठ, रमेश गौतम, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली।

नोट

इकाई 5: चंद्रगुप्तः कथासार एवं महत्त्वपूर्ण अंशों की सप्रसंग व्याख्या

अनुक्रमणिका

उद्देश्य

प्रस्तावना

5.1 चंद्रगुप्तः कथासार

5.1.1 प्रथम अंक

5.1.2 द्वितीय अंक

5.1.3 तृतीय अंक

5.1.4 चतुर्थ अंक

5.2 चन्द्रगुप्तः प्रमुख अंशों की सप्रसंग व्याख्या

5.2.1 गद्य खण्ड

5.2.2 पद्य खण्ड

5.3 शब्दकोश

5.4 अभ्यास-प्रश्न

5.5 संदर्भ पुस्तकें

उद्देश्य

विद्यार्थी इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् सक्षम होंगे–

- चंद्रगुप्त नाटक की कथा से परिचित होंगे।
- चंद्रगुप्त के कुछ प्रमुख गद्य एवं गद्यांशों की व्याख्या करने में सक्षम होंगे।

प्रस्तावना

चंद्रगुप्त नाटक में, कदाचित् प्रसाद जी के सभी नाटकों में, उनके इतिहासज्ञान की गरिमा सर्वाधिक अभिव्यक्त हुई है। सिकन्दर के आक्रमण-संबंधी, नन्दकुल के विनाश से संबंधित, चंद्रगुप्त और चाणक्य की इतिहास-संबंधी वे सभी बातें और घटनाएँ ऐतिहासिक सत्य के रूप में संकलित करके चुन ली हैं, जो या तो इतिहास में प्रसिद्ध हैं अथवा जन समाज में सत्य के रूप में दोहराई जाती हैं। इस नाटक में उन सत्यों की विवेचना भी है जिनमें इतिहासकार मतभेद रखते आये हैं। वैसे तो इन सभी विवादग्रस्त ऐतिहासिक तथ्यों का पुनराख्यान प्रसाद जी ने नाटक की भूमिका में कर दिय, पर अपने नाटक की कथावस्तु को साहित्यिक परिवेश में ऐसा सुसम्बद्ध किया है कि उस समय का पूर्ण इतिहास आँखों के सामने घूम जाता हैं नाटककार का दृष्टिकोण इतिहास–क्षेत्र में सर्वत्र ही खोजपूर्ण रहा है और उन्होंने मौर्यवंश और तत्कालीन भारत-दशा के ऊपर पड़े हुए जन-श्रुतियों एवं अज्ञानता के आवरण को हटाकर प्रकाश में लाना चाहा है। कहीं भी उन्होंने ऐतिहासिक घटना अाविा सत्य को लोक-प्रसिद्धि से पोषित अथवा ग्रन्थित करके समन्वय का झूठा प्रयास नहीं किया।

5.1 चंद्रगुप्तः कथासार

नोट

5.1.1 प्रथम अंक

प्रथम दृश्य– तक्षशिला गुरुकुल में नाटक के पाँच प्रमुख पात्रों का दर्शन होता है। चाणक्य, चंद्रगुप्त, सिंहरण, अलका, आम्भीक इन पाँचों की चारित्रिक विशेषताएँ यहाँ संकेत में मिल जाती हैं। चाणक्य, चंद्रगुप्त और सिंहरण के साथ वार्तालाप करके राष्ट्र के ऊपर आने वाली भावी संकटकालीन स्थिति की ओर संकेत करता है। उस समय की राजनैतिक-शिक्षा संबंधी एवं राजनीति में स्त्रियों की स्थिति के विषय में भी हमें आभास मिलता है। इसी दृश्य में ब्राह्मणत्व पर गर्व करने वाले चाणक्य की राजनैतिक दूरदर्शिता, उद्देश्य एवं बुद्धि की कुशलता के भी दर्शन होते हैं। सिंहरण के ये वाक्य कि 'शीघ्र भयानक विस्फोट होगा', 'आर्य जाति पतन के कगार पर खड़ी एक धक्के की राह देख रही है।' ''विनम्रता के साथ निर्भीक होना मालवों का वंशानुगत चरित्र है।'', 'गुरुकुल में केवल आचार्य की आज्ञा ही शिरोधार्य होती है, अन्य आज्ञायें अवज्ञा के कान से सुनी जाती हैं राजकुमार!'' और वीर हृदय मयूर-से नाचें! तब आओ, देवी स्वागत।' उस वीरता, धीरता, गम्भीरता आदि के सूचक होने के साथ-साथ उस समय के विद्यार्थियों का राजनीति में भाग लेने की स्थिति का भी आभास होता है। वीर चंद्रगुप्त का कथन 'प्रत्येक निरपराध आर्य स्वतंत्र है, उसे कोई बन्दी नहीं बना सकता है।' 'आत्म-सम्मान के लिए ही मर-मिटना ही दिव्य जीवन है', उसका गौरवादर्श एवं आत्मसम्मान व आत्मविश्वास का द्योतक है। इसके साथ ही साथ सिंहरण के प्रति अलका के प्रेम का आकर्षण, उसकी निष्कपटता और राष्ट्रीय भावना का संकेत भी मिलता है। आम्भीक के ये शब्द 'बस-बस, दुर्धर्ष युवक! बता तेरा अभिप्राय क्या है? तुम सब कुचक्र में लिप्त हो; 'चुप रहो अलका, ऐसी बात नहीं है जो यों ही उड़ा दी जाय। उसकी उद्दण्डता, दुर्विनीतता, देशद्रोह की भावना एवं अलका के विचारों से विषमता के द्योतक हैं। घटनारूप में सिंहरण और आम्भीक के साथ झड़प, चाणक्य और आम्भीक की बातचीत, चंद्रगुप्त का सिंहरण के प्रति मित्रता का व्यवहार, अलका और सिंहरण का स्निग्धतापूर्ण वार्तालाप मुख्य घटनाएं हैं।

द्वितीय दृश्य– इस दृश्य में मगध सम्राट नन्द के विलास कानन का दृश्य उपस्थित किया गया है। विलासी नन्द वसन्तोत्सव पर अपनी विलासी प्रवृत्ति का नग्न चित्र उपस्थित करता है। मदिरापान की अधिकता एवं राग-रंग की बहुतायत से ऐसा प्रतीत होता है, मानो मगध का प्रख्यात शासक नन्द पूर्ण रूप से आमोद-प्रमोद एवं विलास के पंक में निमज्जित है, जो उसके विनाश की पूर्वसूचना ही है। इसी दृश्य में कलाकुशल, संगीत-प्रेमी राक्षस की कुलीनता का भी परिचय होता है और वह अमात्य पद के लिए चुन लिया जाता है। सुवासिनी असहाय होकर नृत्य-संगीत को अपने निर्वाह के लिए चुनकर नन्द के आश्रय में रहने लगती है और राक्षस के प्रति उसके प्रेम का सूत्रपात यहीं होता है। सम्राट नन्द के वाक्य– 'तुम सुन्दरी हो; परन्तु तुम्हारे यौवन का विभ्रम अभी संकोच की अर्गला से जकड़ा हुआ है, में ब्रह्मशस्त्र से अधिक इन सुन्दरियों के कुटिल कटाक्षों से मरता हूँ, मेरी मगध की नागरिकाओं का शासन मेरे ऊपर है।'' उसकी विलासिता एवं उसके पतनोन्मुख चरित्र की सीमा है, यह नाश का पूर्व संकेत है।

तृतीय दृश्य– पाटलिपुत्र में एक भग्न कुटीर में चाणक्य अकेला दिखाया जाता है। भावुक चाणक्य अपने जन्म-स्थान को देखकर एवं अपने पिता तथा शकटार के वंश पर राजकीय विपत्तियों का संकेत पाकर विषय की दिशा का दृढ़ निश्चय करता है। राज्य उलट देने का उसका आवेश एवं उदासीन होकर जीवन व्यतीत करने का निश्चय ये दोनों प्रवृत्तियाँ उसके मानसिक द्वन्द्व की सूचक हैं। शेशव-काल की स्मृति उसकी हार्दिक भावना का संकेत देती है। घरों को 'पशु की खोह' कहकर उसका संकोच, बौद्ध धर्मानुयायी नन्द को ब्राह्मण-जाति के प्रति उसकी उपेक्षा की प्रवृत्ति चाणक्य के हृदय में विरोध एवं प्रतिकार की भावना का बीजारोपण करती है।

चतुर्थ दृश्य– कुसुमपुर के सरस्वती मन्दिर के उपवन के पथ में राक्षस और सुवासिनी मिलते हैं और अपने जीवन के मधुमय भविष्य की रूपरेखा एक-दूसर के समक्ष रखते हैं। सुवासिनी अपना अविचल प्रेम राक्षस के प्रति प्रकट करती है। राक्षस पहले तो नन्द और सुवासिनी के बीच का रोड़ा बनने में राजकोप का अनुभव करके भयभीत होता है। बाद में, प्रेम की बलिवेदी पर मर-मिटने के लिए दृढ़ निश्चयी होकर सुवासिनी के कथनानुसार ही बौद्धमत का

नोट

समर्थक बनने को तत्पर हो जाता है तभी राजकुमारी कल्याणी अपनी सखी नीला के साथ आती है जो उसे तक्षशिला से लौटे हुए स्नातकों की सूचना देती है। साथ ही नन्द की क्रूर और विलासिनी प्रवृत्ति का संकेत भी मिलता है। उसी उपवन में दो ब्रह्मचारियों का प्रवेश होता है। उनके वार्तालाप भी मगधराज की अत्याचारी प्रवृत्ति और विलासिता की ही पुष्टि करते हैं। साथ ही, स्वतन्त्र गणतन्त्रों में प्रजा की खुशहाली का भी संकेत देते हैं। उनके जाने के पश्चात अहेरी चीते के भाग निकलने की घटना से विद्याध्ययन करक लौटे हुए चंद्रगुप्त का साक्षात्कार भी, ऐसी विपन्नावस्था में राजकुमारी कल्याणी से होता है।

पंचम दृश्य– इस दृश्य का स्थान मगध में नन्द की राजसभा है। अमात्य राक्षस के साथ-साथ नन्द को तक्षशिला से लौटे हुए स्नातकों के शिक्षा पूर्ण करने की सूचना मिलती है। वरिष्ठ मन्त्री वररुचि की तक्षशिला विश्वविद्यालय के प्रति सम्मानपूर्ण भावना प्रकट होती है। उसी सभा में चाणक्य का प्रवेश होता है, जो राज्य को आने वाले संकट की चेतावनी देता है। वह ब्राह्मण-धर्म की पुष्टि करता हुआ बौद्ध धर्म की शिक्षा मानव-व्यवहार और राष्ट्र-रक्षा के लिए अधूरी बतलाता है। उसने यह भी बताया कि उसने तक्षशिला विद्यालय में अध्यापक का कार्य करके मगध राज्य का सम्मान बढ़ाया है। इसी समय वह अपने साहस एवं दूरदिर्शता से नन्द को बतलाता है कि आने वाले यवन आक्रमण में मगध को पर्वतेश्वर को सहयोग प्रदान करना चाहिए। कल्याणी के कथन से यह बात ज्ञात होती है कि पर्वतेश्वर ने कल्याणी के साथ शूद्रवंशी और वृषल होने के कारण विवाह-संबंध स्वीकार नहीं किया। वह इस अपमान का बदला लेना चाहती है। अन्त में, चाणक्य के उद्धत कथनों से नन्द उसे विद्रोही ब्राह्मण कहकर निकालने की आज्ञा देता है। चंद्रगुप्त गुरु के सम्मान की रक्षा करना चाहता है। नन्द चाणक्य की चोटी खिंचवा कर सभा से निकलवाता है, तभी चाणक्य नन्द कुल के उन्मूलन की प्रतिज्ञा करता हुआ वहाँ से निकलता है।

षष्ठ दृश्य– इस दृश्य में सिन्धु तट पर अलका, मालविका और सिंहरण मंच पर आते हैं। मालविका उद्भाण्ड का एक चित्र अलका को देती है। उसी को छीनने के लिए एक यवन गुप्तचर आता है, पर अलका प्राण-पण से उसे न देने का दृढ़ निश्चय करती है। जैसे ही यवन सैनिक शक्ति प्रयोग करना चाहता है, सिंहरण का प्रवेश होता है। हल्का-सा असि-कौशल दिखाया जाता है, सिंहरण घायल होता है, पर यवन सैनिक सिंहरण के प्रबल पराक्रम से अभिभूत होकर भाग जाता है। तभी पूर्व-योजना के अनुसार सिंहरण चित्र व मालविका को साथ लेकर पुल की ओर चला जाता है। पुनः यवन सैनिक के साथ कई और सैनिक आते हैं और अलका को राजद्रोही सिद्ध करके बंदी बनाना चाहते हैं, पर अलका स्वतः ही बंदी होकर गांधार नरेश के पास जाती है।

सप्तम दृश्य– स्थान मगध का बन्दीगृह है। राष्ट्र-कल्याण एवं सम्पूर्ण आर्यावर्त्त के गौरव की रक्षा में चिन्तित बन्दी चाणक्य दिखाया जाता है। बन्दी अवस्था में वह पिंजड़े में बन्द सिंह और घायल सर्प के समान ही आत्मगत फूफकारें ही करता है। इस अवस्था में उसका यह प्रण कि 'दया न किसी से माँगूँगा और अधिकार तथा अवसर मिलने पर किसी पर न करूँगा'। उसकी कठोरता एवं परिस्थितिजन्य निष्ठुरता का द्योतक है। बन्दीगृह में ही यह सोच कर कि बन्दीगृह में पड़ा हुआ चाणक्य झुक जायगा, वररुचि और अमात्य राक्षस समझाने के लिए आते हैं। पर वह अपनी दूरदर्शिता से कह देता है कि– 'जाना तो चाहता था तक्षशिला, पर तुम्हारी सेवा के लिए नहीं और सुनो पर्वतेश्वर का नाश करने के लिए तो कदापि नहीं।' पुनः वररुचि के साथ उसका हल्का-सा विवाद होता है और वह वैय्याकरण होने से अधिक जीवन में कर्मठ होना पसन्द करता है। उसी समय चंद्रगुप्त आकर चाणक्य को बन्धन-मुक्त करता है।

अष्टम दृश्य– स्थान-गांधार नरेश का प्रकोष्ठ है। राजा, अलका, आम्भीक तीनों ही मंच पर आते हैं और अपनी-अपनी मनोवृत्ति की झलक दिखाते हैं। अलका बंदी-रूप में राजा (अपने पिता) से न्याय कराने के लिए आती है। वह कहती है कि ''मैं अपराधिनी हूँ, दण्ड मिलना चाहिए।'' अन्त में, अलका राष्ट्रप्रेम की चिंगारी की अभिव्यक्ति करती हुई और अपने भाई को कुलद्रोही बतलाती हुई राष्ट्र-रक्षा के लिए पिता से आज्ञा माँग कर घरबार छोड़कर चल देती है।

नोट

नवम दृश्य– इस दृश्य का स्थान पर्वतेश्वर की राजसभा है। इसमें केवल चाणक्य और पर्वतेश्वर का वार्तालाप ही है। चाणक्य बड़े बुद्धि-कौशल से पर्वतेश्वर को बता देता है कि आने वाली विपत्ति सम्पूर्ण आर्यावर्त्त के लिए हानिकारक है और कुमार चंद्रगुप्त शुद्ध क्षत्रिय रक्त का है। आर्य क्रियाओं के लोप हो जाने से ही पिप्पली कानन के मोर्यों को वृषलत्व मिला है। उसे यह भी विश्वास है कि ब्राह्मण में व्यक्ति को देखकर उसके संस्कार करने की भी क्षमता है। चाणक्य की उद्धत बातों से उद्दीप्त होकर पर्वतेश्वर चाणक्य को अपनी राज्य-सीमा से निकल जाने को कह देता है।

दशम दृश्य– स्थान, कानन पथ है। प्रारम्भ में अलका और सिल्यूकस की भेंट होती है। 'इस भूमि के एक-एक परमाणु मेरे हैं।' इस कथन में अलका की स्वदेश-भक्ति टपक रही है। सिल्यूकस द्वारा 'निकट गई' कहे जाने पर उसकी वासनात्मक प्रवृत्ति की सूचना मिलती है। पुनः चाणक्य और चंद्रगुप्त का प्रवेश होता है। पुनः व्याघ्र की घटना से चंद्रगुप्त और सिल्यूकस का साक्षात् कराया गया है। व्याघ्र से अपनी रक्षा सिल्यूकस द्वारा हुई जानकर चंद्रगुप्त उसके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापित करता है। चाणक्य चंद्रगुप्त को यवन सेनापति के साथ-साथ बातें करते हुए देखकर अलका के मन में सन्देह होता है और वह खड़ी हो अन्यमनस्क होकर महात्मा दाण्डायन के आश्रम में जाती है।

एकादश दृश्य– यह इस अंक का अन्तिम दृश्य है। स्थान सिन्धुतट पर महात्मा दाण्डायन का आश्रम है। भारतीय महान् दार्शनिक दाण्डायन अपनी कुटिया के आगे बैठे हुए प्रकृति से बातें करते हैं, तभी यवन-सैनिक एनिसाक्रीटीज का प्रवेश होता है। दोनों की बातचीत होती है। महात्मा दाण्डायन सिकन्दर के प्रभाव और शक्ति से अभिभूत नहीं होते। वे यवन-सैनिक को ऐसी शिक्षा देते हैं, जिससे उसे मालूम हो जाय कि भारतीय कितने बड़े दार्शनिक और साहसी होते हैं। वे निर्भीकता से सिकन्दर के पास न जाने को कह देते हैं। तभी अलका, चंद्रगुप्त और चाणक्य का प्रवेश होता है। अलका अपनी शंका प्रकट करती है। चंद्रगुप्त 'कृतज्ञता का बन्धन अमोघ होता है', कहकर उसकी शंका का समाधान करता है। पुनः सिकन्दर के साथ सिल्यूकस, कार्नेलिया और एनिसाक्रीटीज का प्रवेश होता है। उसके साथ हुए वार्तालाप से भी महात्मा दाण्डायन की साहसी एवं निडर प्रवृत्ति की सूचना मिलती है। चंद्रगुप्त को देखकर 'तेजस्वी युवक' सिकन्दर के लिए स्वाभाविक ही है। अन्त में, दाण्डायन भारत के भावी सम्राट के विषय में भविष्यवाणी करते हैं और दृश्य समाप्त हो जाता है।

5.1.2 द्वितीय अंक

प्रथम दृश्य– इस दृश्य में फिलिप्स और सिल्यूकस और कार्नेलिया, चंद्रगुप्त और सिकन्दर आदि कई विपक्षी हैं, जिनका परिचय हमें प्रथम अंक के सभी दृश्यों में मिल चुका है। प्रारम्भ में एकाकी कार्नेलिया सिन्धु के किनारे ग्रीक शिविर में बैठी है। उसका हृदय भारत की प्राकृतिक शोभा से विमुग्ध है। वह भारत-भक्ति का गीत-अरुण यह मधुमय देश हमारा' बड़ी तल्लीनता से गाती है। उसी समय दुष्प्रवृत्ति वाला फिलिप्स शिविर में प्रवेश करता है। वह अपनी कलुषित मनोवृत्ति को अभिव्यक्त करता है। कार्नेलिया उसे ठुकराती है। अन्त में वह कामाभिभूत होकर उसके ऊपर अत्याचार करना चाहता है। तभी चंद्रगुप्त प्रवेश करके उसका त्राण करता है। पुनः मंच पर सिकन्दर आता है, जो चिन्तामग्न दिखाई देता है। तभी फिलिप्स, आम्भीक, सिल्यूकस और चंद्रगुप्त का प्रवेश होता है। चंद्रगुप्त को अपनी सहायता का लोभ देना चाहता है, पर वह स्वाभिमानी, साहसी, वीर क्षत्रिय शत्रु के शिविर में ही 'मैं मगध का उद्धार करना चाहता हूँ, परन्तु यवनों लुटेरों की सहायता से नहीं, लूट के लोभ से हत्याव्यवासियों को एकत्र करके उन्हें वीर साहसी कहना, रण कला का उपहास करना है', 'अनार्य! देशद्रोही! आम्भीक! चंद्रगुप्त रोटियों के लालच से या घृणाजनक लोभ से सिकन्दर के पास नहीं आया है।' अन्त में वह आम्भीक, फिलिप्स, एनिसाक्रीटीज को घायल करता हुआ शिविर से बाहर हो जाता है।

द्वितीय दृश्य– स्थान झेलम तट का वन पथ है। पहले चंद्रगुप्त, चाणक्य और अलका का प्रवेश होता है। ये तीनों सिंहरण की प्रतीक्षा करते हुए बातचीत करते हैं। चाणक्य का सिंहरण के आगमन पर पूर्ण विश्वास है। इसी समय सिंहरण गांधार-नरेश को सहारा देते हुए लाता है। अलका को अपने पिता से साक्षात् होता है। पुनः भावी योजना

नोट

के विषय में चाणक्य बताता है कि ''सिंहरण और अलका का नट-नटी एवं चंद्रगुप्त को सपेरा और ब्रह्मचारी बनना होगा तथा पर्वतेश्वर की सेना में तुम सबका कार्य-व्यापार होगा। उसी सेना में मगध-राजकुमारी कल्याणी पुरुष-वेष धारण करके अपनी पृथक् छावनी डाल हुए हैं। वहीं पुरुष-वेष में कल्याणी और पर्वतेश्वर की बातचीत होती है। पुनः नट, नटी और सपेरे के वेश में सिंहरण, अलका और चंद्रगुप्त की आपस में एक-दूसरे को पहचान लेते हैं। यहीं दृश्य समाप्त होता है।

तृतीय दृश्य– स्थान युद्धक्षेत्र है। पर्वतेश्वर का सेनापति से यह कहना ''मैं स्वयं गज सेना का संचालन करूँगा' युद्ध की संघर्षता को केवल प्रकट करता है। उसी समय वेश बदलते चंद्रगुप्त और कल्याणी प्रवेश करते हैं। उनके वार्तालाप से केवल यह प्रकट होता है कि कल्याणी चंद्रगुप्त से प्रेम करती है और चंद्रगुप्त को देश की दुर्दशा के प्रति चिन्ता है। वे पुनः युद्ध करते हैं। सिल्यूकस और पर्वतेश्वर का प्रवेश, पर्वतेश्वर को अपनी शूरवीरों की ओज-भरी वक्तृता देना युद्ध के अनुकूल ही है। पर थोड़ी देर पश्चात् वह सिकन्दर से सन्धि स्वीकार कर लेता है। पर्वतेश्वर के पतन में सहायक न होने पर राजकुमारी कल्याणी छन्द-वेष उतार कर यह कहते हुए चली जाती है– ''तुम्हारे पतन में सहायक न हो सकी, बड़ी निराशा हुई।'' अन्त में घायल सिंहरण और अलका को आम्भीक आकर बन्दी बनाता है और उन्हें सिकन्दर की सहमति से पर्वतेश्वर के शिविर में रखा जाता है।

चतुर्थ दृश्य– स्थान मालव में सिंहरण के उद्यान का एक अंश है। प्रारम्भ में कोमल-कल्पनामयी मालविका और अतृप्त चंद्रगुप्त की बातचीत होती है। चंद्रगुप्त स्निग्ध भावना से यह कहकर कि ''रणभेरी के पहले यदि मधुर मुरली की एक तान सुन लूँ, तो कोई हानि नहीं होगी।'' प्रकट होता है। तभी चाणक्य का प्रवेश होता है। वह चंद्रगुप्त को ऐसी कोमल और असामयिक बातों से वर्जित करके यवन-सेना की गतिविधियों की जानकारी प्राप्त करता है। यहीं यह ज्ञात हो जाता है कि मगध की कई लाख सेना को सुनकर सिकन्दर के सिपाही विद्रोह कर देते हैं और आगे बढ़ने के लिए प्रतिकार करते हैं। इधर चाणक्य की ओर से मालवों को अपनी ओर मिलाने का पूर्ण प्रयत्न हो रहा है। चंद्रगुप्त क्षुद्रकों की सेना का सेनापति बनता है। अन्त में, मालविका और चंद्रगुप्त के वार्तालाप से दृश्य समाप्त होता है।

पंचम दृश्य– स्थान बन्दीगृह है। घायल सिंहरण और अलका का वार्तालाप होता है। अलका सिंहरण को यह बता देती है कि बंदी होना आचार्य चाणक्य को ज्ञात है। मालवों पर आक्रमण होने से निश्चिन्तता इसलिए प्रकट होती है, क्षुद्रकों और मालवों में सन्धि हो गई है। उन दोनों की सम्मिलित सेना का सेनापति चंद्रगुप्त आक्रमण का प्रतिरोध करेगा। वीर हृदय सिंहरण युद्ध की बात सुनकर हर परिस्थिति में वहां पहुंचने के लिये लालायित होता है। वह अलका से कोई युक्ति निकालने के लिए कहता है। यहां तक भी सूचना मिल जाती है कि पर्वतेश्वर और आम्भीक में सन्धि हो गई है। सिंहरण के इस कथन से कि 'अलका! तुम पर्वतेश्वर की प्रणयिनी बनोगी। अच्छा होता है कि इससे पहले मैं न रह पाता।' उसका अलका के प्रति प्रेम भी व्यक्त हो जाता है। अन्त में, अलका पर्वतेश्वर के साथ, चाणक्य की आज्ञा से प्रणय का स्वांग रचकर उसे सिकन्दर को भावी आक्रमण में सहायता न देने के लिए बाध्य कर देती है और वह अपने इसी कपटपूर्ण प्रेम के बल पर सिंहरण को मुक्त करा देती है।

षष्ठ दृश्य– इस दृश्य में मालवों के स्कन्धावार में युद्ध-परिषद का आयोजन होता है। मालव और क्षुद्रकों की सम्मिलित सेना का सेनापति प्रारम्भ में नागदत्त आदि के विरोध करने पर भी सिंहरण की अभिलाषानुसार चंद्रगुप्त बनाया जाता है। व्यास पीठ से चाणक्य का वक्रता और ओजपूर्ण व्याख्यान होता है जिसमें यह भी संकेत मिल जाता है कि 'यवन सहायता के लिए पर्वतेश्वर की सेना नहीं आयेगी'। यवन सेना में विद्रोह भी हो गया है।

सप्तम दृश्य– यह दृश्य बहुत ही छोटा है। पर्वतेश्वर के प्रासाद में अलका और पर्वतेश्वर अपनी विषम समस्या को अलका के सम्मुख रखता है क्योंकि वह अपनी प्रेयसी अलका के सम्मुख तो मालवा युद्ध में भाग लेने के लिए प्रतिश्रुत हो चुका है, उधर सिकन्दर न आठ सहस्र अश्वारोही मांगे हैं। ऐसी स्थिति में ही अलका समझा देती है कि सिकन्दर के साथ सन्धि नहीं हुई, पराधीनता को स्वीकार किया गया है। पर्वतेश्वर एक हजार अश्वारोहियों को लेकर सिकन्दर की ओर जाने की योजना बनाता है– उसी समय अलका वहाँ से निकल भागने की योजना निश्चित कर लेती है।

नोट

अष्टम दृश्य– रावी के तट पर सैनिकों के साथ मालविका और चंद्रगुप्त का प्रवेश होता है। बातचीत में युद्धानुकूल वातावरण की शीघ्रता प्रकट होती है। इसी समय सिंहरण का प्रवेश होता है। चंद्रगुप्त उससे यवनों की जलसेना पर आक्रमण करने को इसलिए कहता है जिससे उनकी सामग्री नष्ट हो जाय। उसी समय मालविका अलका को आकर यह सूचना देती है कि पर्वतेश्वर प्रतिज्ञा-भंग करके सिकन्दर की सहायता को आया है। सिकन्दर के दूत को निरादृत करके सिंहरण लौटा देता है। अन्त में, सिंहरण और चंद्रगुप्त के वार्तालाप से भारतीय राजनीति की यवन राजनीति से श्रेष्ठता सिद्ध होती है और इस समय चंद्रगुप्त सिंहरण को यवन राजनीति से लड़ने के लिए सलाह देता है।

नवम दृश्य– कल्याणी आर्य चाणक्य से मगध लौटने की आज्ञा माँगती है, पर मनोविज्ञान का पण्डित चाणक्य उसे चंद्रगुप्त के प्रेमपूर्ण हृदय को ठेस लगने का भय दिखाकर रोक लेता है। उसी समय राक्षस का प्रवेश होता है, उसे वह भावी भय की आशंका दिखाकर उसकी राज्य-भक्ति अथवा मगध के प्रति प्रेम को उत्तेजित करते हुए एवं आशंका उत्पन्न करके रोक लेता है। इन दोनों के यहाँ रहने में ही उसे लाभ होने की सम्भावना है।

दशम दृश्य– यह द्वितीय अंक का अन्तिम दृश्य है। मंच पर मालव दुर्ग का भीतरी दरवाजा दिखाया जाता है। अलका और मालविका का वार्तालाप होता है। दोनों स्त्रियों की बातचीत से स्त्री-सुलभ प्रवृत्तियाँ प्रकट होती है। अलका में पुरुषोचित पौरुष विद्यमान है, तभी तो वह आयुध रखने के लिए आग्रह करती है। मालविका का हृदय कोमलता और दया से परिपूर्ण है तभी तो वह कहती है– ''मैं डरती हूँ, रक्त की प्यासी छुरी अलग करो अलका, मैंने सेवा-व्रत लिया है!'' तभी शीघ्रता से सिकन्दर और सिंहरण एक-दूसरे पर वार करते हुए प्रवेश करते हैं। यवनराज सिंहरण के भयानक प्रत्याघात से घायल होकर गिरता है। सिंहरण सिकन्दर को प्राणदान देकर छोड़ देता है। पीछे से यवन सेना दुर्ग-द्वार तोड़ती हुई भीतर प्रवेश करती है। सिंहरण वीरता एवं उत्साहपूर्वक मालवों को विश्वस्त कराता है। उसी समय चंद्रगुप्त और सिल्यूकस का प्रत्याघात करते हुए प्रवेश होता है। अन्त में, कृतज्ञता का बोझ हलका करने के लिए चंद्रगुप्त उसे भी छोड़ देता है।

टास्क चन्द्रगुप्त नाटक के पात्र चाणक्य की कुशल राजनीतिज्ञ की भूमिका पर टिप्पणी कीजिए।

5.1.3 तृतीय अंक

प्रथम दृश्य– स्थान पश्चिमी सीमा तट ही है। राक्षस एकाकी भाव से भावों में खोया हुआ दिखाया जाता है। उसी समय एक चर का प्रवेश होता है, जो चाणक्य की याजना के अनुसार बतलाता है कि नन्द ने आपसे मिलकर कुचक्र रचने के कारण सुवासिनी को अभियुक्त बनाकर कारागार में डाल दिया है और विद्रोह के अपराध में राक्षस को बन्दी बनाकर लाने वाले को पुरस्कार की घोषणा कर दी है। पुनः राक्षस राजसेवा को विश्वासघातिनी बताता हुआ धिक्कारता है। इसी समय, पूर्वयोजना के अनुसार एक सैनिक आकर बन्दी बनाने का प्रयत्न करता है। तत्क्षण पूर्व-सैनिक का वर्णन करते हुए अन्य कई सैनिक आते हैं और राक्षस के शरीर की रक्षा करते हैं। राक्षस चाणक्य की विलक्षण बुद्धि से पराभूत होता है। उसे संक्षेप रूप में बताया जाता है कि रावी-तट पर विशाल शिविर में सिंहरण और अलका का विवाह होगा और सिकन्दर ने भी उस वीर रमणी एवं आम्भीक की बहन को देखने के लिए निमन्त्रण स्वीकार कर लिया है।

द्वितीय दृश्य– स्थान रावी-तट पर उत्सव-शिविर में है। पर्वतेश्वर एकान्त में अलका द्वारा किये गये अपमान पर खीझता है और मृत्यु का वरण करना चाहता है। उसी समय चाणक्य आकर उसे आत्महत्या-रूपी घृणित कार्य करने से रोकता है। यहीं पर्वतेश्वर चंद्रगुप्त की महत्ता स्वीकार करता है। साथ ही, पर्वतेश्वर में यवनों से प्रतिरोध लेने के लिए आशा का संचार होता है। अपनी बेटी अलका का शुभ विवाह अपनी बूढ़ी आँखों से देखने के लिए गान्धार-नरेश का प्रवेश होता है। वहीं पर कार्नलिया और चंद्रगुप्त की दो-दो बातें हो जाती हैं। फिलिप्स प्रवेश करके चंद्रगुप्त से अभिभूत होता है। राक्षस और चाणक्य की बातचीत होती है और वह राक्षस के कोमल अंक पर प्रहार करके वाक्-चातुर्य से उनकी अंगुलीय-मुद्रा ले लेता है। कल्याणी मगध की ओर प्रस्थान करती है।

नोट

तृतीय दृश्य– रावी के तट पर यवन सेनापति सिकन्दर को विदा करने के लिए चाणक्य, पर्वतेश्वर, सिंहरण, अलका, मालविका, आम्भीक आदि उपस्थित होते हैं। सिकन्दर चंद्रगुप्त को सम्राट होने से पूर्व बधाई देता है। अन्त में चाणक्य को धन्यवाद प्रदान करता हुआ सिकन्दर यह कहता है, ''मैं तलवार खींचे भारत में आया और हृदय देकर जाता हूँ।' चाणक्य की मंगलकामना के साथ दृश्य समाप्त होता है।

चतुर्थ दृश्य– पथ में राक्षस को यथातथ्य वस्तुस्थिति का भान होता है। चाणक्य का रचा हुआ यह सब षड्यन्त्र वह समझ लेता है। सिंहरण और अलका का प्रवेश भी मगध शासन की चिन्ता में होता है। पर्वतेश्वर स्वप्रतिज्ञानुसार मगध जाने के लिए तैयार होता है। दूर की सूझ रखने वाला चाणक्य चंद्रगुप्त को मगध जाने से रोक देता है। उसी समय फिलिप्स का द्वन्द्व-युद्ध के लिए चंद्रगुप्त को आह्वान मिलता है। अन्त में, चाणक्य सभी को आश्वस्त कर देता है।

पंचम दृश्य– नन्द की रंगशाला। नन्द और सुवासिनी का वार्तालाप होता है। नन्द का हृदय भी आशंकित हो रहा है, इसलिए दु:खी है। उसके कथन से यह सूचना मिलती है कि उसने सेनापति मौर्य को आजीवन अन्धकूप का दण्ड दिया है। नन्द को राक्षस का अभाव खटकता है। इसलिए मदिरा-पान करके वह उन्मत्त होता है। साथ ही वह भी स्पष्ट हो जाता है कि सुवासिनी प्रत्यक्ष रूप से राक्षस को प्रेम करती है। नन्द के घृणित विचारों की सीमा में वह नहीं आ सकती। संकट के समय पर प्रेमी आमात्य राक्षस अन्त में सुवासिनी की रक्षा करता है।

षष्ठ दृश्य– इस दृश्य में कुसुमपुर के प्रान्त भाग में मगध के शासन के परिवर्तन का परोक्ष प्रयत्न दिखाई देता है। चाणक्य मालविका को नृत्यकला के आश्रय से नर्तकी बनाकर नन्द को रंगशाला की ओर राक्षस की मुद्रा से मुद्रित जाली पत्र भेजता है। चाणक्य को मगध के विजय करने में पूर्ण विश्वास है। कुसुमपुर को देखकर उसकी बाल-स्मृतियाँ सजग हो उठती हैं और वह एक लम्बा स्वगत-कथन कह डालता है। वहीं पर एक सुरंग तोड़कर अन्धकूप से शकटार का निष्कासन होता है। शकटार की वेदना-भरी अभिव्यक्ति के बाद शकटार और चाणक्य मगध शासन को उलट देने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ होते हैं।

सप्तम दृश्य– राजमन्दिर के प्रकोष्ठ में विचारमग्न नन्द एकाकी दिखाया जाता है। उसी समय वररुचि के साथ चंद्रगुप्त की माता अपने पति और पुत्र के प्रति न्याय की याचना नन्द से करने आती है, पर वह उसकी नहीं सुनता। रोष-भरी सेनापति मौर्य की पत्नी नन्द को 'जारज पुत्र' और रक्त रंगे हाथों में महापद्म नन्द को 'हत्यारा' कहती है। नन्द उसे अपमानित करना चाहता है। वररुचि उसकी रक्षा करना चाहता है, तभी नन्द उन दोनों को भी षड्यन्त्रकारी समझ कर बन्दी करवा देता है। इसी समय आमात्य राक्षस की मुद्रा वाला जाली पत्र प्राप्त होने की सूचना मिलती है। इसी आरोप में मालविका भी बंदी की जाती है। अन्त में 'नन्द विचलित भाव से सोचता हुआ मंच पर रह जाता है।

अष्टम दृश्य– कुसुमपुर के प्रान्त भाग के पथ में पर्वतेश्वर सीमाप्रान्त की सूचना चाणक्य को देता है। द्वन्द्व-युग में फिलिप्स मारा गया और समस्त उत्तरापथ में उसके मारे जो से नवीन उत्साह फल गया है। सिकन्दर के मरने की सूचना भी मिलती है। उसी समय अलका आकर नन्द के प्रकोष्ठ में हुई घटनाओं की सूचना चाणक्य को देती है। अलका-अवसर पाकर नगर भर में नन्द के अत्याचारों के विरोध में जनता में उत्तेजना भरती है। सभी बंदीजन गुफा के गुप्त द्वार से निकल कर चाणक्य से मिलकर प्रतिरोध की दृढ़ प्रतिज्ञा करते हैं। उसी समय घटना-स्थल पर चंद्रगुप्त भी आ जाता है। उसी समय नन्द के राक्षसी अत्याचारों से उत्तेजित नागरिक प्रवेश करते हैं। शकटार की रक्षा का भार चंद्रगुप्त लेता है। दृश्य के अन्त में वररुचि और चाणक्य की परिस्थितिजन्य बातें होती हैं।

नवम दृश्य– नन्द की रंगशाला में बन्दी-वेश में राक्षस और सुवासिनी प्रवेश करते हैं। पत्र के संबंध में राक्षस नन्द को विश्वास दिलाता है कि यह पत्र उसका लिखा नहीं है। पर मुद्रा दिखा कर नन्द उसका मुख बन्द कर देता है। उसी समय सारे नागरिक उत्तेजित होते हैं। नन्द के ऊपर अनेक अपराधों के प्रबल आरोप लगाये जाते हैं। चाणक्य आकर अपनी खुली हुई शिखा दिखाता है। अन्त में, नन्द अपनी प्यारी बेटी कल्याणी को सामने देख कर क्षमा माँगता है, पर इतने में ही शकटार उसका वध कर देता है। उसी समय सर्वसम्मति से चंद्रगुप्त सिंहासन पर मूर्धाभिषिक्त किया जाता है।

नोट

क्या आप जानते हैं नाटक के नायक चंद्रगुप्त और कार्नेलिया को प्रणयसूत्र में दिखाकर प्रसाद ने अपने समन्वयवादी दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया है।

5.1.4 चतुर्थ अंक

प्रथम दृश्य– प्रारम्भ में मगध के राजकीय उपवन में विचार-विमग्न कल्याणी प्रवेश करती है। उसी समय मद्यप की सी चेष्टा करता हुआ पर्वतेश्वर भी प्रवेश करता है। उन दोनों का विषमता-जन्य वार्तालाप होता है। पर्वतेश्वर की नीच प्रवृत्तियों के प्रतिक्रिया-स्वरूप कल्याणी उसका वध कर देती है। तभी चंद्रगुप्त का प्रवेश होता है। कल्याणी अपने पिता के विरोधी से प्रणय नहीं कर सकती, इसलिए वह मृत्यु का वरण करती है। उसी समय चाणक्य अपने निष्ठुर पर दृढ़ चरित्र का परिचय देता है।

द्वितीय दृश्य– पथ में राक्षस और सुवासिनी का वार्तालाप होता है। पिता की प्राप्ति होने पर सुवासिनी पुनः उनकी संरक्षता में जाने के लिए उत्सुक दिखाई देती है। इस पर राक्षस को चाणक्य के प्रति उसकी शंका होती है। नेपथ्य से आने वाला गान की प्रतिक्रियास्वरूप वह चाणक्य का विरोध करने के लिए कटिबद्ध होता है।

तृतीय दृश्य– यह मगध की आयोजित परिषद् का दृश्य है। राक्षस चाणक्य द्वारा विजयोत्सव न मनाने की आज्ञा का विरोध कलापूर्ण ढंग से परिषद् के सदस्यों में उकसाता है और तटस्थ बने रहने की प्रवृत्ति अपनाता है। मौर्य सेनापति और उसकी पत्नी प्रत्यक्ष ही उत्सव न मनाने का कारण चाणक्य से पूछते हैं। वह उसका उत्तरदायित्व समझते हुए प्रतिकार कर देता है। अपने को परतन्त्र समझने की प्रवृत्ति ही मौर्य एवं उसकी पत्नी को राज्य छोड़ देने के लिए बाध्य कर देती है। चाणक्य और सुवासिनी का वार्तालाप होता है जो चाणक्य में हृदय पक्ष का द्योतन करता है। चर के आगमन से सिल्यूकस के पुनः आक्रमण की सूचना मिलती है। मालविका से ज्ञात हुआ कि दक्षिणापथ में चंद्रगुप्त को अपूर्व सफलता मिली है। साथ ही यह भी पता चलता है कि सुदूर दक्षिण में जाने के लिए उसे चाणक्य का आज्ञा नहीं थी।

चतुर्थ दृश्य– राज-प्रकोष्ठ में चंद्रगुप्त और कोमल कुमारी मालविका का वार्तालाप होता है। उन दोनों की बातों से उनके हार्दिक पक्षों का अभिव्यक्तिकरण होता है। मालविका के इस कथन से कि 'आज शयन में घातक आएंगे।' उसके जीवन के प्रति पाठक चिन्तित और व्यथित होने लगते हैं।

पंचम दृश्य– राज-मन्दिर के प्रान्त भाग में विचारमग्न चंद्रगुप्त दिखाई देता है। इसी उद्विग्नता का निवारण करने के लिए वह तत्काल चाणक्य को बुलवाता है। चाणक्य से चंद्रगुप्त अपने माता-पिता के निर्वासित होने का कारण पूछता है। जब चंद्रगुप्त यह कहता है– ''यह अक्षुण्ण अधिकार आप कैसे भोग रहे हैं?'' तभी चाणक्य का ब्राह्मणत्व जाग उठता है और वह अपनी वास्तविक स्थिति का अनुभव करते हुए वहां से चला जाता है। उसी समय सिंहरण मालविका की हत्या की सूचना चंद्रगुप्त को देता है और चाणक्य के चल जाने की सूचना पाकर वह भी वहां से चल देता है।

षष्ठ दृश्य– इस दृश्य में पुनः घटना-केन्द्र पश्चिमी सीमा तट बनता है। प्रारम्भ में सिन्धु तट पर एक पर्णकुटी में चाणक्य और कात्यायन में स्थिति-विषयक वार्तालाप होता है। यह सूचना भी मिलती है कि राक्षस अब सिल्यूकस की कन्या का पढ़ाने का कार्य करता है। चाणक्य कात्यायन को मगध जाने की सलाह देता है, जिससे शीघ्र ही चंद्रगुप्त घटना-स्थल पर आ जाये। चाणक्य अब भी विशाल साम्राज्य का स्वप्न देखने के लिए प्रयत्नशील है। कात्यायन यह भी सूचना देता है कि यवन-बाला कार्नेलिया पूर्ण रूप से आर्य संस्कृति में निष्णात है। चाणक्य और आम्भीक के वार्तालाप से ज्ञान होता है कि आम्भीक अपने किए हुए दोष की कालिमा पश्चाताप के जल से प्रक्षालित करते हुए प्रतिशोध लेने की सामर्थ्य समेटे हुए है। उसी समय देशद्रोह की मसि से कलंकित आम्भीक की राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत अग्नि अलका नागरिकों की भीड़ में प्रसिद्ध राष्ट्रीय गान ''हिमाद्रि तुंग श्रृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती'' गाती हुई आती है। अलका और आम्भीक की बातचीत से प्रकट होता है कि अब आम्भीक सुपथ पर आ

नोट

गया है। अन्त में, वही खड्ग खोलकर कर्त्तव्य से च्युत न होने की सौगन्ध खाता है। सुवासिनी के वहाँ आने पर चाणक्य को पता चलता है कि चंद्रगुप्त उनकी खोज के लिए उत्सुक है। चाणक्य सुवासिनी को अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए जाने की आज्ञा देता है और राक्षस से प्रेम निर्वाह एवं विवाह करने के लिए बल देता है। सजल नेत्रों से अपने हृदय के एक कोने को आज अन्तिम बार चाणक्य अपने उद्देश्यपूर्ति के लिए कर्त्तव्य की बलि चढ़ा देता है।

सप्तम दृश्य– प्रारम्भ में कपिशा के एलेक्जैंड्रिया के राजमन्दिर में कार्नेलिया और राक्षस की बातचीत होती है। कार्नेलिया राक्षस को देशद्रोही बताती है। पर वह अपना व्यक्तिगत प्रतिशोध अपने विपक्षी से लेने के लिए कहता है। उसी समय राक्षस के चले जाने पर कार्नेलिया सिल्यूकस से देशद्रोही एवं राक्षस-तुल्य राक्षस से पढ़ने से स्पष्ट इन्कार कर दती है। वह भी अपनी प्यारी बेटी की प्रसन्नता को ऐसा करन के लिए अनुमति दे देता है।

अष्टम दृश्य– पथ में चंद्रगुप्त और सैनिक का प्रवेश होता है। वह स्वयं ही सम्राट से सैनिक बनना स्वीकार करता है, क्योंकि सिंहरण ने बलाधिकृत का पद सम्भालने से मना कर दिया है। अतः वह पद भी चंद्रगुप्त लेकर और शकटार के नाम एक पत्र लिखकर एक सैनिक को मगध भेज देता है।

नवम् दृश्य– ग्रीक-शिविर में कार्नेलिया की सहायता से उसकी सखी एलिस का वार्तालाप-तत्पश्चात् बंदी रूप में आई हुई सुवासिनी कार्नेलिया की सहायता से उसकी सखी बन जाती है। विवाहित स्त्रियों के संबंध में उसकी राय तथा यौवन और प्रेम के क्षेत्र में उसकी अनुमति-जन्य भावना काव्य के साथ दार्शनिकता लेकर प्रकट हुई है। सुवासिनी स्मृति को 'प्रेम का प्राण' और कार्नेलिया निष्ठुर मानती है। अपने पिता के मुख से चंद्रगुप्त की सेना पर आक्रमण की बात सुनकर कार्नेलिया उसका विरोध करती है। पर सिल्यूकस उसे यह कहकर कि ''मैं हत्यारा नहीं हूँ' विजेता सिल्यूकस हूँ'' सन्तुष्ट कर देता है। अन्त में, सुवासिनी के गाने के साथ दृश्य समाप्त होता है।

दशम दृश्य– प्रारम्भ में युद्ध-क्षेत्र के समीप चाणक्य और सिंहरण का वार्तालाप होता है। सिंहरण से यह सूचना मिलती है कि चंद्रगुप्त ने प्रचण्ड आक्रमण किया है, जिससे यवन-सेना थर्रा उठी है, पर वीर हृदय सिंहरण अब युद्ध में सम्मिलित होने से अपने को रोकने में असमर्थ सिद्ध हो रहा है। इसलिए चाणक्य से आज्ञा माँगता है। इस समय चाणक्य भविष्य की सभी घटनाओं की सूचना देकर सिहरंण को विदा देता है। पुनः युद्धरत सिल्यूकस और चंद्रगुप्त का प्रवेश होता ह। अपना प्रतिशोध लेते हुए सिल्यूकस के आघातों से आम्भीक की मृत्यु होती है। इस अवसर पर सिंहरण चंद्रगुप्त की सहायता करता है।

एकादश दृश्य– शिविर के एक भाग में राक्षस और सुवासिनी का वार्तालाप होता है। भयभीत सुवासिनी को लेकर राक्षस वहाँ से भाग निकलता है। चंद्रगुप्त ने ग्रीक शिविर के भीतरी भाग पर भी आक्रमण किया है। कार्नेलिया को पता चलता है कि विजेता सिल्यूकस भी चंद्रगुप्त के हाथों पराजित हो गया है। चंद्रगुप्त सिल्यूकस को सुरक्षित स्थान में पहुंचा कर बन्धन-मुक्ति की घोषणा करते हुए प्रस्थान करता है। कार्नेलिया उसकी ओर देखती रहती है।

द्वादश दृश्य– साइंवर्टियस और मेगास्थनीज के वार्तालाप से पता चलता है कि समस्त ग्रीक शिविर बन्दी है। मालव और तक्षशिला की सेना घेरा डाले हुए है। उधर सिल्यूकस के ''सीरिया पर मैंटिगोनस ने आक्रमण किया है। इस परिस्थिति में सिल्यूकस को चंद्रगुप्त के साथ सन्धि के लिए बाध्य किया जाता है। भारत के लिए कन्या का दान सिल्यूकस के लिए असम्भव है। फिर भी चंद्रगुप्त और कार्नेलिया का पूर्व-परिचय सम्भावना प्रदान करता है। साथ ही, सिल्यूकस यह बताता है कि कार्नेलिया ने इस युद्ध में अनेक बाधाएँ उपस्थित की हैं। पर अन्त में, जब सिल्यूकस उसी के मुख से यह सुन लेता है कि ''मैं स्वयं पराजित हूँ'' तब उसे कार्नेलिया के प्रेम का परिचय हो जाता है, तभी व अपनी प्यारी बेटी से कह देता है कि 'तू भारत की सम्राज्ञी होगी।'

त्रयोदश दृश्य– दाण्डायन के तपोवन में ध्यानस्थ चाणक्य के निकट राक्षस और सुवासिनी का वार्तालाप होता है। सुवासिनी सत्यपरामर्श एवं तपोवन के पवित्र वातावरण के प्रभाव से राक्षस चाणक्य से अपने अपराधों की क्षमा माँगन को तैयार हो जाता है। चाणक्य का स्वगत-कथन प्रकृति के संस्पर्श से आनन्द सागर में डूबा हुआ-सा प्रतीत होता है। उसी समय सेनापति मौर्य अपने प्रतिशोध और चंद्रगुप्त के निष्कटंक राज्य के लिए चाणक्य की हत्या करना ही चाहता था कि सुवासिनी ने इस प्रकार का घृणित कार्य करते हुए उसका हाथ पकड़ लिया। सम्राट चंद्रगुप्त अपने

नोट

गुरु के सम्मान में अपने पिता को अपराध का दण्ड देना चाहता है, पर विशाल हृदय चाणक्य उसको क्षमा करा देता है इसी समय वह मंत्रीपद राक्षस को प्रदान करता है। चाणक्य को छोड़कर सबका राजप्रसाद की ओर प्रास्थान।

चतुर्दश दृश्य– इस अन्तिम दृश्य में नाटक के फल को भोगने वाले चंद्रगुप्त को निष्कंटक सिंहासनारूढ़ दिखा गया है और सन्धि की शर्तों में सिल्यूकस सहर्ष अपनी पुत्री कार्नेलिया को भारत-साम्राज्ञी बनाने के लिए सम्मति प्रदान करता है। जैसे ही बुद्धिसागर आर्य साम्राज्य के महामंत्री चाणक्य को सिल्यूकस दखने की इच्छा प्रकट करता है, वैसे ही चाणक्य प्रवेश करता है और मंगलकामना करता हुआ ग्रीक गौरव लक्ष्मी कार्नेलिया को भारत की कल्याणी बनाने के लिए प्रार्थना करता है। सिल्यूकस सहर्ष स्वीकार करता है। चंद्रगुप्त और कार्नेलिया का पाणिग्रहण होने के पश्चात् मुदित हुए चाणक्य का प्रस्थान होता है।

5.2 चन्द्रगुप्तः प्रमुख अंशों की सप्रसंग व्याख्या

5.2.1 गद्य खण्ड

आर्यावर्त्त का भविष्य लिखने के लिए कुचक्र और प्रसारणा की लेखनी और बलि प्रस्तुत हो रही है। उत्तरापथ के खण्ड राज्य द्वेष से जर्जर है। शीघ्र भयानक विस्फोट होगा।

प्रसंग–'चन्द्रगुप्त' नाटक में प्रथम अंक से उद्धृत प्रस्तुत गंद्यांश में मालवगणपति का पुत्र सिंहरण भारतवर्ष के भावी विनाश की सूचना देता है। वह तक्षशिला के गुरुकुल से निकला है। वहाँ उसे तक्षशिला की राजनीति के विषय में जानकारी प्राप्त करने का आदेश मिलता है। अतः यह देशद्रोही आम्भीक के कुचक्रों के प्रति सजग है। चाणक्य के इस कथन पर कि यवनों के दूत यहाँ क्यों आये हैं, सिंहरण उत्तर देता है–

व्याख्या–उत्तर भारत के राजा परस्पर वैमनस्य एवं मनोमालिन्य की भावना किए हैं। दूसरे की प्रगति एवं सुख-शान्ति कोई नहीं देख सकता, राष्ट्र-प्रेम की विशाल भावना उनके व्यक्तित्व से तिरोहित हो गयी है। अतः इस परम पवित्र भारत-भूमि पर युद्ध होना अवश्यम्भावी है। युद्ध से भारतीय शासकों की पराजय निश्चित है। कारण, चारों ओर कुचक्रों एवं अभिसन्धियों का मायाजाल रचा जा रहा है।

विशेष–(क) सिंहरण के इन शब्दों द्वारा 'प्रारम्भ' नामक कार्य-अवस्था की सिद्धि हुई है।

(ख) सिंहरण की चरित्रगत जागरूकता एवं सतर्कता का भी इन शब्दों द्वारा अच्छा परिचय मिल जाता है।

ब्राह्मण न किसी के राज्य में रहता है और न किसी के अन्न से पलता है; स्वराज्य में विचरता है और अमृत होकर जीता है। वह तुम्हारा मिथ्या गर्व है। ब्राह्मण सब कुछ सामर्थ्य रखने पर भी, स्वेच्छा से इन माया-स्तूपों को ठुकरा देता है, प्रकृति के कल्याण के लिए अपने ज्ञान का दान देता है।

प्रसंग–प्रस्तुत गद्यांश 'चन्द्रगुप्त' नाटक के प्रथम अंक के प्रथम दृश्य से अवतरित है। चाणक्य और सिंहरण भारत के भावी विनाश-सम्बन्धी वार्तालाप कर रहे होते हैं कि सहसा आम्भीक प्रवेश करता है। वह अपने प्रति किसी कुचक्र की आशंका से आकुल होकर क्रोधपूर्वक चाणक्य से कहता है–''बोलो ब्राह्मण, मेरे राज्य में रहकर, मेरे अन्न से पलकर, मेरे ही विरुद्ध कुचक्रों का सृजन!'' उसके इस कथन के उत्तर में चाणक्य अत्यन्त निर्भीकतापूर्वक अपने ब्राह्मणत्व के बल पर कहता है–

व्याख्या–ब्राह्मण न किसी के राज्य में रहता है और न किसी के अन्न-धन से पोषित होता है, वह तो ब्रह्मानंद में विचरण करता है, जरामरण आदि के भयों से सर्वथा मुक्त रहता है। यह तुम्हारा मिथ्यादम्भ है कि तुम मेरा भरण-पोषण कर रहे हो। वस्तुतः तुम ब्राह्मणत्व की गरिमा से सर्वथा अपरिचित हो। ब्राह्मण चारों वर्णों में श्रेष्ठ है, यह सर्व-समर्थ होते हुए भी आन्तरिक प्रेरणा से प्रेरित होकर सांसारिक माया-जालों को निस्सार जानकर उन्हें ठुकरा देता है। उसके जीवन का मूल उद्देश्य होता है–विद्या का अर्जन एवं वितरण। विद्या के ग्रहण एवं दान द्वारा ही वह अपने जीवन को सार्थक मानता है। समग्र संसार का कल्याण करना ही उसके जीवन का मूल प्राप्य रहता है। यदि वह अन्न-धन का संग्रह करना चाहे, तो सहज ही में कर सकता है, किन्तु वह तो 'स्वार्थ' से कहीं अधिक महत्त्व 'परार्थ' को देता है।

नोट

विशेष–(क) 'प्रसाद' का चाणक्य ब्राह्मण का वही आदर्श मानता है, जो गीता में श्रीकृष्ण ने कर्मयोगी मनुष्य का माना है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश देते हुए 'श्रीमद्भगवद्गीता' में कहा है–संसार के माया-मोह से मुक्त पुरुष 'कर्मयोगी' है। कर्मयोगी सब प्रकार के सांसारिक आशा-आकांक्षाओं से दूर रहता है। उसका न कोई स्वार्थ होता है, न कोई कामना। अतः वह न तो हर्षान्वित होता है, न विषाद में विपण्य। वह समरसता के स्तर तक जा पहुँचता है। उसकी दृष्टि आत्म-केन्द्रित न होकर विश्व-केन्द्रित हो जाती है। उसका प्रत्येक क्रिया-कलाप व्यक्तिगत हित के हेतु न होकर समष्टि-हित के हेतु होता है। वह अपने कर्मयोग द्वारा संसार की बड़ी-से-बड़ी सम्पदा प्राप्त कर सकता है, किन्तु वह भौतिक जगत से इतना ऊँचा उठ जाता है कि भौतिक सम्पदा उसकी दृष्टि में कोई महत्व ही नहीं रखती।

चाणक्य के माध्यम से 'प्रसाद' जी ने ब्राह्मणत्व का महत्त्व स्थापन किया है। भारतीय संस्कृति के अनन्य समर्थक एवं पोषक होने के कारण ब्राह्मणत्व के प्रति उनके हृदय में अमोघ श्रद्धा है।

हाँ-हाँ, रहस्य है! यवन-आक्रमणकारियों के पुष्कल स्वर्ण से पुलकित होकर, आर्यावर्त्त की सुख-रजनी की शान्ति-निद्रा में, उत्तरापथ की अगंला धीरे से खोल लेने का रहस्य है। क्यों राजकुमार! संभवतः तक्षशिलाधीश बाह्लीक तक इसी रहस्य का उद्घाटन करने गए थे।

प्रसंग–प्रस्तुत अवतरण 'चन्द्रगुप्त' नाटक के प्रथम अंक के प्रथम दृश्य से उद्धृत है। आम्भीक देशद्रोही होने के कारण सदैव सतर्क रहता है। उसे चाणक्य, सिंहरण आदि के वर्तालाप में अपने विरुद्ध कुचक्रों का सृजन प्रतीत होता है। उसे आशंका है कि इन लोगों ने राजनीतिक मामलों में कुछ रहस्य छिपा रखा है। अतः यह क्रोधपूर्वक अलका से चुप रहने को कहता है। उसके क्रोध को तीव्रतर करने के लिए सिंहरण अत्यन्त व्यंग्यपूर्ण शब्दों में कहता है–

व्याख्या–रहस्य अवश्य है, तुम्हें सचेत होना होगा। विदेशी आक्रमण से मुक्त होकर जब सम्पूर्ण उत्तरी भारत सुख की नींद सो रहा है, तब तुम जैसे दुष्ट उसकी सुख-निद्रा खण्डित कर देने को तत्पर हैं। यवन-आक्रमणकारियों से अत्यधिक स्वर्ण-राशि लेकर देश के प्रति अन्याय करने वाले तुम जैसे विश्वासघाती पुरुषों की दुर्नोति का ही हमारी युवक-मण्डली ने रहस्योद्घाटन किया है। भारत वर्ष की सुख-शान्ति को खण्डित करने के मूल कारण तुम्हीं हो–हमारे रहस्यपूर्ण वार्तालाप का केन्द्रीय विषय तुम्हीं हो। तुम्हीं तो अपने व्यक्तिगत अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए, यवनों के साथ सन्धिवार्ता करने के लिए बाह्लीक देश तक गये थे। तुम आक्रामक की स्वर्ण-मुद्राओं के प्रलोभन में आकर समष्टि-हित को भूलकर व्यष्टिहित-साधन को ही सर्वोपरि समझ बैठे।

विशेष–(क) देशद्रोही किस प्रकार, आशंकाग्रस्त एवं संदेहशील प्रकृति के होते हैं।, आम्भीक के प्रति सिंहरण के उक्त कथन से यह स्पष्ट है।

(ख) इस उक्ति द्वारा सिंहरण की निर्भीक एवं स्वच्छन्द प्रकृति स्पष्टतापूर्वक व्यक्त हुई है।

एक अग्निमय गन्धक का स्रोत आर्यावर्त के लौह-अस्त्रागार में घुसकर विस्फोट करेगा। चंचला रणलक्ष्मी इन्द्र-धनुष-सी विजय-माल हाथ में लिए उस सुन्दर नील-लोहित प्रलय-जलद में विचरण करेगी और वीर-दृश्य मयूर-से नाचेंगे। तब आओ देवि! स्वागत।

प्रसंग–'चन्द्रगुप्त' नाटक के प्रथम अंक के प्रथम दृश्य से अवतरित प्रस्तुत गद्यांश में 'प्रसाद' ने वीर पुरुष के निर्भीक हृदय का स्पष्टीकरण किया है। सिंहरण एक ऐसा वीर है, जो युद्ध की आशंका से भयभीत न होकर प्रोत्साहित होता है। निकट भविष्य में भारत पर होने वाले आक्रमण का निश्चय हो जाने पर वह समय की इन चुनौती का सामना दृढ़तापूर्वक करने के लिए सम्बद्ध हो जाता है।

व्याख्या–सिंहरण का कथन है–''वैसे तो भारतवर्ष सभी प्रकार से यवनों से लोहा लेने की सामर्थ्य लिए है, किन्तु हमारी सभी नीतियों से देशद्रोही आम्भीक परिचित है। वह किसी भी समय हमारे साथ विश्वासघात करके अनिष्टकारी

नोट

सिद्ध हो सकता है। उसकी स्थिति अग्निमय गन्धक के समान है, जो आर्यावर्त की भूमि में एक भयंकर विस्फोट करेगा। उसी की अभिसन्धियों द्वारा वीरभूमि भारत में एक भयंकर अग्निकाण्ड होगा। यवनों और भारतीयों की तलवारें परस्पर टकरायेंगी, चारों ओर विनाश का ताण्डव नृत्य होगा। वैसी परिस्थिति में चंचला रणलक्ष्मी हर्ष से फूली न समाएगी और इन्द्रधनुष की भाँति आर्यावर्त्त की परम पवित्र रणभूमि में विजय की माला लेकर विचरण करेगी। तब वीर हृदयों को ठीक वैसा ही आनन्दानुभव होगा जैसा कि घनघोर मेघ-घटाओं को देखकर मयूरों को। वीर-हृदय उस युद्ध का हृदय से स्वागत करेगा। जिस प्रकार मेघराशि में बिजली कौंध जाती है, उसी प्रकार दोनों पक्षों के शूरवीरों की तलवारें बिजली चमकाएँगी, जिस प्रकार वर्षाकाल में धरती पर जल की धाराएँ प्रवाहित होने लगती हैं, उसी प्रकार इस भूखण्ड में वीरों की रक्त-धाराएँ फैल जाएँगी।

विशेष–(क) 'प्रसाद' ने सिंहरण के इन शब्दों में युद्धस्थल की विभीषिका का स्पष्ट रूप अंकित किया है।

(ख) भाषा में ओज-गुणवर्द्धक तत्सम शब्दों का प्राधान्य है।

मानव कब दानव से भी दुर्दान्त, पशु से भी बर्बर और पत्थर से भी कठोर, करुणा के लिए निरवकाश हृदय वाला हो जायेगा, नहीं जाना जा सकता। अतीत सुखों के लिए सोच क्यों, अनागत भविष्य के लिए भय क्यों और वर्तमान को मैं अपने अनुकूल बना ही लूँगा; फिर चिंता किस बात की?

प्रसंग–प्रस्तुत गद्यांश 'चन्द्रगुप्त' नाटक के प्रथम अंक के प्रथम दृश्य से अवतरित है। 'प्रसाद' जी की यह विशेषता है कि वे अपने विभिन्न नाटकीय पात्रों के माध्यम से अपने जीवन के अनुभवों एवं सिद्धान्तों को स्पष्ट कर देते हैं। अलका सिंहरण को देखते ही उसके निर्भीक व्यक्तित्व से प्रभावित हो जाती है। आम्भीक के चले जाने पर वह सिंहरण को अत्यन्त प्रेमपूर्वक समझाती है कि मनुष्य को अपने जीवन और सुख का भी ध्यान रखना चाहिए। वह कहती है कि जिस ढंग से तुमने तक्षशिला के राजकुमार आम्भीक को अपमानजनक उत्तर दिये हैं, उससे तुम्हारा जीवन विपत्तिग्रस्त हो सकता है, आम्भीक तुम्हारी जीवन-लीला समाप्त कर सकता है। अलका के उक्त कथन के प्रत्युत्तर में सिंहरण पहले आम्भीक के पतन की ओर संकेत करता है और फिर अपने प्रति प्रकट की गई अलका की सहानुभूति का उत्तर देता है–

व्याख्या–प्रत्येक व्यक्ति के अन्त:करण में प्रमुखत: दो प्रकार की वृत्तियाँ वास करती हैं–मानवीय और दानवीय। समय-समय पर ये ही दो वृत्तियाँ कार्य करती हैं, किन्तु कब कौन-सी प्रबल हो उठेगी, यह कहना कठिन है। मनुष्य सामान्यत: शान्ति एवं न्याय-प्रिय प्राणी है। बिना किसी प्रयोजन के वह न किसी को दुख देना चाहता है और न अनानारी ही बनना चाहता है। किन्तु उसका स्वभाव इतना दुर्बल है कि वह थोड़े से प्रलोभन के वशीभूत होकर जघन्य-से-जघन्य कृत्य करने को तत्पर हो जाता है। अत: मनुष्य के विषय में यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि किस परिस्थिति विशेष में वह दानव से भी अधिक हिंसक और वन्य-पशु से भी अधिक भयंकर बन जाएगा–उसका हृदय कब पत्थर से भी अधिक कठोर हो जायेगा, जिसमें दया, क्षमा, सहानुभूति, करुणा तथा प्रीति जैसी मानवीय भावनाएँ सर्वथा नि:शेष हो जाएँगी। वह अत्यन्त निर्मम एवं हृदयहीन हो जायेगा ओर कुत्सित-से-कुत्सित चेष्टा भी उसे सुंदर प्रतीत होगी। यवनों के भारत पर आक्रमण करने पर न जाने कितना रक्तपात होगा, न जाने कितनी माताओं के लाल छिन जायेंगे और न जाने कितनी माँगों का सिंदूर धुल जायेगाा किन्तु इस कार्य का मूल प्रेरक है–तुम्हारा भाई आम्भीक। उसका सिकन्दर के साथ मिल जाना और भारत-सीमा को विपत्तिग्रस्त करना पाशविकता की चरम सीमा है। उसकी यह चेष्टा दानवीयता की प्रतिभूमि है।

जहाँ तक मेरे जीवन का प्रश्न है, मेरा मूल उद्देश्य है–राष्ट्र-सेवा। राष्ट्र-रक्षा के लिए मैं सभी कुछ कर सकता हूँ। मुझे न तो अपने अतीत-सुखों की चिन्ता है और न भावी संकटों की। मुझे पूर्ण आत्म-विश्वास है कि मैं बड़ी-से-बड़ी आपदा का भी अपने साहस और पराक्रम से सामना कर सकता हूँ। अत: मुझे चिन्ता किस बात की?

विशेष–(क) यहाँ 'प्रसाद' जी ने सिंहरण के शब्दों में मानव-जीवन के अध:पतन तथा मानव-स्वभाव के दुर्बल्य की ओर संकेत किया है।

(ख) सिंहरण की एक सच्चे, वीर एवं साहसी राष्ट्र-सेवक के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

नोट

देखो-देखो–तुम सुन्दरी हो, परन्तु तुम्हारे यौवन का विभ्रम अभी संकोच की अगंला से जकड़ा हुआ है। तुम्हारी आँखों में काम का सुकुमार संकेत नहीं, अनुराग की लाली नहीं! फिर कैसा प्रमोद।

प्रसंग–मगध-सम्राट् नन्द द्वारा कथित प्रस्तुत पंक्तियाँ 'चन्द्रगुप्त' नाटक के प्रथम अंक के द्वितीय दृश्य से ली गई है। मगध-सम्राट् नन्द के विलास कानन में विलासी युवक एवं युवतियाँ विहार कर रही हैं। वहाँ उपस्थित मगध-सम्राट् एक युवती के रूप-सौन्दर्य पर इतना मोहित हो जाता है कि उसके नेत्र वासना की ज्वाला में जलने लगते हैं। उसी युवती की ओर इंगित करते हुए उसका कथन है कि–

व्याख्या–तुम सुन्दरी अवश्य हो, परन्तु यह सौन्दर्य व्यर्थप्राय है, क्योंकि लज्जा के भार से नतशिर है, उसमें प्रणय-आमन्त्रण का अभाव है। तुम्हारे नेत्र काम-वासना एवं प्रणय-याचना से नितान्त शून्य हैं। अतः मुझ जैसा रूप-रस-लोभी कैसे आनन्दित हो सकता है। मुझे हर्षान्वित करने के लिए तो तुम्हे लज्जा का परित्याग कर अपने यौवन-रस की मधुर मदिरा पिलानी होगी।

विशेष–यहाँ नन्द की रूप-लिप्सा एवं वासनात्मक चित्त-वृत्ति का परिचय दिया गया है।

एक साथ दो-दो कुटुम्बों का सर्वनाश और कुसुमपुर फूलों की सेज में ऊँघ रहा है! क्या इसलिए राष्ट्र को शीतल छाया का संगठन मनुष्य ने किया था? मगध! मगध! सावधान! इतना अत्याचार! सहना असम्भव है। तुझे उलट दूँगा?

प्रसंग–प्रस्तुत सन्दर्भ 'चन्द्रगुप्त' नाटक के प्रथम अंक के तृतीय दृश्य से उद्धृत है। चाणक्य पाटलिपुत्र लौटता है, किन्तु उसे अपने घर की रूपरेखा ही बदली हुई दिखाई पड़ती है। वह अपने पिता चणक और दिया सुवासिनी का पता लगाता है, किन्तु उसे प्रतिवेशी से पता चलता है कि उसका पिता तो राजाज्ञा से कई वर्ष पूर्व निर्वासित कर दिया गया और सुवासिनी अभिनेत्री हो गयी। चाणक्य को यह जानकर तो और भी दुख होता है कि उसका पिता मन्त्री शकटार के बन्दीगृह में निर्मम, वध के लिए राजा नन्द के विरुद्ध प्रचार करने के कारण निर्वासित किया गया। उसका हृदय कराह उठता है।

व्याख्या–इस अत्याचारी नन्द ने एक साथ दो-दो परिवारों–चणक और शकटार–का नाश किया और उसका कोई विरोध न कर सका। मगध की राजधानी कुसुमपुर फूलों की सेज पर ऊँघ रहा है। मगध सम्राट् का कर्त्तव्य है कि वह प्रत्येक नागरिक को यथासम्भव सुख एवं शान्ति प्रदान करें। नागरिकों का सर्वनाश करना भला कहाँ की नीति है। क्या सर्वनाश की लीला देखने के लिए राष्ट्र का संगठन किया गया था। मगध साम्राज्य प्रजा के अधिकारों के प्रति उदासीन है। अतः मुझे इसका या तो पुनर्निर्माण करना होगा, अन्यथा इसका समूल नाश ही कर दूँगा। मगध-सम्राट के इन अत्याचारों को सहन करना मेरे लिए सर्वथा असम्भव है।

विशेष–इन पंक्तियों में नाटककार ने चाणक्य के अन्तर्द्वन्द्व और उसके चरित्र की अन्यतम विशेषता–संकल्पनिष्ठा को सुन्दर अभिव्यक्ति दी है।

परन्तु बौद्ध-धर्म की शिक्षा मानव-व्यवहार के लिए पूर्ण नहीं हो सकती, भले ही वह संघ-व्यवहार में रहने वालों के लिए उपयुक्त हो।

प्रसंग–'चन्द्रगुप्त' नाटक के प्रथम अंक के पंचम दृश्य में अवतरित प्रस्तुत अवतरण उस समय का है, जब मगध में नन्द की राज्यसभा बैठी है। नन्द के साथ राक्षस तथा अन्य सभासद विद्यमान हैं। सहसा चाणक्य का प्रवेश होता है। त्रस्त दीवारिक उसके पीछे-पीछे आता है। चाणक्य के आगमन से पूर्व नन्द के प्रति राक्षस इस कथन पर बल दे रहा था कि केवल सद्धर्म (बौद्धधर्म) की शिक्षा ही मनुष्यों के लिए पर्याप्त है और वह तो मगध में मिल ही सकती है। चाणक्य उसके इसी कथन की आलोचना करते हुए कहता है–

व्याख्या–बौद्धधर्म सैद्धान्तिक दृष्टि से चाहे कितना भी महत्वपूर्ण क्यों न हो, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उसका महत्व नगण्य है। उसकी सार्थकता संघारामों में विहार करने वाले बौद्ध-भिक्षुओं के लिए तो हो सकती है, किन्तु जन-सामान्य के व्यावहारिक कृत्यों में उससे काम नहीं चल सकता। उसके सिद्धान्त एवं शिक्षाएँ अपने आप में अपूर्ण हैं। जीवन की समस्त समस्याओं एवं ग्रन्थियों को सुलझाने में वह असमर्थ है। अतः यह कहना उचित नहीं

नोट

है कि केवल सद्धर्म की शिक्षा ही मनुष्यों के लिए पर्याप्त है।

विशेष–इन पंक्तियों में चाणक्य का ब्राह्मणत्व मुखरित है।

जन्मभूमि के लिए ही यह जीवन है, फिर जब आपसी सुकुमारियाँ इसकी सेवा में कठिबद्ध हैं तो मैं पीछे कब रहूँगा। अच्छा नमस्कार।

प्रसंग–प्रस्तुत पंक्तियाँ 'चन्द्रगुप्त' नाटक के प्रथम अंक के छठे दृश्य में देशभक्त सिंहरण द्वारा कही गयी है। वह निर्भीक, साहनी एवं कर्त्तव्यपरायण नवयुवक है। राष्ट्र के लिए अपने प्राणों का उत्सर्ग कर देना ही उसके जीवन का मूल उद्देश्य है। इन पंक्तियों में अलका के प्रति उसका कथन है–

व्याख्या–जब आप जैसी सुकुमारी स्त्रियाँ देशोद्धार के कामों में प्राणोत्सर्ग करने को तैयार हैं, तो मैं पुरुष होते हुए इस पावन कृत्य में पीछे क्यों रहूँ? मेरे जीवन की सार्थकता जन्मभूमि की रक्षा करने में ही है। मैं क्षत्रिय हूँ, अतः रक्त की तरल लालिमा द्वारा जन्मभूमि को रंजित कर दूँगा। कोमलता की प्रतीक नारियाँ यदि अपने प्राणों का मोह त्याग सकती हैं, तो मैं तो पुरुष हूँ–कठोरता और ओज का प्रतिरूप।

विशेष–सिंहरण की सच्ची देश-भक्ति एवं कर्त्तव्यपरायणता को वाणी प्रदान की गयी है।

त्याग और क्षमा, तप और विद्या, तेज और सम्मान के लिए हैं– लोहे और सोने के सामने सिर झुकाने के लिए हम लोग ब्राह्मण नहीं बने हैं। हमारी दी हुई विभूति से हमीं को अपमानित किया जाय, ऐसा नहीं हो सकता। कात्यायन! अब केवल पाणिनि से काम नहीं चलेगा। अर्थशास्त्र और दंड-नीति की आवश्यकता है।

प्रसंग–मगध के बन्दीगृह में ब्राह्मण चाणक्य को समझाने के लिए वर-रुचि को उसके तप और त्याग का ध्यान दिलाकर उससे क्षमा का आग्रह करने लगा। उत्तर में चाणक्य ने ब्राह्मणत्व का वास्तविक अर्थ बताते हुए उसको, इन शब्दों में सावधान किया–

व्याख्या–समाज में ब्राह्मण की प्रतिष्ठा इसलिए है कि वह उस स्वर्ण (ऐश्वर्य) का त्याग कर देता है, जो वैश्य का परमसाध्य है। ब्राह्मण बल (लोहे) को सदा क्षमा करता रहता है, जो बल क्षत्रिय का परमावश्यक गुण है। इस त्याग और क्षमा से वह तप और विद्या का संचय करता है और समाज उस त्यागी का सम्मान करता है तथा उस तेजस्वी के सामने नतमस्तक हो जाता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के इन दोनों प्राप्यों (लोहा-सोना) को पाकर भी दूसरों को दे देता है, परन्तु जब समाज में अव्यवस्था और अशांति व्याप्त हो जाती है, तो ये ही ठुकराई हुई वस्तुएँ उसका अपमान करने लगती हैं। यह अपमान ब्राह्मण के लिए असह्य हो जाता है, अतः ऐसी स्थिति में वह तप और विद्या में तत्पर नहीं रह पाता, प्रत्युत इन दोनों वर्णों की व्यवस्था सुधारने का प्रयत्न करता है, तब उसके मुख्य विषय–तप और विद्या न होकर–अर्थशास्त्र और दण्डनीति बन जाते हैं। अर्थशास्त्र के माध्यम से वह वैश्यों का सुधार करता है, और दण्डनीति के प्रयोग से क्षत्रियों का। तप और विद्या की कुछ समय के लिए अवहेलना-सी हो जाती है।

विशेष–(क) 'प्रसाद' ने यहाँ ब्राह्मण को स्वर्ण का त्याग करने वाला तथा लोहे (शक्ति-बल) को क्षमा कर देने वाला माना है। त्याग के कारण उसे सम्मान प्राप्त होता है और क्षमा के कारण वह तेजस्वी बनता है। यही कारण है कि वह शेष वर्णों के लिए पूज्य है। वह तप और विद्या का संचय करता है।

(ख) 'स्कन्दगुप्त' नाटक में भी 'प्रसाद' ने धातुसेन के कथन द्वारा ब्राह्मण को 'त्याग और क्षमा की मूर्ति' कहकर उसकी महानता व्यक्त की है।

(ग) इस स्थल पर विद्या का अर्थ पराविद्या है, जो ब्राह्मण का प्राण है। अपराविद्या के अन्तर्गत दण्डनीति और अर्थशास्त्र आते हैं। 'प्रसाद' समाज की व्यवस्था के लिए दोनों की आवश्यकता स्वीकार करते हैं।

(घ) पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव से हमारे जीवन में दो दोष प्रवेश कर रहे हैं–(क) लोहा अर्थात् सत्ता (ख) सोना अथर्ज्ञत् आर्थिक-शोषण। 'प्रसाद' ने यहां परोक्ष रूप से इनकी ओर भी संकेत किया है। उन्होंने इनकी चर्चा अपने 'कामना' नाटक में भी की है।

नोट

(ड.) रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी पश्चिमी सभ्यता के उपर्युक्त दुष्प्रभावों की चर्चा अपने नाटक 'रक्तकरवी' और निबन्धों में की है।

धर्म का नियामक ब्राह्मण है, मुझे पात्र देखकर उनका संस्कार करने का अधिकार है। ब्राह्मणत्व एक सार्वभौम शाश्वत बुद्धि-वैभव है। वह अपनी रक्षा के लिए पुष्टि के लिए और सेवा के लिए इतर वर्णों का संगठन कर लेगा। राज्य-संस्कृति से पूर्ण मनुष्य को मूर्धाभिषिक्त बनाने में दोष ही क्या?

प्रसंग–चाणक्य द्वारा कथित प्रस्तुत अवतरण 'चन्द्रगुप्त' नाटक के प्रथम अंक के नवम दृश्य से गृहीत है। चाणक्य पर्वतेश्वर की राज-सभा में उपस्थित है। वह उनके आग्रह करता है कि वह मगध-सम्राट् नन्द के विद्ध विद्रोह में चन्द्रगुप्त की सहायता करें, क्योंकि नन्द शूद्र है और चन्द्रगुप्त क्षत्रिय। इस पर पर्वतेश्वर को चन्द्रगुप्त के क्षत्रियत्व पर शंका होती है। वह कहता है–''पिप्पली-कानन के मौर्य तो वैसे ही वृषल हैं; उनको राजसिंहासन दीजियेगा?'' चाणक्य उनकी इस शंका का निवारण करते हुए पहले तो पर्वतेश्वर को यह समझाता है कि पिप्पलीकानन नामक स्थान पर निवास करने वाले मौर्य वास्तव में क्षत्रिय ही थे, किन्तु बौद्ध-धर्म के अत्यधिक प्रचार के परिणामस्वरूप उनके वैदिक संस्कार छूट गये और उन्हें 'वृषल' कहा जाने लगा। इसके अतिरिक्त वह ब्राह्मणों की सामर्थ्य के विषय में भी संकेत करता है जिन शास्त्रों के आधार पर वर्ण-व्यवस्था बनाई गई है, उनका निर्माण वस्तुतः ब्राह्मणों के बुद्धि बल द्वारा ही हुआ है।

व्याख्या–संसार में सर्वत्र मेधा का ही शासन है। मेधा का पुंजीभूत रूप है–ब्राह्मण। अतः ब्राह्मण की मेधा का न्याय सब देशों और सब कालों में मान्य होगा। उसका कोई तिरस्कार नहीं कर सकता। मैं ब्राह्मण हूँ–मुझे इस बात का पूर्ण अधिकार है कि मैं जिस किसी को भी चाहूँ–उसके गुणों के आधार पर–वैश्यधर्म या क्षत्रिय-धर्म सौंप सकता हूँ। ब्राह्मणत्व शाश्वत एवं सार्वभौम बुद्धि-वैभव है। ब्राह्मण जिसे समाज की रक्षा के योग्य समझता है, उसे क्षत्रिय के रूप में स्वीकार करता है, जिसे समाज के पोषण के योग्य समझता है, उसे वैश्य के रूप में ग्रहण करता है तथा जिसे समाज की सेवा के योग्य समझता है, उसे शूद्र के रूप में, किन्तु यह सामर्थ्य उसे किसी पाशविक या दानवीय शक्ति द्वारा प्राप्त नहीं हुई, अपितु उसे अपने ही मेधा-बल द्वारा प्राप्त हुई। जिसके पास बुद्धि रूपी सम्पदा अधिक है, वही ब्राह्मण है। वह अपनी बुद्धि के कारण ही सामाजिक व्यवस्था का संचालन करता है और आदर तथा श्रद्धा का अधिकारी बनता है। यह केवल अपने वर्ण का ही कल्याण नहीं करता वरन् अन्य वर्णों का भी कल्याण करता है। वह धर्म की रूप-रेखा किसी धर्म-विशेष अथवा सम्प्रदाय-विशेष को दृष्टिपथ में रखकर स्थिर नहीं करता, वरन् समग्र मानवता के हित की दृष्टि में रखकर करता है। यही कारण है कि ब्राह्मणों द्वारा घोषित धर्म शाश्वत-धर्म है। ब्राह्मण का न्याय सर्वत्र मान्य होता है। अपने बुद्धि-वैभव के कारण ही वह इतर वर्णों (क्षत्रिय, वैश्य आदि) का संघटन करने की सामर्थ्य रखता है। वह किसी भी व्यक्ति को उसके वीरोचित, राजोचित, क्षत्रियोचित गुणों के कारण राजा (क्षत्रिय) का पद प्रदान कर सकता है। (यहाँ चन्द्रगुप्त राजन्य-संस्कृति के गुणों से संवलित है–अतः चाणक्य उसे राजा का पद प्रदान करने में कोई दोष नहीं मानता।)

विशेष–(क) चाणक्य ने यहाँ ब्राह्मण-विशेष को गौरव न देकर ब्राह्मणत्व के गौरव की स्थापना की है जिसकी व्याख्या अन्यत्र 'तप और विद्या के संचय में तत्परता' कहकर की गई है।

(ख) ब्राह्मण के स्वरूप की प्रशंसा धातुसेन 'स्कन्दगुप्त' नाटक में उसे 'त्याग और मूर्ति' कहकर करता है।

(ग) पिप्पली-कानन के आर्य लोग आर्य-क्रियाओं के गुप्त हो जाने के कारण वृषल बन गये, परन्तु उनमें राजन्य-संस्कृति के चिन्ह अब भी शेष थे। 'प्रसाद' ने इस तथ्य की विस्तृत चर्चा 'चन्द्रगुप्त' की भूमिका में की है।

भूमा का सुख और उसकी महत्ता का जिसको आभास-मात्र हो जाता है, उसको ये नश्वर चमकीले प्रदर्शन नहीं अभिभूत कर सकते, दूत! वह किसी बलवान की इच्छा का क्रीड़ा-बन्दूक नहीं बन सकता।

प्रसंग–प्रस्तुत गद्यांश 'चन्द्रगुप्त' के प्रथम अंक के ग्यारहवें दृश्य से उद्धृत है। यह दाण्ड्यासन का कथन है। सिन्धु तट पर दाण्ड्यायन का आश्रम है। वहाँ सिकन्दर का सहचर ऐनिसात्रिटीज प्रवेश करता है। वह उन्हें (दाण्ड्यायन को) ''जगद्विजेता' सिकन्दर के पास चलने को कहता है और सिकन्दर की इस बलवती इच्छा को भी व्यक्त करता

नोट

है कि वे उसे कुछ उपदेश देते हैं। इस पर दाण्ड्यायन उसके 'जगद्विजेता' शब्द को लेकर सिकन्दर पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं–

व्याख्या–संसार में सर्वत्र मेधा का ही शासन है। मेधा का पुंजीभूत रूप है–ब्राह्मण। अतः ब्राह्मण की मेधा का न्याय सब देशों और सब कालों में मान्य होगा। उसका कोई तिरस्कार नहीं कर सकता। मैं ब्राह्मण हूँ–मुझे इस बात का पूर्ण अधिकार है कि मैं जिस किसी को भी चाहूँ–उसके गुणों के आधार पर–वैश्यधर्म या क्षत्रिय-धर्म सौंप सकता हूँ। ब्राह्मणत्व शाश्वत एवं सार्वभौम बुद्धि-वैभव है। ब्राह्मण जिसे समाज की रक्षा के योग्य समझता है, उसे क्षत्रिय के रूप में स्वीकार करता है, जिसे समाज के पोषण के योग्य समझता है, उसे वैश्य के रूप में, किन्तु यह सामर्थ्य उसे किसी पाशविक या दानवीय शक्ति द्वारा प्राप्त नहीं हुई, अपितु उसे अपने ही मेधा-बल द्वारा प्राप्त हुई। जिसके पास बुद्धि रूपी सम्पदा अधिक है, वही ब्राह्मण है। वह अपनी बुद्धि के कारण ही सामाजिक व्यवस्था का संचालन करता है और आदर तथा श्रद्धा का अधिकारी बनता है वह केवल अपने वर्ण का ही कल्याण नहीं करता वरन् अन्य वर्णों का भी कल्याण करता है। वह धर्म की रूप-रेखा किसी धर्म-विशेष अथवा सम्प्रदाय-विशेष को दृष्टिपथ में रखकर स्थिर नहीं करता, वरन् समग्र मानवता के हित की दृष्टि में रखकर करता है। यही कारण है कि ब्राह्मणों द्वारा घोषित धर्म शाश्वत-धर्म है। ब्राह्मण का न्याय सर्वत्र मान्य होता है। अपने बुद्धि-वैभव के कारण ही वह इतर वर्णों (क्षत्रिय, वैश्य आदि) का संघटन करने की सामर्थ्य रखता है। वह किसी भी व्यक्ति को उसके वीरोचित, राजीवित, क्षत्रियोचित गुणों के कारण राजा (क्षत्रिय) का पद प्रदान कर सकता है। (यहाँ चन्द्रगुप्त राजन्य-संस्कृति के गुणों से संवलित है–अतः चाणक्य उसे राजा का पद प्रदान करने में कोई दोष नहीं मानता।)

विशेष–(क) चाणक्य ने यहाँ ब्राह्मण-विशेष को गौरव न देकर ब्राह्मणत्व के गौरव की स्थापना की है जिसकी व्याख्या अन्यत्र 'तप और विद्या के संचय में तत्परता' कहकर की गई है।

(ख) ब्राह्मण के स्वरूप की प्रशंसा धातुसेन 'स्कन्दगुप्त' नाटक में उसे 'त्याग और तप की मूर्ति' कहकर करता है।

(ग) पिप्पली-कानन के आर्य लोग आर्य-क्रियाओं के लुप्त हो जाने के कारण वृषल बन गये, परन्तु उनमें राजन्य-संस्कृति के चिन्ह अब भी शेष थे। 'प्रसाद' ने इस तथ्य की विस्तृत चर्चा 'चन्द्रगुप्त' की भूमिका में की है।

भूमा का सुख और उसकी महत्ता का जिसको आभास-मात्र हो जाता है, उसको वे नश्वर चमकीले प्रदर्शन नहीं अभिभूत कर सकते, दूत! वह किसी बलवान की इच्छा का क्रीड़ा-कन्दुक नहीं बन सकता।

प्रसंग–प्रस्तुत गद्यांश 'चन्द्रगुप्त' के प्रथम अंक के ग्यारहवें दृश्य से उद्धृत है। यह दाण्ड्यायन का कथन है। सिन्धु तट पर दाण्ड्यायन का आश्रम है। वहाँ सिकन्दर का सहचर ऐनिसाक्रिटीज प्रवेश करता है। वह उन्हें (दाण्ड्यायन को) 'जगद्विजेता' सिकन्दर के पास चलने को कहता है और सिकन्दर की इस बलवती इच्छा को भी व्यक्त करता है कि वे उसे कुछ उपदेश दें। इस पर दाण्ड्यायन उसके 'जगद्विजेता' शब्द को लेकर सिकन्दर पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं–

व्याख्या–जिसे उस परमसत्ता की शक्ति एवं महत्ता का बोध हो जाता है, जिसे समस्त सृष्टि में व्याप्त उस दिव्य शक्ति की छवि का थोड़ा-सा भी भान हो जाता है, उसे इस संसार के भौतिक नश्वर उपकरणों से प्राप्त होने वाले सुख तनिक की आकृष्ट नहीं कर सकते। ऐसा व्यक्ति किसी बलवान् एवं सत्ता सम्पन्न व्यक्ति की इच्छा का दास नहीं बनता। वह प्रत्येक कर्म आन्तरिक प्रेरणा से प्रेरित होकर करता है। उसे सांसारिक आकर्षणों एवं मोह-ममताओं से कोई प्रयोजन नहीं रहता। कारण, भूमा का सुख अपरिमेय एवं अनन्त है, जबकि भौतिक सुख उसकी तुलना में अत्यन्त सीमित और क्षणिक है। अतः जिसे उस सुख (आनन्द) का अणु मात्र भी प्राप्त हो जाता है, उसे भौतिक सुखों की अपार रात्रि भी उसकी तुलना में नगण्य प्रतीत होती है। इसलिए दाण्ड्यायन को सिकन्दर का वैभव-सम्पन्न रूप तनिक भी प्रभावित नहीं कर सकता। वे उच्च विचारों वाले महात्मा एवं तपस्वी हैं और ब्रह्मानन्द के आस्वादयिता हैं। वे सिकन्दर के हाथों की कठपुतली नहीं–वह जो करते हैं, अपने अन्तःकरण की प्रेरणा से प्रेरित होकर। फिर दाण्ड्यायन सिकन्दर के लिए प्रयुक्त 'जगद्विजेता' शब्द का उपहास करते हुए कहते हैं कि अभी तो वह झेलम भी नहीं पार कर पाया, तो फिर उसे 'जगद्विजेता' की उपाधि से सम्बोधित करना निरर्थक है। अभी तो उसे समग्र

नोट

भारतवर्ष पर विजय प्राप्त करनी है–फिर 'जगद्विजेता' कहलाने का दम्भ कैसा!

विशेष–(क) सन्दर्भ में प्रयुक्त शब्दावली शैवागम से सम्बद्ध है कारण, 'प्रसाद' शैवदर्शन से अत्यधिक प्रभावित हैं। उनका 'कामायनी' महाकाव्य इस तथ्य का साक्षी है। उनकी अन्य कृतियों में भी यत्र-तत्र शैव-दर्शन की सुन्दर अभिव्यक्ति मिलती है।

(ख) 'प्रसाद' जी ने ऐसा ही भाव 'कामायनी' की निम्नलिखित पंक्तियों में व्यक्त किया है–

विषमता की पीड़ा से व्यस्त,
हो रहा स्पन्दित विश्व महान्।
यही दुख-सुख-विकास का सत्य
यही भूमा का मधुमय दान॥

–श्रद्धा सर्ग

समस्त आलोक, चैतन्य और प्राणशक्ति, प्रभु की दी हुई है। मृत्यु के द्वारा वही इसको लौटा लेता है। जिस वस्तु को मनुष्य दे नहीं सकता, उसे ले लेने की स्पर्धा से बढ़कर दूसरा दम्भ नहीं। मैं फल-फूल खाकर अंजलि से जलपान कर, तृण-शय्या पर आँख बन्द किये सो रहा हूँ। न मुझसे किसी को डर और न मुझको डरने का कारण है। तुम यदि हठात् मुझे ले जाना चाहो तो केवल मेरे शरीर को ले जा सकते हो, मेरी स्वतन्त्र आत्मा पर तुम्हारे देवपुत्र का भी अधिकार नहीं हो सकता।

प्रसंग–जब एनिसाक्रिटीज के प्रति दाण्ड्यायन सिकंदर के यहाँ जाने की अपनी अनिच्छा व्यक्त करते हैं, तब एनिसाक्रिटीज कहता है कि यदि न जाने पर देवपुत्र दण्ड दें?' इस पर दाण्ड्यायन अत्यन्त निर्भीकतापूर्व कहते हैं–

व्याख्या–मुझे किसी ये यहाँ आने-जाने की आवश्यकता नहीं है और न ही मुझे कोई दण्डित कर सकता है। मेरी समस्त आवश्यकताएँ प्रकृति द्वारा पूर्ण होती हैं, अत: उसके रहते मुझे दूसरों के शासन द्वारा शासित होना अवांछनीय हैं। ईश्वर ही समस्त प्राण-शक्ति एवं ऊर्जा प्रदान करता है और वही देहवसान के समय उसे लौटा लेता है। मनुष्य अपने आप में अत्यन्त अशक्त एवं दुर्बल प्राणी है। वह न तो किसी का पोषण कर सकता है और न किसी को बल प्रदान कर सकता है। अत: किसी के प्राण लेने का उसे कोई अधिकार नहीं–यदि वह फिर भी कोई अनाधिकार चेष्टा करता है तो यह उसका मिथ्यादम्भ मात्र है। मैं प्राकृतिक वस्तुओं द्वारा अपना भरण-पोषण करता हूँ और तृणशय्या पर शयन करता हूँ। मेरा जीवन अत्यन्त निश्छल एवं सहज स्वाभाविक है। जहाँ तक मेरे शरीर का सम्बन्ध है, वह ईश्वर प्रदत्त धरोहर है, जिसे वह कभी भी वापस ले सकता है। अत: मुझे इस बात की रंचमात्र भी चिन्ता नहीं कि मेरे नकारात्मक उत्तर से सिकन्दर मुझे दण्डित करेगा। शरीर तो नश्वर प्रवचना मात्र है, आत्मा चिरन्तन एवं शाश्वत है। अत: यदि तुम मुझे ले भी जाओगे तो मेरा शरीर ही तुम्हारे साथ जायेगा, आत्मा साथ नहीं जायेगी, वह तो चिरन्तन, अनादि एवं सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त है। सिकन्दर जैसे तथाकथित 'जगत्-विजेता' भी उसे अपने-अधीन नहीं कर सकते।

विशेष–(क) दाण्ड्यायन के प्रस्तुत कथन के माध्यम से 'प्रसाद' जी ने अपनी दार्शनिकता का सुन्दर नमूना उपस्थित किया है।

(ख) गीता में भी आत्मा को अजर-अमर तथा चिरन्तन कहा गया है। 'न जायते म्रियते का कदाचित्' आदि पंक्तियों में यही भाव निहित है।

लूट के लोभ से हत्या-व्यवसायियों को एकत्र करके उन्हें वीर-सेना कहना, रणकला का उपहास करना है।

प्रसंग–प्रस्तुत सन्दर्भ 'चन्द्रगुप्त' नाटक के द्वितीय अंक के प्रथम दृश्य से अवतरित है। चन्द्रगुप्त और सिकन्दर की परस्पर वार्ता चल रही है। चन्द्रगुप्त मगध का उद्धार करना चाहता है, जबकि सिकन्दर का कहना है कि वह उसे हस्तगत करने का प्रयत्न कर रहा है। चन्द्रगुप्त को सिकन्दर का उक्त कथन अप्रिय लगता है। जब सिकन्दर उसे अपनी सहायता देने की बात करता है, तब तो उसका आत्माभिमान और भी तीव्र हो जाता है और वह निर्भीक

नोट

शब्दों में कहता है–''मैं मगध का उद्धार करना चाहता हूँ, परन्तु यवन लुटेरों की सहायता से नहीं।'' इस पर सिकन्दर उसे भय दिखाता है, किन्तु वह यवनों के लुटेरेपन को और अधिक स्पष्ट करे हुए कहता है–

व्याख्या–मैंने जो कुछ कहा है, वह सर्वथा सत्य है। यवन तो वीरता के नाम पर कलंक हैं। वीर कहना रण-कला का उपहास करना है। सच्चे वीर वे होते हैं, जो निःस्वार्थ भाव से देश-रक्षा के लिए अपने प्राणों का विसर्जन कर दें, आन्तरिक प्रेरणा से प्रेरित होकर देशोद्धार का प्रयत्न करें। यवन-सैनिक तो मात्र स्वार्थ-सिद्धि के लिए रक्तपात करते हैं। भारतीय जनता का नाश करके पैसा बटोरना ही उनके जीवन का मूल साध्य है। देश-प्रेम की व्यापक भावना तो उनके व्यक्तित्व से मानो कूच ही कर चुकी है। सामान्य जनता से लड़कर सम्पदा एकत्र करना तथा युद्ध-भूमि से भाग खड़े होना तो कहीं की वीरता नहीं है।''

उसकी चिन्ता नहीं। पौधे अन्धकार में बढ़ते हैं और मेरी नीतिलता भी उसी भाँति विपत्ति-तम में लहलही होगी। हाँ, केवल मौर्य में काम नहीं चलेगा। एक बात समझ लो, चाणक्य सिद्धि देखता है, साधना चाहे केसी ही हो।

प्रसंग–प्रस्तुत सन्दर्भ नाटक के द्वितीय अंक के द्वितीय दृश्य से उद्धृत है। मगध-मण्डल पर विपत्तियों के बादल मँडरा रहे हैं। युद्ध की तैयारी हो रही है। मगध के सच्चे हितैषी मालव सिंहरण को जब देश पर होने वाले सिकन्दर के आक्रमण का समाचार मिलता है, तो वह तत्काल चाणक्य के पास पहुँचता है वह कर्त्तव्य में प्रवृत्त हो जाने की आज्ञा चाहता है, किन्तु चाणक्य निश्चिन्त है। उसे सिकन्दर के भावी आक्रमण की कोई चिन्ता नहीं। वह झेलम तट के वनपथ पर चन्द्रगुप्त और उसके सहयोगी सिंहरण से विचार-विमर्श करते हुए अपनी नीति को इन पंक्तियों में स्पष्ट करता है।

व्याख्या–यद्यपि राष्ट्र आपत्तिग्रस्त है और युद्ध की तैयारियाँ होनी चाहिए तथापि हमें इनकी तनिक भी चिन्ता नहीं। जिस प्रकार पौधे अन्धकार में विकास पाते हैं, उसी प्रकार मेरी नीति-रूपी लता नाना प्रकार की विपत्तियों के निविड़ अन्धकार में ही फलती-फूलती हैं। (जैसे-जैसे मुझे अधिकाधिक आपदाओं का सामना करना पड़ रहा है, वैसे-वैसे मेरी बुद्धि उत्तम नीतियों की सृष्टि करती जाती है।) वस्तुतः चाणक्य विपत्तियों से घबराता नहीं, वह अत्यंत साहसी, धैर्यवान् एवं सफल कूटनीतिज्ञ है। वह अपनी कूटनीति का स्पष्टीकरण करते हुए कहता है–''इस समय की स्थिति ऐसी है कि मौर्यवीर्य से सफलता प्राप्त करना हमारे लिये अत्यन्त कठिन है। हमारे पास न तो पर्याप्त सैन्य-शक्ति है और न ही अन्य-साधनों की विपुलता। अतः हमें जिस किसी प्रकार से भी सिद्धि मिलने की सम्भावना हो, वही मार्ग अपनाना चाहिए। केवल मौर्य के बल पर राष्ट्र को संकटयुक्त करना हमारे लिए संभव नहीं है। राजनीति में शुभ-अशुभ तथा उचित-अनुचित का कोई अर्थ नहीं होता। अतः चाणक्य सिद्धि प्राप्त करने के लिए किसी भी साधन के प्रयोग को अनुचित नहीं मानता। उसकी दृष्टि से सिद्धि का ही महत्व है। साधन-गौण वस्तु है। उसके दो मूल उद्देश्य हैं ... मगध का उद्धार और यवनों से देश की रक्षा। इन दोनों उद्देश्यों की सिद्धि के लिए जिन-जिन साधनों की आवश्यकता हो, उन्हें ग्रहण करने में किसी प्रकार का संकोच नहीं करना चाहिए। कारण, साधन अपने आप में न अच्छे होते हैं और न बुरे, वे तो सिद्धि पर ही अश्रित रहते हैं। इसके साथ ही, राजनीति में तो वैसे भी साधनों के औचित्य-अनौचित्य का विशेष महत्व नहीं होता। अतः चाणक्य का विचार है कि इस समय युद्ध करना श्रेयष्कर न होगा, किसी अन्य साधन द्वारा (छद्मवेश धारण द्वारा) राष्ट्रोद्धार करना ही उचित सिद्ध होगा। (अतः सिंहरण और अलका नट-नटी बनते हैं, चन्द्रगुप्त सपेरा बनता है, और स्वयं चाणक्य ब्रह्मचारी का वेश धारण करता है।)

विशेष–(क) यहाँ 'प्रसाद' जी ने चाणक्य की कूटनीति का सुन्दर स्पष्टीकरण किया है। सिद्धि को महत्त्व देना और साधनों के औचित्य-अनौचित्य पर ध्यान न देना राजनीतिक कृत्यों में न्यायसंगत समझा जाता है।

(ख) राष्ट्र-सम्मान की रक्षा के लिए केवल बल पर्याप्त नहीं है बल के उचित प्रयोग की विधि उससे भी कहीं अधिक महत्व रखती है।

नोट

(ग) 'कुरुक्षेत्र' में कवि दिनकर ने भी भीष्म के माध्यम से ऐसी ही नीति व्यक्त की है।

फूल हँसते हुए आते हैं, फिर मकरंद गिराकर मुरझा जाते हैं, आँसू से धरणी को भिगोकर चले जाते हैं। एक स्निग्ध समीर का झोंका आता है, निःश्वास फेंककर चला जाता है। क्या पृथ्वीतल रोने ही के लिए है? नहीं, सबके लिए एक ही नियम तो नहीं। कोई रोने के लिए है, तो कोई हँसने के लिये।

प्रसंग–प्रस्तुत अवतरण 'चन्द्रगुप्त' नाटक के द्वितीय अंक के चतुर्थ दृश्य से अवतरित है। सिन्धु देश की कुमारी मालविका सिंहरण के उद्यान में चन्द्रगुप्त के वियोग में चिन्तामग्न है। वह प्राकृतिक उपकरणों में अपने निराशाकुल मन का प्रतिबिम्ब देखती है।

व्याख्या–मालविका सोचती है कि क्या संसार के समस्त पदार्थों और प्राणियों के भाग्य में केवल रोना ही लिखा है। वह उद्यान के फूलों को देखकर कहती है कि इनका जीवन कितना करुण है। जो पुष्प कुछ ही क्षण पूर्व हँसते हुए अपने सौरभ से सम्पूर्ण भूमण्डल को सुवासित करते हैं, वे ही दूसरे क्षण हवा के तीव्र झोंकों से मुरझाकर धराशायी हो जाते हैं। उसे ऐसा प्रतीत होता है, मानो ये पुष्प मुरझाने से पूर्व ओस रूपी अश्रुओं से धरा के आँचल को आर्द्र कर देते हैं। ठीक यही स्थिति पवन की है। हवा का अत्यन्त स्निग्ध एवं तरल झोंका उल्लसित होकर आता है, पर लम्बी साँस छोड़कर चला जाता है। वह इस गहरे निःश्वास द्वारा मानो जगत् के प्रति अपनी दुःखात्मक प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। क्या समस्त भूमण्डल रोने ही के लिए है? नहीं यह बात सब पर चरितार्थ नहीं हो सकती। कोई रोने के लिए है, तो कोई हँसने के लिए, किन्तु उसे (मालविका को) तो सभी रोते दृष्टिगत होते हैं।

विशेष–(क) इन पंक्तियों द्वारा लेखक ने मालविका की चारित्रिक विशेषताओं का उद्घाटन किया है और उसके व्यक्तिगत विचारों का परिचय कराया है।

(ख) मालविका के हृदय में चन्द्रगुप्त के प्रति जो अमुक्त लालसा सुप्तावस्था में थी, वह प्राकृतिक उपकरणों के उद्दीपनकारी प्रभाव से जागृत हो गयी है, किन्तु तृप्ति का साधन न पाने के कारण वह अकुला जाती है।

(ग) इन पंक्तियों का विन्यास इस प्रकार से हुआ है कि पाठक को गद्य-गीत की सरलता और मधुरिमा का आनन्द मिलता है। यहाँ 'प्रसाद' का भावुक हृदय अत्यन्त मुखर है।

स्नेह से हृदय चिकना हो जाता है, परन्तु बिछलने का भय भी होता है।

प्रसंग–मालविका द्वारा कथित प्रस्तुत पंक्ति नाटक के द्वितीय अंक से उद्धृत है। मालविका अन्य देशों को देखने की इच्छा से आयी, पर तक्षशिला में राजकुमारी अलका से इतना घनिष्ठ स्नेह हो गया कि वह वहीं रहने लगी। चन्द्रगुप्त के रूप-सौन्दर्य को देखकर वह चकित हो जाती है–''कभी इन्द्रजाली और कभी कुछ! भला इतना सुन्दर तुम्हें विकृत करने की क्या आवश्यकता है?''–इस कथन के उत्तर में 'चन्द्रगुप्त' यह कहता हुआ वहाँ से चला जाता है–''मुझे, मैं तुम्हारी सरलता पर मुग्ध हूँ। इस पर मालविका कहती है–

व्याख्या–यह सत्य है कि स्नेह हृदय को स्निग्ध एवं कोमल बना देता है, किन्तु जहाँ चिकनापन होता है, वहाँ बिछलने का भी भय रहता है। प्रेम-मार्ग का पथिक कभी भी स्खलित हो सकता है। (मालविका को चन्द्रगुप्त से स्नेह-सम्बन्ध स्थापित करने में यही भय दिखाई पड़ता है।)

विशेष–'स्नेह' शब्द में श्लेष है। इसके दो अर्थ है–प्रेम और तेल। 'चिकनापन' दोनों में ही पाया जाता है। इस सम्बन्ध से बिहारी का अधोलिखित दोहा अवेक्षणीय है–

जो चाहे चटक न घर्ट, मैलो होय न मिल।
रज राजस न छुआइये, नेह चीकने चित्त॥

तारों से भरी हुई काली रजनी का नीला आकाश–जैसे कोई विराट गणितज्ञ विभूत में रेखा-गणित की समस्या सिद्ध करने के लिए बिन्दु दे रहा है।

प्रसंग–'चन्द्रगुप्त' नाटक के द्वितीय अंक से उद्धृत प्रस्तुत गद्यांश में अलका के हृदय में विद्यमान पर्वतेश्वर और सिंहरण से सम्बद्ध प्रेम-समस्या व्यक्त हुई है। अलका पर्वतेश्वर के प्रासाद में है। यद्यपि चाणक्य की मंत्रणानुसार

नोट

वह पर्वतेश्वर की प्रिया बनना अंगीकार कर लेती है, तथापि उसके हृदय-मन्दिर में उसका इष्टदेव सिंहरण ही निवास करता है।'' सिंहरण को झुला पाना उनके लिए किसी भी मूल्य पर सम्भव नहीं है। सहसा वह आकाश की ओर दृष्टिगत करती हुई कह उठती है–

व्याख्या–तारों से भरी हुई काली रात्रि और नीलाकाश भी क्या है? ऐसा लक्षित होता है मानो कोई सत्य के ऊपर रहस्य का आवरण डाल रहा हो, बिन्दु असंख्य नक्षत्र भी तो झिलमिला रहे हैं। ये नक्षत्र मानो अन्धकार के आवरण को हटाकर वास्तविकता तक पहुँचना चाहते हैं। अलका को यह रात्रि ऐसी प्रतीत होती है मानो कोई विराट् (बहुत बड़ा) गणितज्ञ शून्य में रेखागणित की किसी जटिल समस्या का समाधान करने के लिए बिन्दु दे रहा हो।

विशेष–(क) इन पंक्तियों में अलका ने अपनी आन्तरिक भावनाओं का प्राकृतिक उपादानों पर सुन्दर आरोपण किया है।

(ख) वस्तुत: आकाश में कोई गणितज्ञ नहीं है–यह अलका की निजी कल्पना है कि आकाश शून्य है और तारा बिन्दु।

प्राण तो धरोहर है, जिसका होगा वही लेगा, मुझे भयों से इनकी रक्षा करने की आवश्यकता नहीं। मैं जाती हूँ।

प्रसंग–प्रस्तुत पंक्तियाँ नाटक के द्वितीय अंक के दसवें दृश्य से अवतरित हैं। मालव-दुर्ग के भीतरी भाग का एक शून्य परकोटा है। अलका और मालविका में परस्पर युद्ध-सम्बन्धी वार्तालाप हो रहा है इसी बीच अलका कहती है कि युद्ध-काल में कोई-न-कोई अस्त्र पास होना ही चाहिए, किन्तु मालविका अस्त्र-सम्बन्धी अपनी अरुचि प्रकट करती है। वह अलका की कटार को ग्रहण करना अस्वीकार कर देती है। इस पर अलका के इस कथन 'प्राणों के भय से शस्त्र से घृणा करती हो क्या?''– उत्तर में मालविका कहती है–

व्याख्या–मुझे प्राणों का रंचमात्र भी भय नहीं है। ये प्राण मेरे तो हैं नहीं, ये तो किसी की धरोहर है–अत: भ्य अथवा चिन्ता की क्या आवश्यकता है? जिसने इन प्राणों को संजीवनी शक्ति दी, वही इसका अधिकारी है। वह जब चाहेगा, इन्हें वापस ले लेगा। अन्य कोई चाहने पर भी इन्हें प्राप्त न कर सकेगा। अत: इनकी रक्षा के लिए किसी वस्त्र-शस्त्र की कोई आवश्यकता नहीं है।

विशेष–मालविका ने अपने जीवन का उद्देश्य सेवाव्रत माना है, अत: उसमें प्राणोत्सर्ग की भावना ही प्रबल है।

पौरव! ब्राह्मण राज्य करना नहीं जानता, करना भी नहीं चाहता, हाँ, वह राजाओं का नियमन करना जानता है; राजा बनाना जानता है। इसलिये तुम्हें अभी राज्य करना होगा और करना होगा वह कार्य–जिसमें भारतीयों का गौरव हो और तुम्हारे क्षात्र-धर्म का पालन हो।

प्रसंग–प्रस्तुत संदर्भ 'प्रसाद' के प्रसिद्ध ऐतिहासिक नाटक 'चन्द्रगुप्त' के तृतीय अंक से उद्धृत है। पर्वतेश्वर वीर, साहसी एवं निर्भीक योद्धा होने पर भी एक स्त्री–अलका–द्वारा पराजित होता है। उसे अपने चरित्र पर अत्यधिक क्षोभ का अनुभव होता है। वह आत्मग्लानि की भावना से इतना अधिक अभिभूत हो जाता है कि आत्महत्या करने को तत्पर हो जाता है। सहसा चाणक्य आकर उसका हाथ पकड़ लेता है और पर्वतेश्वर के यह कहने पर कि ''मैं क्षमता रखते हुए जिस कार्य को न कर सका, वह कार्य नि:स्सहाय चन्द्रगुप्त ने किया।'' चाणक्य का कथन है–

व्याख्या–पर्वतेश्वर! ब्राह्मण स्वयं राज्य नहीं करता और न राज्य करने की उसमें योग्यता ही होती है। परन्तु वह इससे कठिनतर कार्य कर सकता है। वह योग्य व्यक्ति को राजा बनाना जानता है, उसके राज्य का संचालन कर सकता है। अत: तुम्हें भी अपने क्षत्रिय-धर्म का पालन करते हुए राज्य करना होगा। जिन यवनों ने तुम्हें लांछित और अपमानित किया है, उनसे किसी-न-किसी प्रकार प्रतिशोध लेना ही होगा। ऐसा करने से एक ओर तुम्हारा सम्मान होगा और दूसरी ओर भारतीय गौरवान्वित होंगे।

मनुष्य अपनी दुर्बलता से भली-भाँति परिचित रहता है, परन्तु उसे अपने बल से भी अवगत होना चाहिए। असम्भव कहकर किसी काम को करने के पहले कर्मक्षेत्र में काँपकर लड़खड़ाओ मत पौरव! तुम क्या हो–विचार कर देखो तो!

नोट

प्रसंग–चाणक्य के इस कथन पर कि ''जिन यवनों ने तुम्हें लांछित और अपमानित किया है, उनसे प्रतिशोध!'' पर्वतेश्वर 'असम्भव है!'' कहता है। चाणक्य को उसका ऐसा कहना अप्रिय लगता है। उसे समझाते हुए चाणक्य कहता है–

व्याख्या–वीर व्यक्ति के लिए इस संसार में कुछ भी असम्भव नहीं है। सच्ची लगन एवं उत्साह द्वारा वह कठिन-से-कठिन एवं विकट-से-विकट समस्याओं एवं परिस्थितियों का भी सामना कर सकता है। अत: उसका कर्त्तव्य है कि वह किसी कार्य को करने से पूर्व लड़खड़ाये नहीं। यह सत्य है कि मनुष्य में दुर्बलता एवं सबलता दोनों तत्त्व विद्यमान रहते हैं और वह अपनी दुर्बलताओं से ही प्राय: परिचित रहता है, किन्तु उसे अपनी शक्ति से भी अवगत रहना चाहिए। यद्यपि तुम अपनी दुर्बलताओं के कारण यवनों को पराजित न कर सके, किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि तुम सामर्थ्य-विहीन हो, अशक्त हो। अपने उद्योग-बल द्वारा तुम निश्चय ही असम्भव को सम्भव तथा कठिन को सरल बना सकते हो। कर्मक्षेत्र में काँप कर लड़खड़ाना अशोभनीय है।

पौरव, तामस त्याग से सात्त्विक ग्रहण उत्तम है। वह दान न था, उसमें कोई सत्य नहीं। तुम उसे ग्रहण करो।

प्रसंग–पर्वतेश्वर जब राज्य दान कर देने की बात कहता है, तब चाणक्य उसे समझाते हुए कहता है–

व्याख्या–वह त्याग जो अनिच्छापूर्वक किया जाता है, अपने आप में अत्यन्त निकृष्ट होता है। पवित्र हृदय से किया जाने वाला त्याग ही वास्तविक त्याग है, किसी दुर्बलता अथवा विवशता के कारण किये जाने वाले त्याग का कुछ महत्त्व नहीं होता। ऐसे त्याग से तो वह ग्रहण श्रेयस्कर है जिसके मूल में सात्त्विक भावना निहित हो। अत: तुम जिसे दान कहते हो, वह वस्तुत: दान न था, उसमें कोई सत्य नहीं। सात्त्विक भावना से प्रेरित होकर उसे ग्रहण करने में ही तुम्हारी शोभा है।

विशेष–चाणक्य की प्रस्तुत सूक्ति अर्धविस्तार की दृष्टि से एक विशाल ग्रन्थ की क्षमता लिए है।

स्मृतियाँ ऐसे अवसर पर उद्दण्ड हो जाती हैं। अतीत के कारागृह में बन्दिनी स्मृतियाँ अपने करुण नि:श्वास की शृंखलाओं को झनझनाकर सूची-भेद्य अन्धकार में सो जाती हैं।

प्रसंग–कार्नेलिया और चन्द्रगुप्त का परस्पर संवाद चल रहा है। चन्द्रगुप्त संतुष्ट है कि उसकी प्रिया कार्नेलिया ने उसे भुला नहीं दिया है। वह स्मृति को जीवन का पुरस्कार मानता है किन्तु कार्नेलिया उसे बताती है कि स्मृति-जीवन का पुरस्कार नहीं, अपितु दण्ड है, क्योंकि–

व्याख्या–वह बहुत दूर देश की निवासिनी है, उसके लिए यह सम्भव नहीं कि वह सदैव उसके निकट बनी रहे। जब वह अपने प्रियतम से विलग हो जाएगी, अपने वास्तविक देश को लौट जाएगी तो ऐसी स्थिति में उसके पास प्रिय की एक धुँधली-सी स्मृति ही रह जाएगी। यह स्मृति उसे आनन्दित न करके दण्डित करने वाली सिद्ध होगी–उसे आकुल-व्याकुल कर देगी। स्मृतियों का सम्बन्ध सदैव अतीत से होता है और वर्तमान में ये स्मृतियाँ सदैव संतप्त करती है। अतीत की कारगृह में आह की बेड़ियों से आवद्ध ये स्मृतियाँ छटपटाती रहती हैं। अतीत के मधुमय दिनों की पुनरावृत्ति तो सम्भव नहीं होती, अत: वर्तमान में भी उन स्मृतियों द्वारा कोई उत्साह एवं स्फूर्ति प्राप्त नहीं हो पाती। ये स्मृतियाँ अन्तत: विवश होकर अंधकार के गर्त में विलीन हो जाती हैं।

विशेष–परदेशी प्रियतम से प्रेम करना वस्तुत: अत्यन्त कष्टदायी होता है। इस प्रकार के प्रेम में हृदय विरहाग्नि से झुलसता रहता है। कारण, प्रिय की स्मृति का दंश अत्यन्त असह्य होता हैं।

यह स्वप्नों का देश, यह त्याग और ज्ञान का पालना, यह प्रेम की रंगभूमि भारतभूमि क्या भुलाई जा सकती है? कदापि नहीं। अन्य देश मनुष्यों की जन्मभूमि है, यह भारत मानवता की जन्मभूमि है।

प्रसंग–चन्द्रगुप्त और कार्नेलिया का परस्पर संवाद चल रहा है। कार्नेलिया चन्द्रगुप्त के प्रति अपने भारत-विषयक अनुराग को व्यक्त करती हुई कहती है कि यहाँ के श्यामल कुंज, घने जंगल, सरिताओं की माला पहने हुए शैल-श्रेणी, हरी-भरी वर्षा, गर्मी की चाँदनी, शीतकाल की धूप और भोले कृषक तथा सरल कृषक बालिकाएँ, नाल्यकाल की सुनी हुई कहानियों की जीवित प्रतिमाएँ हैं। भारतवर्ष की महिमा का और अधिक बखान करती हुई वह आगे कहती है–

नोट

व्याख्या–यह भारतवर्ष अत्यन्त महान् देश है। जिस प्रकार स्वप्न अपने आप में अत्यन्त मोहक होते हैं, उसी प्रकार भारत देश भी अपने गुणों के कारण अत्यन्त मोहक है। त्याग, ज्ञान और प्रेम इस देश की निजी विशेषताएँ हैं। अनेक त्यागी, ज्ञानी एवं प्रेमी इस देश में जन्म ले चुके हैं। अतः उसके लिए यह सम्भव नहीं कि वह ऐसे महान् देश को विस्मृत कर सके। अन्य देशों में तो मनुष्य जन्म लेते हैं, जबकि यहाँ साक्षात् मानवता ही अवतरित हो गई है यहाँ के मनुष्य मानवता के उच्चादर्शों से युक्त हैं, उनके चरित्र में सात्त्विक भावना का ही प्राधान्य है। सत्य तो यह है कि जो गुण मानव को पशु अथवा राक्षस से पृथक् करते हैं, वे सबके सब भारतीयों में पाये जाते हैं। अतः इसे 'मानवता की जन्मभूमि' कहना सर्वथा संगत है।

विशेष–कार्नेलिया के इन शब्दों में 'प्रसाद' ने भारत की गरिमा का अत्यन्त सटीक चित्रण प्रस्तुत किया है। कवि-नाटककार का स्वदेश-प्रेम यहाँ मुखरित हो गया।

सिकन्दर ने भारत से युद्ध किया है और मैंने भारत का अध्ययन किया है। मैं देखती हूँ कि यह युद्ध ग्रीक और भारतीयों के अस्त्र का ही नहीं, इसमें दो बुद्धियाँ भी लड़ रही हैं। यह अरस्तू और चाणक्य की चोट है, सिकन्दर और चन्द्रगुप्त उनके अस्त्र हैं।

प्रसंग–प्रस्तुत पंक्तियों में नाटक की नायिका कार्नेलिया ने सिकन्दर और चन्द्रगुप्त के पारस्परिक युद्ध-विषयक अपने निष्कर्ष व्यक्त किये हैं। उसका कथन है कि–

व्याख्या–सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया है, किन्तु उसने (कार्नेलिया ने) भारत का सम्यक् अध्ययन एवं मनन् किया है। भारत और यूनान का यह युद्ध केवल अस्त्रगत ही नहीं, वरन् बुद्धिगत भी है। वस्तुतः दो देशों की दो विशिष्ट बुद्धियाँ (अरस्तू और चाणक्य) युद्ध कर रही हैं। भारतीय मनीषा का प्रतिनिधित्व चन्द्रगुप्त द्वारा हो रहा है तो यूनानी मनीषा का सिकन्दर द्वारा। चन्द्रगुप्त और सिकन्दर क्रमशः चाणक्य और अरस्तू के हाथ के क्रीड़ा-कन्दुक हैं। चन्द्रगुप्त की समस्त शक्ति एवं नीति का संचालन चाणक्य द्वारा हुआ है और सिकन्दर के युद्ध-नीति-सम्बन्धी सिद्धान्तों के मूल में अरस्तू की मनीषा कार्य कर रही है। अतः निःसन्देह चन्द्रगुप्त और सिकन्दर के युद्ध में अस्त्र-बल का उतना मुकाबला नहीं है, जितना कि बुद्धिबल (कूटनीति) का। दोनों पक्षों के संघर्ष के मूल में कूटनीतिक चालें ही काम कर रही हैं।

विशेष–नाटककार 'प्रसाद' ने इन पंक्तियों में नायिका कार्नेलिया का भारतवर्ष और सिकन्दर के मध्य युद्ध से उत्पन्न प्रतिक्रिया का सुन्दर परिचय दिया है।

शत्रु की उचित प्रशंसा करना मनुष्य का धर्म है। तुमने अद्‌भुत कार्य किये, इसमें भी कोई सन्देह है?

प्रसंग–नाटक के तृतीय अंक से उद्धृत प्रस्तुत उक्ति अमात्य राक्षस द्वारा उस समय कही गयी है, जब वह कल्याणी से कहता है ''गर्व है, राजकुमारी! और उनका गर्व सत्य है। चाणक्य और चन्द्रगुप्त मगध की ही प्रजा है, जिन्होंने इतना बड़ा उलट-फेर किया?'' और चाणक्य उसके इस कथन को सुनकर कहता है–''तो तुम इसे स्वीकार करते हो, अमात्य राक्षस?''

व्याख्या–राक्षस का कथन है कि चाणक्य और चन्द्रगुप्त सम्राट् नन्द के विरोधी होने के कारण उसके भी विरोधी हैं, क्योंकि वह (राक्षस) नन्द का स्वामिभक्त अमात्य है। किन्तु फिर भी उनके गुणों का वह प्रशंसक है। उसकी धारणा है कि शत्रु की भी उचित प्रशंसा करना प्रत्येक मानव का कर्त्तव्य है। मानव होने के नाते वह भी चन्द्रगुप्त और चाणक्य के बुद्धि-वैभव का कायल है। कारण, देश पर आने वाली भारी आपत्ति से देश की अपने बुद्धि-बल द्वारा रक्षा करना कम गौरव की बात नहीं। चन्द्रगुप्त और चाणक्य ने अपनी कूटनीतिक चालों द्वारा राष्ट्र-रक्षा के सफल प्रयास किये हैं, अतः निश्चय ही वे प्रशंसा के पात्र हैं।

विशेष–यह एक कटु सत्य है कि अद्‌भुत कार्य करने पर शत्रु भी हमारे लिए प्रशंसनीय हो जाता है।

मैं तलवार खींचे हुए भारत में आया, हृदय देकर जाता हूँ। विस्मय-विमुग्ध हूँ। जिनसे खड्ग-परीक्षा हुई थी, युद्ध में जिनसे तलवारें मिली थीं, उनसे हाथ मिलाकर–मैत्री के हाथ मिलाकर–जाना चाहता है।

नोट

प्रसंग–प्रस्तुत सन्दर्भ नाटक के तृतीय अंक के तृतीय दृश्य से, अवतरित है। सिकन्दर भारतीयों की गुण-गरिमा का बखान करता हुआ चाणक्य से कहता है–

व्याख्या–चाणक्य! आप धन्य हैं। आपके शौर्य, पौरुष आदि गुणों से मैं अत्यधिक प्रभावित हूँ। मैं आक्रमणकारी के रूप में भारत आया था, किन्तु आप जैसे भारतीयों की वीरता, मनुष्यता एवं बहुहृयता देखकर मैं आश्चर्यचकित हूँ। आप लोगों ने अपने विशिष्ट गुणों के कारण मेरे हृदय को विजित कर लिया है–मेरा हृदय भारतीयता के रंग से रंजित हो गया है। मेरा भौतिक शरीर ही यूनान लौट रहा है, अन्त:करण तो यहीं रह गया है। युद्ध-भूमि में जिनके साथ मुठभेड़ हुई, उनके साथ मैं हाथ मिलाकर मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करके ही लौटना चाहता हूँ। कारण, भारतीयों का चरित्र अपने सात्त्विक गुणों के कारण मेरे लिए स्पृहणीय है।

विशेष–सिकन्दर के माध्यम से 'प्रसाद' ने भारतीय वीरों के आदर्श चरित्र का सुन्दर अंकन किया है।

समझदारी आने पर यौवन चला जाता है–जब तरु माला गूँथी जाती है, तब तक फूल कुम्हला जाते हैं। जिससे मिलने के सम्भार की इतनी धूम-धाम, सजावट, बनावट होती है, उसके आने तक मनुष्य हृदय को सुन्दर और उपयुक्त नहीं बनाये रह सकता। मनुष्य की चंचल स्थिति तब तक उस श्यामल कोमल हृदय को मरुभूमि बना देती है।

प्रसंग–'चन्द्रगुप्त' नाटक के तृतीय अंक से उद्धृत प्रस्तुत गद्यांश में 'प्रसाद' ने चाणक्य के अन्तर्द्वन्द्व को स्पष्ट किया है। कुसुमपुर का प्रान्त है। मालविका और अलका के प्रस्थान करने पर चाणक्य स्वगत-चिन्तन करता है। वह नन्द के विरुद्ध षड्यन्त्र करता हुआ अपनी जन्मभूमि कुसुमपुर को दूर से देखता है तो उसे अतीत के उन दिनों की स्मृति ही आती है, जब वह किशोरावस्था में था तथा उसके यौवन का आगमन हो रहा था। उसके मन में प्रेम की अनेक उमंगें और कोमल कल्पनाएँ तरंगायित हो रही थीं। वह जिस किसी के भी सम्पर्क में आता था, उसे आत्म-समर्पण (Self-Submission) करने को तत्पर रहता था। अपना सर्वस्व अपने प्रिय पात्र को समर्पित कर देने की अत्यन्त प्रबल इच्छा उसके अन्त:करण को व्याप्त किये रहती थी। राजनीति के छल-छद्मों और दाँव-पेचों से तब वह सर्वथा अपरिचित था। अपने यौवन के इसी प्रभात में वह एक सौन्दर्य-देवी (सुवासिनी) के सम्पर्क में आया, जिसे प्राप्त करने के लिए वह सुनहरे स्वप्न देखा करता था, किन्तु नन्द के विद्वेषपूर्ण व्यवहारों ने उसकी किशोरावस्था की समस्त कोमल-स्निग्ध भावनाओं को कुचल दिया।

व्याख्या–चाणक्य ने अपने जीवन में अनेक कटु अनुभव किये थे, जिन्होंने उसे सिखा दिया था कि सभी व्यक्ति प्रेम के पात्र नहीं होते। यौवनावस्था में व्यक्ति का जीवन अत्यन्त उन्मादपूर्ण एवं स्निग्ध भावनाओं का केन्द्र होता है। हृदय पर बुद्धि का अंकुश नहीं रहता–वह अकूल सरिता के समान स्वच्छन्द गति से प्रवाहित होता है। भले-बुरे का उसे तनिक भी विचार नहीं रहता। किन्तु जब व्यक्ति की बुद्धि प्रौढ़ होती है, समझदारी आती है, तब तक यौवन के रसभरे दिन समाप्त हो जाते हैं, यौवन का आवेश और उन्माद कम हो जाता है। प्रौढ़ावस्था में किसी को आत्म-समर्पण करने की भावना जाती रहती है। जिस प्रकार पुष्प माला बनने से पूर्व समस्त वातावरण को अपनी सुगन्ध से सुवासित करते रहते हैं किन्तु माला बनते-बनते वे मुरझाकर धराशायी हो जाते हैं, अपनी चमक-दमक, सुगन्ध एवं पराग सब नष्ट कर बैठते है।, ठीक वही स्थिति चाणक्य की है। चाणक्य यदि चाहे तो वह सुवासिनी को प्राप्त कर सकता है, किन्तु अब राजनीति के दाव-पेचों–कर्त्तव्य-प्रेरित भावनाओं–ने उसे मानो सुवासिनी के प्रणय-पात्र बनने के उपयुक्त ही नहीं रखा। उसे ऐसा लगता है कि उसके अन्त:करण की समस्त प्रेमभरी भावनाओं का अब निष्कासन हो गया है, जिसे प्राप्त करने की उसकी अत्यन्त तीव्र इच्छा थी–वही प्राप्ति के अवसर के समीप आने पर क्रूर भावनाओं द्वारा कुचल दी गई। मनुष्य की इस प्रकार की स्थिति, जिसमें कर्म की कठोरता और हृदय की कोमलता में तीव्र द्वन्द्व होता है–बुद्धि और हृदय में विरोध होता है–उसके कोमल-स्निग्ध हृदय को शुष्क मरुस्थल बना देती है। (यहाँ चाणक्य का हृदय इस प्रकार की स्थित का अनुभव कर रहा है। प्रौढ़ हो जाने पर उसे अतीत के वे दिन याद आ रहे हैं, जब उनके यौवन का प्रभात हो रहा था।)

विशेष–(क) इन पंक्तियों में चाणक्य के हृदय के प्रेम और बुद्धि-प्रेरित कर्त्तव्य का संघर्ष अत्यन्त मुखर है।
(ख) पंक्तियों का विन्यास गद्य-शीत की-सी सरसत्य एवं मधुरिमा लिए है।

स्व-मूल्यांकन *नोट*

सही विकल्प चुनिए–

1. प्रथम यौवन मदिरा से मत्त ..... भरा अथाह। यह गीत चंद्रगुप्त नाटक में किस पात्र ने गाया है?
   (क) कार्नेलिया (ख) कल्याणी (ग) अलका
2. चन्द्रगुप्त नाटक में सर्वाधिक देशभक्त स्त्री-पात्र कौन-सा है?
   (क) सुवासिनी (ख) अलका (ग) कल्याणी
3. नाटक में कल्याणी का पिता कौन है?
   (क) नन्द (ख) चाणक्य (ग) सिल्यूकस
4. नाटक के नायक चन्द्रगुप्त की प्रणीता कार्नेलिया किसकी पुत्री है?
   (क) सिल्यूकस (ख) सिकंदर (ग) चाणक्य

5.2.2 पद्य-खंड

परिचय–प्रस्तुत प्रगीत 'चन्द्रगुप्त' नाटक के प्रथम अंक के दूसरे दृश्य में सुवासिनी द्वारा गाया गया है। संपूर्ण गीत का वर्ण्य विषय है–नारी का कोमल सौन्दर्य। नाटककार ने गीत के द्वारा सुवासिनी के जीवन, परिस्थिति, वृत्ति और प्रणय का स्पष्टीकरण करते हुए नारी का एक अद्वितीय रूप-चित्र अंकित किया है। समग्रतः लेखक ने गीत के माध्यम से नारी (यहाँ सुवासिनी) के मनोगत गम्भीर भावों का मनोवैज्ञानिकता की ठोस भूमि पर साहित्यिक प्रकाशन किया है।

तुम कनक किरण के अन्तराल में, लुक-छिप कर चलते हो क्यों?
नत मस्तक गर्व वहन करते, यौवन के धन, रस कन ढरते
हे लाज भरे सौन्दर्य, बता दो मौन बने रहते हो क्यों?

(इन पंक्तियों में कवि ने अत्यन्त सूक्ष्म एवं भावात्मक भारी-सौन्दर्य का वर्णन दिया है। उसे सौन्दर्य की रहस्यमयता स्पष्ट ही नहीं हो, उसका कथन है कि) नारी का सौन्दर्य सुनहरी किरणों के सुनहरेपन में निहित नहीं है, वरन् उन किरणों के अन्तर्जगत् में विद्यमान है। न जाने क्यों यह सौन्दर्य अत्यन्त गुप्त भाव से (कलाकार के हृदय को) झकझोर देता है। सौन्दर्य-गर्व से गर्वित यह सुन्दरी नतमस्तक है। (कवि उसे सम्बोधित करते हुए कहता है कि) वह तो साक्षात् यौवन के बादल सदृश है, जो जलकणों की वृष्टि न करके रस और आनन्द की वृष्टि करता है। (नारी का यौवन निश्चय ही रस और आनन्द से पूर्ण होता है, अतएव आकर्षण होता है।) उसका लज्जाभरा सौन्दर्य उसके व्यक्तित्व को निखार देता है। वह सौन्दर्य और लज्जाभार से नत न जाने मौन क्यों रहती है?

विशेष–(क) नारी के लिए 'यौवन के धन' सम्बोधन अत्यन्त संगत बन पड़ा है। बादल संघन, कठोर एवं मादक (आकर्षक) होता है, इसी प्रकार यौवन भी सघन, कठोर एवं मादक होता है।

(ख) नारी के लिए 'लाज भरे सौन्दर्य' विशेषण के प्रयोग के मूल में छायावादी काव्य की एक महत्वपूर्ण विशेषता–स्थूल के स्थान पर सूक्ष्म का प्रयोग कार्य कर रही है। आधार के बदले आधेय का प्रयोग होने के कारण यहाँ उपादान लक्षणा है।

अधरों के मधुर कगारों में, कल-कल ध्वनि की गुण्जारों में
मधुसरिता-सी यह हँसी तरल, अपनी पीते रहते हो क्यों?
बेला विभ्रम की बीत चली, रजनीगन्धा की कली खिली
अब सान्ध्य-मलय-आकुलित, दुकूल कलित हो, यों छिपते हो क्यों?

इन पंक्तियों में कवि सौन्दर्य को एक वेगवती सरिता के समान गतिशील मानते हुए कहता है कि वह अपनी ही हँसी के आनन्द में झूलकर मतवाली क्यों हो रही है? उसे ऐसा प्रतीत होता है कि यह नदी मदिरापान करके (मदोन्मत

नोट

होकर) हँस रही है। उसके अधर सरिता के कगारों के समान हैं तथा उन पर उमड़ने वाला कल-कल ह्रास सरिता की कल-कल ध्वनि के समान (आकर्षक) है, किन्तु इस हँसी का प्रयोजन क्या है, यही कवि के लिए ज्ञातव्य है।

(अब कवि सुन्दरी को एक प्रकार से आमन्त्रित करते हुए कहता है कि) संध्या की भ्रान्तिमूलक वेला अब समाप्त हो गयी है अर्थात् किशोरावस्था का अन्त हो गया है। रजनी का आगमन हो गया है। यह उन्मुक्त मिलन का मधुर अवसर है अब उसे किसी प्रकार का संकोच करने की आवश्यकता नहीं है। उसे अपने मुख-मण्डल पर सन्ध्याकालीन मलय-समीर द्वारा चंचल बने अवगूंठन धारण करने की कोई आवश्यकता नहीं है, किसी प्रकार का दुराव-छिपाव उसे अब नहीं करना चाहिए।

विशेष–(क) प्रेम, यौवन एवं सौन्दर्य के कवि 'प्रसाद' ने इन पंक्तियों में प्रेम-दिवानी सुवासिनी के जगत् के भयंकर अन्तर्द्वन्द्व, उसके मन की मसक, पीड़ा की कसक, आह की फुफकार एवं श्वास की जलन व्यक्त की है। उसने भावों को मूर्त्त आकार प्रदान करने का स्तुत्य प्रयास किया है।

(ख) छायावादी काव्य की अनूठी विशेषता–लाक्षणिकता का प्रचुरतापूर्वक प्रयोग किया गया है। 'मधुसरिता-सी यह हँसी तरल अपनी पीते रहते हो क्यों में लाक्षणिक सौन्दर्य द्रष्टव्य है।

(ग) उपमा अलंकार का अत्यन्त स्वाभाविक प्रयोग है। सुन्दरी की मुस्कान को वेगवती सरिता, उसके अधरों को सरिता के कगारों तथा अधरों पर उमड़ने वाले कलहास को सरिता की कल-कल ध्वनि से उपमित किया गया है।

(घ) रजनीगन्धा की कली खिली में सांकेतिक अर्थाभिव्यक्ति का सुन्दर नमूना प्रस्तुत है। उसके द्वारा कवि ने रजनी के आगमन की सूचना दी है।

परिचय–प्रस्तुत गीत नाटक के प्रथम अंक के दूसरे दृश्य में राक्षस द्वारा सुवासिनी के गीत के उत्तरस्वरूप गाया गया है। राक्षस ने इसमें सुवासिनी के हृदय की विकलता को सुलझाने का प्रयास किया है। राक्षस के अन्त:करण में सुवासिनी के समान भयंकर द्वन्द्व एवं गहरी वेदना है। वह इस गीत द्वारा एक ओर अपने हृदय के अन्त:संघर्षों को सुवासिनी तक पहुँचाता है और दूसरी ओर उसके हृदय के उठते उफानों का भी मनोरम चित्र प्रस्तुत कर देता है। इस प्रकार यह गीत पहले गीत का पूरक कहा जा सकता है।

निकल मत बाहर दुर्बल आह, लगेगा तुझे हँसी का शीत
शरद् नीरद् माला के बीच, तड़प ले चपला-सी भयभीत

कवि (यहाँ राक्षस नामक पात्र) अपनी वेदना को सम्बोधित करते हुए कहता है कि वह बाहर न निकले, संसार के समक्ष प्रकट न हो। कारण, अभिव्यक्त होने पर वह संसार द्वारा उपहासित ही होगी, उसे किसी प्रकार की सहानुभूति प्राप्त न होगी। (संसार तो उपहास करना जानता है, उसके सहानुभूति की आशा करना भ्रममात्र है।) उसकी शोभा तो इसी में है कि वह हृदय के भीतर उसी प्रकार तड़प ले, जिस प्रकार शरत्कालीन मेघराशि में विद्युनछटा कौंधकर रह जाती है। (शरत्कालीन मन बरसते कम हैं, गरजते अधिक हैं। उनकी गर्जना ही उनके हृदय की तड़पन है।)

विशेष–(क) 'हँसी का शीत' प्रयोग लाक्षणिक चमत्कार लिए है

(ख) पीड़ा के लिए चपला का उपमान सुन्दर बन पड़ा है।

पड़ रहे पावन प्रेम-फुहार, जलन कुछ-कुछ है मीठी पीर
सम्हाले चल कितनी है दूर, प्रलय तक व्याकुल हो न अधीर

यहाँ कवि अपने प्रेम की ओर इंगित करते हुए कहता है कि उसके जीवन में प्रेम की (रसभरी) वृष्टि हो रही है। यह प्रेम सर्वथा पवित्र है, इसमें न मासलता है और न वासना का अंश ही। इस प्रेम द्वारा ही कवि को मधुर वेदना का अनुभव होता है। यह वेदना एक ओर उसे जलाती है, तो दूसरी ओर आनंद भी प्रदान करती है। (जलती तो इसलिए है कि हृदय प्रिय-वियोग में आकुल-व्याकुल हो जाता है और आनन्द प्रदान इसलिए करती है कि उससे

नोट

प्रिय की मधुर स्मृतियाँ ताजी हो जाती हैं) अत: कवि कामना करता है कि वह आकुलता एवं अधीरता का अनुभव किये बिना विरह की प्रलय-दशा–जीवन के अन्त-तक इस वेदना का आंचल ग्रहण किए रहे। अपनी वेदना को अभिव्यक्त करने के लिए उसे व्याकुल नहीं होना चाहिए और उसके अन्तिम परिणाम को जानने के लिए अधीर नहीं होना चाहिए।)

अश्रुमय सुंदर विरह निशीच, भरे तारे न ढुलकते आह
न उफना दे आँसू हैं भरे, इन्हीं आँखों में उनकी चाह

अब कवि स्वयं को रजनी से उपमित करते हुए कहता है कि जिस प्रकार उसका हृदय अश्रुपूर्ण है, उसी प्रकार रजनी का भी। उसने अश्रुओं का साजश्रृंगार किया है तो रजनी ने विरह का। रजनी की सुन्दरता का कारण उसका विरह ही है। तारे रजनी के नेत्र है, किन्तु वे अश्रु-वर्षण नहीं करते (यद्यपि) यह भी सत्य है कि रजनी का हृदय वेदनापूर्ण है।) कवि कामना करता है कि उसके नेत्रों से अश्रुपात न हो। कारण वही तो उसकी सम्पदा है, उन्हीं में उसके प्रिय की स्मृति एवं चाह व्याप्त है। अश्रुपात से यह सहज सम्भव है कि वह अपने प्रिय की मधुर स्मृति से भी हाथ धो बैठे। अत: वह अपनी वेदना को अपने तक ही सीमित रखना चाहता है, उसे व्यक्त नहीं करना चाहिए।

काकली-सी बनने की तुम्हें, लगन लग जाय न हे भगवान्
पपीहा का पी सुनता कभी, अरे कोकिल की देख दशा न;

कवि भगवान से प्रार्थना करता है कि कहीं उसे भी कोकिल एवं पपीहे की भांति अपनी वेदना को मुखरित करने की लगन न लग जाय। कोयल अपनी मनोव्यथा को पंचम तान में व्यक्त करती है, उसकी कलकाकली सम्पूर्ण वातावरण को झंकृत कर देती है, किन्तु उसे अपने अभीष्ट–प्रियतम–की प्राप्ति नहीं होती। इसी प्रकार पपीहा भी 'पी कहाँ' की रट लगाता है, किन्तु क्या कभी उसका प्रियतम उसे सुनकर आता है? उसकी रट निष्फल होकर शून्य में ही विलीन हो जाती है।

विशेष–कवि की धारणा है कि वेदना की अभिव्यक्ति का परिणाम अच्छा नहीं होता। इससे तो वेदना और भी बढ़ जाती है, क्योंकि प्रिय की प्राप्ति तो होती नहीं, जबकि मिशनेच्छा तीव्रतर हो जाती है। कोकिल और पपीले की स्थिति इसका प्रमाण है।

हृदय है पास, साँस की राह, चले आना-जाना चुपचाप
अरे छाया, बन छू मत उसे, भरा है तुझमें भीषण ताप

कवि कहता है कि वेदना उसके समीप अत्यन्त मौन भाव से श्वासों के मार्ग से आये और टिक जाय, क्योंकि उसका हृदय भी पास ही शयन कर रहा है। यह छाया बनकर भी उसके हृदय का स्पर्श न करे। कारण, उसका हृदय अत्यन्त सुकुमार एवं स्निग्ध है, जबकि वह भीषण ताप की ज्वाला से परिपूर्ण है। (वेदना के ताप से वस्तुत: कवि को अपने हृदय के विकल हो जाने की आशंका है।)

हिलाकर धड़कन से अविनीत, जगा मत सोया है सुकुमार
देखता है स्मृतियों का स्वप्न, हृदय पर मत कर अत्याचार?

कवि का सुकुमार हृदय निद्राधीन है, अत: उसका कथन है कि वेदना को अपनी निष्ठुर धड़कन से उसकी निद्राभंग करने का दुष्प्रयास नहीं करना चाहिए। वह प्रियतम की मधुर सपने को खण्डित नहीं करना चाहिए। (भाव यह है कि कवि का हृदय तन्द्रावस्था में प्रियतम की मधुर स्मृतियों का आनन्द लूट रहा है, वह अपनी इस दशा में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं चाहता। यदि वह अपनी वेदना को अभिव्यक्त कर देगा, तो स्वप्न-सुख खण्डित हो जाएगा और विफलता तीव्रतर हो जाएगी। वियोग के क्षणों में प्रिय की विगत स्मृतियाँ ही प्रणयी का एकमात्र सम्बल होती हैं।)

विशेष–कवि 'प्रसाद' ने इन पंक्तियों में प्रेम का मुखर इतिहास कह दिया है–

नोट

देखता है स्मृतियों का स्वप्न

हृदय पर मत कर अत्याचार।

परिचय–प्रस्तुत गीत नाटक के द्वितीय अंक के प्रथम दृश्य में सम्राट् सिकन्दर महान के उत्तराधिकारी, सेनापति सिल्यूकस की पुत्री कार्नेलिया द्वारा गाया गया है। गीत के एक-एक शब्द में भारतीयता के प्रति गहन अनुराग व्यक्त हुआ है। वस्तुत: कार्नेलिया के माध्यम से नाटककार ने तत्कालीन भारत के गौरवमय चित्र को सफलतापूर्वक अंकित किया है। कार्नेलिया भारत-भूमि के प्राकृतिक एवं सांस्कृतिक वैभव की ओर आकृष्ट है, अत: वह भारतभूमि के कण-कण में आत्मीयता खोजती है। वह ग्रीक-संस्कृति की प्रतीक है और चन्द्रगुप्त भारतीय गौरव का प्रतीक है। चन्द्रगुप्त के प्रति उसके हृदय में अनुराग है, किन्तु वह अपनी अन्तरात्मा की मधुर प्रणय-पीड़ा को मुखितर न कर उसे भारतभूमि के कण-कण पर सादर समर्पित करती है। इस प्रकार वह गीत पात्र एवं परिस्थिति के अनुकूल है।

अरुण यह मधुमय देश हमारा
जहाँ पहुँच अनजान क्षितिज को मिलता एक सहारा
सरस तामरस गर्भ विभा पर–नाच रही तरुशिखा मनोहर
छिटका जीवन हरियाली पर–मंगल कुंकुम सारा
लघु सुरधुन से पंख पसारे शीतल मलय समीर सहारे
उड़ते खग जिस ओर मुँह किये-समझ नीड़ निज प्यारा
बरसाती आँखों के बादल-बनते जहाँ भरे करुणा जल
लहरें टकराती अनन्त की-पाकर जहाँ किनारा
हेम-कुम्भ ले उषा सवेरे-भरती ढुलकाती सुख मेरे
मदिर ऊँघते रहते जब-जग कर रजनी भर तारा
अरुण यह मधुमय देश हमारा!

(प्रस्तुत पंक्तियों ने कवि भारतीय प्राकृतिक सुषमा का वर्णन करते हुए कहता है कि) भारतवर्ष निश्चय ही मधुमय देश है। (वसन्त यहाँ हास्य-वर्षण करता है और प्रभातकालीन अणिमा यहाँ सौन्दर्य-सृष्टि करती है।) इस देश में पहुँचकर तो असीम-अनन्त क्षितिज की भी मानो अपने ठहरने के लिए एक आधार मिल गया है। (कवि की पकड़ में भी न आने वाली कल्पनाएँ इस देश की हरी-भरी भूमि में आकर रम जाती है।) सरस-सुन्दर कमल की पीली-पीली केशरी पंखुड़ियों के समान परमाणु-जाल यहाँ वृक्षों की सुन्दर शाखाओं में नृत्य करते रहते हैं। उन्हें देखकर ऐसा लक्षित होता है मानो जीवन की आनन्दमयी हरी-भरी भावनाओं पर मांगलिक केशर विकीर्ण हो रहा हो। ये नाना प्रकार के सुन्दर, इन्द्रधनुष के समान रंग-बिरंगे परों वाले, चहचहाते हुए पक्षी इस देश की शीतल, मन्द एवं सुगन्धित समीर के सहारे आकाश में उड़ते हुए इस देश को अपना प्रिय बसेरा जानकर इसकी ओर चले आते हैं। (उनका नीड़ भारतवर्ष ही है, वे इस देश को अपना वास-स्थान समझते हैं।) यहाँ नेत्र रूपी बादल करुणा-जल की वृष्टि करते रहते हैं अर्थात् यहाँ के प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में करुणा, स्नेह, दया, विश्वबन्धुता आदि की कोमल भावनाएँ विद्यमान रहती हैं। इसी देश में अनन्त सागर की परस्पर टकराने वाली लहरों को एक किनारा मिला अर्थात् यहीं पर अनन्त का सांत से, असमी का ससीम से मिलन हुआ। (जीवन के आध्यात्मिक रहस्य उद्घाटित हुए।) प्रभातकालीन वेला में रात्रिभर जागते रहने के कारण जब तारकसमुदाय उन्माद में मस्त हुआ-सा-ऊँघने लगता है, तो यहाँ उषा रूपी सुन्दरी सूर्य रूपी स्वर्णिम कुम्भ से जन-जीवन पर सुख-सौन्दर्य, आशा एवं स्फूर्ति बरसाने लगती है। (उषा अपनी स्वर्ण वृष्ठि द्वारा जन-जीवन को कल्याणमय, मंगलमय एवं सुखमय बना देती है।)

विशेष–(क) 'नाच रही तरुशिखा मनोहर' अंश का एक अर्थ यह भी हो सकता है कि प्रभातकालीन प्रथम सूर्य-रश्मियों को देखकर तरुशिखाओं पर स्थित पक्षी नाचने लगते हैं अथवा कलियाँ मधुदान करने लगती हैं। इस

नोट

वृष्टि से यहाँ पर आधार-आधेय सम्बन्ध से लक्षणा का चमत्कार है, क्योंकि आधेय पक्षियों के स्थान पर आधार तरुशिखा के नाचने का वर्णन किया गया है।

(ख) 'अनजान क्षितिज' का एक अन्य अर्थ है–भारतीयों से अपरिचित देशनिवासी, जिन्हें भारतवर्ष में आश्रय मिला। 'अरुण' से तात्पर्य 'ज्ञानोदय' का है। सर्वप्रथम भारतवर्ष में ही ज्ञान का प्रकाश हुआ।

(ग) 'बरसाती-आँखों के बादल' अंश में सादृश्य-सम्बन्ध से लक्षण का चमत्कार है। बरसात और आंख में सादृश्य है। बरसात जल-वृष्टि करती है और आंख अश्रुवृष्टि आर्द्रता का गुण दोनों में ही विद्यमान है।

(घ) अर्थ-गरिमा, भागवत भव्यता, कल्पना की रमणीयता एवं सौन्दर्य-अंकन की दृष्टि से सम्पूर्ण गीत अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है।

परिचय–प्रस्तुत गीत नाटक के द्वितीय अंक के पंचम दृश्य में अलका द्वारा गाया गया है। अलका एवं सिंहरण दोनों परस्पर आकृष्ट हैं और पर्वतेश्वर के कारागार में दोनों बन्दी हैं। पर्वतेश्वर अलका को अपने प्रेमपाश में आबद्ध करने को आकुल है, पर उसे निराशा ही मिलती है। अलका देश-हित के लिए एवं पंचनद का सूत्र-संचालन करने के लिए पर्वतेश्वर की प्रणयिनी बनने की बात बेचारे सिंहरण से कहती है। सिंहरण के प्रेम-पुष्प पर मानो वज्रपात होता है। सौन्दर्य के पट को हटाकर मुस्कराती अलका जब इस योजना में निहित चाणक्य की कूटनीति का स्पष्टीकरण करती है, तो सिंहरण सोने के लिए चला जाता है। इससे अलका चौक उठती है–''सुन्दर, निश्छल हृदय, तुमसे हँसी करना भी अन्याय है! परन्तु व्यथा को दबाना पड़ेगा!'' भावना के संसार में भटकती वह कह उठती है–

प्रथम यौवन-मदिरा से मत्त,
प्रेम करने की थी परवाह,
और किसको देना है हृदय,
चीन्हने को न तनिक थी चाह। ...

नाटककार ने इस गीत द्वारा एक ओर उसके पूर्व जीवन पर प्रकाश डाला है और दूसरी ओर उसकी कर्त्तव्य-भावना को परिपुष्ट किया है। इस प्रकार यह गीत पात्र एवं परिस्थिति के सर्वथा अनुकूल है।

प्रथम यौवन-मदिरा से मत्त, प्रेम करने की की परवाह,
और किसको देना है हृदय, चीन्हने की न तनिक थी चाह।
बेच डाला था हृदय अमोल, आज वह माँग रहा था दाम,
वेदना मिली तुलना पर तोल, उसे लोभी ने ली बेकाम।
उड़ रही है हत्पथ में धूल, आ रहे हो तुम बे परवाह,
करूँ क्या दृग-जल से छिड़काव, बनाऊँ मैं यह बिछलन राह।
सँभलते धीरे-धीरे चलो, इसी मिस तुमको लगे, विलम्ब,
सफल हो जीवन की सब साध, मिले आशा को कुछ अवलम्ब।
विश्व की सुघमाओं का स्त्रोत, वह चलेगा आँखों की राह,
और दुर्लभ होगी पहचान, रूप-रत्नाकर भरा अथाह।

अलका की प्रणयानुभूति व्यंजित करते हुए कवि कहता है कि उसने यौवन के प्रभात में प्रेम से मत्त होकर सिंहरण को बिना पहचाने अपना अमूल्य हृदय बेच डाला। यौवन ने जैसे ही मदिरा के समान उसके जीवन में प्रवेश किया वह प्रणय-पीड़ा से आकुल-व्याकुल हो गयी।) उसे इस बात की तनिक भी चिन्ता न थी कि यह हृदय किसके पास प्रणय-याचना करने जा रहा है, किसे अपना सर्वस्व समर्पित कर देना चाहता है उसके यौवन की मादकता यह जानने में भी असमर्थ थी कि उसके हृदय का मधु-रस सुपात्र के पास जा रहा है अथवा कुपात्र के पास। उसे तो महज किसी के प्रति आत्म-समर्पण (Self-submission) की धुन सवार रहती थी, अपने आपको उँडलने की

नोट

आकांक्षा रहती थी। किन्तु आज जब वह अपना हृदय किसी को समर्पित कर चुकी है, वह प्रणय-दान माँगता है, उसके प्रेमी हृदय को आघात पहुँचता है। उसे पूर्व प्रणय-याचना का महंगा सौदा करना पड़ता है। उसे अतीत की मधुर कोमल स्मृतियाँ सन्तप्त करती हैं, उसके कोमल हृदय को दग्ध करती हैं। फलतः उसका हृदय नीरस हो जाता है और उससे व्यथा की आहें निकलती हैं।

प्रिय की विगत स्मृति निर्बाध रूप से उसके मानस-पटल पर ताजी हो रही है और उसके नेत्रों से अश्रुवर्षण हो रहा है। इस अश्रुपात द्वारा उसके प्रिय के आगमन-पथ पर एक प्रकार का छिड़काव हो रहा है, अतः प्रिय को संभल-संभल कर धीरे-धीरे चलना होगा। यद्यपि ऐसा करने से वह (प्रिय) उसके पास शीघ्र न पहुँच सकेगा तथापि उसे अपनी गति धीमी रखनी पड़ेगी। (उसे यह भी स्मरण रखना होगा कि उसकी प्रिया निर्निमेष दृष्टि से उसकी प्रतीक्षा कर रही है।) अब वह अपनी कोमलतम भावना व्यक्त करती हुई कहती है कि उसके जीवन के समस्त अरमान पूर्ण हो जायें तथा उसकी आशा-आकांक्षाओं को तनिक अवलम्बन मिल जाय, यदि किसी कारणवश प्रिय न जा सकेगा, तो वह उसके समस्त रूप-सौन्दर्य एवं आकर्षण को नेत्रों के अश्रुओं के माध्यम से वहां देने को तत्पर रहेगी, जिससे वह प्रिय को पहचान तक भी न पायेगी।

विशेष–(क) यहाँ कवि ने स्पष्ट संकेत किया है कि अलका अनजाने ही आत्म-समर्पण कर चुकी थी। सिंहरण के अप्रसन्न होने की बात से उसका अपनत्व चीत्कार कर उठता है, बिछोह की स्मृति-मात्र से वह हाहाकार मचाने लगती है। 'सँभलते धीरे-धीरे चलो' में उसके विराट् आयोजन की भविष्य-ध्वनि है।

(ख) यहाँ कवि ने प्रेम के राग को ही ध्वनित नहीं किया है, अपितु कर्त्तव्य को भी समानान्तर रेखा की भाँति साथ-साथ चलाया है।

(ग) **'प्रथम यौवन-मदिरा से मत्त,**
प्रेम करने की थी परवाह।

पंक्तियों का 'लहर' की निम्नलिखित पंक्तियों से साम्य लक्षित होता है–

आह रे, वह अधीर यौवन!
मत्त-मारुत पर चढ़ उद्भ्रान्त,
बरसने ज्यों मदिरा अश्रान्त–
सिन्धु बेला-सी धन मण्डलं,
अखिल किरनों को ढंककर चली,
भावना के निस्सीम गगन,
बुद्धि चपला का क्षण नर्तन–
चूमने को अपना जीवन,
चला था वह अधीर यौवन!

परिचय–नाटक के द्वितीय अंक के सप्तम दृश्य के प्रस्तुत गीत में नाटककार ने अलका के जीवन के व्यग्र अंश एवं उसकी संघर्षमयी स्थिति को प्रकट किया है। अलका नियति के झूले पर झूलती हुई पर्वतेश्वर के प्रासाद में अपने जीवन की घड़ियां काट रही है, किन्तु उसका चित्त सिंहरण के लिए व्यग्र हो उठता है। उसकी आँखों के समक्ष कर्त्तव्य और प्रेम में होड़ाहोड़ी होने लगती है और वह पर्वतेश्वर के संकेत पर अपनी मानसिक विकलता को व्यक्त करती हुई इतना भर कह पाती है–

मन्द्राकिनी समीप भरी फिर प्यासी आँखें क्यों नादान।
रूप-निशा की ऊषा में फिर कौन सूनेगा तेरा गान,
बिखरी किरन अलक व्याकुल हो विरस वदन पर चिन्ता लेख,

नोट

छायापथ में राह देखली गिनती प्रणय-अवधि की रेख।
प्रियतम के आगमन-पथ में उड़ न रही हैं कोमल धूल,
कादम्बिनी उठी यह ढँकने वाली दूर जलधि के कूल।
समय-विहग के कृष्णपक्ष में रजत चित्र-सी अंकिम कौन–
तुम हो सुन्दरि तरल नारिके! बोलो कुछ, बैठो मत मौन!
मन्दाकिनी समीप भरी फिर प्यासी आँखें क्यों नादान,
रूप-निशा की ऊषा में फिर कौन सुनेगा तेरा गान!

अलका तारों से भरी हुई काली रजनी के नीले आकाश एवं फूलों से गूँथी हुई श्यामा रजनी की सुन्दर वेणी का अवलोकन कर रही है, किन्तु सहसा उसका मादक यौवन उसकी चित्तवृत्ति को झकझोर देता है। इन पंक्तियों में नाटककार 'प्रसाद' उसकी मनोव्यवस्था को व्यक्त करते हुए कहते हैं कि) आकाश-मण्डल में स्थित नक्षत्र समुदाय की रश्मियों की भाँति उसकी पलकें बिखरी हुई हैं। उसका मुखमण्डल प्रिय-वियोग की असह्य पीड़ा के कारण कान्तिहीन हो गया है। (उसके यौवन का स्रोत फीका पड़ गया है और काया दुर्बल हो गई है।) वह निर्निमेष दृष्टि से छाया-पथ में उड़ने वाली परमाणु-राशि को देखकर उसे अपने प्रिय के आगमन की प्रतीति होने लगती है, किन्तु सहसा आकाश-मण्डल में छा जाने वाली घनघोर मेघ-घटाएँ उसकी प्रिय मिलनाशा को खण्डित कर देती हैं। मेघ-घटाएँ असीम सागर के कूल-किनारों को आच्छादित कर समस्त दिशाओं को धुँधला बना देती हैं, अत: उसे अपने प्रिय के आगमन का ज्ञान कैसे हो सकता है। (उसका यौवन प्रिय-विरह में शिथिल पड़ता जा रहा है।) वह कृष्णपक्ष में रजन-चित्र के समान मौन भाव से अपने प्रिय की स्मृति संजोए प्रतीक्षालीन है। उसकी स्थिति सुन्दर एवं चंचल तारिका की-सी है, किन्तु कवि को उसका मौन खलता है, अत: वह उसे कुछ कहने का अनुरोध करता है। अत्यन्त निकट है, अत: वह अपनी अतृप्त आँखों की तृषा को शान्त कर ले (उसका प्रियतम निकटस्थ है, अत: उसे उसके साथ हास-परिहास करके अपने जीवन को सरस बना लेना चाहिए, क्योंकि मधुमय क्षणों की अवधि प्राय: सीमित हुआ करती है।) रूप-सौन्दर्य की निशा के समाप्त होते ही उषा उदित होगी और उषा के समक्ष उसका समस्त आकर्षण लुप्त हो जाएगा। (यौवन की समाप्ति के उपरान्त वह किसी भी प्रकार से अपने प्रिय को रिझा न सकेगी।)

विशेष–'किरन-अलक', 'चिन्ता-लेख' तथा 'रूप-निशा' में रूपक अलंकार का सौन्दर्य तथा 'रजत चित्र-सी' में उपमा का चमत्कार द्रष्टस्थ है।

परिचय–प्रस्तुत गीत नाटक के तृतीय अंक के पाँचवें दृश्य में सुवासिनी द्वारा गाया गया है। सुवासिनी अमात्य राक्षस की प्रणयिनी और नन्द की राजसभा की नर्तकी है। उसके रूप-सौन्दर्य में एक जीवन्तता है, एक उन्मादकारी कम्पन है। यह गीत उसके उद्दाम यौवन की कहानी कहता है। वह राक्षस के प्रति अपने आकर्षण को छिपाना चाहती है, किन्तु उसके मनोभावों का वेग इतना तीव्र है कि वह जग के कोलाहल को सुन ही नहीं पाती–

आज इस यौवन के माधवी कुण्ज में कोकिल बोल रहा!
मधु पीकर पागल हुआ, करता प्रेम-प्रलाय
शिथिल हुआ जाता हृदय, जैसे अपने आप!
लाज के बन्धन खोल रहा!

गीत की मादकता नन्द के हृदय को झंकृत कर देती है, वह काम-भावना से प्रेरित होकर उसे बलपूर्वक पकड़ लेता है, किन्तु राक्षस के आते ही लज्जित होकर छोड़ देता है। वहीं से राक्षस के हृदय में कामुक नन्द के प्रति सन्देह का अंकुर प्रस्फुटित हो जाता है। इस प्रकार नाटक के कथा-प्रवाह को तीव्रतर बनाने में प्रस्तुत गीत विशेषत: सहायक है।

नोट

बिछल रही है चाँदनी-छवि-मतवाली रात,
कहती कम्पित अधर से, बहकाने की बात।
कौन मधु-मदिरा घोल रहा?

सुवासिनी के अन्तर्जगत् के कोलाहल की अभिव्यंजना करते हुए कवि कहता है कि जिस प्रकार बसन्त ऋतु में बाग-बगीचों में कोकिल की मधुर स्वर-लहरी गुंजरित हो जाती है, उसी प्रकार आज उसके यौवन के वासन्ती कुंज में सौन्दर्य एवं प्रणय का कोकिल बोल रहा है। यौवन में उसके हृदय की मधुर कोमल भावनाएँ खिल रही हैं। उसे ऐसा अनुभव हो रहा है, मानो वह मदिरा-पान से उन्मत्त होकर प्रेम-प्रलाप कर रहा हो। (उसके हृदय में प्रेम-सौन्दर्य का तूफान-सा उठ रहा है। वह छिपाना चाहकर भी अपने इस प्रणय को छिपा नहीं पाती। उसका हृदय हर्षातिरेक के कारण शिथिल होता जा रहा है, वह स्वत: मुखरित हो रहा है। यौवन की मादकता एवं माधुरी के कारण आज उसने लज्जा आदि के समस्त आवरण उतार दिये हैं।

बिछल रही है चाँदनी-छवि-मतवाली रात,
कहती कम्पित अधर से, बहकाने की बात।
कौन मधु-मदिरा घोल रहा?

अब कवि प्राकृतिक उपादानों द्वारा उसकी भावनाओं को उद्दीप्त करते हुए कहता है कि चारों ओर चाँदनी छिटक रही है, रूप वैभवमण्डित निशा-सुन्दरी किसी का आवाहन कर रही है। यह निशा-सुन्दरी झिलमिल-झिलमिल करते नक्षत्रों के अधरों के माध्यम से उसे (सुवासिनी को) इस बात का स्पष्टीकरण कर रही है कि यौवन की रात्रि क्षणिक एवं मायावी होती है, अत: उसका कर्त्तव्य है कि वह इस मधुमयी अवस्था में अधिकाधिक आनन्दानुभूमि करे। (समय निकल जाने पर पश्चाताप करना व्यर्थ होगा। कवि की उक्तवत से परिचित होकर उसकी चित्तवृत्ति झंकृत हो उठती है और वह उठती है कि न जाने कौन उसके मादक यौवन को मदिरा-मिश्रण कर रहा है।

विशेष–(क) आकाश में झिलमिलाने वाले तारों को रात्रि के 'कम्पित अधर' कहना कवि की अनूठी सूझ का परिचायक है।

(ख) सम्पूर्ण गीत में मांसल शृंगार का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। वैयक्तिकता, संक्षिप्तता, मधुरता, संगीतात्मकता आदि इस गीत की अनूठी विशेषताएँ हैं। 'मधु-मदिरा', 'कहती-कम्पित', 'बहकाने की बात' आदि में छेकानुप्रास का सौन्दर्य है।

परिचय–प्रस्तुत गीत नाटक के चतुर्थ अंक के प्रथम दृश्य में कल्यानी तारा द्वारा गाया गया है। क्षोभ एवं निराशा की चरमसीमा की स्थिति में कल्याणी अपने जीवन का अन्त कर देना चाहती है, किन्तु जीवन का आकर्षण उसे ऐसा करने से वर्जित करता है। आकाश-स्थित चन्द्र को देख उसे अपने 'चन्द्र' (चंद्रगुप्त) का स्मरण हो आता है। उसके अन्तिम स्वर 'चन्द्र' की छाया चाहते हैं। अत: वह उन्मत-सी गाने लगती है–

सुधा-सीकर से नहला दो।
लहरें डूब रही हों रस में
रह न जायें ये अपने वश में
रूप-राशि इस व्यथित हृदय-सागर को-बहला दो

कल्याणी के हृदय के सच्चे प्रेम की सहज अभिव्यक्ति करते हुए कवि कहता है कि जिस प्रकार अपनी उज्ज्वल रश्मियों से सम्पूर्ण विश्व को आलोकित करता है, उसी प्रकार वह भी अपनी सुधा के कणों द्वारा उसे अभिषिक्त कर दें। उसके समस्त दु:खों एवं निराशाओं का अन्त हो जाय और उसके हृदय की लहरें (उसमें) आनन्द-रस में सराबोर हो जायँ, उसका हृदय रूपी सादर को आनन्द-रस में निमग्न कर दो।

विशेष–'रूप-राशि' एवं 'हृदय-सागर' में रूपक अलंकार का सुन्दर प्रयोग किया गया है।

नोट

अन्धकार उजला हो जाये,

हँसी हंसमाला मँडराये,

मधुराका आगमन कलरवों के मिस-कहला दो

दु:ख एवं निराशा के आधिक्य के कारण उसका अन्तर्जगत् कालिमाग्रस्त हो गया है, अत: वह अपनी सुधा-रश्मियों द्वारा उसे उज्ज्वल बना दे। (उसके अज्ञान रूपी अंधकार का नाश करके ज्ञान रूपी प्रकाश का समावेश कर दे।) हँसी रूपी हंसमाला मंडराने लगे और उसकी मधुर स्वर लहरी के बहाने वासन्ती पूर्णिमा का आगमन सूचित कर दिया जाय। (उसके हर्षोल्लास की निवास भूमि उपस्थित हो जाय।)

विशेष–(क) 'हँसी हंसमाला' में रूपक एवं 'मधुराका आगमन कलरवों के मिस' में अपह्नति अलंकार है।

(ख) 'मधुराका आगमन' से कवि का अभिप्राय है–आत्मानुभूति (Self-Realisation) के क्षण।

करुणा के अंचल पर निखरे,

घायल आँसू हैं जो बिखरे,

ये मोती बन जायं मृदुल कर से लो–सहला दो!

सुधा-सीकर से सहला दो

अब यह अपनी अत्यन्त कोमल भावना व्यक्त करती हुई कहती है कि उसके करुणा-कलित हृदय की व्यथा अश्रु कणों के रूप में नेत्रों की कोर में अटकी हुई है, उसे वह (यन्त्र) अपनी मृदुल किरणों से इस प्रकार सहला दे कि वह अपना प्रभाव खो बैठे और अनुकण मोती के रूप में परिणत हो जाये।

परिचय–प्रस्तुत गीत नाटक के चतुर्थ अंक के द्वितीय दृश्य में राक्षस को सचेष्ट करने के लिए नेपथ्य से गाया गया है। इसमें नाटककार ने 'रूप की ज्वाला' का समष्टिगत चित्र अंकित किया है। हृतप्रभ एवं निश्चेष्ट राक्षस इस गीत को सुनकर पुन: सचेत एवं क्रियाशील हो जाता है–यही इस गीत का मूल प्रयोजन है।

कैसी कड़ी रूप की ज्वाला?

पड़ता है पतंग-सा इसमें मन होकर मतवाला,

सान्ध्य गगन-सी रागमयी यह बड़ी तीव्र है हाला,

लौह शृंखला से न कड़ी क्या यह फूलों की माला?

रूप-सौन्दर्य की ज्वाला अत्यन्त प्रचण्ड होती है। मानव-मन उन्मत्त होकर उसमें ठीक उसी प्रकार उलझ जाता है, जिस प्रकार दीपशिखा पर प्रेम-दिवाना शलभ। रूप-सौन्दर्य की मादकता सन्ध्याकालीन लालिमा के समान अत्यन्त तीव्र होती है, उसमें मदिरा का-सा नशा रहता है। यह रूप-सौन्दर्य देखने में तो फूलों की माला के समान कोमल-मधुर लगता है, किन्तु यथार्थत: लौह-शृंखला से भी कहीं अधिक कठोर होता है। कारण, लौह-शृंखला तो किसी स्थल-विशेष को ही सिद्ध करती है, परन्तु रूप-सौन्दर्य की शृंखला (कड़ी) शरीर के समस्त अवयवों को बिद्ध कर देती है।

विशेष–(क) यहाँ रूप-सौन्दर्य की महत्ता एवं तीव्रता का नाटककार ने सुन्दर चित्रण किया है।

(ख) 'पतंग-सा' एवं 'सान्ध्य-गगन-सी' में उपमा की छटा विकीर्ण है।

(ग) 'रागमयी' में श्लेष है, इसका एक अर्थ है–लालिमापूर्ण और दूसरा अर्थ है–मादकतापूर्ण। सन्ध्याकलीन आकाश के सन्दर्भ में इसका अर्थ लालिमापूर्ण होगा और हाला के सन्दर्भ में मादकतापूर्ण।

परिचय–प्रस्तुत गीत नाटक के चतुर्थ अंक के चतुर्थ दृश्य में नायक चन्द्रगुप्त के आग्रह पर मालविका द्वारा गाया गया है। काव्यात्मक दृष्टि से सम्पूर्ण गीत अत्यन्त सुन्दर एवं भावपूर्ण है। भ्रमर की रसप्रियता के माध्यम से नाटककार ने चंद्रगुप्त के असंयत तथा चंचल प्रेमी-जीवन को रूपाकार प्रदान किया है।

नोट

हो मल्लिका, सरोजिनी, या यूथी का पुंज,
अलि को केवल चाहिए, सुखमय क्रीड़ा कुंज,
मधुप कब एक कली का है?
मधुय कब ..... क्रीड़ा कुंज।

भ्रमर की रसलोलुपता का चित्र अंकित करती हुई मालविका कहती है कि भ्रमर का प्रेम स्थिर नहीं होता, वह कभी एक कली पर निवास नहीं करता। उसे जिस कली में रस एवं मधुरिमा लक्षित होती है, वहीं मडराने लगता है, उसी के साथ प्रेम-क्रीड़ा करने लगता है। कली के सम्पूर्ण रूप-सौन्दर्य का उपभोग करने के अनन्तर वह उड़ जाता है। इस प्रकार उसका प्रेम एकनिष्ठ न होकर स्वार्थप्रधान है। वह तो लताओं के कुंजों से विहार करने वाला ही है।

धूलि-धुसरित पुष्प के पराग का चयन करने के हेतु वह उसके कांटों तक की भी चिन्ता नहीं करता। अपनी रसग्राही वृत्ति की तृप्ति के लिए वह उसके तीक्ष्ण कांटों में उलझकर उसका सम्पूर्ण रस चूस लेता है। वस्तुतः वह बावला प्रेमी है, उसके जीवन का मूल उद्देश्य रंगरलियाँ मनाना ही है।

उसे तो जिस किसी प्रकार से रस-संचय करना है, अतः उसकी दृष्टि में इस बात का कोई महत्त्व नहीं है कि जिस पुष्प पर वह उलझ रहा है वह मल्लिका का पुष्प है, सरोजिनी का पुष्प है अथवा यूथी का पुष्प है। उसे तो आनन्दपूर्ण प्रणय-क्रीड़ा ही अभीष्ट है। अतः स्पष्ट है कि वह किसी पुष्प-विशेष का प्रणयी नहीं है।

विशेष–(क) सम्पूर्ण गीत में अन्योक्ति-पद्धति का सुन्दर निर्वाह किया गया है। भ्रमर के माध्यम से वस्तुतः चन्द्रगुप्त के प्रति उपालम्भ-सा प्रकट किया गया है।

(ख) अन्तिम पद में मल्लिका, सरोजिनी एवं यूथी का पुण्ज क्रमशः कल्याणी, मालविका एवं कार्नेलिया के प्रतीक हैं। अलि चन्द्रगुप्त का प्रतीक है। मालविका पवित्र प्रेम की चातकी थी। उसने कभी भी प्रेम को शब्दों द्वारा लांछित नहीं होने दिया था, परन्तु चन्द्रगुप्त के व्यवहार को देखकर चिंतित हो जाती है और उसी चिन्ता का विस्फोट प्रस्तुत गीत के रूप में होता है।

परिचय–प्रस्तुत गीत चतुर्थ अंक के चतुर्थ दृश्य में नायक चन्द्रगुप्त के आग्रह पर मालविका द्वारा गाया गया है। इस गीत में मालविका की दशा उन्मत्त प्रेयसी की है।

बज रही वंशी आठो याम की।
अब तक गूँज रही है बोली प्यारे मुख अधिराम की
हुए चपल मृगनैन मोह-वश बजी विपण्ची काम की,
रूप-सुधा के दो दृग प्यालों ने ही मति बेकाम की!
बज रही वंशी आठो याम की!

मालविका अपनी आन्तरिक प्रेम-भावना व्यक्त करती हुई कहती है कि उसकी हृदय-वीणा के तार शिथिल नहीं पड़े हैं, उसमें तो आठो प्रहर प्रणय की वंशी निनादित रहती है। उसके प्रिय के सुन्दर मुख की मधुर स्वरलहरी अब तक गूँज रही है। मोह-माया के वंशीभूत होकर उसके मृग के समान सुन्दर नेत्र चंचल हो उठे हैं और काम-भावना जागृतावस्था में आ गई है। प्रिय के रूप सौन्दर्य-सम्पन्न नेत्र-रूपी दो प्यालों की मादक रस-धारा ने उसकी समस्त बुद्धि भ्रष्ट कर दी है, उसकी समस्त चेतना अपहृत हो गयी है। (उसका अन्तर्जगत् प्रिय की रूप-सम्पदा से ओत-प्रोत है।)

विशेष–'रूप-सुधा के दो दृग प्यालों ने ही मति बेकाम की!' पंक्ति में रूपक अलंकार का चमत्कार अवेक्षणीय है।

परिचय–प्रस्तुत गीत भी नाटक के चतुर्थ अंक के चतुर्थ दृश्य में मालविका द्वारा गाया गया है। मालविका के हृदय में किसी के प्रति प्रेम है। मरणासन्नावस्था में उसके समक्ष अतीत के चलचित्र आने लगते हैं। सुनहरी स्मृतियों के क्रोड़ में उसका गुप्त जीवन जाग उठता है। अन्तर का अनुराग लहरें लेने लगता है। अतः वह गा उठती है–

नोट

ओ मेरी जीवन की स्मृति! ओ अन्तर के आतुर अनुराग!
बैठ गुलाबी विजन उषा में गाते कौन मनोहर राग?
चेतन सागर उर्मिल होता यह कैसी कम्पनमय तान,
यों अधीरता से न मींड लो अभी हुए हैं पुलकित प्रान!
कैसा है यह प्रेम तुम्हारा युगल-मूर्ति की बलिहारी!
यह उन्मत्त-विलास बता दो कुचलेगा किसी क्यारी?
इस अन्नत जलनिधि के नाविक, हे मेरे अनंग अनुराग!
पाल सुनहला बन, तनती है स्मृति, यों उस अतीत में जाग।
कहाँ ले चले कोलाहल से मुखरित तट को छोड़ सुदूर–
आह! तुम्हारे निर्दय डाँडों से होती हैं लहरें चूर!
देख नहीं सकते तुम दोनों चकित निराशा है भीमा,
बहको मत क्या न है यता दो-क्षितिज तुम्हारी नव सीमा?

किसी के प्रति संवेदनशील अपने हृदय को सम्बोधित करती हुई मालविका कहती है कि उसके हृदय के मधुरस से उसके शरीर के समस्त अंग पुलकाव मान हो गये हैं। उसकी स्मृतियाँ न जाने क्यों आन्तरिक सुनहरी स्वप्नों का राग अलाप रही है। यद्यपि वह सचेत है, प्रेम की चंचल लहरियों से तरंगायित है तथापि उसमें एक विशेष प्रकार की कम्पन एवं आशंका है। उसके प्राण अभी-अभी पुलकित हुए हैं, अत: उसकी ह्यत्तन्त्री के तार अधीरतापूर्वक मीड़ न लिए जायं। चन्द्रगुप्त को लक्ष्य कर वह कहती है कि उसका प्रेम भी विचित्र प्रकार का है। उसके प्रेम की तीव्रता एवं आतुरता के कारण ही इन युगल मूर्तियों ने उसके चित्त में निवास कर लिया है। न जाने उसके प्रेम का उन्माद किसकी मन:स्थिति को कुचल देगा, किसे आकुल कर देगा। उन्मत्त विलास की कोई सीमा नहीं है, इसने अमहीन (भावरूप) अनुराग रूपी नाविक को हृदय से बहुत दूर (अतीत की मधुर घड़ियों में) चले जाने का सुअवसर प्रदान किया है। मालविका की विगत स्मृतियाँ एक-एक करके ताजा होने लगती हैं, फलत: उसके चित्त को व्यथा पहुँचती है। अत: वह स्मृतियों के पंखों पर चढ़कर स्वार्थ, प्रवचना एवं घृणा भरे सांसारिक कोलाहल को त्यागकर कहीं दूर कल्पना-लोक में चली जाने का प्रयास करती है। किन्तु उसका पूर्व अनुराग उसे दुविधा में डाल देता है वह नाना प्रकार की चिन्ताओं में डूबने-उतराने लगती है। पूर्वानुराग द्वारा उसकी भाव-लहरियाँ शान्त हो जाती हैं, और उसका हृदय कसक एवं व्यथा से आपूर्ण हो जाता है। अत: वह अपने जीवन की स्मृति एवं हृदय के आतुर अनुराग को सम्बोधित करती हुई कहती है कि यदि वे दोनों उसके दीन-हीन निराशाकुल जीवन को नहीं देखना चाहते तो कम से कम उसके जीवन की नयी रूप-रेखा क्या होगी, इसे ही स्पष्ट कर देते हैं। (उसे पुनर्जीवन में प्रियतम की प्राप्ति होगी अथवा नहीं, वस्तुत: यही उसका ज्ञातव्य है।)

विशेष–(क) सम्पूर्ण गीत में अतीत के स्मृति-चित्रों का सुन्दर विश्लेषण किया गया है।

(ख) गीत में व्यक्त भावों से मालविका के जीवन-बलिदान का महत्त्व द्विगुणित हो गया है। मालविका की स्थिति उन फूलों के समान है, जो हँसते हुए आते हैं फिर मकरन्द गिराकर मुरझा जाते हैं?'

परिचय–प्रस्तुत गीत भी नाटक के चतुर्थ अंक के छठे दृश्य में अलका तथा नागरिकी द्वारा समवेत स्वर में गाया गया है। अलका राजक्रान्ति की ज्वलन्त चिनगारी है। इस गीत द्वारा वह जन-मन में तूफान उठाती है, उसका नेतृत्व करती है। नाटककार का सामाजिक हृदय उसके इस गीत द्वारा मुखरित हो उठा है। भारतीयता की पुकार एवं नवयुग की चेतना गीत का प्राण है। गीत की भाषा ओजस्विनी एवं शैली उद्‌बोधनात्मक है।

हिमाद्रि तुँग शृंग से
प्रबुद्ध शुद्ध भारती–

नोट

स्वयम्प्रभा समुज्ज्वला
स्वतन्त्रता पुकारती–
अमर्त्य वीरपुत्र हो, दृढ़-प्रतिज्ञ सोच लो,
प्रशस्त पुण्य पन्थ है–बढ़े चलो, बढ़े चलो!
असंख्य कीर्ति-रश्मियाँ,
विकीर्ण दिव्य दाह-सी।
सपूत मातृभूमि के–
रुको न शूर साहसी!
अराति सैन्य सिन्धु में-सुवाड़वाग्नि-से जलो!
प्रवीर हो जयी बनो-बढ़े चलो, बढ़े चलो!

भारतीयों की सुप्त-चेतना को जागृत करते हुए कवि कहता है कि हिमालय के उन्नत शिखर से प्रबुद्ध एवं शुद्ध सरस्वती, जो अपने प्रकाश से दीप्त एवं सदैव स्वतंत्र रहने वाली है, उन्हें पुकार-पुकार कर यह सन्देश दे रही है कि वे देवताओं की वीर सन्तान हैं, (अथवा देवताओं के समान अजर-अमर हैं) मृत्यु से भयभीत होना उनके लिए अशोभनीय है। (युद्धस्थल में शत्रु से निरन्तर संघर्ष करते-करते अपने, प्राणों का विसर्जन कर देना ही उनका कर्त्तव्य है।) वे यदि दृढ़-प्रतिज्ञ होकर चिन्तन करें तो उन्हें विदित होगा कि 'पुष्प-पथ' (कर्त्तव्य-पथ) कितना प्रशस्त एवं व्यापक है! इस मार्ग में कहीं कोई बाधा नहीं है। (इस मार्ग पर चलने का सौभाग्य तो किसी-किसी को ही प्राप्त होता है।) अत: वे निरन्तर इस मार्ग पर अग्रसर रहें, तो इसी में उनकी शोभा है।

यद्यपि उन्हें अपना ही सहारा है तथापि उन्हें चिन्तित नहीं होना चाहिए। उनकी यश रूपी असंख्य किरणें दिव्य ज्वाला बनकर इस मार्ग को सदैव आलोकित करती चलेंगी। अतएव मातृभूमि के इन सुपुत्रों एवं शूरवीरों को अपने कर्त्तव्य से कदापि विचलित नहीं होना चाहिए, अपनी गति एवं ऊर्जा में किसी प्रकार की न्यूनता नहीं लानी चाहिए। यदि शत्रुओं की सेना रूपी-सागर उन्हें बहाने की चेष्टा करे तो भी उन्हें भयभीत नहीं होना चाहिए। उन्हें उस सागर में बड़वानल बनकर धधक पड़ना चाहिए, जिससे शत्रु-सेना भस्मीभूत हो जाय और विजय-श्री उनके चरण-स्पर्श करने को बाध्य हो। (श्रेष्ठ वीर सदैव कर्त्तव्य-पथ पर बढ़ते चलते हैं और अन्तत: विजय-लाभ करते हैं।)

विशेष–(क) प्रस्तुत गीत पद-सौष्ठव, ओजगुण एवं वीरत्व-भावना की दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट है। इसकी छन्द-योजना अत्यन्त ही विलक्षण है। वह सर्वत्र स्वर और लय पर नृत्य करती है। इसकी गति एक प्रकार का इंगित-पूर्ण नृत्य करती है।

(ख) 'वन्देमातरम्' गीत की-सी राष्ट्रीय-भावना से समन्वित प्रस्तुत गीत पात्र एवं परिस्थिति विशेष के सर्वथा अनुकूल तो है ही, हिन्दी-काव्य की अद्वितीय निधि भी है।

परिचय–प्रस्तुत गीत भी नाटक के चतुर्थ अंक के नवम दृश्य में कार्नेलिया के कहने पर सुवासिनी द्वारा गाया गया है। वह रात्रि का वातावरण उपस्थित करती हुई अपने अतीत प्रेम का सुखमय और मदिर विलास स्मरण करती है। उसे वे रातें स्मरण ही आती हैं, जब उसके हृदय में मधुर झनकार होती थी और उसने रूप का आनन्द लूटा था। आज वह सब सपना हो गया है। इस गीत द्वारा आकांक्षाओं के उद्वेलित सुवासिनी यौवन और सौन्दर्य-सम्बन्धी भावनाओं को अभिव्यक्त कर प्रकारान्तर से कार्नेलिया के हृदय में चन्द्रगुप्त के प्रति गुप्त प्रेम की स्मृतियाँ जगाने का उपक्रम भी करते हैं।

सखे वह प्रेममयी रजनी।
आँखों में स्वप्न बनी,
सखे! वह प्रेममयी रजनी।
कोमल द्रुमदल निष्कम्प रहे,

नोट

ठिठका-सा चन्द्र खड़ा।
माधव सुमनों में गूंथ-रहा,
तारों की किरन-अनी।
सखे! वह प्रेममयी रजनी।
नयनों में मन्दिर विलास लिये,
उज्ज्वल आलोक खिला।
हँसती-सी सुरभि सुधार रही,
अलकों की मृदुल अनी।
सखे! वह प्रेममयी रजनी।
मधु-मन्दिर-सा यह विश्व बना,
मीठी झन्कार उठी!
केवल तुमको थी देख रही–
स्मृतियों की भीड़ घनी।
सखे! वह प्रेममयी रजनी।

सुवासिनी के प्रति प्रेममयी रजनी का रहस्य-उद्घाटित करती हुई कहती है कि हे सखी! यह रात्रि अत्यधिक मादक है, यह प्रेम एवं सौन्दर्य की नागरिक भावनाओं को उद्दीप्त करती है। यह नेत्रों में नाना प्रकार के रंगीन सपनों की सृष्टि कर रही है। सपनों के माध्यम से हमारी विगत स्मृतियाँ ही मानो साकार हो रही हैं। इस रात्रि ने स्वप्न रूप में हमारे देशों में मानो प्रवेश कर लिया है। इस रात्रि के समस्त अंग प्रेम की सी मादकता के वंशीभूत होकर स्तम्भित हो गये हैं (वृक्ष, पुष्प, चन्द्र आदि प्राकृतिक उपादान रात्रि के अंग हैं) वृक्षों के कोमल-कोमल किसलय कम्पहीन खड़े हैं, चन्द्रमा ठिठका-सा खड़ा है और माधव (वसंत) मधुर-कोमल पुष्पों की माला गूँथ रहा है। ताराओं की श्वेत रश्मियाँ ही इस पुष्पमाला के धागे हैं। चन्द्रमा की ज्योत्सना सर्वत्र छिटकी हुई है, उसके नेत्रों में उन्मत्त बना देने वाली छाया झलक रही है। उसकी उज्ज्वल ज्योत्सना रात्रि की मादकता को तीव्र कर रही है। सुरभि की मधुर-कोमल स्थित रेखा रात्रि के कोमल अलक-पाश का साज-शृंगार कर रही है। फलतः चारों ओर मादक एवं उल्लासपूर्ण वातावरण उपस्थित हो गया है। यह सम्पूर्ण विश्व प्रेम के मन्दिर के समान सरल बन गया है, जिसमें प्रिय-स्मृति की मधुर झनकार झंकृत हो उठी है। हे प्रिय! रात्रि के इस मादक वातावरण में वस्तुतः स्मृतियों का जमघट तुम्हारे दर्शन का ही भूखा है। (सुप्त स्मृतियाँ किसी न किसी प्रकार प्रिय के संग बिताये मधुर क्षणों की पुनरावृत्ति चाहती हैं)

विशेष–(क) रात्रि का उद्दीपनकारी रूप में चित्रण किया गया है।

(ख) कोमलकान्त पदावली, संक्षिप्तता, वैयक्तिकता, भावात्मकता एवं संगीतात्मकता प्रस्तुत गीत की महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ हैं।

5.3 शब्दकोश

1. **दुर्धष–** जिसे जल्दी वश में न किया जा सके, प्रबल, प्रचंड
2. **स्निग्धतापूर्ण–** स्नेहयुक्त, प्रेममय, सौम्यता, आर्द्रता
3. **अन्यमनस्क–** जिसका चित्त कहीं और हो, अनमना
4. **प्रतिश्रुत–** अच्छी तरह सुना हुआ स्वीकृत किया हुआ

नोट

5.4 अभ्यास-प्रश्न

1. चंद्रगुप्त नाटक का कथासार अपने शब्दों में लिखिए।
2. चंद्रगुप्त नाटक में प्रयुक्त गीतों का औचित्य स्पष्ट कीजिए।

उत्तर: स्व-मूल्यांकन

1. (ग) 2. (ख) 3. (क) 4. (क)

5.5 संदर्भ पुस्तकें

1. *नाटककार जयशंकर प्रसाद*– सम्पादक: सत्येन्द्र कुमार तनेजा, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली।
2. *हिंदी नाटक*–रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली।
3. *चन्द्रगुप्त*–जयशंकर प्रसाद

नोट

इकाई 6: चंद्रगुप्त : प्रमुख पात्रों का चरित्र-चित्रण

अनुक्रमणिका

उद्देश्य

प्रस्तावना

6.1 चंद्रगुप्त: प्रमुख पात्रों का चरित्र-चित्रण

6.1.1 चंद्रगुप्त

6.1.2 चाणक्य

6.1.3 सिंहरण

6.1.4 सिल्यूकस

6.1.5 अलका

6.1.6 कल्याणी

6.1.7 कार्नेलिया

6.1.8 मालविका

6.1.9 सुवासिनी

6.2 सारांश

6.3 शब्दकोश

6.4 अभ्यास-प्रश्न

6.5 संदर्भ पुस्तकें

उद्देश्य

विद्यार्थी इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् योग्य होंगे–

- जयशंकर प्रसाद के नाटक चद्रगुप्त में आए चरित्रों को समझने में।
- जयशंकर प्रसाद के चरित्र-चित्रण कौशल को समझने में।

प्रस्तावना

चरित्र-चित्रण नाटक की रीढ़ होता है। स्वयं अपने मुख से पात्रों के कन्धों पर रखकर ही नाटककार अपने लक्ष्य की सिद्धि करता है, न कहकर यदि वह ऐसा करने में सक्षम नहीं है तो नाट्य कला की दृष्टि से शिथिलता आती है। भाषा भी उनके चरित्र के अनुकूल ही होनी चाहिए। तभी उनमें सजीवता आ पाती है। नाटककार को पात्र-चित्रण करने के लिए पूर्व-श्रुतियों अथवा जनश्रुतियों का वैज्ञानिक तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण करना पड़ता है। ऐतिहासिक पात्रों के चरित्र में यथार्थता के साथ कल्पना के ताने-बाने बुनने पड़ते हैं। उनके व्यक्तित्व-विश्लेषण के साथ सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों का युगानुकूल अंकन करना पड़ता है। आधुनिक युग में चरित्र-चित्रण में यद्यपि मनोवैज्ञानिक विकास पर विशेष बल दिया जाता है, जिसमें सामान्य से सामान्य जाति, वर्ग-अवस्था-कार्य का पात्र नाटक या उपन्यास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। फिर भी, नाटक-क्षेत्र में पूर्वमान्य चरित्र-चित्रण की कसौटी ही अधिक उपादेय बहरती है। इस क्षेत्र में नाटककार से अधिक उपन्यासकार का कार्य सरल होता है। उपन्यासकार को चरित्र-चित्रण में प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों स्वतन्त्र शैलियों को अपना सकता है। नाटक

नोट

में विस्तार का अभाव और शाब्दिक महत्त्व दिया जाता है। उपन्यासकार चरित्र-चित्रण पर तथा नाटककार पात्र में व्यंजना, मनोविश्लेषण तथा अन्तर्द्वन्द्व पर विशेष बल देता है।

प्रसाद जी ने चंद्रगुप्त नाटक के कथानक में प्राचीन भारत के गौरव को प्रमुखता देते हुए राष्ट्रीयता का रंग चढ़ाया है। इसमें भारतीय इतिहास के हिन्दू-राजाओं के काल को महत्ता प्रदान की गई है। इतिहास के पृष्ठों में असंबद्ध रूप से जो यथार्थ तथ्य मिलते हैं, उन्हीं को प्रसाद जी ने खोजपूर्ण ढंग से व्यवस्थित रूप प्रदान किया है। इस नाटक में ऐतिहासिक पात्रों तथा इतिहासवत् काल्पनिक पात्रों का चित्रण उसी समय समाज के और संस्कृति के अनुकूल पड़ता है। यद्यपि भारतीय गौरव को महत्ता प्रदान करने की दृष्टि से तो यह ठीक है कि सर्वत्र ही विदेशी पात्रों को भारतीय पात्रों के द्वारा अभिभूत कराना, पर यह सर्वथा उचित नहीं कि एक पात्र को विदेशी होने के नाते सर्वथा हीन सिद्ध किया जाय। यहाँ नाटक के प्रमुख पात्रों का चरित्र-चित्रण प्रस्तुत है–

6.1 चन्द्रगुप्तः प्रमुख पात्रों का चरित्र चित्रण

6.1.1 चंद्रगुप्त

चन्द्रगुप्त नाटक का मुख्य नायक है। उसका चरित्र इतिहास के पट पर बुना गया है। इतिहास की भाँति ही वह नाटक में लोक-प्रसिद्ध रूप में चित्रित हुआ है। संस्कृत साहित्य में वर्णित सभी गुण चंद्रगुप्त के चरित्र में विद्यमान दिखाई देते हैं। कृतज्ञता, पाण्डित्य, कुलीनता, श्रीमानता, सुशीलता उसके चरित्र की विशेष निधि हैं। साथ ही, रूप-यौवन सम्पन्न होना, उत्साह परिपुष्ट होना, अनुराग से हृदय स्निग्ध होना ये उसके चरित्र के आकर्षण के केन्द्र बिन्दु हैं। चंद्रगुप्त के चरित्र के दो पक्ष सम्पूर्ण नाटक में चित्रित हैं–प्रथम, आत्मसम्मान और वीरता से संबंधित; द्वितीय, प्रेम भावना से परिपूर्ण उसकी कार्यविधि।

स्वातन्त्र्य को जन-जीवन की पूँजी के रूप में घोषणा करने वाला यह युवक 'प्रत्येक निरपराध आर्य की स्वतंत्रता' के पक्ष का समर्थन करता हुआ मंच पर दिखाया जाता है। प्रारम्भ में इसकी मनोवृत्ति किशोरावस्था की सी दिखाई जाती है जिसमें चपलता का प्राधान्य है। साथ ही, राष्ट्र जीवन के संबंध में जिसका दृष्टिकोण संकुचित है। तक्षशिला के गुरुकुल में ही– 'हम मागध हैं और यह मालव। अच्छा होता है कि यहाँ गुरुकुल में हम लोग शस्त्र की भी परीक्षा देते', यह कहते हुए चंद्रगुप्त का प्रवेश होता है। जिस चंद्रगुप्त के कन्धों पर राष्ट्र की क्रान्ति का अभियान जाने वाला है उसके मुख से इस प्रकार का संकीर्ण विचारां को सुनकर पाठक शंकित हो उठते हैं कि इसके चरित्र का आगे किस प्रकार विकास होगा? वहीं से प्रसाद जी की मनौवैज्ञानिक दृष्टि उसके चरित्र का गठन करने लगती है। अगले क्षण ही वह कहता है, 'आत्मसम्मान के लिए मर मिटना ही जीवन है।' आचार्य चाणक्य को चिन्तित मुद्रा में देखकर उसकी प्रतिज्ञा, 'यह चंद्रगुप्त आपके चरणों की शपथ-पूर्वक प्रतिज्ञा करता है कि यवन यहाँ कुछ भी न कर सकेंगे, पाठकों में तो उत्साह और आनन्द की लहर भर देती है तथा उसका इसमें असीम आत्म-विश्वास टपकता है। तभी से नायकत्व की ओर अग्रसर कराने वाला उसका दृढ़ निश्चय 'यवनों के प्रतिपद में बाधा देने वाला बन जाता है। उसकी अलौकिक वीरता ही 'जगद्विजेता का ढोंग करने वाले को एक बार पराजय का पाठ पढ़ा देने के लिए' सर्वत्र जागरूक रही है।

निर्भीकता उसकी नस-नस में बसी हुई है। नाटक के अन्य पात्रों में भी निर्भीकता देखने को मिलती है, पर वह उस कोटि की नहीं है जैसी चंद्रगुप्त की है। वह यवन शिविर में भी यवन सेनापति के सम्मुख देशद्रोही आम्भीक को खरी-खोटी सुनाकर अपनी निर्भीकता का तथा सिकन्दर के द्वारा यह कहे जाने पर कि 'हमारी सेना तुम्हारी सहायता करेगी', सुनकर वह जिस निर्भीकता भरे आत्मविश्वास से उसे उत्तर देता है वह सर्वथा उसके अनुकूल ही है। वह कहता है– 'मुझे आपकी सहायता नहीं चाहिए। मैं यहाँ यवनां को अपना शासक बनने का आमंत्रित करने नहीं आया हूँ... मुझे लोभ से पराभूत गांधारराज आम्भीक समझने की भूल न हानी चाहिए। मैं मगध का उद्धार करना चाहता हूँ, पर यवन लुटेरों की सहायता से नहीं।' कोरी शिष्टता की वकालत करते हुए आम्भीक को वह तपाक से उत्तर देता है– 'स्वच्छ हृदय भीरू कायरों की-सी वंचक शिष्टता नहीं जानता। अनार्य! देशद्रोही आम्भीक! चंद्रगुप्त रोटियों के लालच से या घृणाजनक लोभ से सिकन्दर के पास नहीं आया है। इतना ही नहीं, उस समय

नोट

की प्रतिकूल परिस्थिति में से वह अपनी असाधारण वीरता दिखलाकर यवन शिविर से सुरक्षित निकल आता है। इस निर्भीकता और वीरता के साथ-साथ उसमें दृढ़ संकल्प और स्वावलंबी प्रवृत्ति है। अपने माता-पिता, चाणक्य जैसे मन्त्रदाता गुरु और कन्धे से कन्धा मिलाकार चलने वाले सच्चे मित्र सिंहरण के चले जाने पर भी वह अपने दायित्व से विचलित नहीं होता। उस समय भी धैर्य और साहस उसके कदमों में पड़े रहते हैं, तभी तो वह कहता है। (पिता गए, माता गई, गुरुदेव गए, कंधे से कन्धा भिड़ाकर प्राण देन वाला चिर सहचर सिंहरण गया। तो भी चंद्रगुप्त को रहना पड़ेगा।' युद्धक्षेत्र के निकट नायक और सैनिकों के सम्मुख कहे गए उसके वीरोत्तेजक शब्द उसी की प्रवृत्ति के अनुकूल हैं– 'नायक! तुम खड्ग पकड़ सकते हो, और उसे हाथ में लिए सत्य से विचलित तो नहीं हो सकते? बोलो! चंद्रगुप्त के नाम पर प्राण दे सकते हो... चंद्रगुप्त युद्ध करना जानता है और विश्वास रखो, उसके नाम का जयघोष, विजयलक्ष्मी का मंगल-गान है। आज से ही मैं बलाधिकृत हूँ। मैं आज सम्राट् नहीं, सैनिक हूँ। चिन्ता क्या? सिंहरण और गुरुदव साथ न दें। डर क्या सैनिकों! सुन लो, आज से मैं सेनापति हूँ... कह देना सिंहरण से चंद्रगुप्त कायर नहीं है।'

सैन्य संचालन का गुण चंद्रगुप्त का पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त है। 'इन्द्रजालिक बनकर यवन सेना में 'मगध के पास लक्ष्यावधि सैनिक है' कहकर विद्रोह फैलाना, कल्याणी की छोटी-सी मगध सेना को भुलावा देकर अपने उद्देश्य की सिद्धि के अनुकूल करना तथा विपाशा और शतद्रु के बीच के संकीर्ण भूभाग में सिकन्दर के सम्मुख अपनी सेना का विराट प्रदर्शन करना एवं थोड़े से साहसी वीरों के साथ यवनों की सेना पर उलझाने और सामग्री नष्ट कराने क लिए आक्रमण करना-उसके कुशल सेनापतित्व की ही सूचना देते हैं।

चंद्रगुप्त चरित्र का एक विशेष गुण है– कृतज्ञता स्वीकार करना। उपकारी के प्रति कृतज्ञ होना भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग है। सिल्यूकस ने चंद्रगुप्त की भयंकर बाघ से रक्षा की है। वह इस उपकार को युद्ध के मैदान में भी नहीं भूलता। इस आधार पर वह यवन शिविर में आमन्त्रित किया जाता है और आगामी मालव-युद्ध में वह उसी प्रत्युपकार के बोझ को हल्का करने के लिए प्राण संकट में पड़े हुए सिल्यूकस को कृतज्ञता का भार हल्का करने के लिए जीवन दान देता है।

वह सचमुच क्षत्रिय है– उसने कुमारी कल्याणी की चीते से रक्षा की है। ऐन मौके पर पहुँचकर कामुक फिलिप्स से कार्नेलिया के सम्मान को बचाया है, साथ ही, मगध की उस पीड़ित, पददलित, अत्याचारों की अग्नि से सन्तप्त जनता की करुण पुकार को सुनकर नायक बनकर उसका उद्धार किया है तथा जनता एवं देश के मानबिन्दुओं के लिए उसने हाथ में खड्ग धारण की है। तभी तो वह प्रारम्भ में आत्मविश्वास और दृढ़ उत्साह क साथ कारागृह के दुभेद्य अन्धकार में एकाकी प्रवेश करके, 'प्रबल शत्रुओं के सम्मुख भी अपने मान-बिन्दु चाणक्य को बन्दीगृह से छुड़ाकर उनके गौरव को बढ़ाता है। इस प्रकार उत्साहपूर्ण वीरता, विनय और कृतज्ञता की यह मूर्ति चंद्रगुप्त सर्वत्र ही आकर्षण का केन्द्र बना रहता है।

सम्राट होने पर वह न्यायी बनता है। उसकी न्यायप्रियता सराहनीय है। गुरुदेव के सम्मान के लिये न्याय की कसौटी पर वह अपने पिता को भी दण्डित करने की घोषणा से नहीं हिचकिचाता, वह कहता है– 'पिता जी, राज्य-व्यवस्था आप जानते होंगे, वध के लिए प्राणदण्ड होता है, और आपने गुरुदेव का– इस आर्य साम्राज्य के निर्माणकर्त्ता ब्राह्मण का वध करने जाकर कितना गुरुतर अपराध किया है।

अब चंद्रगुप्त के चरित्र का दूसरा पक्ष देखिए जिससे सिद्ध होता है कि वह केवल युद्ध व्यवसायी वीर ही नहीं है, वरन् प्रेम और हृदय की भावुकता पर उसका कितना कलापूर्ण अधिकार व नियन्त्रण है। उसका कल्याणी तथा कार्नेलिया के प्रति प्रेम अवसरानुकूल झलकता है, तभी तो उसके कठोर कर्त्तव्य-पथ पर चलने पर विशाल मरुस्थल में क्षीण जलधारा के समान उसकी भावुकता उसे मनोविज्ञान के आधार पर मनुष्य ही सिद्ध करती है देवता या कठोर कर्म में प्रवृत्त केवल चाणक्य के हाथ का पुतला नहीं बना देती। इसी के वशीभूत होकर वह अपने कठोर जीवन में उपरोक्त कुमारियों को 'निर्दोष मणि', 'सरल बालिका' और 'स्वर्गीय कुसुम' शब्दों से संबोधित करता है। तभी तो वह 'रण भेरी से पहले मुरली की तान' सुनने का अभिलाषी बना रहता है। प्रारम्भ में ही वह कल्याणी

नोट

से कहता है– ''यह अनुचर सेवा के लिए उपयुक्त अवसर पर आ पहुँचा।'' केवल उसी को देखने के लिए ही तो कल्याणी युद्ध क्षेत्र में पहुँचती है। वह कर्त्तव्य से भी विचलित नहीं होता, तभी तो कह देता है कि 'मेरा हृदय देश की दुर्दशा से व्याकुल है।' अन्त में कल्याणी के द्वारा पूछे जाने पर कि आप कब तक मगध लौटेंगे? उत्तर में उसके कर्त्तव्य की ही प्रधानता रहती है। वह कहता है– ''मैं सेनापति का शत्रु हूँ, यह मेरी आजीविका है।'' मालविका के प्रति उसका हृदय तरल है तभी तो वह एकान्त में उससे पूछ बैठता है– 'मालविका तुमको गाना आता है?' युद्धकाल होने पर भी वह 'रणभेरी से पहले मधुर मुरली की तान' सुनना चाहता है। अन्त में तो वह मालविका से स्पष्ट ही कह देता है– 'शुभे! मैं तुम्हारी सरलता पर मुग्ध हूँ।' पर संयम और कर्त्तव्य की भावना उसमें सर्वत्र सजग रहती है जिस प्रकार वह कल्याणी की प्रेममयी भावनाओं को यह कहकर कि 'राजकुमारी, मेरा हृदय देश की दुर्दशा से व्याकुल है' टाल देता ह, उसी प्रकार मालविका के भोलेभाले कथन पर- 'मगध! तुमको देखकर तो मैं चकित हो जाती हूँ। कभी इन्द्र पाली, कभी कुछ! भला इतना सुन्दर रूप तुम्हें विकृत करने की क्या आवश्यकता है?' वह यह कहते हुए– 'तुम इन बातों को पूछकर क्या करोगी? हँसकर टाल देता है। कर्त्तव्य की उच्चता और नीरसता उसे एक बार अन्त में उसके अन्तर को झकझोर देती है। उसका प्रेमी हृदय भूखे केहरी की भाँति चीत्कार करने लगता है– 'मैं सबसे भिन्न, एक भयप्रदर्शन-सा बन गया हूँ, कोई जरा अन्तरंग नहीं।' यहाँ पर आकर वह चंद्रगुप्त, जिसने मालविका के सरल प्रेमी की उपेक्षा की थी, आज उसी के सम्मुख हार्दिक 'बिछलन' से फिसला जा रहा है। उस समय उसे कर्त्तव्य पालन में आकर्षण प्रतीत नहीं होता। उसके निम्न कथन में महान् सम्राट चंद्रगुप्त की साधारण जन सुलभ दुर्बलता भी दिखाई देती है– 'संघर्ष युद्ध देखना चाहो तो मेरा हृदय फाड़कर देखो– मालविका! आशा और निराशा का युद्ध। भावों का अभाव से द्वन्द्व! कोई कभी नहीं, फिर भी न जाने कौन मेरी संपूर्ण सूची में रिक्त चिन्ह लगा देता है। मालविका ताम्बूलवाहिनी नहीं, मरे विश्वास की, मित्रता की प्रतिवृत्ति हो। देखो मैं दरिद्र हूँ कि नहीं, तुमसे मेरा कोई रहस्य गोपनीय नहीं।'

नोट्स

कल्याणी और मालविका के अतिरिक्त यवन कुमारी कार्नेलिया से भी चंद्रगुप्त के प्रेमतन्तु प्रारम्भ से ही विकसित हुए हैं। कई बार उससे एकांत में भेंट हुई है। कई बार दो नेत्र अपने सगोत्रियों से मिलकर चार हुए हैं। पर उसकी ओर चंद्रगुप्त का हार्दिक आकर्षण वासना की कोटि में नहीं आ सकता। प्रेम का यही विकास नाटककार ने कुशलतापूर्वक विवाह रूप में परिणत किया है।

इस प्रकार अपने चरित्र की निर्भीकता, उचित के लिए दृढ़ता, मित्रता में धैर्य व उपकार के लिए कृतज्ञता, गुरुजनां के लिए विनयशीलता, अपने कार्य में आत्मविश्वास एवं कर्त्तव्यपरायण तथा प्रेम के क्षेत्र में सहृदयता आदि गुणों से परिपूर्ण प्रारम्भ में क्षत्रिय राजकुमार बाद का सम्राट नाटक के सभी प्रमुख पात्रों का अपनी श्रीमानता एवं वीरता से मुग्ध करता है। उसक संबंध में नाटक के प्रमुख पात्रों की धारणा देखिए–कल्याणी प्रथम अंक के चौथे दृश्य में कृतज्ञता स्वीकार करती हुई कहती है– 'नमस्कार चंद्रगुप्त, मैं कृतज्ञ हुई।' अकेला चंद्रगुप्त जब बन्दीगृह के कठोर पहर में से सीभ को परास्त करके छुड़ाता है तो गद्‌गद होते हुए चाणक्य कहता है– 'मर शिष्य! वत्स चंद्रगुप्त!' प्रथम अंक के ग्यारहवें दृश्य में आकृष्ट हुआ वीर सिकन्दर कहता है– 'यह तेजस्वी युवक कौन है?' दूसरे अंक के प्रथम दृश्य में सिल्यूकस कहता है– 'चंद्रगुप्त एक वीर युवक है।' इसी अंक के चौथे दृश्य में मालविका कहती है– 'अद्‌भुत युवक है!' तृतीय अंक के द्वितीय दृश्य में वीर पर्वतेश्वर कहता है– 'मैं क्षमता रखते हुए जिस काम को नहीं कर सका, वह कार्य निस्सहाय चंद्रगुप्त न किया ... मैं विश्वस्त हृदय से कहता हूँ कि चंद्रगुप्त आर्यावर्त का एकच्छत्र सम्राट होने के उपयुक्त है।' इस प्रकार फिलिप्स कार्नेलिया, राक्षस और नन्द भी उसकी महत्ता स्वीकार करते हैं।

6.1.2 चाणक्य

नोट

जिसके दुर्बल हाथों में साम्राज्य उलट देने की शक्ति है और कोमल हृदय में कर्त्तव्य के लिए प्रलय की आँधी चला देने की कठोरता भी है, ऐसा ब्राह्मण चाणक्य, जो तक्षशिला विश्वविद्यालय का स्नातक रहा है पर गुरुदक्षिणा न देने के कारण वह एक वर्ष तक वहीं अर्थशास्त्र का शिक्षक भी रहा है– इसी रूप में वह सर्वप्रथम मंच पर आता है। व्याख्या की दृष्टि से वह अर्थशास्त्र के संकुचित अर्थ को स्वीकार नहीं करता, वरन् उसके स्थान पर उसके व्यावहारिक जीवन में मूल्यांकन करता है। तभी तो वह कात्यायन से कहता है– 'कात्यायन अब केवल पाणिनि से काम नहीं चलेगा।' अर्थशास्त्र और दण्डनीति की आवश्यकता है। 'शस्त्र-प्रणेता' और 'व्यवस्थापक' चाणक्य का चरित्र नाटक में बहुत ही स्वाभाविक गति से, मनोवैज्ञानिक आधार पर अन्तर्द्वन्द्व के संघर्ष में भी चाणक्य के दार्शनिक व्यक्तित्व का भी निर्माण होता है। चाणक्य के चरित्र में शुद्ध ब्राह्मण शक्ति का सर्वोत्कृष्ट स्वरूप देखने को मिलता है। उसमें जातिगत मर्यादा कूट-कूट कर भरी है और निरन्तर वह ब्राह्मणों के स्वतन्त्र और विभूतिमय आध्यात्मिक जीवन का स्मरण करता हुआ देखा जाता है। वह उपकार के बोझ से कहीं भी दबना नहीं चाहता। उसका दर्प भरा ब्राह्मणत्व उसी के शब्दों में देखिये– ''ब्राह्मण न किसी के राज्य में रहता है और न किसी के अन्न से पलता है, स्वराज्य में विचरता है और अमृत पीकर जीता है। ब्राह्मण सब-कुछ सामर्थ्य रखने पर भी, स्वेच्छा से इन माया स्तूपों को ठुकरा देता है। प्रकृति के कल्याण के लिए अपने ज्ञान का दान देता है।''

यद्यपि 'चंद्रगुप्त' नाटक का नायक चंद्रगुप्त है, फिर भी नाटक के सम्पूर्ण घटनाचक्र के पीछे काम करने वाला केन्द्र चाणक्य ही है। नाटक के सभी प्रमुख पात्र-चंद्रगुप्त, अलका, सिंहरण, पूर्ण रूप से, सुवासिनी, राक्षस, पर्वतश्वर, आम्भीक, कल्याणी आदि आंशिक रूप से उसकी बुद्धि के खिलौने हैं। इन सबके कार्यकलापों में चाणक्य की इच्छा-मात्र का व्यक्तिकरण ही है। उसका चरित्र क्रमबद्ध रूप में विकसित हुआ है। प्रथम अंक के पहले दृश्य में ही उसकी सतर्कता, स्वाभिमान, दूरदर्शिता और गौरवपूर्ण गम्भीरता य चार गुण उसके चरित्र में देखने को मिलते हैं। सतर्कता उसकी इस बात मं है कि सिंहरण से प्रारम्भ में ही प्रश्न करता है– 'जानते हो यवनों के दूत यहाँ क्यों आये?' राजकुमार आम्भीक से– 'अपने ब्राह्मणत्व पर आँच आने पर वह अभिमान और दृढ़ विश्वास से कह देता है कि 'अविश्वासी क्षत्रियों के संकीर्ण विचारों का यही कुफल है है जो दस्यु और म्लेच्छ साम्राज्य बना रहे हैं।' यहीं पर उसकी गरिमामयी गंभीरता भी प्रकट होती है जब वह उद्धत और हल्की मनोवृत्ति वाले आम्भीक को तलवार चलाते हुए देखता है तो राजकुमारी अलका से कहता है–' मैं गुरुकुल का अधिकारी हूँ। मैं आज्ञा देता हूँ कि तुम क्रोधाभिभूत कुमार को लिवा जाओ। विश्वास रखना, इस दुर्व्यवहार का समाचार महाराज तक न पहुँचेगा।' दूरदर्शी होने के नाते ही तो वह चंद्रगुप्त को समझाता है– 'आगामी दिवसों में आर्यावर्त्त के सब स्वतंत्र राष्ट्र एक के अनन्तर दूसरे विजेता से पददलित होंगे, तथा राक्षस के बन्दीगृह में उससे यह कहने पर कि तुम तक्षशिला में मगध के गुप्त प्रतिनिधि बनकर जाना चाहते हो या मृत्यु! सुनते ही उसकी दूरदर्शिनी बुद्धि सजग होकर प्रश्नकर्त्ता का आशय अभिव्यक्त कर देती है– 'जाना तो चाहता हूँ तक्षशिला पर तुम्हारी सेवा के लिए नहीं और सुनो, पर्वतेश्वर का नाश करने के लिए तो कदापि नहीं।'

निर्भीकता चाणक्य के चरित्र का विशेष गुण है, जिसका परिचय उसके प्रत्येक कथन से होता है और ब्राह्मण का गौरव निशान होने पर तो विशेष रूप से। सम्राट नन्द के द्वारा अपमानित किए जाने पर वह निडरता से उसे सावधान करता है– 'नन्द, तुम्हारी धर्मान्धता-प्रेरित राजनीति आंधी की तरह चलेगी, उसमें नन्दवंश समूल उखड़ेगा।' इसी प्रकार क्षत्रिय पर्वतेश्वर को वह पहले तो प्रलोभन देकर आगामी युद्ध के लिए अपनी ओर आकर्षित करना चाहता है, पर तिरस्कार मिलने पर वह क्षत विषधर की भांति वाक्प्रहार करता है– 'क्षत्रियाभिमानी गौरव! तुम इसके निर्णायक नहीं हो सकते ... और स्मरण रखना, आसन्न यवन युद्ध में शौर्य गर्व स तुम पराभूत होंगे, ऐसा यह स्वाभिमानी चरित्र है जो बन्दीगृह की निष्ठुर यन्त्रणा से मुक्ति तो चाहता है, पर दया की भिक्षा मांगकर नहीं।

राजनीति के क्षेत्र में वह शक्ति से बढ़कर मुक्ति को मानता है। तभी तो वह विपत्तियों के मंडराते हुए बादलों की चिन्ता न करते हुए, एक कुशल राजनीतिज्ञ की भाँति सिंहरण को बताता है– 'पौधे अन्धकार में बढ़ते हैं और मेरी नीति-लता भी उसी भाँति विपत्तितम में लहलही होगी।' हाँ, केवल शौर्य से काम नहीं चलेगा। इस क्षेत्र में वह

नोट

साम, दाम, दण्ड, भेद सभी से काम लेता है। तभी तो वह कहता है– 'चाणक्य, सिद्धि देखता है साधन कैसे ही हों।' तभी तो वह चंद्रगुप्त और सिंहरण जैसे वीरों को सपेरा और नट बनाकर पर्वतेश्वर को पराभूत होने देता है। अपनी सिद्धि के लिए वह कल्याणी को चंद्रगुप्त के प्रेम के प्रलोभन से रोक देता है और राष्ट्र-भक्त राक्षस को आक्रान्ता का भय दिखाकर एवं सुवासिनी के प्रेम के आकर्षण में फँसाकर वहीं रोके रहता है। ऐसा करते हुए एक बार वह राक्षस को अपने ही सैनिकों को बन्दी बनाने की आज्ञा देता है और दूसर ही क्षण अपने ही सैनिकों से उसकी रक्षा करा देता है। राक्षस उससे विश्वस्त होकर उसे अपनी अंगूठी भी दे देता है। इस प्रकार चाणक्य को अपनी बुद्धि के कार्य पर पूर्ण विश्वास है।

चाणक्य सचमुच में ब्राह्मणस्वरूप है– जिसकी बुद्धि सात्विक मंगल-कामना से युक्त है। तभी तो वह सदा कल्याण-कामना से युक्त आशीर्वाद देता है। यहाँ तक कि अपने प्रतिपक्षियों और शत्रुओं को भी– राक्षस, सिकन्दर, सिल्यूकस और आम्भीक को आशीर्वाद देता है। 'दया' को स्रोतस्विनी उसके हृदय में उमड़ती रहती है। वह सच्चा राष्ट्रभक्त है। वह आसेतु-हिमाचल एक चछत्र राज्य देखने का अभिलाषी है, तभी तो वह क्रोध और दु:ख में भी अपना ध्येय नहीं भुलाता। कृत्रिम कलह हाने पर भी वह चंद्रगुप्त को अप्रत्यक्ष रूप से सहायता पहुँचाता है।

चाणक्य त्याग और तपस्या की मूर्ति है। चंद्रगुप्त तो अब तक इतिहास के पन्नों में जीवित रह पाया है, पर चाणक्य व्यावहारिक जीवन के कण-कण में जागरूक है। उसकी विलक्षण प्रतिभा ने ही नन्दवंश का उन्मूलन किया है। पर्वतश्वर का मानमर्दन किया है, सिकन्दर जैसे महान् योद्धा को परामुख किया है। यह राजनीति का जीता-जागता पुतला है। जब वह चंद्रगुप्त को मेघयुक्त चंद्र के समान देखकर मंच से हट जाता है तब उसकी निष्पृहता की सराहना होती है। यह भारतीय ब्राह्मण का सजीव आदर्श है।

नाटक का चाणक्य ऐतिहासिक चाणक्य के समान क्रूर और हृदयहीन नहीं है। नाटक के चाणक्य को क्रूरकर्मा और रूक्ष राजनीति-विशारद की पदवी नहीं दी जा सकती। जिस चाणक्य की नीति में अपराधों के दण्ड से मुक्ति नहीं, जो 'शक्तिहीन' होने पर क्षमा न करने की प्रतिज्ञा कर चुका है– उसी चाणक्य की सहृदयता सुवासिनी के प्रसंग में ध्वनित होती है जिसके ऊपरी आवरण में इतनी निष्ठुरता है कि चंद्रगुप्त को मालविका से बातें करते हुए देखकर कहता है– 'छोकरियों से बातें करने का समय नहीं है' तथा कल्याणी की आत्महत्या पर कहता है कि– 'चंद्रगुप्त आज तुम निष्टंकट' वही चाणक्य प्रारम्भ में भी है जो तक्षशिला से लौटने पर बालस्मृतियों के सम्मुख नाचने लगता है। अपने भग्न कुटीर को देखकर कहता है– पिताजी! यहीं मुझे गोद में बिठाकर राजमन्दिर का सुख अनुभव करते थे।' हृदय में स्थित उन कोमल भावनाओं के प्रतिकार से ही उसमें मगध शासन को उलट देने की शक्ति आई है। जो सुवासिनी उसकी बाल सहचरी है वही बौद्ध धर्म स्वीकार करके रंगशाला में चली जाती है। तब उसका मानवीय हृदय क्षोभयुक्त व्यंग्य से भर जाता है, तभी तो वह तीखे व्यंग्य में कहता है– 'चलो वारविलासिनियों के लिए भी एक धर्म की आवश्यकता थी।' एक बार तो सुवासिनी के प्रति उसका हृदय इतना द्रवित हो जाता है कि वह कह उठता है– 'मैं तुमसे बालकाल से परिचित हूँ सुवासिनी! तुम खेल में हारने के समय रोते हुए हँस दिया करतीं। तब मैं हार स्वीकार कर लेता ...' तभी तो सुवासिनी कहती है– 'यह क्या विष्णुगुप्त, तुम संसार को अपने वश में रखने का संकल्प रखते हो। फिर अपने को नहीं! देखो दर्पण लेकर-तुम्हारी आँखों में तुम्हारा यह कौन सा नवीन चित्र है।' पर उसी के हृदय में मर्यादा-निर्वाह क कारण सुवासिनी से वितृष्णा भी हो जाती है कि उसका प्रेम पत्नी भाव से राक्षस से विकसित हो चुका है। वह अपनी प्रेमिका के सुख-संतोष के लिए अपनी भाव शान्ति के अद्‌भुत संयम का प्रदर्शन करता है। पुन: राक्षस के कारण सुवासिनी को विवश करता है। वासना के पंक से कलंकित हृदय में त्याग युक्त ऐसा संयम कहाँ मिलता है। प्रेम सचमुच त्याग की मूर्ति होता है, तभी तो वह अपनी अमूल्य निधि राक्षस को समर्पित करता है। उसका प्रेम त्याग रूप धारण करके सुवासिनी से कहता है– 'सुवासिनी! वह स्वप्न टूट गया। इस विजन बालुका सिन्धु में एक सुधा की लहर दौड़ पड़ी थी, किन्तु तुम्हारे एक ही भ्रू-भंग ने उसे लौटा दिया।' यही सुनकर स्तब्ध हुई सुवासिनी उससे कहती है– 'तो विष्णुगुप्त तुम इतना बड़ा त्याग करोगे! अपने हाथों बनाया हुआ, इतने बड़े साम्राज्य का शासन, हृदय की आकांक्षा के साथ अपने प्रतिद्वन्द्वी को सौंप दोगे और सो भी मेरे लिए।'

नोट

चाणक्य के चरित्र में एक क्रमिक निखार है। एक ओर तो वह शनैः-शनैः दृढ़ और राजनीति के क्रूर कार्य का उपासक है तो दूसरी ओर अपनी प्रेमिका सुवासिनी के सुखद जीवन के लिए अपने प्रेम की बलि चढ़ा देता है। अन्त में, वह पूर्ण विरक्त होकर कहता है– 'आज मैं जैसे निष्काम हो रहा हूँ। विदित होता है कि आज तक जो कुछ किया, वह सब भ्रम था, मुख्य वस्तु आज सामन आई। आज मुझे अन्तर्निहित ब्राह्मणत्व की उपलब्धि हुई।'

चाणक्य का चरित्र सम्पूर्ण नाटक में एक उग्र कर्मयोगी के रूप में दिखाई पड़ता है। वह 'राज्य करना नहीं जानता, करना भी नहीं चाहता। हाँ, राजाओं का नियमन करना जानता है।' क्रूरता उसके वर्तमान में ही है, उसके बाह्य पक्ष में ही है, भविष्य उसका सुख शान्तिदायी परिणाम वाला है। श्रेय के लिए वह सर्वस्व त्याग की क्षमता का पाठ पढ़ाता है। उसके जीवन का चरम है–मेघ के समान मुक्त वर्षा सा जीवनदान करना, सूर्य के समान अबाध आलोक विकीर्ण करना, सागर के समान कामना नदियों को पचाते हुए सीमा के बाहर न आना' यही तो सचमुच ब्राह्मणत्व है। उसकी सम्पूर्ण शक्ति राष्ट्र कल्याण के लिए ही लगती है। सारांश में उसका चरित्र आत्मसम्मानी, दृढ़ संकल्पी, अद्‌भुत बुद्धि वैभवी एवं सभी का प्रभावित करने वाला हुआ है।

विशाखदत्त कृत 'मुद्राराक्षस' नाटक में चाणक्य का चरित्र उभय पक्ष में मनोवैज्ञानिकता से पुष्ट नहीं हो पाया है। उसमें उसकी मस्तिष्क प्रधानता ही पाठकों के सम्मुख आती है। सहृदयता नाम को भी नहीं। द्विजेन्द्रलालराय के 'चंद्रगुप्त' में चाणक्य ब्राह्मण-वर्ग का प्रतीक दिखाई देता है। ब्राह्मणत्व का भार उसमें इतना अधिक है कि वह और पर लादने का प्रयत्न करता है। पर प्रसाद का चाणक्य कलापूर्ण ढंग से मानव-जीव संबंधित स्वाभाविक प्रतीत होता है। 'चंद्रगुप्त' के चाणक्य में मस्तिष्क, ब्राह्मण-वर्ण एवं हृदयपक्ष का समन्वित सन्तुलन हुआ है।

क्या आप जानते हैं प्रसाद के अधिकांश नाटक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर लिखे गए हैं जैसे– स्कंदगुप्त ध्रुवस्वामिनी आदि।

6.1.3 सिंहरण

प्रसाद जी की मानसी दृष्टि में यह मालवगण का मुख्य कुमार है। सिंहरण का व्यक्तित्व हमारे सामने सर्वप्रथम उत्साही और निर्भीक युवक के रूप में आता है। वह आम्भीक से कहता है– 'यों तो विनम्रता के साथ निर्भीक होना मालवों का वंशानुगत चरित्र है, फिर उसे तक्षशिला की शिक्षा का भी गर्व है।' उसके मनोबल में वनराज की तरह स्वतन्त्रता है, तभी तो राजकुमार आम्भीक के क्रुद्ध होने पर– बताना होगा मेरी आज्ञा है।' वह वक्ष ऊँचा किए, मस्तक उठाए निर्भीकता से कहता है– 'गुरुकुल में केवल आचार्य की आज्ञा ही शिराधार्य होती है, अन्य आज्ञाएँ अवज्ञा क कान से सुनी जाती हैं।' उसके अर्थशास्त्र से बढ़कर अस्त्रशास्त्र की शिक्षा अनिवार्य ह। 'तक्षशिला की राजनीति पर दृष्टि रखने की' आज्ञा से प्रतीत होता है कि उसका राज्य उसकी दूरदर्शिता पर विश्वास करता है। उसकी दूरदर्शिता ने तो आर्यावर्त का भविष्य पढ़ने में बड़ी यथार्थता का परिचय दिया है। प्रारम्भ में ही हमें उसमें राष्ट्रीयता की भावना कूट-कूटकर भरी मिलती है। उसने अनुभव किया है कि 'उत्तरापथ के खण्डराज्य द्वेष से जर्जर है' तक्षशिलाधीश के कुचक्र का उसे भान हो गया है जिसे वह आर्यों का कलंक समझता है। राष्ट्रीयता-संबंधी उसका दृष्टिकोण विशाल है। वह कहता है– मेरा देश मालव ही नहीं, गांधार भी है। यही क्या समग्र आर्यावर्त है।' और इसी समग्र आर्यभूमि की रक्षा के लिए वह अपनी सम्पूर्ण शक्ति और बुद्धि को एकनिष्ठ करके चाणक्य की आज्ञा पर केन्द्रित कर देता है। उसका जीवन जन्मभूमि की रक्षा में न्यौछावर है। चंद्रगुप्त भी उसे उसी लक्ष्य के लिए शर-सन्धान प्रतीत होता है। इसलिए वह उसके व्यापार में आद्योपान्त सहयोग देता है। 'कन्धे-से-कन्धा भिड़ाकर चलने वाला भाई' कुछ काल के लिए पृथक् होकर पुनः जब चंद्रगुप्त से मिलता है तब कहता है– 'भाई सिंहरण! बड़े अवसर पर आए', उसके उत्तर में भी कितना मनोबल है वह उससे मिलने की कितनी अकुलता होती है– 'हाँ, सम्राट! और समय चाहे मालव न मिले, पर प्राण देने का महोत्सव वे नहीं छोड़ सकते। इस प्रकार उसने अपनी मित्रता का सर्वथा निर्वाह किया है।

नोट

सम्पूर्ण नाटक में सिंहरण का व्यक्तित्व ही वीरत्व से परिपूर्ण है, जिसमें शिथिलता की कहीं भी गंध नहीं आ पाई है। सर्वत्र ही कर्त्तव्य की प्रमुखता रही है जिसके कार्य तल्लीनता और लगन के प्रतीक हैं, जिसके कार्य-विधान में जटिलता नहीं है, और जिसके व्यवहार में वास्तविकता है। जिसका 'वीर हृदय' मयूर की भांति चंचला 'रणलक्ष्मी के आह्वान पर' सुन्दर नील-लोहित प्रलय-जलद को देखकर नृत्य करने लगता है। तभी तो सिकन्दर के दूत की सूचना सुनकर वह निर्भीकता से कह देता है– ''सिकन्दर से मालवों की ऐसी कोई सन्धि नहीं हुई है... हाँ, भेंट करने के लिए वे सदैव प्रस्तुत हैं, चाहे सन्धि-परिषद् में या रणभूमि में।''

इस देशभक्त का आत्माभिमानी-स्वरूप जो तक्षशिला गुरुकुल में प्रकट होता है, वह सर्वत्र ही उसके चरित्र की निधि बना रहता है। आत्मविश्वासी वह इतना है कि उसका यह कथन 'अतीत के सुखों के लिए सोच क्यों, अनागत भविष्य के लिए भय क्यों और वर्तमान को मैं अपने अनुकूल बना ही लूँगा फिर चिन्ता किस बात की?' साहस का उसमें पारावार है, सिल्यूकस के मानचित्र की चाह को वह तलवार की नोक पर तोलता हुआ कहता है– 'मानचित्र के अधिकारी का निर्वाचन करेगा, सावधान!' युद्ध-वीरता और रण-कौशल उसमें इतना है कि सिकन्दर जैसे वीर को भी वह मालव-दुर्ग पर इस प्रकार घायल करता है, जा उसकी असामयिक मृत्यु का कारण बनता है। उसमें प्रत्युपकार की भावना भरी हुई है, तभी ता वह मालव वीरों को सिकन्दर का वध करते हुए रोकता है, यह कहते हुए– 'ठहरो मालव वीरो! ठहरो! यह भी एक प्रतिशोध है। यह भारत के ऊपर एक ऋण था, पर्वतेश्वर के प्रति उदारता दिखाने का यह प्रत्युपकार है।' इसममें भारतीय गौरव वृद्धि तो टपकती है ही, साथ ही उसकी न्यायी रणकुशलता भी प्रतिलक्षित होती है। प्रतिशोध के इस रूप में कृतज्ञता है, चमत्कार है। सिंहरण की प्रवृत्ति विपत्ति में भी घबरान वाली नहीं है। मालव दुर्ग का द्वार टूट चुकने पर भी, यवन सेना के भीतर प्रवेश होने पर भी वह घबराता नहीं है, विचलित नहीं होता। वह सेनिक से कितने उत्साह और दृढ़ मनोबल के साथ कहता है– कुछ चिन्ता नहीं, दृढ़ रहो-समस्त मालव सेना से कह दो कि सिंहरण तुम्हारे साथ मरेगा।' तभी ता अलका मुग्ध होकर कह देती है कि 'जिस देश में ऐसे वीर युवक हों, उसका पतन असम्भव है।'

अब सिंहरण के दूसरे पक्ष का भी अवलोकन आवश्यक है। उसका हृदय-पक्ष भी है। जो नाटककार ने वीरता के आवरण में आदर्श प्रेमी जीवन के रूप में व्यक्त किया है। चंद्रगुप्त के प्रेमी हृदय को सिंहरण के प्रेमी जीवन की समकक्षता में नहीं लाया जा सकता। सिंहरण के लिए अलका सर्वत्र उसकी ही बनी रहती है। उसके अतिरिक्त नाटक के किसी भी नारी पात्र की ओर उसकी दृष्टि नहीं उठती। उसके बिना वह अपना जीवन भी अग्रसर नहीं कर सकता, क्यांकि वह उसके कर्त्तव्य-परायण, वीर त्यागमय जीवन के आदर्शों के सर्वथा अनुकूल है। जबकि चंद्रगुप्त समय-समय पर कल्याणी मालविका और कार्नेलिया की ओर आकर्षित होता है। इससे उसके चरित्र की आंतरिक अस्थिरता प्रकट होती है और प्रेम की शुद्धता पर लांछन लगता है। सच्चे प्रेमी के लिए 'एक ही' जीवन सर्वस्व होता है, वही उसके यौवन की प्रदीप्त दीपावली बनकर उसके जीवन को आलोकित करता है। सिंहरण के लिए अलका ही एकमात्र प्रेमिक संस्थान है, वही उसका मनोविज्ञान है। पर्वतेश्वर का प्रेम तो उन्मत्त और वासनात्मक है जो प्रथम तो कल्याणी को अस्वीकार करता है और फिर उसी की ओर रूप लिप्सा में फँसकर आकर्षित होता है। उसके भौतिक प्रेम में भी स्थिरता नहीं, तभी तो पहले-पहले वह अलका को वचन न देता फिर उसी को तोड़ देता है। इसके मद्यप जैसे प्रेम की तुलना सिंहरण के पवित्र प्रेम से कैसे की जा सकती है। राक्षस और सुवासिनी का प्रेम कुछ-कुछ सिंहरण और अलका के प्रेम की ओर अग्रसर हो सका है, पर उसमें भी उतनी अवस्था और दृढ़ विश्वास देखने को नहीं मिलता जितना कि सिंहरण के प्रेम में। राक्षस स्पष्ट रूप से सुवासिनी के प्रति प्रेम घोषित करता है, पर सिंहरण मर्यादित अस्पष्टता के आवरण में। सारांश रूप में, सिंहरण का प्रेमी जीवन आदर्श प्रेमी 'जीवन-मरण के साथ न छोड़ने का प्रतिज्ञा उससे करा लेती है' और वह जीवन में उनका निर्वाह भी करता है।

सारांश रूप में, सिंहरण का चरित्र कर्मठता, साहस, आत्माभिमान, निर्भीकता, देश-भक्ति की भावना एवं सहृदयता उसके कन्धों पर होकर ही विकसित हुआ है। सर्वत्र ही स्वाभाविकता है। उसके चरित्र में मानव की मानवता टिकी है, वीर की वीरता, प्रेमी का प्रेम आश्वस्त है तो मित्र की मित्रता। अपने कन्धों पर आए हुए उत्तरादायित्व के लिए वह प्राण-पण से लग जाता है तो विश्वासी का विश्वास बचाने के लिए वह प्रत्येक परिस्थिति में घटनास्थल पर

नोट

पहुँचता है तभी तो नाटक का प्रमुख पात्र चाणक्य उसके विषय में कहता है– 'जब काली घटाओं से आकाश घिरा हो, रह-रह कर बिजली चमक जाती है पवन स्तब्ध हो... उस समय जल बरसने की संभावना होती है, उसी प्रकार जब देश में युद्ध हो, सिंहरण मालव को समाचार मिला हो, तब उसके आने की भी निश्चित आशा है।'

अन्त में, अलका सिंहरण के जीवन का पाकर अपने सौभाग्य पर फूली नहीं समाती।

6.1.4 सिल्यूकस

सिल्यूकस का चरित्र भारतीय और ग्रीक संस्कृतियों के समन्वय पर स्थित है, पर उसके चरित्र में किसी विशेष संस्कृति का आवरण नहीं है। प्रारम्भ में उसके आक्रमणकारी रूप के ही दर्शन होते हैं, जिसमें भारत के प्रति विरोध स्वाभाविक है, फिर भी स्थान-स्थान पर जो उसकी वीरता के दर्शन होते हैं उससे ऐसा प्रतीत होता है कि उसका अन्तर्मन भारत के प्रति सहृदय है। सिल्यूकस ने अपना ध्येय कभी भी और कहीं भी विस्तृत नहीं किया। जब हिंसक पशु के समान बन जाता है तब उसकी बुद्धिहीनता भी टपकती है। वह जब एक अबला से मानचित्र छीनने का दुस्साहस करता है तब उसकी अशिष्टता और ग्रीक संस्कृति की हीनता का द्योतन होता है। सिंहरण से वार्तालाप होने पर उसने ग्रीक संस्कृति का थोड़ा परिचय तो दिया है पर उस जैसा व्यवहार उसने नहीं किया। प्रभाव की दृष्टि से इस घटना के पश्चात् उसके हृदय पर भारतीय संस्कृति का रंग जमने लगता है। पर वह अपने विचार और लक्ष्य को सदैव ही अपने सामने रखता है।

अपने प्रथम दर्शन में ही वह चंद्रगुप्त के बाघ से प्राण बचाता हुआ मंच पर आता है। चंद्रगुप्त के साथ हुए परिचय की मित्रता को वह अन्त तक निभाता है। दाण्डायन के आश्रम में वह चंद्रगुप्त को भली प्रकार परख लेता है और उसकी परख जौहरी-जैसी ही सिद्ध होती है। उसका वात्सल्य भी नाटक में स्थान-स्थान पर प्रकट होता है। वह अपनी प्यारी बेटी कार्नेलिया की प्रसन्नता के लिए सब-कुछ करने को तत्पर रहता है। अन्त में उसकी इच्छा से ही वह कार्नेलिया को चंद्रगुप्त के हाथों भारत की साम्राज्ञी बनने के लिए समर्पित भी करता है। वात्सल्य-पूर्ण उसकी भावना ने उसी वीरता को दबाकर चंद्रगुप्त से युद्ध नहीं करने दिया। सिकन्दर की भांति उसका चरित्र क्रूर और एकाकी नहीं है। ध्येय निष्ठा के लिए जहाँ वह क्रूर है तो वात्सल्य के लिए वह सहृदय भी है। तात्पर्य यह है कि वह कर्त्तव्यपरायण होने क साथ-साथ मानव भी है। अपने गुण के कारण वह अपने को परिस्थिति के अनुसार परिवर्तित भी कर लेता है। मानवीय भावनाएँ द्वेष और ईर्ष्या के साथ उत्साह और सत्य की परख भी उसके हृदय में विद्यमान है तभी तो वह भारतीय वीरों की वीरता पर मुग्ध दिखाई देता है। वह सच्चा सेनापति है। इस प्रकार उसका चरित्र गम्भीरता, कुशल बुद्धि एवं संचालन की नीति से युक्त होकर मानव के रूप में हमारे सम्मुख आता है, जिसमें कि अपनी दुर्बलताएँ भी हैं। अतः क्रूरता और सहृदयता का वह समन्वित रूप है।

6.1.5 अलका

अलका का प्रथम दर्शन नाटक के बीजस्थल-स्वरूप प्रथम अंक के प्रथम दृश्य में ही होता है। ऐतिहासिक नाटकों में यद्यपि घटना, पात्र और परिस्थिति का ऐतिहासिकता के दायरे में ही विवेचन एवं स्पष्टीकरण करना पड़ता है, पर नाटककार को यह छूट भी मिली होती है कि वह इन्हीं सीमाओं के अन्तर्गत ऐसे पात्रों की भी सृष्टि कर सके जो उसके सिद्धान्तों और आदर्शों का प्रतिनिधित्व करते हुए नाटक में आ सके। यह स्वतन्त्रता नाटककार के लिए आवश्यक भी है क्योंकि इसके बिना घटनाओं के तारतम्य में आकर्षण नहीं आ पाता। प्रसाद ने अलका की सृष्टि इसी ध्येय से की है। इसके चरित्र की ऐतिहासिक खोज करना तो व्यर्थ ही सिद्ध होगा, पर इस राष्ट्र-प्रेमिका का अनुकरण सर्वथा भारतीय नारियों के जीवनोद्देश्य में नवीन जागृति ला सकता है।

प्रसाद जी ने चंद्रगुप्त नाटक में अलका की सृष्टि में, अपने सभी नाटकों के नारी-पात्रों के विशेष गुणों का, संचयन करके ही किया है। यही एकमात्र भारतीय ललना है, जो भारतीयता से उत्पन्न होकर भारतीय स्त्री-सुलभ सम्मान का प्रतिनिधित्व करती है। भारतीय रमणी के विशेष आकर्षण हैं– पति-भक्ति, श्रद्धा की भावना, राष्ट्र के प्रति उत्साह-भरी वीरता तथा न्याय के लिए हठपूर्वक मर मिटने की दृढ़ता। ये गुण अलका में भी कूट-कूटकर भरे हैं।

नोट

अलका का प्रथम परिचय हमें झंझावात के आदि उद्‌गम तक्षशिला के गुरुकुल में नाटक के मुख्य पात्रों के साथ होता है। सिंहरण और आम्भीक के परस्पर वाद-विवाद से उसे देश की स्थिति का ज्ञान होता है और उसकी देश-प्रेमी आत्मा देश को भविष्य को आपत्तियों से बचाने के लिए कार्यशील दिखाई देती है। उसके चरित्र की सांस्कृतिक विशेषता यह है कि जब पिता और भाई उत्कोच लेकर देशद्रोही बन जाते हैं, तब भी वह अपने निर्मल चरित्र से देश-भक्ति का मार्ग अपनाती है। अपने भाई को आवाज में वह आवाज नहीं मिलाती। आगे चलकर तो वह प्रत्यक्ष रूप से अपने भाई का भी विरोध करती हुई घर-बार छोड़कर स्वतंत्र रूप से निकल पड़ती है। उसके पश्चात् वह गांधार की प्रजा में क्रान्ति को फैलाने का प्रयत्न करती है। क्रान्तिकारी के रूप में अलका का चरित्र कुछ ऐसा प्रतीत होता है जैसे वह राख में छिपी हुई कोई चिंगारी ही थी जो परिस्थिति की अनुकूल वायु पाकर आग लगाने की क्षमता रखती है। यद्यपि वह सिंहरण के जीवन से निर्भीकता, स्वातन्त्र्य-प्रियता और वीर-भावना का पाठ सीखती है; पर आगे चलकर यही गुण स्वत: उसकी अपनी विशेषताएँ बन जाते हैं जो सभी को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। देखिए– सिल्यूकस! तुम कहाँ, सुन्दरी राजकुमारी।' इस प्रकार पूछने पर वह हृदय को गद्‌गद करने वाला देश-प्रेम की भावना से ओतप्रोत उत्तर देती है– 'मेरा देश है, मेरे पहाड़ हैं, मेरी नदियाँ हैं और मेरे जंगल हैं। इस भूमि के एक-एक परमाणु मेरे हैं और मेरे शरीर के एक-एक क्षुद्र अंश उन्हीं परमाणुओं के बने हैं। फिर मैं कहाँ जाऊँगी यवन!''

दाण्डायन के आश्रम में वह स्पष्ट शब्दों में कहती है– 'ऋषे! यवनों के हाथ में स्वाधीनता बेचकर उसके दान से जीन की शक्ति मुझमें नहीं।' इसी देश-प्रेम में कारण वह नदी बनना भी स्वीकार करती है और युद्धभूमि में सिंहरण की सहायता करते हुए वह बंदी भी बनाई जाती है।

अलका की कर्त्तव्य-तत्परता का ज्ञान उस समय होता है जबकि वह मालव दुर्ग की रक्षा का भार अपने कन्धों पर लेती है और कुशलतापूर्वक घायलों की सेवा-व्यवस्था करती है तथा दुर्ग-रक्षा में सिपाहियों की भाँति सन्नद्ध रहती है, तभी तो उसने अपने बाण-प्रहार से दो यवनों को धराशायी कर दिया है। उसकी व्यवहार-कुशलता सर्वत्र दर्शनीय है। यद्यपि वह अपने लक्ष्य को कहीं भी विस्मृत नहीं करती, फिर भी परिस्थितियों के अनुसार तत्क्षण निर्णय करके तदनुकूल अपने को परिवर्तित कर लेती है। सिल्यूकस के अनुचित व्यवहार की संभावना करके ही तो वह उससे– 'देखो सिंह आ रहा है' ऐसा कहती हुई चक्कर में डालती हुई स्वयं छिप जाती है। इसी प्रकार पर्वतेश्वर के प्रणय-निवेदन पर तथा राजमहिषी-पद का लालच देने पर, असहाय होने के नाते एवं सिंहरण के स्वतंत्र कराने क लिए वह पर्वतेश्वर को अपने प्रेम का झूठा आश्वासन दे ही देती है, पर साथ ही मर्यादा निभाने के लिए वह पर्वतेश्वर से कुछ प्रतिज्ञा भी कराती है– वही तो उसका ईष्ट है।

अलका के जीवन का दूसरा पक्ष भी अवलोकनीय है वह है उसका नारी जीवन। सिंहरण के प्रति व्यक्त हुए उसके ये विचार उसके प्रारम्भिक नारीगत आकर्षण के ही द्योतक हैं। वह अपने भाई आम्भीक से सिंहरण के प्रति आकृष्ट होकर कहती है– 'भाई इस वन्य निर्झर के समान स्वच्छ और स्वच्छन्द हृदय में कितना वेग है। यह अवज्ञा भी स्पृहणीय है, जाने दो।' नारीगत यह आकर्षण की सहज-वृत्ति प्रत्येक सामान्य युवती के हृदय में उठ सकती है। पर अलका का यह आकर्षण, जो सिंहरण की सुन्दरता, निर्भीकता, योग्यता आदि पर है, यदि वासना की पूर्ति के लिए ही होता तो वह वास्तव में सामान्य नारी ही होती। पर सिंहरण के इन गुणों ने उसके हृदय में सुषुप्त भावों को जगाने और क्रान्ति मचाने का कार्य किया है। उसने सिंहरण के व्यक्तित्व में कुछ देखा है। उसी के शब्दों में देखिए– 'जिस देश में ऐसे वीर युवक हों, उसका पतन असम्भव है।' मालववीर! तुम्हारे मनोबल में, स्वतंत्रता में, तुम्हारी दृढ़ भुजाओं में आर्यावर्त्त के रक्षण की शक्ति है।' कहा जा सकता है कि वीर बालिका अलका में वीरता पर मुग्ध होने की प्रवृत्ति है। सिंहरण के प्रति पुष्ट एवं एकमात्र प्रेम के कारण ही तो अन्त में चाणक्य की आज्ञा से उसका विवाह-संबंध उसके साथ कर दिया जाता है। वह सच्ची प्रेमिका है जिसे परिस्थिति की अपेक्षा नहीं।

जन-जीवन को अपनी ओर आकर्षित करने का गुण अलका में विशेष मात्रा में है। उसके गीत राष्ट्रीयता से ओत-प्रोत हैं। अलका जब हाथ में आर्यपताका लेकर चलती है और मुख से 'हिमाद्रि तुंग शृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती' प्रयाणगीत गाती है, तब उसका नेत्रीरूप आँखों को सम्मुख साकार हो उठता है। उसकी जनता के प्रति कही गई इस वाणी

नोट

में कितना उत्साह और वीरोल्लास है– वीर नागरिको! देश पददलित हो रहा है और तुम विलासिता में फँस रहे हो। क्या यही मातृभूमि के प्रति तुम्हारा कर्त्तव्य है?' जिस देश में ऐसी नारियाँ होंगी, उसकी स्वतंत्रता अमरता के रूप में सदैव विद्यमान रहेगी। उसकी इसी निःस्वार्थ देशभक्ति और पवित्र भावना से ही तो अन्त में आम्भीक उससे क्षमा-याचना करता है और कहता है– 'बहन तू छोटी है, पर मेरी श्रद्धा का आधार है... तक्षशिला के लिए अलका पर्याप्त है, आम्भीक की आवश्यकता न थी... तूने तो गांधार राजवंश का मुख उज्ज्वल कर दिया है।

इन गुणों के अतिरिक्त उसमें सरलता, निष्कपटता एवं विनोदी होने का गुण भी विद्यमान है। आचार्य चाणक्य भी उसके लिए– 'साधु अलके साधु' कहता है। उसका यह सन्देश उसके चरित्र का सन्देश ही है। 'राज्य किसी का नहीं है, सुशासन का है। जन्मभूमि के भक्तों में आज जागरण है... स्वयं सम्राट चंद्रगुप्त तक इस आर्य साम्राज्य के सेवक हैं... इसके लिए मर मिटो।'

स्व-मूल्यांकन

सही विकल्प चुनिए–

1. चन्द्रगुप्त नाटक का नायक है–
   (क) चाणक्य (ख) चंद्रगुप्त (ग) सिल्यूकस
2. नाटक में चंद्रगुप्त की बालमित्र है–
   (क) कल्याणी (ख) कार्नोलिया (ग) मालविका
3. नंद की रंगशाला की राजनर्तकी है–
   (क) कार्नेलिया (ख) मालविका (ग) सुवासिनकी
4. नाटक के विदेशी पात्र हैं–
   (क) सिल्यूकस और कार्नेलिया (ख) चंद्रगुप्त और कल्याणी (ग) चाणक्य और सुवासिनी

6.1.6 कल्याणी

स्त्री-पात्रों के चित्रण में प्रसाद जी की एक अपनी ही दृष्टि रहती है कि वे अपने स्त्री-पात्रों को केवल वासना की पूर्ति-भर के लिए ही नहीं बनाते। मानवीयता के वशीभूत होकर चाहे उनमें कितना ही उन्माद दिखाया गया हो, पर वह केवल परिस्थितिवश ही। प्रसाद जी के अधिकांश नारीपात्रों का प्रेम आदर्श है। वे अपने सुन्दर मनोराज्य में विचरण करते हुए भी सहसा अपने भावों की अगाधता को प्रत्येक के सामने प्रकट नहीं करने देती, यहाँ तक कि प्रतिकूल परिस्थिति होने पर वे उन्हें कुचल भी देती है, अतः उनका प्रेम संयमित और त्यागपूर्ण कहा जा सकता है। कल्याणी का चरित्र भी ऐसी ही नारी-मर्यादाओं के बीच में विकसित हुआ है। उसके चरित्र का कुछ अंश स्कन्दगुप्त की विजया और देवसेना के चरित्रों से भी संकलित किया गया है। विशाखदत्त के 'मुद्राराक्षस' नाटक में इसको 'विषकन्या का ही रूप मिल पाया है। प्रसाद जी ने पहले ही 'कल्याणी-परिणय' लिखकर तथा बाद में चंद्रगुप्त नाटक के कल्याणी पात्र की इतिहास-प्रसिद्ध भूल को सुधारने का सफल प्रयत्न किया है। कल्याणी देवसेना की भाँति प्रारम्भ में तो चंद्रगुप्त का प्रेम संवारती है और फिर विजया की भांति अपने को असफल पाकर आत्महत्या कर लेती है।

कल्याणी नन्द-जैसे विलासी राजा की कन्या है, फिर भी उसके विचार बहुत सरल और उसका चरित्र आत्म-सम्मान, स्वावलंबी और दृढ़ता आधारित अवलम्बन लिए हुए है। वह सर्वप्रथम पहले अंक के चौथे दृश्य में आकर अपने पिता की शासन-नीति से खिन्न होकर अपनी सखी से कहती– 'देखती हूँ, समस्त प्रजा उनसे त्रस्त है और भयभीत रहती है। प्रचण्ड शासन करने के कारण उनका बड़ा दुर्नाम है।' जब पर्वतेश्वर उनसे विवाह करने का प्रस्ताव स्वीकार नहीं करता, तब उसके व्यक्तिगत सम्मान और कुल के सम्मान की भावना एकदम उद्दीप्त हो उठती है। तभी तो अपने पिता से कहती हैं– ''पिताजी, मैं पर्वतेश्वर के गर्व की परीक्षा लूँगी। मैं वृषल कन्या हूँ, उस क्षत्रिय को यह दिखला दूँगी कि राजकन्या कल्याणी किसी क्षत्राणी से कम नहीं।' प्रतिशोध की भावना से ही पुरुष-वेश धारण करके

नोट

वह पर्वतेश्वर की सहायतार्थ पहुँचती है। कोमल और सरल बालिका का यह कृत्य सराहनीय है। उचित अवसर पर उसे सहायता पहुँचाती है तथा अपना अभीष्ट सिद्ध करती है। सत्य एवं कर्त्तव्यनिष्ठा कल्याणी सदैव अपने ध्येय के लिए जागरूक रहती है तभी तो नीच प्रवृत्ति की ओर अग्रसर होने वाले पर्वतेश्वर की प्रतिक्रियास्वरूप व परिस्थितिजन्य क्रोध के कारण, वह हत्या कर डालती है।

मौर्यकुमार चन्द्रगुप्त से उसकी बाल्य-मैत्री है। अत: उसके प्रति स्वाभाविक रूप से प्रेम होना संभव है। तभी तो वह स्नातक होकर आये हुए चंद्रगुप्त को देखकर कहती है– 'आप मुझे न भूले होंगे'। तभी तो वह अपने पिता नन्द की राज्य सभा में चंद्रगुप्त के पक्ष का समर्थन करती है तभी तो पंचनद प्रदेश के युद्ध में सम्मिलित हुई कल्याणी चंद्रगुप्त को देखकर कहती है– 'केवल तुम्हें देखने के लिए मैं जानती थी कि तुम युद्ध में अवश्य सम्मिलित होंगे।' इन सभी अभिव्यक्तियों में उसका मानव-हृदय बोल रहा है। प्रेमी हर स्थिति में प्रिय को यह बताना चाहता है कि उससे वह प्रेम करता है। साथ ही, अपने प्रिय के उद्‌गार भी अपने प्रति सुनना चाहता है। कल्याणी बहुत समय तक अपने प्रेम का प्रत्युत्तर प्रेम के ही रूप में चंद्रगुप्त से नहीं पाती, फिर भी अधीर और निराश नहीं होती। वह समझ लेती है कि चंद्रगुप्त इस समय देश की दुर्दश के कारण वैसा करने में असमर्थ है। इसी बात को वह चाणक्य के मुख से कि 'परन्तु राजकुमारी उसका (चंद्रगुप्त) असीम प्रेमपूर्ण हृदय भग्न हो जाएगा। वह बिना पतवार की नौका के इधर-उधर रहेगा।' उसकी पुष्टि सुनकर मगध के लिए लौटने के अपने विचार पर बल देती है। अन्त में, अपने जीवन के प्रत्येक प्रयत्न को असफल पाकर, चंद्रगुप्त से अपना प्रेम स्पष्ट करती हुई कहती है कि 'कल्याणी ने वरण किया था एक पुरुष को-वह था चंद्रगुप्त, परन्तु तुम मेरे पिता के विरोधी हुए। इसलिए उस प्रणय को, प्रेम-पीड़ा को, पैरों से कुचल कर, दबाकर खड़ी रही।' अपनी वंश-मर्यादा एवं पितृ-भक्ति की स्मृति में वह अपने प्रेम की आहुति चढ़कार आत्महत्या कर लेती है।

इस प्रकार कल्याणी के चरित्र के आकर्षण हैं– कर्त्तव्यनिष्ठ होना, प्रेम और कर्त्तव्य को एक ही मूल की दो शाखाएँ समझना अर्थात् अनुभूति में प्रेम और अभिव्यक्ति में कर्त्तव्य, आत्माभिमानी होना तथा स्वावलम्बी होना और सबसे अधिक आकृष्ट करती है उसकी मानवीय दुर्बलताएँ जो सभी की सहानुभूति का कारण बनती हैं।

6.1.7 कार्नेलिया

यह कार्नेलिया ही तो है जिसके मुख से भारत-प्रेम की अभिव्यक्ति प्रसाद ने 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' गीत से कराई है। 'चंद्रगुप्त' नाटक के इस पात्र में भावुकता कूट-कूट कर भरी हुई है। यह मातृ-विहीना है, जिसके चरित्र में भावात्मकता की प्रबलता है, चारित्रिक गम्भीरता है, बौद्धिकता अथवा मानसिक दृढ़ता है। भावुकता से भरा हुआ यह पात्र नाटक में ऐसा है, जिसके जीवन में मानवीय उतार-चढ़ाव देखने को नहीं मिलते। उसके जीवन में भारत-साम्राज्ञी बनने तक समरसता ही बनी रहती है। उसका दर्शन नाटक में तीन बार, तीन परिस्थितियों में होता है जिसमें उसके प्रेम का क्रमिक विकास ही देखने को मिलता है। पहली बार दाण्डायन के आश्रम में जब वह भारत में पहली बार आई है, उस समय चंद्रगुप्त की ओर उसका आकर्षण व्यक्त होता है और प्रकट होता है उसका भारत-प्रेम-जब वह कहती है कि 'मुझे इस देश से जन्मभूमि के समान स्नेह होता जा रहा है। यहाँ के श्यामल कुंज, घने जंगल, सरिताओं की माला पहने शैल-श्रेणियाँ हरी-भरी वर्षा, गर्मी की चांदनी, शीतकाल की धूप, भोले कृषक और सरल कृषक बालिकाएँ, बाल्यकाल की सुनी हुई कहानियों को जीवित प्रतिमाएँ हैं।' यह उसकी तृतीय स्थिति का उद्‌गमस्थल है। दूसरी बार जब वह भारत आती है तो फिलिप्स से बातें करती हुई दिखाई गई है, जहाँ चंद्रगुप्त ने फिलिप्स से उसकी रक्षा की है–तभी से उसका दृढ़ प्रेम चंद्रगुप्त के प्रति प्रारम्भ हो जाता है। जब उसे पता चलता है कि चंद्रगुप्त से युद्ध होगा तो वह अपने पिता को पूर्व-स्मृति दिलाकर उसे रोकना चाहती है। तीसरी बार उसके दर्शन मगध के राजमहल में होते हैं, जबकि वह मगध की साम्राज्ञी होती है। यह उसके प्रणय का पर्यवसान है।

भारतभूमि और चंद्रगुप्त के प्रति कार्नेलिया का प्रेम क्रमिक रूप से विकसित हुआ। प्रथम बार चंद्रगुप्त को वह दाण्डायन के आश्रम में सतृष्ण देखती है। दूसरी-बार स्वगत-कथन में फिलिप्स के व्यवहार के पश्चात् कहती है–

नोट

'वह भी आह कितना आकर्षक है। कितना तरंग संकुल है। इसी चंद्रगुप्त के लिए उस साधु ने भविष्यवाणी की थी भारत सम्राट होने की। उसमें कितनी विनयशील वीरता है।' भारत से विदा होते हुए वही भाव-भरे शब्दों में चंद्रगुप्त से कहती है– 'परन्तु मैं कितने दूर देश की हूँ। स्मृतियाँ ऐसे अवसर पर दण्ड हो जाती हैं।' भारत में द्वितीय आगमन पर वह अपने पिता से पूछती है– 'चंद्रगुप्त से युद्ध होगा जिसके लिए उस साधु ने भविष्यवाणी की थी आप ही ने मृत्यु-मुख से उसका उद्धार किया था और उसी ने आपके प्राणी की रक्षा की थी... और उसी ने आपकी कन्या के सम्मान की रक्षा की थी', पिता-पुत्री का वार्तालाप कार्नेलिया के हृदय का प्रेम चंद्रगुप्त के प्रति प्रेम परितुष्ट अभिव्यक्ति करता है। घुटने टेककर रोती हुई वह पिता से कहती है– 'मैं स्वयं पराजित हूँ। मैंने अपराध किया है। पिता जी– चलिए, इस भारत की सीमा से दूर चलिये, नहीं तो मैं पागल हो जाऊँगी।' इस प्रकार राजकुमारी के हृदय का अपने पिता के सम्मुख सहज वृत्ति का सलज्ज अभिव्यंजन आकर्षक है।

कार्नेलिया में वाक्-चातुर्य पूर्ण मात्रा में विद्यमान है। तभी तो वह दोनों बार फिलिप्स को हत-बुद्ध करती है और पिता को अपने अनुकूल बना लेती है। उसे भौतिक आकर्षण अभिभूत नहीं करते और न उसका प्रेमी-हृदय युद्ध की विकरालता देखना चाहता है। स्वाभिमानी एवं आत्मगौरव की विशेषताएँ भी उसमें हैं, तभी तो उसने देशद्रोही राक्षस को ये अपशब्द कहे हैं– 'मेरे यहाँ ऐसे लोगों को देशद्रोही कहते हैं ... जिस देश ने तुम्हारे पालन-पोषण करते पूर्व-उपकारों का बोझ तुम्हारे ऊपर डाला है, उसे विस्मृत करके क्या तुम कृतघ्न नहीं हो रहे हो?' कार्नेलिया की छिपी हुई वीर भ्ज्ञावना उस समय प्रकट होती है जब भारतीय सैनिक सिल्यूकस को पराजित करके यवन-शिविर में प्रवेश करते हैं, उस समय का उसका यह कथन– 'चिन्ता नहीं, ग्रीक-बालिका भी प्राण देना जानती है।... ग्रीक का आत्मसम्मान जिये, तथा अपने चरित्र की निष्कलंकता के लिए छुरी निकाल कर आत्महत्या के लिए सन्नद्ध होना उसकी दृढ़ता और वीरता का द्योतक है। सारांश यह है कि कार्नेलिया के चरित्र में नारीगत-सहृदयता, सहानुभूति, भावुकता, विद्वत्ता, योग्यता, प्रकृति प्रेम, स्वाभिमान, आत्मगौरव आदि सभी गुण विद्यमान हैं।

कार्नेलिया के चरित्र में प्रसाद जी ने ग्रीक सभ्यता की छाया दिखाई है और चंद्रगुप्त में भारतीय संस्कृति की रेखा। उनका उद्देश्य था ग्रीक सभ्यता पर भारतीय संस्कृति के गौरव का उत्कर्ष दिखाना। वह उन्होंने कार्नेलिया को चंद्रगुप्त की परिणीता तथा भारत की साम्राज्ञी बनाकर सिद्ध कर दिया है।

6.1.8 मालविका

मालविका वह सुकुमारी कलिका है, जो उपवन में अपने अस्तित्व का ही अधिकार दिखा सकी है, पर बाह्य वातावरण की अनुकूलता में प्रमुदित होकर कभी खिल न सकी और एक दिन काल-माली ने उसकी अतृप्त अभिलाषाओं के साथ ही उसे निष्ठुरतापूर्वक तोड़ लिया। वह जीवन-भर हँसने का प्रयास तो करती रही है, पर निष्ठुरता की प्रतिकूल सीमाओं ने उसे स्वाभाविक रूप से, अन्तर के विकास के साथ हँसने नहीं दिया। सचमुच मालविका का जीवन पवित्र सलिला गोमुखी गंगा के समान है, जिसका उद्गम सभी के नेत्रों और हृदयों को मुग्ध करता है, पर वह कठोर शिलाओं की सीमाओं में अपने को विकसित नहीं कर पाती तथा कुछ ही विकास के पश्चात् चट्टानों के नीचे उसका प्रवाह होने लगता है। इस सेवा और त्याग की मूर्तिमती देवी का प्रथम दर्शन नाटकीय जटिलता के बीच में होता है। 'प्राकृतिक जीवन का सुन्दर पालना'– सिंधु प्रेदश की रहने वाली है तथा 'और देशों को देखने की इच्छा से भ्रमण करने निकल पड़ी है। तक्षशिला में अलका से परिचय हो जाने पर वह कुछ दिन उसी के साथ निवास करती है तो यवनाक्रमण होता है। उद्भाण्ड के पुल का मानचित्र इसी ने तो बनाया है। यही तो घायल सिंहरण की सुश्रूषा बड़ी सहृदयता और निष्ठा से करती है। मालव के उद्यान में उसका प्रथम साक्षात् चंद्रगुप्त से होता है। वहाँ वह चंद्रगुप्त की वीरता को सुनकर तथा उसके कार्य को देखकर आकर्षित होती है। इसी समय चंद्रगुप्त के प्रति आकर्षण का किंचित् उनमेष 'स्नेह से हृदय द्रवित हो जाता है। इन शब्दों में होता है और चंद्रगुप्त भी उसकी सरलता पर मुग्ध है। युद्ध की भावना इस कोमल हृदया की प्रकृति के ही विपरीत है। अलका से मालव दुर्ग में हुए वार्तालाप से यह प्रकट होता है कि वह स्वभाव से ही युद्ध नहीं चाहती। वह अलका से कहती है– मैं डरती हूँ– घृणा करती हूँ। रक्त की प्यासी छूरी अलग करो अलका! मैंने सेवा-व्रत लिया है।' वह अपने प्रिय चंद्रगुप्त

नोट

के लिए सब-कुछ करना यहाँ तक कि झूठ बोलने का भी निश्चय कर लेती है। जब चाणक्य उस पर चंद्रगुप्त के प्राणों की रक्षा का भार सौंप देता है तब वह अपने प्राणों को न्यौछावर करके उसकी रक्षा करती है। इतनी दृढ़ निश्चया निकली वह मधु-भरे हृदय वाली सुकुमारी। उसके इसी छलकपट से रहित भोले जीवन पर ही तो चंद्रगुप्त मुग्ध होता है और वहां उसे तांबूलवाहिनी से बढ़कर अपनी मित्रता की प्रतिकृति समझने लगता है।

सचमुच प्रसाद जी ने इस मानवी पात्र की सृष्टि में अपने अन्य नाटकों के स्त्री पात्रों से कुछ उपादानों का संचयन किया होगा। सृष्टि से पूर्व अन्तर्गत में 'स्कन्दगुप्त' की देवसेना पात्र का भी धूमिल स्वरूप रहा होगा। अन्तर यही है कि मालविका का एकान्त प्रेम चंद्रगुप्त से बना ही रहता है। इसी प्रेम के निर्वाह के लिए वहीं वह सेविका, दासी कभी-कभी ताम्बूलवाहिनी बनाई जाती है, पर कहीं भी प्रिय की उपलब्धि के रूप में सुख की एक श्वांस भी उसके ओठों को नहीं चूम पाती। उसकी एकमात्र सम्पत्ति है 'समर्पण', उसके जीवन का लक्ष्य है 'प्रेम' और उसका एकमात्र करणीय है 'कर्त्तव्य'। उसी के स्वगत-कथन में उसके जीवन की समस्या सुलझी हुई देखिए– 'फूल हँसते हुए आते हैं, फिर मकरन्द गिराकर मुरझा जाते हैं, आँसू से धरणी को भिगोकर चले जाते हैं। एक स्निग्ध-समीर का झोंका आता है, नि:श्वास फेंककर चला जाता है। क्या पृथ्वीतल रोने के लिए है? नहीं, सबके लिए एक ही निगम नहीं। कोई रोने के लिए है, कोई हँसने के लिए।

6.1.9 सुवासिनी

सुवासिनी-जैसे नारी-पात्र प्रसाद के सभी नाटकों में देखने को मिलते हैं। 'अजातशत्रु' नाटक में मागधी जो चारित्रिक विशेषता लेकर अवतरित हुई है, 'स्कन्दगुप्त' नाटक में विजया का चरित्र जिन विशेषताओं के ताने-बाने से बुना गया है।, वही विशेषताएँ देशकाल की परिस्थिति से परिवर्तित होकर चंद्रगुप्त नाटक में सुवासिनी में प्रकट हुई हैं। ऐसे चंचल प्रकृति के नारी-पात्र, जिनका चरित्र उत्थान-पतन के हिंडोले में झूलता हुआ अन्तिम आकर्षक परिणति को प्राप्त होता है; सभी नाटकों में मिल ही जाते हैं।

चंद्रगुप्त नाटक में सुवासिनी के अनेक रूप हमें दृष्टिगत होते हैं– शकटार की पुत्री सुवासिनी, नंद की नर्तकी सुवासिनी, चाणक्य की पूर्वपरिचिता एवं अनुरंजिता, सुवासिनी राक्षस की प्रणयिनी सुवासिनी– ये सभी रूप उसकी बाह्य परिस्थिति से रोध के आवरण विशेष हैं, जिन्हें पहनकर वह अपने को तूफानों और झंझावतों से बचाती हुई आगे बढ़ती है। मूलरूप में वह एक नारी ही है और नारीगत सम्पूर्ण विशेषताएँ उसमें विद्यमान हैं। जनप्रिय अमात्य शकटार की यह एकाकिनी अनाथ कन्या सर्वप्रथम 'बसन्तोत्सव की रानी और सुन्दरियों की महारानी' के रूप में मगध-सम्राट के विलासकानन में देखी जाती है उसके मन में पूर्व-परिचित चाणक्य के द्वारा किए गए व्यंग्य कि 'वेश्याओं के लिए भी एक धर्म की आवश्यकता थी, चलो अच्छा ही हुआ' का प्रतिकार लेने के कारण तुमको राजचक्र में बौद्धमत का समर्थन करना होगा।' सचमुच वह राक्षस की 'अनुचरी' है और नन्द की विलास लीला को क्षुद्र बनाना चाहती है।

परिस्थितियों से लड़ते हुए भी सुवासिनी का व्यक्तित्व कहीं कथकित होकर बैठ नहीं गया है। यद्यपि वह नन्द की रंगशाला की राजनर्तकी हो गई है, फिर भी वह राक्षस की ही प्रेयसी बनी रहना चाहती है यही तो सुवासनी के चरित्र का आकर्पण है। पर सुवासिनी का दूसरा रूप भी है– जब उसके पिता बंदी-गृह से मुक्त होते हैं तो वह आदर्श आर्य बालिका की भाँति प्रणव को दबाकर मर्यादापूर्ण कर्त्तव्य को सम्मुख रखती है। 'उसके प्रेम में वासना की उद्दीप्तता नहीं है। वह राक्षस को समझाती हैं– तुम वासना से उत्तेजित हो, तुम देख नहीं रहे हो कि सामने एक जुड़ता हुआ घायल हृदय बिछुड़ जायेगा, एक पवित्र कल्पना सहज ही नष्ट हो जायेगी। जब सुवासिनी को राक्षस की क्षुद्र प्रवृत्ति का परिचय मिल जाता है तब वह चाणक्य के आदेश से विवश होकर वह राक्षस से ही विवाह कर लेती है। इस प्रकार सुवासिनी के सम्पूर्ण चरित्र का विश्लेषण करने पर निम्न तथ्य उपलब्ध होते हैं–प्रथम सुवासिनी सुख-दु:ख के पालने में पली है और उसका सौन्दर्य व संगीत-प्रेम उसे जीवन के आरोहों और अवरोहों पर ले जाता है, जिसका प्रारम्भ उच्च संघर्षमय जीवन क्षुद्रता की भूमि पर तथा अन्तिम परिणति उच्च मंच पर होती है। द्वितीय, वह मानवीय दुर्बलताओं में भरी एक नारी है, उसका जीवन महत्त्वाकांक्षी है। तृतीय, वह परिस्थिति

नोट

को अपने अनुकूल ढालने वाली एवं कर्त्तव्यशीला नारी है। उसने राक्षस के प्रति समर्पण में, पिता की इच्छा के अनुकूल होने में, ग्रीक शिविर में चाणक्य की आज्ञा से दूतीत्व करने में अपने कर्त्तव्य को निभाया है। चतुर्थ, सुवासिनी एक प्रेमिका है। पंचम, उसके चरित्र में मानवीय संबल है, तभी तो वह अनेक प्रलोभनों को ठुकरा देती है। उसका प्रारम्भिक जीवन मेघों से ढकते-निकलते चंद्र के समान है तथा निष्कलंक पूर्ण ज्योतित चंद्र के समान है। वह अपने को हारकर भी अपने व्यक्तित्व को कहीं नहीं हारती।

6.2 सारांश

चरित्र-चित्रण नाटक की रीढ़ होता है। स्वयं अपने मुख से पात्रों के कन्धों पर रखकर ही नाटककार अपने लक्ष्य की सिद्धि करता है, न कहकर यदि वह ऐसा करने में सक्षम नहीं है तो नाट्य कला की दृष्टि से शिथिलता आती है। भाषा भी उनके चरित्र के अनुकूल ही होनी चाहिए। तभी उनमें सजीवता आ पाती है। उपन्यासकार चरित्र-चित्रण पर तथा नाटककार पात्र में व्यंजना, मनोविश्लेषण तथा अन्तर्द्वन्द्व पर विशेष बल देता है।

चन्द्रगुप्त नाटक का मुख्य नायक है। उसका चरित्र इतिहास के पट पर बुना गया है। इतिहास की भाँति ही वह नाटक में लोक-प्रसिद्ध रूप में चित्रित हुआ है। संस्कृत साहित्य में वर्णित सभी गुण चंद्रगुप्त के चरित्र में विद्यमान दिखाई देते हैं। कृतज्ञता, पाण्डित्य, कुलीनता, श्रीमानता, सुशीलता उसके चरित्र की विशेष निधि हैं। साथ ही, रूप-यौवन सम्पन्न होना, उत्साह परिपुष्ट होना, अनुराग से हृदय स्निग्ध होना ये उसके चरित्र के आकर्षण के केन्द्र बिन्दु हैं।

जिसके दुर्बल हाथों में साम्राज्य उलट देने की शक्ति है और कोमल हृदय में कर्त्तव्य के लिए प्रलय की आँधी चला देने की कठोरता भी है, ऐसा ब्राह्मण चाणक्य, जो तक्षशिला विश्वविद्यालय का स्नातक रहा है पर गुरुदक्षिणा न देने के कारण वह एक वर्ष तक वहीं अर्थशास्त्र का शिक्षक भी रहा है– इसी रूप में वह सर्वप्रथम मंच पर आता है। व्याख्या की दृष्टि से वह अर्थशास्त्र के संकुचित अर्थ को स्वीकार नहीं करता, वरन् उसके स्थान पर उसके व्यावहारिक जीवन में मूल्यांकन करता है। चाणक्य के चरित्र में शुद्ध ब्राह्मण शक्ति का सर्वोत्कृष्ट स्वरूप देखने को मिलता है। उसमें जातिगत मर्यादा कूट-कूट कर भरी है और निरन्तर वह ब्राह्मणों के स्वतन्त्र और विभूतिमय आध्यात्मिक जीवन का स्मरण करता हुआ देखा जाता है। वह उपकार के बोझ से कहीं भी दबना नहीं चाहता।

सिंहरण का व्यक्तित्व हमारे सामने सर्वप्रथम उत्साही और निर्भीक युवक के रूप में आता है। उसके मनोबल में वनराज की तरह स्वतन्त्रता है, तभी तो राजकुमार आम्भीक के क्रुद्ध होने पर– बताना होगा मेरी आज्ञा है।' वह वक्ष ऊँचा किए, मस्तक उठाए निर्भीकता से कहता है– 'गुरुकुल में केवल आचार्य की आज्ञा ही शिराधार्य होती है, अन्य आज्ञाएँ अवज्ञा क कान से सुनी जाती हैं।

सिल्यूकस का चरित्र भारतीय और ग्रीक संस्कृतियों के समन्वय पर स्थित है, पर उसके चरित्र में किसी विशेष संस्कृति का आवरण नहीं है। प्रारम्भ में उसके आक्रमणकारी रूप के ही दर्शन होते हैं, जिसमें भारत के प्रति विरोध स्वाभाविक है, फिर भी स्थान-स्थान पर जो उसकी वीरता के दर्शन होते हैं उससे ऐसा प्रतीत होता है कि उसका अन्तर्मन भारत के प्रति सहृदय है।

चंद्रगुप्त नाटक में अलका एकमात्र भारतीय ललना है, जो भारतीयता से उत्पन्न होकर भारतीय स्त्री-सुलभ सम्मान का प्रतिनिधित्व करती है। भारतीय रमणी के विशेष आकर्षण हैं– पति-भक्ति, श्रद्धा की भावना, राष्ट्र के प्रति उत्साह-भरी वीरता तथा न्याय के लिए हठपूर्वक मर मिटने की दृढ़ता। ये गुण अलका में भी कूट-कूटकर भरे हैं।

कल्याणी नन्द-जैसे विलासी राजा की कन्या है, फिर भी उसके विचार बहुत सरल और उसका चरित्र आत्म-सम्मान, स्वावलंबी और दृढ़ता आधारित अवलम्बन लिए हुए है। मौर्यकुमार चन्द्रगुप्त से उसकी बाल्य-मैत्री है। अतः उसके प्रति स्वाभाविक रूप से प्रेम होना संभव है। कल्याणी के चरित्र के आकर्षण हैं– कर्त्तव्यनिष्ठ होना, प्रेम और कर्त्तव्य को एक ही मूल की दो शाखाएँ समझना अर्थात् अनुभूति में प्रेम और अभिव्यक्ति में कर्त्तव्य, आत्माभिमानी होना तथा स्वावलम्बी होना और सबसे अधिक आकृष्ट करती है उसकी मानवीय दुर्बलताएँ जो सभी की सहानुभूति का कारण बनती हैं।

नोट

कार्नेलिया जिसके मुख से भारत-प्रेम की अभिव्यक्ति प्रसाद ने 'अरुण यह मधुमय देश हमारा' गीत से कराई है। 'चंद्रगुप्त' नाटक के इस पात्र में भावुकता कूट-कूट कर भरी हुई है। यह मातृ-विहीना है, जिसके चरित्र में भावात्मकता की प्रबलता है, चारित्रिक गम्भीरता है, बौद्धिकता अथवा मानसिक दृढ़ता है। भावुकता से भरा हुआ यह पात्र नाटक में ऐसा है, जिसके जीवन में मानवीय उतार-चढ़ाव देखने को नहीं मिलते। उसके जीवन में भारत-साम्राज्ञी बनने तक समरसता ही बनी रहती है।

मालविका वह सुकुमारी कलिका है, जो उपवन में अपने अस्तित्व का ही अधिकार दिखा सकी है, पर बाह्य वातावरण की अनुकूलता में प्रमुदित होकर कभी खिल न सकी और एक दिन काल-माली ने उसकी अतृप्त अभिलाषाओं के साथ ही उसे निष्ठुरतापूर्वक तोड़ लिया। वह जीवन-भर हँसने का प्रयास तो करती रही है, पर निष्ठुरता की प्रतिकूल सीमाओं ने उसे स्वाभाविक रूप से, अन्तर के विकास के साथ हँसने नहीं दिया। वह कठोर शिलाओं की सीमाओं में अपने को विकसित नहीं कर पाती तथा कुछ ही विकास के पश्चात् चट्टानों के नीचे उसका प्रवाह होने लगता है।

सुवासिनी-जैसे नारी-पात्र प्रसाद के सभी नाटकों में देखने को मिलते हैं। चंद्रगुप्त नाटक में सुवासिनी के अनेक रूप हमें दृष्टिगत होते हैं– शकटार की पुत्री सुवासिनी, नंद की नर्तकी सुवासिनी, चाणक्य की पूर्वपरिचिता एवं अनुरंजिता, सुवासिनी राक्षस की प्रणयिनी सुवासिनी– ये सभी रूप उसकी बाह्य परिस्थिति से रोध के आवरण विशेष हैं, वह एक नारी ही है और नारीगत सम्पूर्ण विशेषताएँ उसमें विद्यमान हैं।

6.3 शब्दकोश

1. **भ्रू-भंग–** त्योरी चढ़ाना।
2. **निष्काम–** कामना एवं वासना से रहित, निर्लिप्त।
3. **शर-संधान–** बाण द्वारा लक्ष्य साधना, निशाना लगना।

6.4 अभ्यास-प्रश्न

1. 'चंद्रगुप्त नाटक में वर्णित नाटक पात्र चन्द्रगुप्त की चारित्रिक विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
2. चंद्रगुप्त के महामंत्री 'चाणक्य' के चरित्र का मूल्यांकन कीजिए।
3. आदर्श एवं मर्यादाशील नारी के रूप में कल्याणी का चरित्र-चित्रण प्रस्तुत कीजिए।

उत्तर: स्व-मूल्यांकन

1. (ख) 2. (क) 3. (ग) 4. (क)

6.5 संदर्भ पुस्तकें

1. *नाटककार जयशंकर प्रसाद*– सम्पादक: सत्येन्द्र कुमार तनेजा, राधाकृष्ण प्रकाशक, दिल्ली।
2. *हिंदी नाटक*–रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली।
3. *चन्द्रगुप्त*–जयशंकर प्रसाद, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

नोट

इकाई 7: चंद्रगुप्त : भाषा-शैली एवं संवाद-योजना

अनुक्रमणिका

उद्देश्य

प्रस्तावना

7.1 भाषा-शैली

7.2 संवाद-योजना

7.3 सारांश

7.4 शब्दकोश

7.5 अभ्यास-प्रश्न

7.6 संदर्भ पुस्तकें

उद्देश्य

विद्यार्थी इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् सक्षम होंगे–

- प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक चंद्रगुप्त की भाषा-शैली एवं संवाद-योजना से परिचित होंगे।

प्रस्तावना

प्रसाद जी युग के गहन मनीषी हैं। जिस प्रकार उन्होंने अपने युग के लिए सांस्कृतिक चेतना एवं भारतीय विचारधारा की व्यवस्था की आवश्यकता समझी उसी प्रकार युगानुरूप भाषा का सुदृढ़ गढ़ निर्माण करने के लिए भी उन्होंने सतत् प्रयत्न किया। उन्होंने अपने नाटकों के द्वारा इतिहास के पुनरुत्थान के लिए युगानुरूप चित्रण करना था। जिस युग का उन्होंने नाटकों में चित्रण किया है वह काल 'संस्कृत काल' नाम से जाना जाता है। उस युग के किसी भी नाटक में प्रदेश के अनुसार-भाषा का वैचित्र्य नहीं दिखाई देता है। हाँ, पात्रों के व्यक्तित्व के अनुसार भाषा के प्रयोग में परिवर्तन दिखाई देता है, जैसे-कुलीन और उच्च वर्ग के पात्र संस्कृत बोलते हैं, स्त्रियाँ और मध्यम वर्ग के पात्र प्राकृत बोलते हैं तो निम्न श्रेणी के पात्र प्राकृत का मिला-जुला रूप प्रयोग करते दिखाई पड़ते हैं। प्रसाद के नाटकों में यह भाषा-परिवर्तन पात्रों के मनोविज्ञान पर आधारित है। इसलिए तो सारे पात्र नाटककार की मुट्ठी के खिलौने होते हुए भी, अपना पृथक्-पृथक् व्यक्तित्व रखने में समर्थ हैं क्योंकि पात्रों की भाषा की श्रेणी स्वत: ही परिवर्तित होती रहती है।

प्रसाद के नाटकों पर रंममंच की दृष्टि से भाषा की एकरूपता का दोष लगाया जाता है। दोष का यह आधार लेते हैं कि सिकन्दर, सिल्यूकस, कार्नेलिया जैसे विदेशी पात्र कैसे ऐसी शुद्ध हिन्दी बोल सकते हैं? उन्हीं की संस्कृति, देश और परिस्थिति के अनुसार भाषा-प्रयोग होना चाहिए था। इसके विपरीत भाषा-प्रयोग का अपना दृष्टिकोण प्रसाद जी का पृथक् ही है। उनका कहना है कि भिन्न-भिन्न देश और वर्ग वालों से उनके देश और वर्ग के अनुसार भाषा का प्रयोग कराने से नाटक को भाषा का आजायबघर बनाना पड़ता है, जो कहीं अधिक अप्राकृतिक हो जाता है और सामाजिकों को इतनी भाषाओं से परिचय रखना असम्भव है।

''संवाद या कथोपकथन ही एक ऐसा माध्यम है, जिसके आधार पर नाटक नाटक सिद्ध होता है; अन्यथा उपन्यास, कहानी, कविता आदि साहित्यिक विधाओं में तो उपन्यासकार, कहानीकार व कवि आदि को प्रत्यक्ष रूप से

नोट

कुछ-न-कुछ अथवा सब-कुछ कहने का अवसर मिलता है, नाटककार को अपने कथोपकथनों के आधार पर ही परोक्ष रूप से संकेत कर देने पड़ते हैं। ऐसी अवस्था में नाटक के संवाद अभिसार के समान ऐसे तीक्ष्ण होने चाहिए जो प्रयोग करते ही अपनी लक्ष्य-सिद्धि कर सकें। उनमें शिथिलता के कारण कथानक में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं पड़ना चाहिए। सफल संवाद वही कहा जाता है जो चरित्र-चित्रण में पूर्ण सहयोग प्रदान करे।'' प्रसाद के संवादों में दोनों गुण कूट-कूट कर भरे हैं। 'ध्रुवस्वामिनी' नाटक में ध्रुवस्वामिनी का यह कथन, 'ओह, तो मेरा कोई रक्षक नहीं! नहीं, मैं अपनी रक्षा स्वयं करूँगी! मैं उपहार में देने की वस्तु, शीतलमणि नहीं हूँ। मुझमें रक्त की तरल लालिमा है मेरा हृदय उष्ण है और उसमें आत्म-सम्मान की ज्योति है, उसकी रक्षा मैं ही करूँगी'' कथावस्तु को आगे बढ़ाने के साथ ही उसकी चारित्रिक विशेषता क्षत्रियत्व को भी प्रकट कर रहा है। इसके अतिरिक्त प्रसाद के संवादों में गुम्फन और सारगर्भिता आदि गुण भी देखने को मिलते हैं।

संवादों को व्यावहारिक, रंगमंच के अनुकूल बनाने के लिए उनमें संक्षिप्तता का गुण होना भी आवश्यक होता है। लम्बे संवादों में नाटक की व्यावहारिकता समाप्त हो जाती है। प्रसाद के संवादों में इस गुण के उल्लेखन का दोष लगाया जाता है। इसका मुख्य कारण यह है कि तर्क-वितर्क अथवा सिद्धान्त-समर्थन में प्रसाद के पात्र अपनी प्रवृत्ति को संयमित नहीं कर सके हैं। जैसे 'चंद्रगुप्त' में युद्ध-परिषद में हुआ वार्तालाप, पर कहीं-कहीं जब यह विवाद अंशों में विभक्त होकर आता है तो क्रियाशीलता और नाटकीय विकास दोनों ही में प्रवाह बढ़ जाता है।

दोष की ये प्रवृत्तियाँ होते हुए भी प्रसाद के संवाद विषय-संगत और परिस्थिति के अनुकूल ही कहे जाने चाहिए। जब वीररस का चित्रण होता है तब संवादों में आवेश और उत्कर्ष में भरा हुआ उत्साह सभी को आकर्षित करता है। प्रेम-प्रसंग छिड़ने में संवादों का माधुर्य और मंदगति लुभावनी प्रतीत होती है। तेजस्वितापूर्ण संवाद 'स्कन्दगुप्त' नाटक में 'गांधार की घाटी', व 'कुम्भ के रणक्षेत्र' में और 'मालव की राज्यसभा' में दिखाई देते हैं। 'चंद्रगुप्त' नाटक के द्वितीय अंक में ग्रीक-शिविर में हुए सिकन्दर के साथ चंद्रगुप्त का वार्तालाप आता है।

संवादों में जब कार्यगति को प्रेरणा मिल जाती है तो वे संवाद नाटक की पट में अच्छे माने जाते हैं, क्योंकि किसी कार्य में प्रवृत्त कराने वाले संवादों में परिणामी सक्रियता देखने को मिलती है। प्रसाद के सभी नाटकों में इस प्रकार के प्रेरक संवाद बहुत देखने को मिलते हैं। इस प्रकार के संवादों की अनुपस्थिति होने पर निश्चित ही कथावस्तु विशृंखलित दिखाई देती है। उपदेश या वितर्क के रूप में रखे गये संवादों से नाटकीय प्रवाह अवरुद्ध हो जाता है। इसके अतिरिक्त नाटकों में एकांतिकता नहीं होनी चाहिए। ऐसा होने पर विषय-वस्तु संकीर्ण होकर केन्द्रित हो जाती है। प्रसाद के प्रारम्भिक नाटकों में काप्यमय संवादों की अधिकता रही है, पर शनैः-शनैः नाट्यकला के साथ-साथ यह प्रवृत्ति भी लुप्त होती गई है। 'राज्यश्री' और 'विशाख' में काव्यगत संवादों की यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है। 'स्कंदगुप्त' में हूण आक्रमण की त्राहि-त्राहि भी काव्यमय ही है पर चंद्रगुप्त नाटक में ऐसा उदाहरण नहीं मिलता है।

छोटे-छोटे स्वगत-भाषण, जो परिस्थिति का द्योतन करने में समर्थ हैं, नाटकीय सक्रियता ही उत्पन्न करते हैं। स्वगत-कथन का प्रयोग जब मंच पर एकाकी पात्र ही करता है तब कुछ स्वाभाविकता रहती है। दूसरे पात्र की उपस्थिति में जब यह स्वगत भाषण पढ़े जाते हैं, तो उनमें संगति देखने को नहीं मिलती।

प्रसाद के स्वगत-कथन उपदेश की प्रवृत्ति, भाषण-प्रवृत्ति एवं दीर्घता, लिए होने के कारण रंगमंचीय अस्वाभाविकता लिए हुए हैं, पर यह कथन पूर्णतः सत्य नहीं है; क्योंकि, कुछ स्वगत-कथन तो इस कोटि में आते हैं, शेष तो परिस्थिति, पात्र और अभिनेयता की दृष्टि से पूर्णरूपेण अनुकूल हैं।

7.1 भाषा-शैली

नोट

चंद्रगुप्त में प्रसाद जी ने अपने विचारों के अनुसार ही पात्रों की विचारधारा के अनुरूप ही भाषा का प्रयोग किया है। इसलिए पात्रों के संस्कारों अथवा मानसिक स्तर के अनुसार भाषा-प्रयोग देखने को मिलता है। सर्वप्रथम नाटक के प्रमुख पात्र चाणक्य को ही लें, संस्कृत भाषा का महान् विद्वान् चाणक्य, जो पौरुष और स्वावलम्बन का जीवन व्यतीत करना चाहता है, पूर्णरूपेण बौद्धिक उत्कर्ष लिए नाटक में दिखाई देता है। इस बात की मुख्य कसौटी उसके द्वारा प्रयुक्त भाषा ही है। भाव और भाषा के प्रयोग के कारण ही यह प्रसाद नाट्य-साहित्य में अद्वितीय पात्र बन गया है। कुछ आलोचकों का कहना है कि प्रसाद जी भाव और भाषा के द्वारा अपने नाटकों में ऐसा रूढ़ पात्र निर्मित कर लेते हैं जो सम्पूर्ण परिस्थितियों से टक्कर लेता हुआ गौरवमय जीवन व्यतीत करता है, चाणक्य भी एक ऐसा ही पात्र है। परन्तु भाषा कहीं भी उसे अव्यावहारिक नहीं होने देती, वरन् क्रमशः चारित्रिक गठन की खूबियाँ ही देखने को मिलती हैं। भाषा की संस्कृतमयता और एकरूपता के पीछे प्रसाद जी का वह दृष्टिकोण कार्य कर रहा था, जिसके आधार पर वे अभिनय को दर्शकों के लिये और भाषा को पाठकों के लिए मानते थे। चाणक्य जैसे बुद्धिनिष्ठ और संस्कृत भाषा के पारंगत ब्राह्मण के मुख से पाठक (और शिक्षित दर्शक भी) जब ऐसी भाषा सुनेंगे तो आश्चर्य कैसे हो सकता है। चाणक्य पर्वतेश्वर की राजसभा में, जहाँ के विद्वानों का समूह ही उपस्थित रहता है, इस भाषा का प्रयोग करता है–

''रे पददलित ब्राह्मणत्व! देख शूद्र ने निगड़बद्ध किया, क्षत्रिय निर्वासित करता है। तब जल, एक-एक बार अपनी ज्वाला से जल! उसकी चिंगारी से तेरे पोषक वैश्य, सेवक शूद्र और रक्षक अत्रिय उत्पन्न होंगे।'' शकटार जैसे विद्वान् मंत्री की कन्या सुवासिनी से जब वह कहता है– ''सुवासिनी, वह स्वप्न टूट गया– इस विजन बालुका सिन्धु में एक सुधा की लहर दौड़ पड़ी थी, किन्तु तुम्हारे भ्रूभंग ने उन्हें लौटा दिया'', में अस्वाभाविकता क्या समझनी चाहिए। संस्कृत भाषा और व्याकरण के महान् पण्डित वररूचि से जब वह वार्तालाप करता है तब संस्कृतनिष्ठ भाषा बोलने में हानि किस बात की? गांधार-राजकुमार आम्भीक के सम्मुख गुरुकुल के क्षेत्र में स्नातकों को संस्कृत पढ़ाने वाला आचार्य जब यह कहता है– ''ब्राह्मण सब कुछ सामर्थ्य रखने पर भी, स्वेच्छा से इन माया स्तूपों को भी ठुकरा देता है, प्रकृति के कल्याण के लिए अपने ज्ञान का दान देतो है''– तो भाषा की अस्वाभाविकता का दोष क्यों कर? ऐसा भाषा-प्रयोग उसके पद की गरिमा को ही अभिव्यक्त करता है। पर वही ब्राह्मण जब जनता के सम्मुख बोलता है। मगध दरबार के सम्मुख वह कहता है ... ''मगध के स्वतंत्र नागरिकों को बधाई हो! आज आप लोगों के राज्य का नवीन जन्म-दिवस है। स्मरण रखना कि ईश्वर ने सब मनुष्यों को स्वतंत्र उत्पन्न किया है। परन्तु व्यक्तिगत स्वतंत्रता वहीं तक दी जा सकती है, जहाँ दूसरों की स्वतंत्रता में बाधा न पड़े। यही राष्ट्रीय नियमों का मूल है।'' इस प्रकार उसकी भाषा में उसकी मनोवैज्ञानिक कुशलता ही प्रकट होती है, भाषा-दोष नहीं।

क्या आप जानते हैं

मंचन की दृष्टि से प्रसाद के नाटकों के लंबे संवाद एवं संस्कृतनिष्ठ भाषा को अधिकांश आलोचकों ने अनुपयुक्त माना है।

दूसरी श्रेणी की भाषा 'चंद्रगुप्त' नाटक में उन पात्रों की है जो राज्य-दरबार से संबंधित है और सुरक्षित भी है। इनमें चंद्रगुप्त, सिंहरण, अलका, शकटार, वररुचि, कल्याणी, आम्भीक, पर्वतेश्वर आदि हैं। सिकन्दर और सिल्यूकस आदि विदेशी पात्र हैं, पर उनकी भी सुशिक्षा में किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता, अतः उनके मुख से भी शुद्ध भाषा का प्रयोग कराया गया है। अन्य पात्रों में चंद्रगुप्त, अलका और सिंहरण पूर्ण रूप से चाणक्य के अनुयायी हैं। अतः गुरु की संगति का इतना भी प्रभाव नहीं हागा कि वे शुद्ध भाषा बोल सके, जबकि जनता और राष्ट्र का प्रतिनिधित्व उन्हें करना है। चंद्रगुप्त उत्साही युवक है अतः उसकी भाषा में तत्सम का नया-नया जोश होना ही चाहिए। तक्षशिला गुरुकुल में विद्यार्थी चंद्रगुप्त जब ऐसी तत्सम भाषा बोलता है– 'ठीक है, प्रत्येक निरपराध आर्य स्वतंत्र है, उसे कोई बन्दी नहीं बना सकता है। वह क्या राजकुमार? खड्ग का कोश में स्थान नहीं है क्या?'' प्रेम

नोट

की शीतल स्मृति में राजकुमारी कल्याणी से वह इतनी सरल भाषा भी बोलता है– 'हा! देवी! पाँच वर्ष तक्षशिला में रहने के कारण यहाँ के लोगों को पहचानने में विलम्ब होता है। मैं जिन्हें किशोर छोड़कर गया था, आज वे तरुण दिखाई दे रहे हैं।' जीवन-संग्राम से थके हुए चंद्रगुप्त के निम्न कथन में किसी प्रकार अस्वाभाविकता नहीं हो सकती– ''विजयों की सीमा है किन्तु अभिलाषाओं की नहीं। मन ऊब-सा गया है। झंझटों से घड़ी भर अवकाश नहीं।'' पर जब वह सम्राट होकर विद्वान् ब्राह्मण चाणक्य से उत्तेजित होकर बात करता है तो भाषा तत्सम ही होनी चाहिए। देखिए-यह अक्षुण्ण अधिकार आप कैसे भोग रहे हैं? केवल साम्राज्य काा ही नहीं, देखता हूँ, आप मेरे कुटुम्ब का भी नियन्त्रण अपने हाथों में रखना चाहते हैं।''

सिंहरण और अलका ये दोनों स्वतंत्र व्यक्तित्व रखने वाले और भावुक पात्र हैं। दोनों की भाषा अवसरानुकूल ही है। जब ये प्रेम-संबंधी बातें करते हैं तब भाषा की स्वाभाविक स्निग्धता उनमें दिखाई देती है– ''मेरा सिर घूम रहा है। अलका! तुम पर्वतेश्वर की प्रणयिनी बनोगी। अच्छा होता इससे पहले ही मैं न रह जाता।'' ''मालव, देश की स्वतंत्रता तुम्हारी आशा में है।'' पर जनता के बीच में जब अलका भाषण देती है तो भी भाषा जनसमूह के मानसिक स्तर के अनुकूल ही है। इसी प्रकार कल्याणी राजकुमारी है, स्वत्व का उसे गौरव है, प्रतिशोध लेनेपे की उसमें भावना है। परिणामस्वरूप कार्य करने की प्रेरणा भी। यह उसकी भाषा से स्पष्ट रूप से स्थान-स्थान पर प्रकट होती है। देखिए, एक राजकुमारी के रूप में, उससे विवाह-संबंध ठुकराने वाले राजा पर्वतेश्वर से वह कहती है– 'जाती हूँ क्षत्रिय पर्वतेश्वर! तुम्हारे पतन में रक्षा न कर सकी, बड़ी निराशा हुई।'' कथन में संक्षिप्तता होते हुए भी एक-एक शब्द से क्षोभ प्रकट हो रहा है। आम्भीक एक कायर और संकीर्ण मनोवृत्ति का पात्र है, अत: उसकी आन्तरिक अकर्मण्यता और स्वार्थपरता दिखाई पड़ती है। उसकी भाषा में संबल और निष्ठा नहीं दिखाई देती, तभी तो वह सम्पूर्ण नाटक में दो-तीन वाक्यों से अधिक नहीं बोल पाया है। देखिये– ''नहीं पिताजी, आपके राज्य में एक भयानक षड्यन्त्र चल रहा है और तक्षशिला का गुरुकुल उसका केन्द्र है। अलका उस रहस्यपूर्ण कुचक्र की कुंजी है।''

तीसरी श्रेणी के वे पात्र नाटक में आते हैं जो अत्यन्त भावोद्वेग के वशीभूत होकर बातचीत करते हैं। इनमें कार्नेलिया, मालविकास, सुवासिनी, नन्द और राक्षस आदि हैं। इनकी भाषा में भावुकता होने के कारण या तो अत्यन्त कोमलता-स्निग्धता है अथवा उत्तेजनापूर्ण संवेग है। इनके भाषागत भावों से ही इनके चरित्र की हीनता एवं श्रेष्ठता सिद्ध होती है। स्थान और अवसर के अनुकूल ही इनकी भाषा प्रयुक्त हुई है। प्रेम की बलिवेदी पर एकनिष्ठ प्रेयसी मालविका जब न्यौछावर होने जा रही है तो एकान्त में कहे गये उसके स्वगत-कथन में उसकी वेदना की व्यंजना निम्न भाषा-प्रयोग में प्रकट हो रही है–

''जाओ प्रियतम! सुखी जीवन बिताने के लिए, और मैं रहती हूँ चिर दु:खी जीवन का अन्त करने के लिए। जीवन एक प्रश्न है और मरण उसका अटल उत्तर।''

उपरोक्त उदाहरणों के आधार पर हम यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि प्रसाद जी ने हिन्दी भाषा का भविष्य देखा है। प्रसाद जी ने राजनैतिक कुचक्रों में पड़कर भाषा का स्वरूप विकृत नहीं किया है। ऐतिहासिक-चित्रण करने वाले एवं भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने वाले प्रसाद के नाटकों में यदि भाषा के खिचड़ीपन का प्रयोग करते तो निश्चित रूप से भारतीय आत्मा क्षत-विक्षत होती। विदेशी पात्रों के भाषा-प्रयोग के विषय में केवल यही कहना है कि वे भी दाण्डायन के आश्रम में सद्भावना से आा चुके हैं तो अवश्य ही भारत की भाषा का अच्छा ज्ञान रखते होंगे। कार्नेलिया तो भारतीय संगीत और रामायण का अध्ययन भी करती है, फिर शुद्ध भाषा बोलती है तो क्या हानि? कवि हृदय पूर्ण वार्तालाप करते हुए विदेशी पात्र कहीं भी नहीं दिखाई देते। इस प्रकार प्रयोग की दृष्टि से चंद्रगुप्त नाटक की भाषा भाव को अनुरूप ही दिखाई देती है।

श्रेणी-विभाजन की दृष्टि से 'चंद्रगुप्त' नाटक की भाषा दो भागों में विभक्त की जा सकती है- 1. संस्कृतनिष्ठ भाषा और 2. व्यावहारिक भाषा प्रथम प्रकार की भाषा पात्रानुकूल, अन्तर्द्वन्द्व-चित्रण करने में स्वागत-कथनों में प्राय: मिल जाती है। तत्सम शब्द-बहुल एक उदहारण देखिए– ''एक अग्निमय गंधक का स्रोत आर्यावर्त के लौह शस्त्रागार में घुसकर विस्फोट करेगा। चंचला रणलक्ष्मी इन्द्रधनुषी सी विजयमाला हाथ में लिए उस सुन्दर नील लोहित

नोट

प्रलय-जलद में विचरण करेगी और वीर हृदय मयूर से नाचेंगे।'' अन्य नाटकों की तुलना में 'चंद्रगुप्त' नाटक में इस प्रकार की भाषा के नमूने कम ही देखने को मिलते हैं। 'चंद्रगुप्त' नाटक में दूसरे प्रकार की भाषा पात्रों की मनोदशा के अनुसार प्रारम्भ से अन्त तक देखने को मिलती है। पर इस प्रचलित भाषा में प्रचलित विदेशी शब्दों और मुहावरों का अभाव ही है; फिर भी भाषा में पूर्ण प्रवाह देखने को मिलता है क्योंकि वाक्य छोटे-छोटे और भावानुकूल हैं। वाक्य-रचना संयत और व्याकरणनुकूल है। चंद्रगुप्त नाटक की भाषा तत्समता की एकरूपता रखते हुए भी मनोवैज्ञानिक अनेकरूपता अपने में समाहित किये हुए हैं। जिसमें भावों की गतिशीलता तो सर्वत्र देखने को मिलती है। बनारसी प्रभाव के हल्के स्पर्श ने भाषा में और मधुरता ला दी है। इतना होते हुए भी भाषा अपने में पूर्ण है। अत: हिन्दी के विद्यार्थियों और अभ्यस्त शिक्षितों के लिए इसमें व्यावहारिकता नहीं दिखाई दे सकती और जा हिन्दी की प्रकृति-प्रवृत्ति नहीं जानत अथवा जिनमें साहित्यिक स्पर्श व संस्कार नहीं है, वे कितनी ही खिचड़ी भाषा प्रस्तुत करने पर भी सन्तुष्ट नहीं हो सकते।

टास्क चंद्रगुप्त के पात्रों की भाषा पर टिप्पणी कीजिए।

'चंद्रगुप्त' नाटक की शैली भी भाषा की भांति ही संस्कृतनिष्ठ है। नाटक-रचना में प्रसाद जी का उद्देश्य केवल मनोरंजन ही नहीं रहा है, वरन् नाटकों के माध्यम से उनका मुख्य उद्देश्य बौद्धिक क्षुधा-तृप्ति ही रहा होगा। इसलिए उनके नाटकों की शैली जनता के अनुकूल न पड़कर शिक्षित-वर्ग के लिए ही कही जा सकती है, पर भाव-चित्रण के अनुसार उसे भावात्मक एवं गवेषणात्मक ही कहेंगे, जिसमें घात-प्रतिघात और अन्तर्द्वन्द्व चित्रण सजीव बन पड़ा है। विषय-वस्तु खोजपूर्ण होने के कारण शैली को भी गंभीर कह सकते हैं क्योंकि उस पर प्रसाद जी के दार्शनिक विचारों की गहरी छाप लगी है। नियतिवाद और कर्मवाद दोनों के समन्वय ने विषय को और गहन बना दिया है। इसके अतिरिक्त प्रसाद के कवि-हृदय के मधुर स्पर्श ने उसमें अपूर्व कोमलता का भी सन्निवेश किया है। स्थान-स्थान पर प्रयुक्त काव्यपूर्ण उक्तियाँ सूक्तियाँ-सी बनकर साहित्य जगत् में प्रचलित होने लगी हैं। कुछ कथन तो सूत्र कोटि में ही आ गये हैं, प्रसाद जी जब भावों का चित्रण करते हैं तो स्वत: ही वाक्य छोटे-छोटे और सरल होते हैं। रणभूमि में प्राणोत्सर्ग करने वाले भारतीय वीर पर्वतेश्वर को भावोद्‌गारों का दृश्य देखिए–

''सेनापति! देखो, उन कायरों को रोको! उनसे कह दो कि रणभूमि में पर्वतेश्वर पर्वत के समान अचल है। जय-पराजय की चिन्ता नहीं। ... बादलों से पानी बरसने की जगह वज्र बरसे, सारी गज-सेना छिन्न-भिन्न हो जाय, रथी विरथी हों, रक्त के नाले धमनियों से बहें, परन्तु एक पग भी पीछे हटना पर्वतेश्वर के लिए असम्भव है। धर्मयुद्ध में प्राण-भिक्षा माँगने वाले भिखारी हम नहीं।'' इस प्रकार स्पष्ट है कि 'चंद्रगुप्त' नाटक की भाषा-शैली प्रसाद जी की मनोवृत्ति, रूचि और विचारधारा के सर्वथा अनुकूल बन पड़ी है।

7.2 संवाद-योजना

चंद्रगुप्त के संवादों को मोटे तौर पर तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है– कथावस्तु प्रकाशक कथापकथन, चरित्र प्रकाशक कथोपकथन और तुरन्त बुद्धि प्रकाशक कथोपकथन। 'चंद्रगुप्त' नाटक के आधार पर इन्हीं तीनों प्रकार के कथोपकथनों का विश्लेषण यहाँ प्रस्तुत है–

(i) कथावस्तु-प्रकाशक कथोपकथन– ऐसे कथोपकथन नाटक की कथा और विकास की सामान्य गतिविधि का परिचय देते हैं। ऐसे कथनों के आधार पर ही कथावस्तु व्यवस्थित होती है। ये ही उसे आगे बढ़ाते हैं। ऐसे कथोपकथन शृंखला की कड़ियों की भांति एक दूसरे से गुम्फित दिखाई देते हैं। एक कड़ी समाप्त नहीं हो पाई तब तक दूसरी का सूत्र मिल गया। इस प्रकार के कथन नाट्य रचना में महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं। इन कथनों में इनकी संक्षिप्तता इनका गुण रहती है पर विवरणात्मक संकेतों की उपलब्धि भी इनके द्वारा होती है। 'चंद्रगुप्त' नाटक के प्रथम अंक

नोट

के प्रथम दृश्य में चाणक्य और सिंहरण का कथोपकथन इसी कोटि का है। इस कथोपकथन से तत्कालीन राजनैतिक स्थिति और विद्यार्थी जीवन की झलक तो मिलती ही है, साथ ही नाटक की भविष्य की योजना भी संकेतित होती है। यथा–

चाणक्य– 'केवल तुम्हीं लोगों को अर्थशास्त्र पढ़ाने के लिए ठहरा था।

सिंहरण– 'आर्य! मालवों को अर्थशास्त्र की उतनी आवश्यकता नहीं जितनी अर्थशास्त्र की।'

चाणक्य– 'अच्छा अब तुम मालव जाकर क्या करोगे?'

सिंहरण– 'अभी तो मालव ही नहीं जाता। मुझे तक्षशिला की राजनीति पर दृष्टि रखने की आज्ञा मिली है।'

चाणक्य– 'मुझे प्रसन्नता होती है कि तुम्हारा अर्थशास्त्र पढ़ना सफल होगा। क्या तुम जानते हो कि यवनों के दूत यहाँ आए हैं?'

सिंहरण– 'मैं उसे जानने की चेष्टा कर रहा हूँ। आर्यावर्त का भविष्य लिखने के लिए कुचक्र और प्रतारणा की लेखनी और मसि प्रस्तुत हो रही है। शीघ्र ही भयानक विस्फोट होगा।'

इस संक्षिप्त वार्तालाप में भावी गतिविधि का पूर्ण संकेत मिलता है। इस नाटक का प्रमुख रस वीर ही है। अत: प्रथम अंक के प्रथम दृश्य में ही आम्भीक सिंहरण, चंद्रगुप्त और चाणक्य कथोपकथनों में पूर्ण दर्प, गर्व और उत्साह देखने को मिलता है। इस प्रकार 'स्कन्दगुप्त' नाटक के प्रथम अंक के प्रथम दृश्य का कथोपकथन जो स्कन्दगुप्त और पर्णदत्त में हुआ है, इसी कोटि का है। इसके द्वारा भी गुप्त साम्राज्य की परिस्थिति का परिचय मिलता है।

स्व-मूल्यांकन

दिए गए कथन के सामने सही (✓) अथवा गलत (×) का निशान लगाइए–

1. चंद्रगुप्त में प्रसाद जी ने संस्कृतनिष्ठ भाषा प्राय: उन पात्रों के लिए प्रयोग की है जो विशिष्ट वर्ग अथवा राज-दरबार से संबंधित हैं।

   ☐

2. चंद्रगुप्त की भाषा पर मौर्यकालीन राज-दरबारी संस्कृत भाषा का प्रभाव है।

   ☐

3. चंद्रगुप्त में यवन पात्र-सिकंदर, सिल्यूकस, कार्नेलिया आदि भी भाषा का प्रयोग करते हैं।

   ☐

(ii) चरित्र-प्रकाशक कथोपकथन– ऐसे कथोपकथनों से पात्रों का आन्तरिक परिचय, उनका अन्तर्द्वन्द्व और विशिष्ट कार्य योजना का परिचय मिलता है। एतद् संबंधी यदि पात्रों का स्वभाव प्रेक्षक समझ सकें तो ऐसे वार्तालाप को सार्थक ही समझना चाहिए। चंद्रगुप्त नटक के प्रथम अंक के प्रथम दृश्य में सिंहरण और आम्भीक का संवाद एक-दूसरे की चारित्रिक विशिष्टता को प्रकट करता है। हमें आम्भीक की देशद्रोही प्रवृत्ति, सिंहरण की निर्भीकता, चाणक्य का ब्राह्मणत्व इन्हीं संवादों के द्वारा जानने को मिलता है। इसी अंक के छठे दृश्य में भी सिंहरण और यवन का वार्तालाप उन दोनों की की चारित्रिक विशेषताओं को प्रकट करता है। गांधार-नरेश और अलका का वार्तालाप उन दोनों की मनोवृत्ति को प्रकट करने में पूर्ण समर्थ है। दूसरे अंक के प्रथम दृश्य में चंद्रगुप्त और सिकन्दर का वार्तालाप उन दोनों के चरित्र-चित्रण में पूर्ण सहायक होता है। इस कथोपकथन में प्रारम्भिक वाक्यों में सिकन्दर को प्रलोभन देने वाली नीति और चंद्रगुप्त की अनुपम निर्भीकता और साहस प्रकट होता है।

(iii) तुरन्त बुद्धि-प्रकाश कथोपकथन– वार्तालाप के मध्य में ही आई हुई ऐसी उक्तियाँ जो पात्र की प्रत्युत्पन्न मतित्व प्रकट करती है, इसी प्रकार के कथोपकथनों में आती हैं। ऐसी उक्तियों में नाटककार की कुशलता ही प्रकट होती है। ऐसे वार्तालाप में पात्रों की चारित्रिक विशेषता तो प्रकट नहीं होती, हाँ, उनकी सूझ-बूझ का दर्शन तो हो ही जाता है। ऐसी उक्तियों का प्रमुख कार्य यह होता है कि वे दर्शकों में उत्सुकता बढ़ाती है। 'चंद्रगुप्त' नाटक के प्रथम दृश्य में ही ऐसा उदाहरण मिल जाता है। जब गांधार कुमारी अलका सिंहरण की निर्भीकता से प्रभावित होती हुई क्रोधाभिभूत

नोट

अपने भाई आम्भीक से कहती है– ''भाई, इस वन्य निर्झर के समान स्वच्छ और स्वच्छन्द हृदय में कितना बलवान वेग है। यह अवज्ञा भी स्पृहणीय है। जाने दो। इस प्रकार यद्यपि आम्भीक उसको डाँट ही देता है, पर नाटककार ने सिंहरण के प्रति उसका आकर्षण दिखा ही दिया है। इसी प्रकार वही सिंहरण और अलका के एकान्त मिलन में भी हुए वार्तालाप में प्रत्युत्पन्न-मतित्व के गुण देखने को मिलते हैं। इसी तरह द्वितीय अंक के प्रथम दृश्य का कार्नेलिया व फिलिप्स का कथोपकथन भी है। फिलिप्स कार्नेलिया से कहता है–

''कुमारी न जाने फिर कब दर्शन हों, इसलिए एक बार इन कोमल करों को चूमने की आज्ञा दो।'' इस असम्भावित प्रश्न के उत्तर में कार्नेलिया कहती है– ''तुम मेरा अपमान करने का साहस न करो फिलिप्स!'' फिलिप्स–प्राण देकर भी नहीं कुमारी! परन्तु प्रेम अन्धा होता है।' कार्नेलिया-तुम अपने अन्धेपन से दूसरे को ठुकराने का लाभ नहीं उठा सकते फिलिप्स!' इसी प्रकार पर्वतेश्वर के साथ हुए अलका के वार्तालाप में उसकी तुरन्त बुद्धि का ही परिचय मिलता है।

'चंद्रगुप्त' नाटक के कथोपकथनों पर कवित्वपूर्णता, दार्शनिक स्पर्श बौद्धिकता एवं लंबे स्वगत कथनों का रंगमंच की दृष्टि से दोष पूर्ण ठहराया जाता है। हालांकि प्रसाद ने अपनी 'काव्य-कला और अन्य निबन्ध' नामक पुस्तक में रंगमंच के विषय में शोधपूर्ण लेख लिखा है। द्वितीय अंक के सातवें दृश्य में संवाद बड़े हैं पर वे युद्ध परिषद् के प्रसंग में होने के कारण अस्वाभाविक प्रतीत नहीं होते क्योंकि उस समय तो अपना पक्ष समर्थन करना ही पड़ता है' और फिर जब शेक्सपीयर के 'जूलियस सीजर' नाटक में एन्टोनियो की स्पीच अस्वाभाविक नहीं हो सकती तो चाणक्य जैसे कुशल राजनीतिज्ञ की भाषण कैसे अस्वास्थ्यकारी एवं अस्वाभाविक कही जाएगी। शकटार की लंबी दु:खपूर्ण कहानी के कथन में भी यही दोष लगता है, पर वहाँ भी परिस्थिति कुछ और है, पता नहीं उसके हृदय में कितनी उमंग विद्यमान है और कब से वह नहीं बोल सका है, पर यह निश्चित है कि अभिनय के समय दर्शकों की दृष्टि इन छोटी-छोटी बातों पर कि इतने दिन का भूखा यह इतना कैसे बोल सकता है, अथवा उसकी स्मृति अब भी इतनी प्रबल कैसे हो सकती है, पर नहीं जायेगी, वरन् उसकी दु:खद अवस्था देखकर करुणा ही उत्पन्न होगी?

इसके अतिरिक्त चंद्रगुप्त नाटक में कथोपकथन की परिस्थिति से साम्य रखते हैं– जहाँ राजनैतिक उथल-पुथल है वहाँ के कथोपकथन उत्साह से परिपूर्ण हैं, पर जहाँ प्रेम-व्यापार चलता है वहाँ शब्दों में स्वाभाविक कोमलता, स्निग्धता एवं भावों की प्रबलता देखने को मिलती है। इनमें व्यावहारिकता का गुण निहित है। पात्रों की स्थिति एवं मर्यादा का भी संवादों में निर्वाह हुआ है। पूर्व प्रसंग के अवरोधक संवाद को रोककर अन्य प्रसंगों के संवाद का प्रारंभ कर कहते-कहते ही आम्भीक का सहसा प्रवेश करके यह कहना कि 'युवक तुम कौन हो?' इसी प्रकार राक्षस के कहते-कहते ही राजदरबार में चाणक्य का सहसा प्रवेश करके यह कहना– ''परन्तु बौद्ध धर्म की शिक्षा मानव-व्यवहार के लिए पूर्ण नहीं हो सकती, भले ही वह संघविहार के लिए उपयुक्त हो,'' आश्चर्य और भविष्य के प्रति कौतूहल उत्पन्न करता है। इस विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रसाद चंद्रगुप्त की संवाद योजना रंगमंचीय दृष्टि से कुछ खामियों के बावजूद सफल है।

7.3 सारांश

प्रसाद जी युग के गहन मनीषी हैं। जिस प्रकार उन्होंने अपने युग के लिए सांस्कृतिक चेतना एवं भारतीय विचारधारा की व्यवस्था की आवश्यकता समझी उसी प्रकार युगानुरूप भाषा का सुदृढ़ गढ़ निर्माण करने के लिए भी उन्होंने सतत् प्रयत्न किया। उन्होंने अपने नाटकों के द्वारा इतिहास के पुनरुत्थान के लिए युगानुरूप चित्रण करना था। जिस युग का उन्होंने नाटकों में चित्रण किया है वह काल 'संस्कृत काल' नाम से जाना जाता है। उस युग के किसी भी नाटक में प्रदेश के अनुसार-भाषा का वैचित्र्य नहीं दिखाई देता है। हाँ, पात्रों के व्यक्तित्व के अनुसार भाषा के प्रयोग में परिवर्तन दिखाई देता है, जैसे-कुलीन और उच्च वर्ग के पात्र संस्कृत बोलते हैं, स्त्रियाँ और मध्यम वर्ग के पात्र प्राकृत बोलते हैं तो निम्न श्रेणी के पात्र प्राकृत का मिला-जुला रूप प्रयोग करते दिखाई पड़ते हैं। प्रसाद के नाटकों में यह भाषा-परिवर्तन पात्रों के मनोविज्ञान पर आधारित है। चंद्रगुप्त में प्रसाद जी ने अपने विचारों के

नोट

अनुसार ही पात्रों की विचारधारा के अनुरूप ही भाषा का प्रयोग किया है। इसलिए पात्रों के संस्कारों अथवा मानसिक स्तर के अनुसार भाषा-प्रयोग देखने को मिलता है। सर्वप्रथम नाटक के प्रमुख पात्र चाणक्य को ही लें, संस्कृत भाषा का महान् विद्वान् चाणक्य, जो पौरुष और स्वावलम्बन का जीवन व्यतीत करना चाहता है, पूर्णरूपेण बौद्धिक उत्कर्ष लिए नाटक में दिखाई देता है। इस बात की मुख्य कसौटी उसके द्वारा प्रयुक्त भाषा ही है। भाव और भाषा के प्रयोग के कारण ही यह प्रसाद नाट्य-साहित्य में अद्वितीय पात्र बन गया है। दूसरी श्रेणी की भाषा 'चंद्रगुप्त' नाटक में उन पात्रों की है जो राज्य-दरबार से संबंधित है और सुरक्षित भी है। इनमें चंद्रगुप्त, सिंहरण, अलका, शकटार, वररुचि, कल्याणी, आम्भीक, पर्वतेश्वर आदि हैं। सिकन्दर और सिल्यूकस आदि विदेशी पात्र हैं, पर उनकी भी सुशिक्षा में किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता, अत: उनके मुख से भी शुद्ध भाषा का प्रयोग कराया गया है। तीसरी श्रेणी के वे पात्र नाटक में आते हैं जो अत्यन्त भावोद्वेग के वशीभूत होकर बातचीत करते हैं। इनमें कार्नेलिया, मालविकास, सुवासिनी, नन्द और राक्षस आदि हैं। इनकी भाषा में भावुकता होने के कारण या तो अत्यन्त कोमलता-स्निग्धता है अथवा उत्तेजनापूर्ण संवेग है। इनके भाषागत भावों से ही इनके चरित्र की हीनता एवं श्रेष्ठता सिद्ध होती है। स्थान और अवसर के अनुकूल ही इनकी भाषा प्रयुक्त हुई है। चंद्रगुप्त के संवादों को मोटे तौर पर तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है– कथावस्तु प्रकाशक कथापकथन, चरित्र प्रकाशक कथोपकथन और तुरन्त बुद्धि प्रकाशक कथोपकथन। चंद्रगुप्त के संवादों को मोटे तौर पर तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है– कथावस्तु प्रकाशक कथापकथन, चरित्र प्रकाशक कथोपकथन और तुरन्त बुद्धि प्रकाशक कथोपकथन। ऐसे कथोपकथन नाटक की कथा और विकास की सामान्य गतिविधि का परिचय देते हैं। ऐसे कथनों के आधार पर ही कथावस्तु व्यवस्थित होती है। ये ही उसे आगे बढ़ाते हैं। ऐसे कथोपकथन शृंखला की कड़ियों की भांति एक दूसरे से गुम्फित दिखाई देते हैं। 'चंद्रगुप्त' नाटक के प्रथम अंक के प्रथम दृश्य में चाणक्य और सिंहरण का कथोपकथन इसी कोटि का है। चरित्र-प्रकाशक कथोपकथनों से पात्रों का आन्तरिक परिचय, उनका अन्तर्द्वन्द्व और विशिष्ट कार्य योजना का परिचय मिलता है। एतद् संबंधी यदि पात्रों का स्वभाव प्रेक्षक समझ सकें तो ऐसे वार्तालाप को सार्थक ही समझना चाहिए। चंद्रगुप्त नटक के प्रथम अंक के प्रथम दृश्य में सिंहरण और आम्भीक का संवाद एक-दूसरे की चारित्रिक विशिष्टता को प्रकट करता है। हमें आम्भीक की देशद्रोही प्रवृत्ति, सिंहरण की निर्भीकता, चाणक्य का ब्राह्मणत्व इन्हीं संवादों के द्वारा जानने को मिलता है। वार्तालाप के मध्य में ही आई हुई ऐसी उक्तियाँ जो पात्र की प्रत्युत्पन्न मतित्व प्रकट करती है, इसी प्रकार के कथोपकथनों में आती हैं। ऐसी उक्तियों में नाटककार की कुशलता ही प्रकट होती है। ऐसे वार्तालाप में पात्रों की चारित्रिक विशेषता तो प्रकट नहीं होती, हाँ, उनकी सूझ-बूझ का दर्शन तो हो ही जाता है। 'चंद्रगुप्त' नाटक के कथोपकथनों पर कवित्वपूर्णता, दार्शनिक स्पर्श बौद्धिकता एवं लंबे स्वगत कथनों का रंगमंच की दृष्टि से दोष पूर्ण ठहराया जाता है। हालांकि प्रसाद ने अपनी 'काव्य-कला और अन्य निबन्ध' नामक पुस्तक में रंगमंच के विषय में शोधपूर्ण लेख लिखा है। द्वितीय अंक के सातवें दृश्य में संवाद बड़े हैं पर वे युद्ध परिषद् के प्रसंग में होने के कारण अस्वाभाविक प्रतीत नहीं होते क्योंकि उस समय तो अपना पक्ष समर्थन करना ही पड़ता है' और फिर जब शेक्सपीयर के 'जूलियस सीजर' नाटक में एन्टोनियो की स्पीच अस्वाभाविक नहीं हो सकती तो चाणक्य जैसे कुशल राजनीतिज्ञ की भाषण कैसे अस्वास्थ्यकारी एवं अस्वाभाविक कही जाएगी। शकटार की लंबी दु:खपूर्ण कहानी के कथन में भी यही दोष लगता है, पर वहाँ भी परिस्थिति कुछ और है, पता नहीं उसके हृदय में कितनी उमंग विद्यमान है और कब से वह नहीं बोल सका है, पर यह निश्चित है कि अभिनय के समय दर्शकों की दृष्टि इन छोटी-छोटी बातों पर कि इतने दिन का भूखा यह इतना कैसे बोल सकता है, अथवा उसकी स्मृति अब भी इतनी प्रबल कैसे हो सकती है।

7.4 शब्दकोश

1. **निगड़बद्ध–** जंजीरों से जकड़ना/बाँधना।
2. **स्पृहणीय–** प्राप्त करने योग्य, वांछनीय।
3. **अभिसार–** आगे बढ़ना, प्रिय से मिलने जाना, संकेत स्थल पर पहुँचना।

7.5 अभ्यास-प्रश्न

नोट

1. चंद्रगुप्त की भाषा-शैली एवं संवाद-योजना पर प्रकाश डालिए।

2. चंद्रगुप्त की भाषा शैली पर टिप्पणी कीजिए।

उत्तर: स्व-मूल्यांकन

1. (✓) 2. (×) 3. (✓)

7.6 संदर्भ पुस्तकें

1. *नाटककार जयशंकर प्रसाद*– सम्पादक: सत्येन्द्र कुमार तनेजा, राधाकृष्ण प्रकाशक, दिल्ली।
2. *हिंदी नाटक*–रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली।
3. *चन्द्रगुप्त*–जयशंकर प्रसाद, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

नोट

इकाई 8: चंद्रगुप्तः तात्त्विक समीक्षा

अनुक्रमणिका

उद्देश्य

प्रस्तावना

8.1 चंद्रगुप्तः तात्त्विक विवेचन

8.2 सारांश

8.3 शब्दकोश

8.4 अभ्यास-प्रश्न

8.5 संदर्भ पुस्तकें

उद्देश्य

विद्यार्थी इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् सक्षम होंगे–

- नाटक के तत्त्वों के आधार पर चंद्रगुप्त की समीक्षा करने में।

प्रस्तावना

नाट्य दृष्टि से वर्तमान में आधुनिक समीक्षा सिद्धांतों के कारण नाटकों को नाट्य शास्त्रीय कसौटी के आधार पर परखने का चयन लगभग समाप्त-प्रायः हो गया है। आलोचकों का मत है कि जब आधुनिक विषयों को लेकर नाटकों का सृजन हो रहा है तो नवीन कसौटियों पर उनका निखार और सौन्दर्य देखना परखना चाहिए। फिर भी 'चंद्रगुप्त नाटक' आधुनिक समय में लिखा जाकर भी ऐतिहासिक कथानक को समेटे हुए है और भारतीय नाट्य-शैली की मान्यताओं से अत्यधिक प्रभावित है। अतः शास्त्रीय-दृष्टि से कार्य-अवस्थाओं, अर्थ-प्रकृतियों और सन्धियों आदि की कसौटी के आधार पर भी इसका अध्ययन वांछनीय है।

8.1 चंद्रगुप्तः तात्त्विक विवेचन

फल की प्राप्ति के लिए नाटक में कार्य की पांच अवस्थायँ होती हैं। इनमें कार्य का क्रमिक विकास ही दृष्टिगत होता है। दशरूपककार ने उन्हें इस प्रकार श्लोक में बद्ध है–

'अवस्था पंचकार्यस्थ प्रारब्धस्य फलार्थिभिः।
आरम्भ यत्न प्राप्त्याशा नियताप्ति फलागमाः॥

(1) आरम्भ– दशरूपककार ने 'औत्सुक्यमात्रमारम्भः'–'उत्सुकता-मात्र' को आरम्भ कहा है तथा 'फल लाभ' उसका उद्देश्य है। तात्पर्य यह है कि कार्य की इस अवस्था में कथानक का प्रारम्भ होता है, जिसमें फल-प्राप्ति के लिए उत्सुकता बनी रहती है। चंद्रगुप्त नाटक में आरम्भ प्रथम अंक के प्रथम् दृश्य में ही हो जाता है, परन्तु प्रारम्भ वहाँ तक समझना चाहिए जहाँ तक कि नाटक की घटनाओं और पात्रों के जीवन के लक्ष्य का परिचय प्राप्त होता है। इस नाटक में आरम्भ अंश उस सीमा तक है जहाँ तक कि चंद्रगुप्त और चाणक्य के क्रोध और अपमान का इतिवृत्त चलता है। नन्द के द्वारा चाणक्य को अपमानित करना, पर्वतेश्वर द्वारा चंद्रगुप्त को 'वृषल' कहना या चाणक्य को तिरस्कृत करके निष्कासित करना आदि नाटक के आरम्भ के बीज-बिन्दु हैं। इन्हीं घटनाओं से प्रेरित

नोट

होकर नाटक के ये दोनों प्रमुख पात्र आगे चलकर फलागम की ओर प्रयत्नशील दिखाई पड़ते हैं। इसी के आरम्भ में दण्डायन के मुख से चंद्रगुप्त के सम्राट होने की बात सुनते हैं तो इस फलागम की ओर उत्सुकता बनी रहती है।

(2) यत्न– कार्यावस्था में इच्छाविशेष या प्रतिज्ञाविशेष की स्फूर्ति के लिए नाटक के प्रमुख पात्र प्रयत्नशील दिखाई देते हैं। चंद्रगुप्त और चाणक्य दोनों ही नाटक में अपनी-अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार 'फलप्राप्ति' की ओर प्रयत्न करते हुए दिखाई देते हैं। इस प्रयत्न में उन्हें कई बार कठोरताओं तथा निराशाओं का सामना भी करना पड़ा है। जैसे प्रयत्न प्रारम्भ होते ही कानन मार्ग में चलते-चलते चंद्रगुप्त के शरीर में शिथिलता का अनुभव होना, प्यास लगने के कारण उसे मूर्छा आना आदि; पर वह कहीं भी निराश नहीं हुआ। इसी प्रयत्न काल में उसने सिल्यूकस और कार्नेलिया से मैत्री स्थापित की, ग्रीकों के शिविर में रहकर उनके युद्ध-संबंधी विधान का ज्ञान प्राप्त किया और अपनी निर्भीकता का परिचय सिकन्दर को देते हुए वहाँ से निकल आया। पुनः नट-रूप धारण करके उचित अवसर पर पर्वतेश्वर को युद्ध में सहायता करने के लिए वह चेष्टा करता है। इस प्रयत्न-पक्ष में चाणक्य भी चुप नहीं बैठा रहता। उसकी ही कूटनीति से चंद्रगुप्त गणतन्त्रों का सेनापति बनता है तथा सिकन्दर से लोहा लेता है। चाणक्य भी राक्षस जैसे कुशल मंत्री की मुद्रा प्राप्त करके तथा पर्वतेश्वर जैसे वीर को अपने अनुकूल बनाकर सिद्धि की ओर अभिमुख दिखाई देता है। ये दोनों मिलकर ही मगध में क्रान्ति फैलाकर प्रजा को अपने अनुकूल बना लेते हैं।

(3) प्राप्त्याशा– यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते कथानक और पात्र फल-प्राप्ति की निश्चय ही आशा करने लगते हैं। तात्पर्य है कि फलोपलब्धि की संभावना बन ही जाती है। मार्ग में खड़े हुए विघ्न स्वयं शान्त होते हुए दिखाई देते हैं। लक्ष्य का प्रत्यक्ष स्वरूप आँखों के समक्ष नाचने लगता है। जब मगध की पजा वीर और कुशल चंद्रगुप्त को अपना शासक चुन लेती है तो उसी के नेतृत्व में एवं चाणक्य की कृपा-छाया में रहकर यवन निष्कासन-रूप फल-प्राप्ति की 'आशा' दृढ़तर होती जाती है क्योंकि राज्य-शक्ति मिल जाने पर अथवा नन्द जैसे शक्तिशाली राजा का नाश कर लेने पर इस निश्चय की आशा हो जाती है कि चंद्रगुप्त निर्विघ्न साम्राज्य स्थापित कर सकेगा, यवनों के पुनराक्रमण की सम्भावना को समूलोच्छेदित करने में समर्थ हो सकेगा। प्रेक्षकों अथवा पाठकों के साथ ही नायक चंद्रगुप्त को भी अपने प्रयत्नों के परिणामस्वरूप फल-प्राप्ति की आशा होती है।

(4) नियताप्ति– कथानक के विकास की इस चौथी श्रेणी में पहुँचते-पहुँचते फल-प्राप्ति की आशा अथवा सम्भावना विश्वास में परिणत हो जाती है और फल-प्राप्ति के निकट ही दिखाई देती है। चंद्रगुप्त नाटक में जब कथानक विकसित होते हुए इस अवस्था तक पहुँच चुका होता है तब तक मगध के आधे राज्य के अधिकारी पर्वतेश्वर और नन्दकुल के अवशेष कल्याणी की हत्या हो चुकी होती है और गृह-कलह उत्पादक राक्षस एवं मौर्य अनुकूल बन चुके हैं। चाणक्य अपनी दूरदर्शिता एवं कौशल से, अलका का आदर्श सम्मुख रखकर आम्भीक को भी अपने अनुकूल बना लेता है। तब इन समस्त बाधाओं के निराकरण होने पर फलप्राप्ति निश्चित हो जाती है, जब विरोधी आम्भीक के दृढ़प्रतिज्ञ होकर मगध सेना का सैनिक बनने को उत्कण्ठित होता है, वह स्थल नियताप्ति की सिद्धि है।

(5) फलागम– कथानक-विकास की अन्तिम परिणति है फलागम में। यहाँ पर पहुँच कर नाटककार अपने लक्ष्य की प्राप्ति करता है। नाटक के अन्तिम दृश्य में फल की प्रत्यक्ष-प्राप्ति होती है। भारतीय नाट्य-परम्परा में नाटक को सुखान्त दिखाने की परिपाटी है। इसी के अनुसार चंद्रगुप्त नाटक भी सुखान्त नाटक है, जिसमें चंद्रगुप्त का सम्राट होना, आन्तरिक कलह का शमन होना, शत्रु यवनों का निष्कासन होना तथा चाणक्य का प्रसन्नचित्त होकर पुनः आश्रम की ओर गमन करना आदि सुखदायक अनुभूतियाँ ही पाठक को अन्त में अनुभूत होती हैं।

यूरोपीय समीक्षा शास्त्र में कार्य की छः अवस्थाएँ मानी गई हैं, वे भी 'चंद्रगुप्त' में उपलब्ध होती हैं। वे निम्न प्रकार से हैं– (1) व्याख्या– इसमें कथानक का प्रारम्भ होता है। (2) प्रारम्भिक संघर्षमय घटना– इस स्थिति में प्रयत्न-होना प्रारम्भ हो जाता है। संघर्ष आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार का हो सकता है। (3) कार्य का चरम सीमा की ओर बढ़ना– इस स्थिति में पहुँचकर द्वन्द्व संघर्ष नाटकगत समस्याएँ स्पष्टता को पहुँच जाती है और विकास स्थिति आशापूर्ण होती है। (4) चरमसीमा– विकास के इस बिन्दु पर संघर्ष अन्तिम सीमा पर पहुँच जाता है। इस

नोट

स्थिति में फल की अनुकूलता एवं प्रतिकूलता स्पष्ट दिखाई देने लगती है। (5) कार्य की ओर झुकाव– यहाँ पहुँचते-पहुँचते कथानक में एक पक्ष का ह्रास और दूसरे पक्ष का विकास दिखाई देने लगता है। यह स्थिति फल-प्राप्ति के बहुत ही निकट की होती है। (6) केटस्ट्रोफी– नाटक में इसके फल-प्राप्ति कहते हैं। यूरोपीय दृष्टि से यह अच्छा भी हो सकता है और बुरा भी, पर भारतीय नाट्य परम्परा में यह सदैव अच्छा ही होता है। कम-अधिक, स्पष्ट एवं अस्पष्ट रूप में सभी बिन्दु चंद्रगुप्त नाटक में मिल जाएँगे। हाँ, संघर्ष की, वह भी आन्तरिक संघर्ष की, उतनी मान्यता इसमें नहीं है जितनी यूरोपीय नाटक रचना में है। इस प्रकार इन मिलती-जुलती कार्यावस्थाओं की कसौटी पर चंद्रगुप्त नाटक से खरा है।

क्या आप जानते हैं भारतीय नाट्यशास्त्र के अंतर्गत सुखद फलागम अनिवार्य है जबकि पाश्चात्य नाट्यशास्त्र में फल प्राप्ति दोनों रूपों (कॉमेडी, ट्रेजडी) में हो सकती है।

चंद्रगुप्त नाटक का प्रारम्भ और फल-प्राप्ति– नाटक का प्रारम्भ बहुत ही सुन्दर बन पड़ा है। नाट्य-कला की दृष्टि से प्रारम्भिक दृश्य में वे सभी तत्व विद्यमान होने चाहिए, जिनकी ओर सामान्य एवं विशेष सभी पाठक एवं प्रेक्षक आकृष्ट हो सकें। इस दृष्टि से नाटक का प्रथम दृश्य महत्त्वपूर्ण है। तक्षशिला गुरुकुल का प्राकृतिक सौंदर्य एवं प्राचीन भारत का सांस्कृतिक महत्त्व दोनों ही भव्यता लिए हुए हैं। उस पर भी जगत्-प्रसिद्ध चाणक्य-जैसा आचार्य, सिंहरण और चंद्रगुप्त जैसे वीरों का संयोग पाठकों के स्नायुओं में प्रवाह उत्पन्न कर देते हैं। इस दृश्य के कथोपकथन में राजनीतिक गाम्भीर्य है, युवकों में उत्तेजना भरने वाला ओजस्वी संवाद है, साथ ही तलवारों की चमक भी चकाचौंध उत्पन्न करने वाली बन पड़ी है। प्रारम्भ से ही कथा-विकास में सक्रियता दिखाई देती है। साथ ही चंद्रगुप्त मौर्य जैसे प्रतापी सम्राट के प्रारम्भिक जीवन को देखकर मन मुग्ध हो जाता है। अन्य पात्रों का कौलीन्य एवं चारित्रिक विशेषताओं का संकेत रूप में ही परिचय प्राप्त होता है। भविष्य के कार्यक्रम की रूपरेखा की ओर भी संकेत मिल जाता है और लक्ष्य की प्राप्ति के लिए दृढ़ प्रतिज्ञा। सारांश रूप में, अपने मूलरूप में नाटक के मैत्री प्रेम और विरोध के अंकुर इसी दृश्य में उपलब्ध हो जाते हैं। नाटक का मुख्य लक्ष्य तो प्रथम अंक के पंचम दृश्य में स्पष्ट रूप से कहा गया है, जिसमें नन्दकुल का उन्मूलन रूप कार्य भी मौर्य साम्राज्य की स्थापना रूप लक्ष्य का ही सहायक है। दोनों में साध्य-साधन का संबंध है।

नाटक का अन्त बहुत ही कलापूर्ण ढंग से किया गया है। मौर्य साम्राज्य की दृढ़ स्थापना, जो राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत है, पाठकों और प्रेक्षकों के हृदयों को मोदित कर देती है। अन्त:कलह पूर्णरूपेण शान्त हो चुकता है। सीमा-प्रान्तों में मौर्यशासन का पूर्ण नियंत्रण हो चुकता है। इन्हीं विरोधों को शान्त करने के लिए ही तृतीय अंक के अंत में चंद्रगुप्त का राजतिलक हो चुकने पर भी नाटक की समाप्ति नहीं की गई। चौथे अंक में अपनी मर्यादानिर्वाह के लिए सेल्यूकस के पराभव के साथ-साथ यवन-आक्रमण के अवशेषों को भी शेष नहीं रहने दिया गया और चंद्रगुप्त के विरोधी अथवा सम्भाव्य विरोधी पर्वतेश्वर और कल्याणी की हत्या कराई गई है और सन्धि स्थिर रखने के लिए कार्नेलिया-चंद्रगुप्त का विवाह कराया जाता है। इस प्रकार चंद्रगुप्त नाटक का अन्त नाट्यकला एवं प्रभाव दोनों की दृष्टि से श्रेष्ठ बन पड़ा है।

अर्थ प्रकृतियाँ– अर्थ-प्रकृतियों के 'दशरूपक' क टीकाकार धनिक ने 'प्रयोजनसिद्धि हेतव:' अर्थात् अर्थ-प्रकृतियाँ प्रयोजन-सिद्धि हेतु, अपना अस्तित्व रखती हैं। अर्थ-प्रकृतियाँ कथावस्तु के वे चमत्कारपूर्ण अंग हैं जो कथानक को कार्य की ओर अग्रसर करते हैं। कार्यावस्थाओं की भांति ही ये भी पांच ही हैं– (1) बीज, (2) बिन्दु, (3) पताका, (4) प्रकरी; और (5) कार्य।

(1) **बीज–** जिस प्रकार बीजावस्था कार्य की प्रथमावस्था अथवा मूलावस्था होती है उसी प्रकार नाटक में बीज अर्थ प्रकृति कथानक का मूल लिए होती है, जिसको देखकर या पढ़कर फलप्राप्ति की ओर अनुमान किया जा

नोट

सकता है। 'चंद्रगुप्त' नाटक के प्रथम अंक के प्रथम दृश्य में सिंहरण के इस कथन में– 'आर्यावर्त्त' का भविष्य लिखने के लिए कुचक्र और प्रतारणा की लेखनी और मसि प्रस्तुत हो रही है। उत्तरापथ के खण्डराज्य द्वेष से जर्जर हैं। शीघ्र भयानक विस्फोट होगा।' तथा चाणक्य ने इस कथन में– 'क्या तुम नहीं देखते कि आगामी दिवसों में आर्यावर्त्त के साथ स्वतंत्र राष्ट्र एक के अनन्तर दूसरे विदेशी विजेता से पददलित होंगे– और आर्यावर्त्त का सर्वनाश होगा।' इसी के अनन्तर उत्तरस्वरूप चंद्रगुप्त का यह कथन-गुरुदेव, विश्वास रखिए, यह सब-कुछ नहीं होने पायेगा। यह चंद्रगुप्त आपके चरणों की शपथपूर्वक प्रतिज्ञा करता है कि यवन यहाँ कुछ न कर सकेंगे।' संकेत रूप से ये ही कथन नाटक के बीज-स्थल हैं। इन्हीं कथनों के कारण भावी व्यापारों में क्रियाशीलता आती है। नन्द की राजसभा में चाणक्य के अपमानित होने तक यही बीज अंकुरावस्था में चलती है।

टास्क नाटक की अर्थ प्राकृतियों का उल्लेख कीजिए।

(2) **बिन्दु–** बिन्दु से अर्थ है बिन्दु विशेष जो प्रारम्भ में लघु रूप दिखाई देता है, पर तत्पश्चात् फैलकर छा जाता है। इसका साम्य तैल-बिन्दु से समझना चाहिए जो पानी के तल पर पड़ते ही तत्काल उसके ऊपर तल को छू लेती है। नाटक के कथानक में बिन्दु वह घटना कहलाती है जो फैलकर अपने विस्तृत प्रभाव के कारण सभी घटनाओं और सम्पूर्ण पात्रों के ऊपर प्रभाव रूप में छा जाती है। 'चंद्रगुप्त' नाटक से 'चाणक्य का कारावास' 'सिंहरण और सिल्यूकस का विरोध', 'दाण्डायन की भविष्यवाणी' चंद्रगुप्त की 'कार्नेलिया और सिल्यकूस से मैत्री' तथा 'सिकन्दर से संघर्ष' ये घटनाएँ संकेत रूप में नाटक की बिन्दु हैं, जिसका व्यापक प्रभाव नाटक के सम्पूर्ण कथानक पर दिखाई देता है। इन घटनाओं के स्वाभाविक विकास में साध्य लक्षित होता रहता है। द्वितीय और तृतीय अंक की कार्य-घटनाओं का प्रसार बिन्दु अर्थ प्रकृति का ही प्रसार समझना चाहिए। नाटक में इस अर्थ प्रकृति की समाप्ति का कोई निश्चित स्थल नहीं है। सम्पूर्ण नाटक में इसी का विस्तार दिखाई देता है।

(3, 4) **पताका और प्रकरी–** इन अर्थ प्रकृतियों में अवान्तर अथवा प्रासंगिक कथाएँ रहा करती हैं, जो मूल कथा को आगे बढ़ाने में सहायक होती हैं। प्राप्त्याशा और नियताप्ति कार्य अवस्थाओं का मेल पताका और प्रकरी अर्थ-प्रकृतियों से ही नहीं खाता। प्रारम्भ, यत्न और फल प्राप्ति का साम्य, बीज, बिन्दु और कार्य अर्थ-प्रकृतियों से, देखने को मिलता है। चंद्रगुप्त नाटक में सिंहरण और पर्वतेश्वर का कथांश, 'सिंहरण और अलका का प्रसंग' पताका अर्थ प्रकृति का उदाहरण है। पताका के लिए शास्त्रीय दृष्टि से यह आवश्यक है कि उसकी समाप्ति गर्भ या विमर्श सन्धि में हो जाय। परन्तु सिंहरण का कथांश बीच में विलुप्त नहीं होता, आगे तक चलता हैं पर उसका अपना कोई लक्ष्य नहीं, चंद्रगुप्त के लक्ष्य की सिद्धि ही उसका लक्ष्य है। अत: उसकी कथा पताका अर्थ प्रकृति के अन्तर्गत आती है। पर्वतेश्वर की कथा का अंश अवश्य ऐसा है जो बीच से उठकर गर्भ तथा विमर्श सन्धियों में जाकर विलुप्त हो जाता है और उसका लक्ष्य चंद्रगुप्त के लक्ष्य से पृथक नहीं रह जाता। वह इतिहास-प्रसिद्ध वीर भी है, अत: पर्वतेश्वर को ही नाटक का पताका नायक समझना चाहिए। इसके अतिरिक्त नाटक की अन्य छोटी-छोटी घटनाएं जैसे 'फिलिप्स और कार्नोलिया', 'चंद्रगुप्त और मालविका', 'कल्याणी और पर्वतेश्वर' 'मालवदुर्ग में सिकंदर और उसका युद्ध'– ये सब प्रकरी अर्थ प्रकृतियाँ ही हैं। कथा प्रवाह रूप में ये प्रसंग मंच पर आते रहते हैं और अपना अस्तित्व लक्ष्य की सिद्धि विलीन करते हुए यथास्थान समाप्त होते जाते हैं। जब आम्भीक भी अपनी विरोधी भावना का परित्याग करके मगध सेना की पंक्ति में खड़ा होता है और राक्षस अपना विरोध भूलाकर पुन: मगध साम्राज्य को अपनी सेवा अर्पित करता है तब कार्य नाम की अर्थ प्रकृति निकट ही समझनी चाहिए।

(5) **कार्य–** कार्य अर्थ प्रकृति 'फलागम' कार्य अवस्था के ही समान है। इसमें नाटक के कार्य की उपलब्धि होती है। सेल्यूकस के पराजित होने पर, सीमा प्रान्त में विरोध शमन होते ही मौर्य साम्राज्य के अधीन होने पर, और भविष्य में किसी प्रकार के उपद्रव की आशंका न रहने पर तथा अन्त में यवनों से कार्नेलिया को स्थायी सन्धि के

नोट

प्रतीक रूप में लेने पर कार्य अर्थ-प्रकृति दिखाई देती है। 'मेघ रहित चंद्र' के समान चंद्रगुप्त को सिंहासन पर आरूढ़ देखकर चाणक्य जैसी प्रेरक शक्ति भी तटस्थ हो जाती है। उसी समय नाटक का कार्य सम्पन्न हो जाता है।

सन्धियाँ– 'सन्धि' शब्द का अर्थ है मेल या जोड़। नाटक में भी इनका स्थिति कार्य अवस्थाओं अर्थ प्रकृतियों के सन्धि-स्थल पर ही होती है। कार्य अवस्था जहाँ पर समाप्त होती है, वहीं पर सन्धि विशेष अर्थ प्रकृति से मेल करा देती है। 'दशरूपकार' ने 'सन्धि' का लक्षण इस प्रकार दिया है–

'अर्थप्रकृतयः पच पंचावस्था समन्विताः।
यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्या पंचसंधयः॥

अर्थात् जहाँ पंच अर्थ प्रकृतियाँ-यथाक्रम रूप से समन्वित हों वहाँ क्रमशः मुखादि पांच सन्धियाँ उत्पन्न हाती हैं। 'साहित्यदर्पणकार' ने प्रायः ऐसी ही परिभाषा के साथ 'इतिवृत्तस्य भाग': जोड़कर सन्धियों को कथानक का भाग कहा है। सन्धियाँ कार्य अवस्थाओं और अर्थ प्रकृतियों के अनुसार ही संख्या में पाँच ही हैं, यथा– 1. मुख, 2. प्रतिमुख, 3. गर्भ, 4. विमर्श, और 5. निर्वहरण अथवा उपसंहार। दशरूपकार ने इन्हीं सन्धियों के पांच उद्देश्य बताए हैं–

'इष्टस्याऽर्थस्य रचना, गोप्यगुप्तिः प्रकाशनम्।
रागः प्रयोगस्याऽङ्र्य वृत्तान्तस्यानुपक्षयः॥'

अर्थात् (1) इष्टार्थ की रचना; (2) गोपनीय आशंका गोपन; (3) प्रकाश्य अंश का प्रकाशन; (4) राग-प्रयोग; (5) आश्चर्य उत्पन्न करना। इस प्रकार कार्य-अवस्थाओं, अर्थ प्रकृतियों और सन्धियों में दृष्टिकोण का भेद है। अर्थप्रकृतियों का संबंध कार्य-सिद्धि के साधनों से है। अवस्थाएँ कार्यसिद्धि की श्रेणियों से संबंध रखती हैं। सन्धियाँ कथानक भाग से अपना संबंध रखती है।

संधियों के स्थलनिर्देश चंद्रगुप्त नाटक में आवश्य है। जब सिंहरण और चाणक्य के संवाद के नाटक में आरम्भ कार्य अवस्था होती है। उसी समय बीज अर्थप्रकृति चंद्रगुप्त के आर्यावर्त के उद्धार संकल्प से प्रारम्भ होती है। उसी स्थल पर मुख संधि की स्थिति समझनी चाहिए और यह 'मुख सन्धि' चाणक्य के पर्वतेश्वर के यहाँ सहायता-याचना के लिए जाने तक लगभग प्रथम अंक के आठवें दृश्य तक रहती है। तदुपरांत अनुकूल अवस्था में झूलती हुई प्रतिमुख सन्धि अग्रसर होती है। पर्वतेश्वर द्वारा चाणक्य को तिरस्कृत करके निकालना प्रतिकूल अवस्था है और दाण्डायन द्वारा चंद्रगुप्त के सम्राट होने की भविष्यवाणी अनुकूल अवस्था है। यहीं पर 'प्रतिमुख सन्धि का अवसान है क्योंकि प्रधान फल का प्रमुख इतिवृत्त कहीं प्रकट दिखाई देता है, कहीं प्रच्छन्न दिखाई देता है। ये पक्ष-विपक्ष की बातें सिकन्दर के लौटने तक चलती हैं क्योंकि प्रतिमुख सन्धि में बीज कुछ अलक्षित रूप में दिखाई देता है। 'गर्भ' सन्धि इसको इसलिए कहते हैं कि इसके अन्तर्गत फल छिपा रहता है। उपाय आवृत्त दिखाई देने के कारण कार्य विस्तार विस्तृत दिखाई देने लगता है। इसमें प्राप्त्याशा और पताका का योग रहता है। चंद्रगुप्त नाटक में कार्य बनने या बिगड़ने के रूप में द्विधा का अंश नन्द की मृत्यु और चंद्रगुप्त के राज्यारोहण तक चलता है। गर्भ सन्धि में प्राप्त्याशा कम ही दिखाई देता है। 'अवमर्श' सन्धि में नियताप्ति प्रकरी का सन्धिस्थल होता है। इसमें कार्यसिद्धि के मार्ग में नई बाधा उठी हुई दिखाई देती है। चंद्रगुप्त के सिंहासन पर बैठते ही सेल्यूकस का आक्रमण मौर्य साम्राज्य की स्थापना का बाधक रूप ही है। चंद्रगुप्त के इस कथन में अवमर्श सन्धि का स्थल झलकता है कि ''पिता गए, माता गई, गुरुदेव गये, कन्धे से कन्धा भिड़ाकर प्राण देने वाला चिर-सहचर सिंहरण गया, तो भी चंद्रगुप्त को रहना पड़ेगा।'' 'अवमर्श' सन्धि की यह स्थिति क्रोध और असन्तोष के कारण उत्पन्न हुई है। 'निर्वहरण' सन्धि में कार्य और फलागम का योग होकर नाटक पूर्णता को प्राप्त होता है। जब आम्भीक अपनी विरोधी भावना को परित्यक्त करके मागधों से मिल जाता है तथा राक्षस अपनी प्रतिद्वन्द्विता का परित्याग मित्रता में कर देता है, साथ ही अन्य सम्पूर्ण विघ्न शान्त दिखाई देते हैं और कार्नेलिया को देकर स्थिर संधि के साथ सेल्यूकस पराभूत होता है। उस समय कार्य सिद्धि के रूप में 'निर्वहरण' संधि भी सम्मुख होती है। इस प्रकार इन तीनों की दृष्टि से 'चंद्रगुप्त' नाटक सफल माना-जाना चाहिए।

नोट

अर्थोपक्षेपक– नाटक के अन्तर्गत आई हुई सामग्री दो प्रकार की होती है। एक तो वह जो मंच पर घटित होती हुई दिखाई देती है उसे 'दृश्य श्रव्य' कहते हैं। दूसरी वह जो घटित होती हुई न दिखाकर पात्रों द्वारा किसी प्रकार सूचना दिला दी जाती है, जिससे कथानक की पूर्ति हो सके। इसे सूच्य सामग्री कहते हैं। मंच पर वर्जित दृश्यों जैसे मृत्यु, क्रांति, स्नान, भोजन आदि को मंच पर नहीं दिखाया जाता क्योंकि ये दृश्य इसके विरोधक होते हैं। कुछ दृश्य अभिनय के योग्य होते अथवा गौण होते हैं, परन्तु मुख्य कथा का सूत्र मिलाये रखने के लिए आवश्यक होते हैं, अत: उनकी उपेक्षा सम्भव नहीं है। जो इस प्रकार के सामग्री मंच पर अभिनीत की जाती है उसे अंकों और दृश्यों में विभाजित करके रख दिया जाता है, परन्तु जिन घटनाओं की मात्र सूचना ही दी जाती है उन्हें दृश्य के अन्त में कोष्ठक में रखा जाता है। इसी सूच्य सामग्री की सूचना देने के लिए अर्थोपक्षेपक होते हैं। ये निम्न पांच हैं–

(1) **विष्कम्भक–** विष्कम्भक में पहले हो जाने वाली अथवा बाद में होने वाली घटनाओं की सूचना दी जाती है। यह कथोपकथन दो पात्रों के मध्य में होता है, पर ये दोनों पात्र प्रधान नहीं होते। इस दृश्य की स्थिति नाटक के आरंभ में अथवा दो अंकों के मध्य में होती है। पात्रों की उत्तमता के अनुसार ही विष्कम्भक के भी शुद्ध और संकर दो भेद होते हैं। शुद्ध विष्कम्भक में पात्र शुद्ध भाषा एवं अपने परिष्कृत जीवन का परिचय देते हैं। मध्यम या निम्न श्रेणी के पात्र अशुद्ध भाषा में चलाऊ ढंग से घटना की सूचना असंस्कृत रूप में देते हैं। इस प्रकार कथोपकथन संकर विष्कम्भक कहलाता है। पर अब इस प्रकार के दृश्य का ऐतिहासिक महत्त्व अथवा नाट्य शास्त्रीय दृष्टि से विवेचन भर के लिए अवशेष रह गया है, वैसे आधुनिक हिन्दी नाटकों के पात्रों को उच्च एवं निम्न श्रेणी के रूप में विभाजित करना सम्भव नहीं है। 'चंद्रगुप्त नाटक में इस प्रकार का विष्कम्भक नहीं मिलता। हाँ, नन्द की वाटिका में दो विद्यार्थियों द्वारा मगध साम्राज्य की क्रूरता का कुछ संकेत भर मिलता है, पर वह विष्कम्भक की कोटि में नहीं आता।

(2) **चूलिका–** जिस कथा भाग की सूचना पर्दे के पीछे से अथवा नेपथ्य से दी जाती है उसे चूलिका कहते हैं। चंद्रगुप्त नाटक में शास्त्रीय दृष्टि से खरी उतरने वाली 'चूलिका' की उपलब्धि भी नहीं होती है। हाँ, प्रथम अंक में राजा के अहेरी चीते के छूट जाने की सूचना पर्दे के पीछे से कराई है तथा तृतीय अंक में पर्वतेश्वर द्वारा यवन पराभव की सूचना चाणक्य को दिलाई गई है, पर ये चूलिका के शुद्ध उदाहरण नहीं हैं।

(3) **अकास्य–** अंक के अन्त में मंच से बाहर जाने वाले पात्रों द्वारा जब अगले अंक की सूचना दिलाई जाती है उसे अंकास्य कहते हैं। चंद्रगुप्त नाटक में कहीं-कहीं चाणक्य द्वारा दृश्य के अन्त में अथवा अंक के मध्य में कहीं भी अग्रिम कथा की ओर संकेत भर कर दिया गया है, पर शास्त्रीय अंकास्य कहीं भी देखने को नहीं मिलता।

(4) **अंकावतार–** नाटक में प्रवेशक द्वारा घटनाओं की सूचना दिलाई जाती है। चाहे वह अंक के अन्त में अथवा दृश्य के मध्य में हो परन्तु विष्कम्भक में नाटक के आरम्भ में अथवा दो अंकों के मध्य में ही सूचना दिखाई जाती है। प्रवेशक द्वारा सूचना देने वाले पात्र सभी निम्न श्रेणी के होते हैं और असंस्कृत भाषा बोलते हैं। चंद्रगुप्त नाटक में प्रवेशक का भी अभाव ही है। इन अर्थोपक्षेपकों से नाटककार को नाटक सृजन करने में तथा निर्देशक को नाटक का अभिनय करने में बड़ी सहायता मिलती है, इसमें रसोत्पादन की क्षमता नहीं होती क्योंकि ये विवरणात्मक ही होते हैं।

कथोपकथन– नाटक में तीन प्रकार के कथोपकथन रहते हैं– सर्वश्राव्य, अश्राव्य और नियतश्राव्य। पहला कथोपकथन वह होता है जो सभी के सुनने के लिए होता है। चंद्रगुप्त में प्राय: सभी कथोपकथन इसी प्रकार के हैं। दूसरा अश्राव्य कथन यद्यपि किसी को सुनाने के लिए नहीं होता फिर भी मुखरित होने के प्रेक्षक सुन लेते हैं। यह स्वगत-कथन का ही एक रूप होता है क्योंकि यह स्वगत-कथन की भांति लम्बा नहीं होता, पर स्वगत-कथन की भांति भावावेश में व्यक्त किया जाता है। हिन्दी नाटकों में इसकी अस्वाभाविकता मिटाने के लिए किसी आत्मीय अथवा विश्वासपात्र सखा की सृष्टि कर ली जाती है, जिसके सम्मुख भली प्रकार आत्म विश्लेषण किया जाता है। चंद्रगुप्त नाटक में अलका, मालविका एवं चाणक्य के कुछ कथन इसी कोटि में आते हैं। तीसरा, नियतश्रव्य वह कथन होता है पर प्रेक्षक सब-कुछ सुन ही लेते हैं। यह दो प्रकार का होता है– अपवारित और जनान्तिक। अपवारित

नोट

में जिस पात्र में बात छिपानी है उसकी ओर से मुँह फेर दूसरे पात्र से बात कही जाती है। 'जनान्तिक' में अंगूठा और छोटी अंगुली को छोड़कर तीन अंगुलियों से आवरण-सा बनाकर मुंह की ओर ले जाते हुए पात्र विशेष को छोड़कर अन्य पात्र अथवा पात्रों से बात कही जाती है। विश्लेषणीय नाटक में यह तीसरे प्रकार का कथोपकथन नहीं पाया जाता।

कथोपकथन का एक प्रकार और है जिसे 'आकाश भाषित' कहते हैं। इसमें कोई पात्र आकाश की ओर मुंह करके कल्पित व्यक्ति अथवा भावनामय होकर बात करता हुआ दिखाया जाता है। बन्दीगृह में पड़े हुए चाणक्य का कथन इसी प्रकार कहा जा सकता है।

स्व-मूल्यांकन

सही विकल्प चुनिए–

1. नाटक के शास्त्रीय नियमों में नाटक की प्राप्ति फल की आशा को ..... कहते हैं।
   (क) नियताप्ति (ख) फलागम (ग) प्राप्त्याशा
2. नाटक की कथा ..... विभाजित होती है।
   (क) सर्गों में (ख) अंकों में (ग) खण्डों में
3. नाटक में कार्य की ..... अवस्थाएँ मानी गई हैं।
   (क) चार (ख) पाँच (ग) आठ
4. अंक के अंत में मंच से बाहर जाने वाले पात्रों द्वारा अगले अंक के विषय में जो सूचना दिलाई जाती है। उसे ..... कहते हैं?
   (क) चूलिका (ख) विष्कंभक (ग) अकास्य

विदूषक– नाटक में हास्य के स्थल लाने के लिए संस्कृत नाटककारों ने विदूषक पात्र का सृजन किया है। जितना भी नाटक में हास्य-विनोद दिखाई देता है वह सब इसी पात्र के चारों ओर चक्कर काटता दिखाई देता है। विदूषक पात्र ब्राह्मण होता था जिसका चरित्र 'पेटू' या 'खाऊ' में रहता था, पर वह राजा का विश्वासपात्र एवं अंतरंग सखा होता था। सम्भव है सलाहकार के पद पर रखने के कारण उसे ब्राह्मण रहना पड़ता हो। अपनी अंतरंगता के कारण ही वह अन्त:पुर में भी प्रवेश पाने का अधिकारी था। राजा उसे 'वयस्क' एवं 'मित्र' कहकर सम्बोधित करता था। अंग्रेजी नाटकों का 'क्लाउन' विदूषक का ही प्रतिरूप है।

प्रसाद जी की प्रकृति प्रारम्भ से ही अधिक गम्भीर एवं दार्शनिक रही है, जो हास-परिहास के सर्वथा प्रतिकूल पड़ती है। अत: इस प्रकार का संघर्षपूर्ण मस्तिष्क किस प्रकार विदूषक जैसे पात्रों काा सृजन करके नाटकों के वातावरण को हास-परिहास से परिपूर्ण करके शिथिल बना सकता था; पर ऐसी बात नहीं है कि प्रसाद जी ने अपने नाटकों में विदूषक जैसे पात्रों के असृजन को सौगन्ध खा रखी हो। उन नाटकों में, जिनमें कथा-व्यापार का वेग इतना तीव्र होता है कि विश्राम लेने का अवसर ही नहीं मिलता, ऐसे पात्रों की अवतरण तो दूर रही, गन्ध भी नहीं आ सकी है, जैसे– चंद्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी नाटकों में ऐसा कोई पात्र नहीं है। पर किसी-किसी नाटक में संस्कृत नाटकों की भांति ही स्वतंत्र रूप से विदूषक का भी सृजन किया है, जैसे– 'अजातशत्रु' नाटक में वसन्तक 'स्कन्दगुप्त' में मुद्गल। इनकी चारित्रिक विशेषतायें भी प्राचीन नाटकों जैसी ही हैं। इनके अतिरिक्त अन्य नाटकों में प्रसाद जी ने पात्र-विशेषों को ही विनोदी प्रकृति का बनाकर विदूषक का कार्य निकाला है, जैसे– महापिंगल विकटघोष, काश्यप आदि ये सभी राजाओं के अन्तरंग मित्रों के रूप में हैं, जिनकी प्रकृति आलोचना करना, अभीष्ट सिद्धि में योग देना, छूटे हुए कथांशों को सूत्र बद्ध करते जाना, दूतत्व करने के रूप में एवं अपने विनोद पूर्ण व्यंग्यों से पाठकों और प्रेक्षकों को प्रसन्न करते चलना-इनका मुख्य धर्म है। पर 'चंद्रगुप्त' नाटक विदूषक सृष्टि की दृष्टि से अभागा ही रहा।

नोट

अंक एवं दृश्य– चंद्रगुप्त नाटक चार अंकों में विभाजित है। प्रथम अंक में ग्यारह, द्वितीय में दस, तृतीय में नौ दृश्य हैं तथा चतुर्थ में चौदह दृश्य हैं। इस प्रकार चारों अंकों में 44 दृश्य हैं। सिद्धान्ततः नाटक में पांच अंक होने चाहिए-जिस प्रकार स्कन्दगुप्त नाटक में अन्य नाटकों में तीन ही अंक दिखाई देते हैं। चंद्रगुप्त नाटक में तो और ही विशेषता है कि उसमें चार अंक हैं। अनुमानतः प्रसाद जी की इच्छा इस नाटक को भी पांच ही अंकों में विभाजित करने की रही होगी, पर किन्हीं कारणों से उन्होंने पंचम अंक को भी चतुर्थ अंक में समाहित कर दिया है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण भी है कि नाटकों में सर्वाधिक दृश्य संख्या हैं। चतुर्थ अंक में पंचम अंक का विभाजन स्वतंत्र रूप से भी हो सकता था। चाणक्य और सिंहरण के चले जाने पर एकाकी चंद्रगुप्त को स्वावलम्बी रूप में छोड़कर ही चतुर्थ अंक की समाप्ति की जा सकती थी और इससे चंद्रगुप्त के व्यक्तित्व का निखार भी खूब होता तथा पांचवाँ अंक सेल्यूकस के अभियान और उसके पराभव से परिपूर्ण हो सकता था।

प्रसाद जी ने चंद्रगुप्त में तो क्या, किसी भी नाटक में सूक्ष्म-दृश्य और दीर्घ-दृश्यों का पृथक-पृथक विभाजन नहीं किया, पर उनके कार्य-व्यापार को देखकर उनका भेद किया जा सकता है।

अभिनय करते समय चंद्रगुप्त के कई दृश्य तो ऐसे हैं जो हटाये जा सकते हैं अथवा दूसरे दृश्य में समन्वित किए जा सकते हैं किसी-किसी दृश्य की सिद्धि उनकी सूचनामात्र से ही हो सकती है, जैसे– प्रथम अंक का तृतीय दृश्य पाटलिपुत्र का भग्न 'कुटीर' द्वितीय अंक का पांचवां दृश्य 'घायल सिंहरण और अलका', छठा दृश्य 'मालवों की स्कन्धावार में युद्ध-परिषद्', तृतीय अंक का प्रथम दृश्य 'राक्षस को बन्दी बनाने की चेष्टा' जिसमें है। इस प्रकार यह निश्चित है कि यदि विधिपूर्वक दृश्यों का पुनर्विभाजन किया जाता तो निश्चित ही विस्तार में लाघव होता तथा नाटक की अभिनेयता बढ़ती। पर विषय-संगठन की दृष्टि से विचार किया जाए तो, प्रसाद जी की विषय-विभाजक पटुता स्पष्ट ही दिखाई देती है। यह वे भली प्रकार जानते हैं कि किस घटना से अंक अथवा दृश्य आरम्भ किया जाए, जिससे अर्थ-ध्वनि एवं प्रभाव सर्वाधिक पड़ सके। दृश्यों के अन्तर्गत घटनाओं के उतार-चढ़ाव एवं कार्य-श्रृंखलाओं की कसावट 'चंद्रगुप्त' नाटक में पर्याप्त मात्रा में है। अंकों अथवा दृश्यों के आरम्भ में मुख्य विषय का स्पष्ट निवेदन उल्लिखित रहता है, जिसका सभी परिस्थितियों में क्रमिक विकास दिखाई देता है। प्रत्येक अंक में अन्त में पूर्ण प्रभावान्वित बनी रहती है। उनके अन्त में साहित्यिक पटुता का भी समावेश बना रहता है। प्रथम अंक की समाप्ति दाण्डायन के आश्रम के अलौकिक प्रभाव से भर गई है। द्वितीय अंक के अन्त में उत्कर्ष का सुन्दर स्वरूप देखने को मिल रहा है। तृतीय अंक की समाप्ति नन्द के पराभूत होने एवं चंद्रगुप्त के राज्याभिषेक क कारण आनन्दपूर्ण बन पड़ी है। चतुर्थ अंक का अन्त तो सर्वातिशय उत्कर्ष का द्योतक है। इस प्रकार प्रबन्ध-पटुता की दृष्टि से नाटककार प्रसाद 'चंद्रगुप्त' नाटक में पूर्णरूपेण सफल दिखाई देते हैं।

8.2 सारांश

नाट्य दृष्टि से वर्तमान में आधुनिक समीक्षा सिद्धांतों के कारण नाटकों को नाट्य शास्त्रीय कसौटी के आधर पर परखने का चयन लगभग समाप्त-सा हो गया है। आलोचकों का मत है कि जब आधुनिक विषयों को लेकर नाटकों का सृजन हो रहा है तो नवीन कसौटियों पर उनका निखार और सौन्दर्य देखना परखना चाहिए। फिर भी 'चंद्रगुप्त नाटक' आधुनिक समय में लिखा जाकर भी ऐतिहासिक कथानक को समेटे हुए है और भारतीय नाट्य-शैली की मान्यताओं से अत्यधिक प्रभावित है। अतः शास्त्रीय-दृष्टि से कार्य-अवस्थाओं, अर्थ-प्रकृतियों और सन्धियों आदि की कसौटी के आधार पर भी इसका अध्ययन वांछनीय है। चंद्रगुप्त नाटक में आरम्भ प्रथम अंक के प्रथम् दृश्य में ही हो जाता है, परन्तु प्रारम्भ वहाँ तक समझना चाहिए जहाँ तक कि नाटक की घटनाओं और पात्रों के जीवन के लक्ष्य का परिचय प्राप्त होता है। इस नाटक में आरम्भ अंश उस सीमा तक है जहाँ तक कि चंद्रगुप्त और चाणक्य

नोट

के क्रोध और अपमान का इतिवृत्त चलता है। कार्यावस्था में इच्छाविशेष या प्रतिज्ञाविशेष की स्फूर्ति के लिए नाटक के प्रमुख पात्र प्रयत्नशील दिखाई देते हैं। चंद्रगुप्त और चाणक्य दोनों ही नाटक में अपनी-अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार 'फलप्राप्ति' की ओर प्रयत्न करते हुए दिखाई देते हैं।

प्राप्त्याशा– यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते कथानक और पात्र फल-प्राप्ति की निश्चय ही आशा करने लगते हैं। तात्पर्य है कि फलोपलब्धि की संभावना बन ही जाती है। कथानक के विकास की इस चौथी श्रेणी में पहुँचते-पहुँचते फल-प्राप्ति की आशा अथवा सम्भावना विश्वास में परिणत हो जाती है फल-प्राप्ति के निकट ही दिखाई देती है। चंद्रगुप्त नाटक में जब कथानक विकसित होते हुए इस अवस्था तक पहुँच चुका होता है तब तक मगध के आधे राज्य के अधिकारी पर्वतेश्वर और नन्दकुल के अवशेष कल्याणी की हत्या हो चुकी होती है और गृह-कलह उत्पादक राक्षस एवं मौर्य अनुकूल बन चुके हैं।

फलागम– कथानक-विकास की अन्तिम परिणति है फलागम में। यहाँ पर पहुँच कर नाटककार अपने लक्ष्य की प्राप्ति करता है। नाटक के अन्तिम दृश्य में फल की प्रत्यक्ष-प्राप्ति होती है। भारतीय नाट्य-परम्परा में नाटक को सुखान्त दिखाने की परिपाटी है। इसी के अनुसार चंद्रगुप्त नाटक भी सुखान्त नाटक है, जिसमें चंद्रगुप्त का सम्राट होना, आन्तरिक कलह का शमन होना, शत्रु यवनों का निष्कासन होना तथा चाणक्य का प्रसन्नचित्त होकर पुनः आश्रम की ओर गमन करना आदि सुखदायक अनुभूतियाँ ही पाठक को अन्त में अनुभूत होती हैं। नाटक का अन्त बहुत ही कलापूर्ण ढंग से किया गया है। मौर्य साम्राज्य की दृढ़ स्थापना, जो राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत है, पाठकों और प्रेक्षकों के हृदयों को मोदित कर देती है। अन्तःकलह पूर्णरूपेण शान्त हो चुकता है। सीमा-प्रान्तों में मौर्यशासन का पूर्ण नियंत्रण हो चुकता है। इन्हीं विरोधों को शान्त करने के लिए ही तृतीय अंक के अंत में चंद्रगुप्त का राजतिलक हो चुकने पर भी नाटक की समाप्ति नहीं की गई।

8.3 शब्दकोश

1. **वृषल–** शूद्र, नर्तक, बैल, कुकर्मी और पापी
2. **प्राप्त्याशा–** प्राप्ति की आशा, मिलने की आशा
3. **नियताप्ति–** नाटक की एक अवस्था जिसमें फल प्राप्ति निश्चित होती है।

8.4 अभ्यास-प्रश्न

1. नाटक के तत्त्वों के आधार चंद्रगुप्त की समीक्षा कीजिए।

उत्तरः स्व-मूल्यांकन

1. (ग) 2. (ख) 3. (ख) 4. (ग)

8.5 संदर्भ पुस्तकें

1. *नाटककार जयशंकर प्रसाद*– सम्पादकः सत्येन्द्र कुमार तनेजा, राधाकृष्ण प्रकाशक, दिल्ली।
2. *हिंदी नाटक*–रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली।
3. *चन्द्रगुप्त*–जयशंकर प्रसाद, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

नोट

इकाई 9: आधे-अधूरे: कथासार एवं महत्त्वपूर्ण अंशों की सप्रसंग व्याख्या

अनुक्रमणिका

उद्देश्य

प्रस्तावना

9.1 आधे-अधूरे– कथासार

9.2 आधे-अधूरे– सप्रसंग व्याख्या

9.3 अभ्यास-प्रश्न

9.4 संदर्भ पुस्तकें

उद्देश्य

विद्यार्थी इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् सक्षम होंगे–

- आधे-अधूरे नाटक की कथा वस्तु को समझने एवं उसकी व्याख्या करने में।

प्रस्तावना

'आधे-अधूरे' स्वर्गीय मोहन राकेश की रचना-प्रक्रिया और काल-क्रम की दृष्टि से तीसरा नाटक है। वस्तु-योजना और रचना-प्रक्रिया दोनों दृष्टियों से राकेश का यह नाटक क्रमशः पहले नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' और दूसरे नाटक 'लहरों के राजहंस' से एकदम भिन्न है। पहले दो नाटकों से सर्वथा हटकर 'आधे-अधूरे' नाटक की वस्तु-योजना एवं रूप-विधान से सर्वथा नवीन एवं अद्‌भुत सृजनात्मक प्रतिभा का परिचय दिया है। इसमें नाटककार सकदम नये सृजक एवं कल्पनाशील व्यक्ति के रूप में प्रकट हुआ है। यहाँ 'आधे-अधूरे नाटक की कथावस्तु एवं कुछ महत्त्वपूर्ण अंशों की व्याख्या प्रस्तुत है।

9.1 आधे अधूरे : कथासार

नाटककार मोहन राकेश ने 'आधे अधूरे' की कथावस्तु को एक ऐसे नव्य रूप में प्रस्तुत किया है जिससे सहज ही स्वातंत्र्योत्तर चेतना का आभास होता है। मोहन राकेश ने मध्य वर्गीय परिवार के घर को मंच पर प्रस्तुत करके एक ऐसे व्यक्ति को उद्‌घोषक के रूप में सामने रखा है जो नाटकीय कथावस्तु के रेशे-रेशे को अपने उद्‌घाटन–विचारों एवं कथनों से दर्शकों को परिचित करा देता है। यह उद्‌घोषक व्यक्ति अपने कथनानुसार नाटक में आये चार पुरुष पात्रों की भूमिकाएँ अभिनीत करता है। पुरुष एक के रूप में वह नाटक का नायक महेन्द्रनाथ है और पतलून-कमीज पहने हुए है, पुरुष दो की भूमिका में सिंघानिया रूप में पतलून और बंद गले का कोट पहने है, पुरुष तीन की भूमिका में जगमोहन पतलून-टी-शर्ट पहने तथा पुरुष चार की भूमिका में जुनेजा पतलून के साथ पुरानी काट का लंबा कोट पहने है। इस व्यक्ति की आयु लगभग उनचास-पचास वर्ष है और अपनी विभिन्न भूमिकाओं में यह प्रखर व्यक्तित्व-सम्पन्न पुरुष केवल अपने बाह्याचार एवं वस्त्र-परिवर्तन से प्रकट होता है और व्यक्ति की दुहरी, तिहरी और चतुर्मुखी भंगिमाओं का निदर्शन कराता है। नाटककार ने अपने पात्रों का परिचय देते समय उक्त व्यक्ति की विभिन्न भूमिकावत् चारित्रिकता की ओर भी स्पष्ट संकेत कर दिये है। इसके अतिरिक्त नाटक

नोट

की नायिका, जिसे स्त्री संबोधन दिया गया है, की आयु लगभग चालीस वर्ष बतायी गयी है। लेखक के अनुसार उसके चेहरे पर यौवन की चमक है किन्तु अभी वासना मिटी नहीं है। बड़ी लड़की की आयु बीस वर्ष, लड़के की आयु लगभग इक्कीस वर्ष और छोटी लड़की की आयु बारह-तेरह वर्ष है। बड़ी लड़की के व्यक्तित्व में कदाचित थकान का भाव मुखर है जबकि शेष दोनों में विद्रोह अधिक दिखायी देता है।

दर्शक (पाठक) का साक्षात्कार सर्व प्रथम उसी विलक्षण पुरुष से होता है जो मंच के अंधेरे को चीर कर उभरता दिखायी देता है। मंच पर एक ऐसा घर है जिसे देखकर उसमें रहने वाले व्यक्तियों के बिखराव एवं उच्छृंखलता-भरे व्यक्तित्व की झांकी मिल जाती है। इस घर में अतीत स्तर के कई एक टूटते अवशेष- सोफा सेट, डाइनिंग टेबल, कबर्ड और ड्रेसिंग टेबल आदि- किसी-न-किसी तरह अपने लिए जगह बनाए हुए है। सामान में कहीं एक तिपाई; कहीं दो-एक मोढ़े, कहीं फटी-पुरानी किताबों की एक शेल्फ और कहीं पढ़ने की एक मेज-कुरसी भी है। कुछ सेकेंड बाद वह सिगार के कश खींच रहा है। एक अधटूटा टी-सेट उसके सामने डाइनिंग टेबल पर दिखायी देता है। कुछ क्षणों बाद काले सूट वाला आदमी कुछ अन्तर्मुखी भाव से सिगार की राख झाड़ता हुआ दीखता है और पुनः कुछ क्षण रहकर वह भाषण देने की-सी मुद्रा में उठ खड़ा होता है और दर्शकों की ओर स्पष्टतया उन्मुख होकर कहने लगता है- ''मैं नहीं जानता आप क्या समझ रहे हैं। मैं कौन हूं, और क्या आशा कर रहे हैं मैं क्या कहने जा रहा हूं। आप शायद सोचते हों कि मैं इस नाटक में कोई एक निश्चित इकाई हूँ-अभिनेता, प्रस्तुतकर्त्ता, व्यवस्थापक या कुछ और। परन्तु मैं अपने सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कह सकता – उसी तरह जैसे इस नाटक के सम्बन्ध में नहीं कह सकता है।''

इस प्रकार काले सूट वाला व्यक्ति दर्शकों के सम्मुख उस अनिश्चितता को फेंक देता है। जिसे पकड़ना दर्शकों का ही काम है। इसीलिए वह जब अपना परिचय देता है तब भी यही कहता है कि अपना कोई व्यक्तित्व नहीं है और कि उसके समय व्यक्तित्व को यदि दर्शक देखना ही चाहते हैं तो वे स्वयं को टटोलें क्योंकि – ''अपने बारे में इतना कह देना ही काफी है कि सड़क के फुटपाथ पर चलते आप अचानक जिस आदमी से टकरा जाते हैं, वह आदमी मैं हूँ।'' मतलब यह है कि – ''विभाजित होकर मैं किसी न किसी अंश में आपमें से हर एक व्यक्ति हूं और यही कारण है कि नाटक के बाहर हो या अन्दर, मेरी कोई निश्चित भूमिका नहीं है।''

काले सूट वाले का यह कथन नाटकीय कथा को दर्शकों के सम्मुख खोल जाता है और उसके जाते ही मंच पर कुछ क्षणों के लिए अंधकार छा जाता है। कुछ क्षण उपरान्त जब मंच पर पुनः प्रकाश वृत्त उभरता है तो घर का वही दृश्य फिर से दर्शकों के सम्मुख उजागर हो उठता है – उसी अस्त-व्यस्त स्थिति में, उसी समय नाटक की नायिका, जिसे बाद में सावित्री नाम से पुकारा गया है, अपने हाथों में कुछ सामान लिये घर में प्रवेश करती दीखती है। उसकी भाव-भंगिमा से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह काफी थकी हुई है, इसीलिए जब वह सामान को एक कुरसी पर रखती है तो उसका मुख उतरा-उतरा दिखायी देता है। किन्नी नाम की अपनी छोटी पुत्री को आवाज देकर भी जब वह घर में किसी का स्वर नहीं सुनती तो वह विक्षुब्ध हो उठती है। उसी समय कमरे का निरुद्देश्य निरीक्षण करते हुए उसकी दृष्टि किन्नी की उस पुस्तक पर पड़ती है जिसे उसने आज फाड़ दिया है। उसकी विक्षुब्धता और 'अधिक उग्र हो उठती है। इतना ही नहीं, वह देखती है कि उसका पति पाजामे को यो ही फेंक गया है और उसके पुत्र ने कुछ रसीली अभिनेत्रियों (जो विशेष कर विदेशी हैं) के चित्र काट-काट कर इधर-उधर बिखरा रखे हैं। वह ज्यों ही पाजामे को तहाकर संभालने को उद्यत होती है कि उसकी दृष्टि जूठे पड़े चाय के सामान पर पड़ जाती है और वह झल्लाकर पाजामा फेंक देती है और चाय के बरतनों को समेटकर घर के अन्दर चली जाती है।

आधे-अधूरे नाटक में मोहन-राकेश ने अपने पूर्ववर्ती नाटकों के ऐतिहासिक आधार को छोड़कर समाज की विसंगतियों, वैवाहिक जीवन की मध्यवर्गीय विडंबनाओं को बड़ी कुशलता से चित्रित किया है।

सावित्री का मन विक्षोभ से फटा जा रहा था और उसे लग रहा था कि उसका पति कितना निठल्ला और आलसी तथा लापरवाह है कि चाय बनाकर पी किन्तु इतना भी नहीं हुआ कि जूठे बरतनों को कम से कम रसोई में रख

नोट

दे। बल्कि वह घर खुला छोड़कर न जाने कहा चला गया। वह यह सब सोच ही रही थी कि उसी समय उसका पति घर के अन्दर आ गया और उल्टे सावित्री से ही प्रश्न करने लगा कि आज वह समय से पहले अपने दफ्तर से कैसे घर आ गयी। स्त्री उल्टे उसी से प्रश्न करती है कि वह कहाँ चला गया था? पुरुष एक–धीमें से कहता है कि यों ही जरा बाजार चला गया था। उसकी बातें सुनकर स्त्री उसके पाजामे को हाथ में लेकर झल्लाती हुई कहती है कि इस प्रकार वस्तुओं को बिखराना इस घर का रोज का कार्य हो गया है। इस पर पुरुष एक उर्फ महेन्द्रनाथ पाजामा माँगता है तो स्त्री उसे और अधिक झिड़क देती है और गुस्से से कबर्ड खोलकर पाजामे को उनमें ठूँस देती है। खिसियाया हुआ महेन्द्र एक कुरसी की पीठ पर हाथ रखता है। स्त्री कबर्ड से होकर ट्रे उठाती हुई पूछती है कि चाय किस-किस ने पी थी और पुरुष एक बताता है कि उसने अकेले पी थी। गुस्से में आकर स्त्री कहती है कि अकेले के लिए पूरी ट्रे सजाने की क्या अवश्यकता थी। क्या उसने किन्नी को दूध दिया था? इस पर पुरुष एक कहता है कि उसने उसे देखा ही नहीं। भिनभिनाती हुई स्त्री अहाते के दरवाजे से होकर पीछे रसोई घर में चली जाती है और पुरुष एक कुरसी को झुलाने लगता है। तभी स्त्री फिर वापस आ जाती है।

स्त्री बिखरी हुई वस्तुओं को समेटती हुई बताती है कि आज उसका बॉस सिंघानिया उसके घर आने वाला है। उसे किसी के यहाँ खाना खाने जानता है और वह पांच मिनट के लिए यहाँ भी रुकेगा। सिंघानिया के आने की खबर सुनकर पुरुष एक स्त्री पर व्यंग्य करता है तो स्त्री तिलमिला उठती है और जब वह पूछता है कि वह कब आयेगा तो स्त्री कहती है कि जब भी वह इधार से गुजरेगा, यहां भी आ जाएगा। चूँकि महेन्द्र इस बात से रुष्ट है कि सिंघानिया उसके घर आ रहा है तो वह ऐसे अवसर पर घर में नहना नहीं चाहता और कहता है कि यद्यपि उसे कहीं जाना है किन्तु यदि वह चाहें तो वह रुक भी सकता है तो स्त्री खीझकर कहती है कि मेरे लिए रुकने की जरूरत नहीं है। स्त्री फिर अंदर चली जाती है और महेन्द्र जेब से एक अखबार निकालकर उसे जोर-जोर से पढ़ने लगता है। उसी समय स्त्री फिर बाहर निकलती है और उससे पूछती है कि क्या उसे सचमुच कहीं जाना है तो वह बताता है कि उसे जुनेजा के यहाँ जाना है क्योंकि फिलहाल उसे देने के लिए पैसा नहीं है, तो कम से कम मुंह तो उसे दिखाते रहना चाहिए। वह छः महीने बाहर रहकर आया है। हो सकता है कोई नया कारोबार चलाने की सोच रहा हो जिसमें महेन्द्र का सहयोग भी वह ले। महेन्द्र की यह बातें सुनकर स्त्री जुनेजा पर बहत व्यंग्य करती है और कहती है कि उसी जुनेजा के कारण तो इस घर की यह बरबादी हुई है। उसका कहना है कि जुनेजा यदि इनकी मदद न करता, तो उतना नुकसान तो न होता जितना उसके मदद करने में हुआ है। पहली बार प्रे में जो हआ सो हुआ किन्तु फैक्टरी में भी तो हानि ही उठानी पड़ी और यह सब कृपा जुनेजा की ही थी। स्त्री के व्यंग्य से तिलमिलाकर पुरुष एक अर्थात् महेन्द्रनाथ कहता है कि घर की दशा गिरने में स्वयं उनके परिवार का हाथ था। शुरु-शुरु में जब पैसा था तब चार सौ रुपये महीने का मकान था। टैक्सियों में आना जाना होता था। किस्तों में फ्रिज खरीदा गया था। लड़के-लड़की की कान्वेंट की फीसें जाती थी। शराब आती थी। दावतें उड़ती थी और यही कारण था कि इस फिजूल खर्ची से विलासितापूर्ण जीवन व्यतीत करने वाला परिवार निग्न,स्तर पर आ गया। स्त्री पुरुष एक पर आरोप लगाती है कि वह लड़ना-झगड़ना चाहता है। ताकि उसी बहाने घर से चला जायें। वह यह भी बताती है कि जिस प्रकार वह स्वयं तीन-तीन दिन तक घर में दिखाई नहीं देता । पुरुष एक भी कह देता है कि उसकी बड़ी लड़की भी तो घर से किसी के साथ इसीलिए भगी थी क्योंकि अपनी माँ का प्रत्यक्ष प्रभाव उस पर आ गया था।

स्त्री निढाल हो उठती है और कहती है कि जब भी इस घर में कोई आने वाला होता है तो वह ऐसी ही बाते करता है। उसका कहना है कि पुरुष एक स्वयं तो बेकार है ही और लड़का भी बेकार है, इसलिए वह बड़े लोगों के साथ सम्पर्क बढ़ाना चाहती है, उन्हें घर पर बुलाती है ताकि किसी के माध्यम से लड़के की नौकरी दिला सके। किन्तु वह हर बार उल्टे उसी पर आरोप लगाता है। पुरुष एक व्यंग्य से बहता है, हाँ सिंघनिया तो लगवा ही देगा जरूर। इसीलिए बेचारा आता है यहाँ चलकर। स्त्री उसकी बातों से कुढ़कर कहती है कि वह यह क्यों नहीं सोचता कि एक इतना बड़ा आदमी सिर्फ एक बार कहने भर से उसके घर अपने लगा है। इस पर पुरुष एक फिर व्यंग्य करता है कि जब-जब किसी नये आदमी का यहाँ आना-जाना शुरू होता है, वह हमेशा शुक्र मानाता है। यहाँ

नोट

पर वह यह भी स्पष्ट करता है कि सिंघनिया पहला व्यक्ति नहीं है जो सावित्री के बुलावे से घर में आता है बल्कि इससे पहले जगमोहन और मनोज नामक व्यक्ति भी इस घर में आते रहे हैं। स्त्री पुरुष एक के व्यंग्य-प्रहारों से तिलमिला उठती है और गहरी-वितृष्णा के साथ कहती है– जितने नाशुके आदमी तुम हो, उससे तो मन करता है कि आज ही मैं इस घर को छोड़कर कहीं अन्यत्र चली जाऊँ।

इस प्रकार बड़बड़ाती हुई स्त्री अहाते के दरवाजे की ओर मुड़ती ही है कि बाहर से बड़ी लड़की का स्वर सुनासी देता है। स्त्री रुककर उस तरफ देखती है और उसका चेहरा कुछ फीका पड़ जाता है। इसका कारण यह है कि बड़ी लड़की एक दिन अपने के प्रेमी मनोज के साथ घर से भाग गयी थी किन्तु न जाने ऐसा क्सा था कि उन घर में भी वह निभा न सकी और बार-बार मनोज का घर छोड़कर भार आती थी। आज भी ऐसा लगता था कि सम्भवत: वह भागकर ही आयी है। इसीलिए जब स्त्री कहती है कि बाहर बीता आयर है तो पुरुष एक बड़े आपने भाव से अक्कबार लपेटकर उठ खड़ा होता है और तल्खी के साथ कहता है फिर उसी तरह आयी होगी? पुरुष एक पैसे देना है। स्त्री पल पर उधर देखती रहकर आगे के दरवाज़े में रसोई घर में से चली जाती है।

पुरुष एक बीना को बैठने को कहता है। उसी समय स्त्री दोनों हाथों में चाय की प्यालियां लिये अहाते के दरवाजे से आती है। कुशल क्षेम पूछने के बाद स्त्री बीना की सूजी हुई आँखें देखकर चौंक उठती है और इनका कारण पूछती है तो बीना टाल जाती है और मुंह-हाथ धोने गुसलखाने की ओर चली जाती है। बीना के जाते ही पुरुष एक स्त्री को बतता है कि बीना कुछ सम्मान लेकर भी नहीं आयी है इसलिए ऐसा लगता है कि वह फिर भान कर आयी है। किन्तु जब स्त्री 'थोड़ी देर के लिए आयी होगी', कहकर बात टालना चाहती है तो पुरुष एक कहता है कि उनके पासे पैसे भी तो नहीं थे और स्त्री से कहता है कि उसे बीना से आने का कारण पूछना चाहिए। स्त्री उनसे कहती है कि मैं क्या पूछूँ तब पुरुष एक व्यंग्य से कहता है कि क्या वह भी तुम्हें मुझे ही बताना होगा? वह कहता है कि मनोज के बारे में उस की राय कभी अच्छी नहीं थी किन्तु स्त्री ही बहुत चाहती थी उसे, और बार-बार उनकी प्रशंसा किया करती थी। स्त्री की शह से उसका घर में आना-जाना न होता तो क्या यह नौबत आती कि लड़की उनके पास जाकर बाद में इस प्रकार भाग कर आया करती? बीना के आने का कारण पूछने के प्रश्न को लेकर दोनों में काफी वाद-विवाद हाती है। यहीं पर जब पुरुष एक कहता है कि यदि उसके नियंत्रण में घर होता तो संभव है ऐसा न होता। इस पर सावित्री उर्फ स्त्री उस पर व्यंग्य करती हुई कहती है कि यदि ऐसा होता तो पता नहीं और क्या बरवादी हुई होती? दो रोटी आज मिल जाती हैं मेरी नौकरी से, वह भी न मिल पातीं। लड़की भी घर में रहकर ही बुढ़ा जाती। यहाँ पर यह यह स्पष्ट हो जाता है कि सावित्री की नौकरी से ही घर का पूरा खर्च चल रहा है और पुरुष एक अर्थात् महेन्द्रनाथ बेकार तथा निठल्ला व्यक्ति है। पुरुष एक को उसी सप्रय बीना आती दिखायी देती है और वह स्त्री को बता देता है कि वह आ रही है।

कमरे में आकर बड़ी लड़की गर्मी और उमस का बखान करती है किन्तु जब वह देखती है कि दोनों की दृष्टि उसके चेहरे पर जमी हुई है तो वह पूछती है कि क्सा बात है जो वे दोनों उसे इस तरह देख रहे हैं? तब स्त्री उससे पूछती है कि वह बार-बार क्यों इस प्रकार भाग कर यहां चली आया करती है। ऐसा लगता है कि तेरे मन में ऐसी कोई बात है कि जिसे तू अपने मन में ही छिपाये रहती है, हमें नहीं बतलाती । बीना पूछती है कि कैसी बात ? तो स्त्री पुरुष एक से कहती है कि वही बता दे और यहाँ पर फिर दोनों में तकरार हो जाती है। स्त्री उससे पूछती है कि क्या वह अपने नये घर में सुखी है तो बीना हां कर देती है किन्तु दोनों को ही इस कथन का विश्वास नहीं होता। इस पर बीना झल्ला उटती है किन्तु स्त्री उसे आश्वासन देती है और उसके कंधो पर हाथ रखकर उसे पढ़ने की मेज के पास ले जाती है और यहां कुरसी पर बिठाकर उससे पूछती है कि वह सच-सच बता दे कि उसे मनोज के घर में क्या शिकायत है। पहले तो बीना स्त्री के हर प्रश्न को टालती जाती है कि किन्तु अन्त में उसका आवेग फूट पड़ता है और वह कहती है कि शादी से पहले मुझे लगता था कि मनोज को बहुत अच्छी तरह जानती हूं। पर अब आकर लगने लगा है कि यह जानना बिल्कुल जानना नहीं था। उसका चरित्र अच्छा है। इस लिहाज से बहुत साफ आदमी है वह। स्वभाव से भी वह बहुत अच्छा आदमी है। आर्थिक स्थिति भी ठीक है किन्तु एक ऐसी ''हवा'' वह अपने साथ ले गयी है जिसने उनके दाम्पत्य जीवन को दुखद बना दिया है। वास्तव

नोट

में मैं इस घर से ही अपने अंदर कुछ ऐसी चीज लेकर गयी हूं जो किसी भी स्थिति में मुझे स्वाभाविक नहीं रहने देती है और वह चीज क्या है इसका पता मुझे अपने अंदर से, या इस घर के अन्दर से ही चल सकता है। मनोज स्वयं इस विषय में कुछ नहीं बता सकता।

बीना के वचनों को सुनकर पुरुष एक कहता है कि क्या मनोज यह सब कहता है तो स्त्री उसे टोक देती है और दोनों में पुनः वाक्युद्ध में होने लगता है। इस वाक्युद्ध पुरुष एक फिर जगमोहन का प्रसंग ले बैठता है और व्यंग्य करते हुए कहता है कि जगमोहल स्थानान्तरित होकर फिर दिल्ली में आ गया है और कुछ दिन पूर्व उसे कनाट प्लेस में मिला था। उसके अनुसार जगमोहन कह रहा था कि कभी वह उनके घर अवश्य आयेगा। बीना पुरुष एक को रोकना चाहती है किन्तु स्त्री खीझते हुए कहती है, खूब करो तारीफ और भी जिस जिसकी हो सके तुमसे।

बीना से जब स्त्री फिर पूछती है कि वह क्यों आती है तो बीना कहती है कि चाहते हुए भी वह मनोज के साथ स्वाभाविक नहीं रह पाती और यहाँ चली आती है ताकि इस घर से आकर वह एक बार फिर प्रयत्न करके यह देख ले कि इस घर में ऐसी वह क्या चीज है जिसके कारण उसे बार-बार अपमानित किया जाता है। बीना के इस प्रश्न को सुनकर पुरुष एक, स्त्री तथा स्वयं बीना एक अजीब कशमकश का अनुभव करके चुप रह जाते हैं। तभी छोटी लड़की किन्नी बाहर के दरवाजे से आती है और उन तीनों को उस तरह देखकर अचानक ठिठक जाती है। कुछ खिसियायी हुई-सी वह कहती है कि इस घर का तो कुछ पता ही नहीं चलता। जब वह स्कूल से आयी थी तो घर सूना पड़ा था। चूंकि घर में कोई भी नहीं था इसलिए वह स्वयं भी बाहर चली गयी थी और अब लौटकर आयी है तो मां, बाप और बड़ी बहन तीनों हैं किन्तु न जाने ऐसी क्या बात है कि सभी चुप हैं। स्त्री उसे झिड़कती हुई कहती है कि वह आते ही कहां चली गयी थी? इस पर किन्नी कहती है कि वह कहीं भी चली गयी थी इससे क्या, घर में था ही कौन जिसके पास वह बैठती। कुछ क्षण चुप रहकर वह पूछती है कि उसका दूध अभी गरम हुआ अथवा नहीं? इस पर स्त्री कहती है कि अभी हो जायेगा और फिर वह पुरुष एक से कहती है कि वह गरम कर रहा है या वह स्वयं जाये? पुरुष एक अखबार के टुकड़ों को दोनों हाथों से संभालता उठ खड़ा होता हैं और कहता है कि वही जायेगा। किन्नी अपनी स्कूली वस्तुओं की मांग करती है और मां के फटकारे जोन पर गुस्से में आकर कहती कि अशोक की तरह उसे भी वह स्कूल भेजना बँद क्यों नहीं कर देती। बड़ी लड़की उसकी इस ढिठाई पर व्यंग्य करती है तभी उसे स्त्री यह बताती है कि इस घर में अभी बाहर से कोई आने वाला है। बीना पूछती है कि कौन आने वाला है। स्त्री के उत्तर देने से पहले ही पुरुष एक दूध के गिलास में चीनी हिलाता अहाते के दरवाजे से आता है और बताता है कि स्त्री का नया बांस सिंघानिया आने वाला है। आजकल वह नये मेहमान के रूप में आता रहता है। इतना कहकर वह गिलास डाइनिंग टेबल पर छोड़कर बिना किसी की तरफ देखे वापस चला जाता है। स्त्री कड़वी दृष्टि से देखती रहती है। बीना उसके निकट आकर सहानुभूति दर्शाती है तो स्त्री रो पड़ने को हो उठती है और कहती है कि अब उससे इस घर में और अधिक दिन निर्वाह नहीं हो सकता। तभी पुरुष एक फिर कमरे में प्रवेश करता है और कुछ फाइलें ढूँढ़ने लगता है।

उसी समय अंदर के कमरे में लड़के अशोक से लड़ती-झगड़ती किन्नी फिर पांव पटकती बाहर निकल आती है और चीखती हुई कहती है अशोक अंदर अब तक पड़ा-पड़ा सो रहा था और उसने उसे जगा दिया तो वह उसके बाल खींचने लगा। उसी समय अशोक अंदर से आता है। और स्त्री उसे डांट देती है। अशोक बताता है कि किन्नी अभी बारह-तेरह वर्ष की कुल है किन्तु वह अभी से गंदी से गंदी पुस्तके पढ़ने लगी है। किन्नी कहती है कि वह पुस्तक अशोक की ही है और वह उसे अपने तकिये की नीचे रखकर सोया हुआ था इसलिए वह छिपकर उसे पढ़ने लगी थी। पुरुष एक अशोक से वह पुस्तक मांगता है तो अशोक कहता है कि वह उसे दिखाने लायक नहीं है। बीना अशोक से पूछती है कि क्या वह कैसानोवा वाली पुस्तक ही है, तभी पुरुष एक उत्तेजित हो उठता है और कहता है कि कितने साल हो चुके है मुझे जिन्दगी का भार ढोते? उनमें से कितने साल बीतें हैं मेरे इस परिवार की देख-रेख करते? और उस सबके बाद में आज पहुँचा कहां हूं? यहाँ कि जिसे देखी वही मुझसे उलटे ढंग से बात करता है ? जिसे देखो वही मुझसे बदतमीजी से पेश आता है? अशोक खिसिया जाता है किन्तु पुरुष एक अपमानित-सा अपना क्रोध निकालता रहता है और कहता है कि मैं जानना चाहता हूं कि मेरी क्या यही हैसियत

नोट

है इस घर में कि जो जब जिस वजह से जो भी कह दे, मैं चुप-चाप सुन लिया करूँ? हर वक्त की घुतकार, हर हर वक्त की कोंच, बस यही कमाई है यहां मेरी इतने सालों की। और इसका कारण बताते हुए वह स्वंयं कहता है, मुझे पता है मैं एक कीड़ा हूं, जिसने अन्दर ही अन्दर इस घर को खा लिया है। पर अब पेट भर गया है। हमेशा के लिए भर गया है। और इतना कहकर वह उत्तेजित स्थिति में ही घर से बाहर चला जाता है। सब लोग यह देख जड़-से हो जाते हैं। फिर किन्नी हाथ के टोस्ट को मुंह की ओर ले जाती है और उसे खाने लगती है।

क्या आप जानते हैं

आधे-अधूरे नाटक के संवादों की लयात्मकता में बहुत वैविध्य नहीं है, यद्यपि लड़के की वाणी में काट खाने वाला पैना व्यंग्य है।

बीना इस पारिवारिक तनाव से ढीली पड़ ढिठाई जाती है और उसके मुख पर यह प्रश्न उभरता है कि अब क्या होगा? तो स्त्री कहती है कि लौट जाएंगे रात तक। हर मंगल-समीचर यही सब होता है यहां। किन्नी के व्यवहार को देखकर बीना उसे झिडक देती है किन्तु किन्नी ढिठाई से प्रत्युत्तर देती जाती है और गुस्से में उफनाती बाहर चली जाती है। अशोक उसको पकड़ने को बढ़ता है किन्तु स्त्री उसे रोक लेती है और कहती है कि आज वह कहीं बाहर नहीं जायेगा क्योंकि उसका बास सिंघानिया आने वाला है थोड़ी ही देर में। अशोक सिंघानिया का नाम सुनकर बिफर उठता है और अब स्त्री कहती है कि इसी की नौकरी के लिए वह उसे घर पर बुलवाती है तो अशोक स्पष्ट कह देता है कि मुझे नहीं चाहिए नौकरी। कम से कम उस आदमी के जरिये हरगिज नहीं। अशोक सिंघानिया को चुकंदर कहकर पुकारता है जिसे न तो बैठने का शऊर है न बात करने का, यद्यपि वह पांच हजार तनखाह पाता है किन्तु उसे इतना भी होश नहीं कि पतलून के बटन बंद रखे। अशोक सिंघानिया की नकल उत्तारकर उसका उपहास उड़ाता है। स्त्री अशोक को खूब डांटती-फटकारती है और अशोक भी निर्लज्ज होकर अपनी मां की कमियों को उसके मुंह कर कह देता है। अशोक के व्यवहार से स्त्री फिर खिन्न हो उठती है।

इसी बीच बाहर के दरवाजे पर पुरुष दो अर्थात् सिंघानिया की आकृति दिखायी देती है जो किवाड़ को हललाके से खटखटा देता है। स्त्री चौंककर उधर देखती है और अपना स्वर बदलकर आगत व्यक्ति का स्वागत करती है। पुरुष दो अभ्यस्थ मुद्रा में उनके अभिवादन का उत्तर देता अन्दर आ जाता है। स्त्री सिंघानिया से बीना का परिचय कराती है। सिंघानिया की ललचायी दृष्टि लगातार बीना को धुरती रहती है और वह ऊलजलूल बाते करता रहता है। बातें करते समय वह बीच-बीच में अपनी जांघ खुजलाता रहता है अशोक वितृष्णा से उसे नमस्ते करता है और फिर बहाना बनाकर बाहर चले जाने को तत्पर हो उठता है किन्तु स्त्री उसे बरबस रोक देती है।

सिंघानिया अपनी विदेश यात्राओं के सम्बन्ध में लफ्फाजी करता जाता है। अशोक फिर जाना चाहता है किन्तु स्त्री द्वारा फिर झिड़के जाने पर सोफे पर बैठ जाता है और मेज की दराज खोल कर तस्वीरें निकाल लेता है और उन्हें मेज पर फैलाने लगता है। सिंघानिया से स्त्री अनुरोध करती है कि वह अशोक को कहीं नौकरी दिलवा दे किन्तु सिंघानिया हर बात में किसी न किसी महिला का जिक्र अवश्य छोड़ देता है। यद्यपि उसे बताया गया है कि अशोक बी. एस. सी. छाड़ चुका है किन्तु सिंघानिया कई बार फिर भी यहीं पूछता है कि बी. एस. सी. में कौन सी डिवीजन थी उसकी? अशोक के बारे में जब भी बात होती है वह हर बार बीना की ओर ही संकेत करता है और जब वह इस प्रकार की व्यर्थ और उपहासास्पद बातें बनाकर चला जाता तो अशोक हँसने लगता है और कारण पूछे जाने पर बीना को वह बताता है कि उसने सिंघानिया को कैसा उल्लू बना रखा है। वह बीना को पैड पर बनाया खाका दिखाता है जिसे उसने सिंघानिया के नाम पर बनाया है तभी स्त्री लौट आती है और अशोक की करनी पर उसे खूब फरकारती है। वह यहां तक कह देती है कि यह चेहरा उसके डैडी के चेहरे से मिलता है। अशोक से स्त्री झागड़ पड़ती है और कहती है कि मैं मिन्नत-खुशामद से लोगों को घर पर बुलाऊं और तू आने पर उनका मजाक उड़ाये, उनके कार्टून बनाये-ऐसी चीजें अब मुझे बिलकुल बरदादत नहीं है। अशोक भी गुस्से से कहता है कि यदि वह वरदादत नहीं कर सकती तो फिर ऐसे लोगों को घर पर क्यों बुलाती है जिनके आने से हम जितने

नोट

छोटे हैं, उससे और छोटे हो जाते हैं अपनी नजर में । उसकी दृष्टि में स्त्री लोगों के उनकी किसी बड़ी चीज की बजह से ही घर पर बुलाती है - या तो उसका पद देखकर या वेतन देखकर। स्त्री अशोक की धृष्टता भी बातों को सुनकर तिलमिला उठती है और कहती है कि आज वह क्षण आ गया है जब उसे कोई निर्णय ले लेना चाहिए। बड़ी लड़की बीना स्त्री का पक्ष लेती है तो अशोक उसे भी खरी-खोटी सुना देता है स्त्री अन्तिम रूप में कह देती है, तो ठीक है। आज से मैं सिर्फ अपनी जिन्दगी को देखूंगी। तुम लोग अपनी-अपनी जिन्दगी को खुद देख लेना। मेरे करने से जो कुछ हो सकता था इन घर का हो चुका आज तक। मेरी तरफ से अब वह अन्त है उसका निश्चित अंत। और स्त्री के इस कथन के साथ ही मंच पर एक खण्डहर की आत्मा को व्यक्त करता हल्का संगीत सुनायी देता है। प्रकाश आकृतियों पर स्त्री कहती है कि निश्चय हो उसने सोच लिया है। यह सुनकर बीना अंदर को चली जाती है और स्त्री इधर-उधर सामान देखने लगती है, कबर्ड से माला निकाल कर पहनती है। कबर्ड के नीचे रखे जूते-चप्पलों को पैर से टोलकर एक चप्पल निकालने की कोशिश करती है किन्तु दूसरी चप्पल न मिलने से उसे ठोकर लगाकर पीछे हटा देती है। ड्रेसिंग टेबल से कीम की शीशी निकलाकर फिर बंद कर देती है फिर बाल काला करनें वाला लोशन सिर पर और हाथ के बालों पर लगाती है। कंधी से सिर के सफद वालों को ढकती है।

उसी समय बाहर के दरवाजे से पुरुष तीन अर्थात् जगमोहन आता दिखायी देता है। स्त्री उसे नहीं देख पाती और पाउडर लगाने लगती है किन्तु वह ज्योंही सोफे की ओर मुड़ती है कि जगमोहन पर उसकी दृष्टि पड़ जाती है और उसकी आंखों में एक चमक भी आती है। स्त्री उसे बताती है कि वह उसी की प्रतीक्षा कर रही थी। कुछ क्षणों तक परस्पर ठिठोली होती रहती है और फिर स्त्री अपने मतलब की बात पर आ जाती है और कहती है कि आज वह उस स्थिति में पहुंच गयी है कि इस घर में अब उसका निर्वाह नहीं हो सकता। जगमोहन उसे धीरज देता है और उसका हाथ अपने हाथ में ले लेता है। स्त्री कहती है कि किन्नी अंदर है और अपना हाथ छुड़ा लेती है। स्त्री कहती है कि उसे जगमोहन से बहुत सारी बातें करनी हैं और कहती है कि एक जगमोहन ही ऐसा व्यक्ति है जो उसे अच्छी तरह से समझता-जानता है। जगमोहन उनकी बातें सुनना चाहता है किन्तु वह कहती है कि जो बातें उसे कहनी है उन्हें इस घर में नहीं कहा जा सकता है इसलिए बाहर चलकर बहीं बातें करना उचित होगा। जगमोहन पहले तो यही जिद करता है कि उसे जो भी बातें करनी हों यहीं करले-किन्तु अंत में यह मान लेता है कि बाहर चला जाय। स्त्री जाने से पहले ही उसे यह स्पष्ट बता देती है कि उसने कल एक गम्भीर निर्णय ले लिया है। जगमोहन उसे टालने लगता है और स्त्री उसे यह विश्वास दिला देने का प्रयत्न करती है कि वास्तव में वह निर्णय ले ही चुकी है। स्त्री उसे बताती है कि यद्यपि जगमोहन ने पहले भी इससे कहा था किन्तु तब वह निर्णय नहीं ले पायी थी पर अब वह उसके साथ जाने की तैयार है। किन्तु जगमोहन कहता है कि अब वह इस विचार को भुला चुका है। स्त्री उसे जिद करके बाहर ले जाती है और घर खुला छोड़ जाती है।

कुछ क्षण मंच खाली रहता है फिर बाहर से छोटी लड़की के सिसककर रोने का स्वर सुनायी देता है। वह रोती हुई अंदर आकर सोफे पर औंधी हो जाती है। कुछ क्षण बाद वह उठती है और कमरे के अंदर चली जाती है। अब फिर दो-एक क्षण खाली रहता है। उनके बाद बीना चाय की ट्रे लिये अहाते के दरवाजे से आती है और कमरा खाली देखाकर विस्मित रह जाती है। उसी समय किन्नी सिसकती हुई अंदर से आती है और बिना को बताती हैं कि सुरेखा की मम्मी ने सुरेखा की पीटा था और उसे भी बहुत डांटा था और कहती है कि वह उसकी लड़की को बिगाड़ रही है। इसलिए वह अपनी माँ को उनके घर ले जाना चाहती है किन्तु जब उसे मालूम होता है कि मां बाहर गयी है तो वह बीना से कहती है कि वह चले। बीना उसे डांट देती है उसी समय अहाते के पीछे ासे दरवाजे की कुडी खटखटाने की आवाज सुनायी देती है। बीना देखने जाती है और पुरुष चार उर्फ जुनेजा को साथ लेकर अंदर चली आती है। जुनेजा किन्नी की रोता देख उसे पुचकारने लगता है।

जुनेजा बताता है कि यद्यपि यह पहले ही आ गया था, किन्तु बाहर सड़क पर जगमोहन की गाड़ी देखकर रुक गया था और यह जानकर कि सावित्री जगमोहन के साथ ही बाहर गयी है, वह कुछ निराश-सा हो जाता है। वह बीना को बताता है कि अशोक उसके घर अपने डैडी महेन्द्रनाथ से मिलने गया है। उसका कहना है कि कल सारी रात महेन्द्रनाथ सो नहीं पाया क्योंकि वह खीझ उठाा था। इस पर बीना अविश्वास प्रकट करती हुई कहती है कि

नोट

जो डैडी सावित्री को रात-दिन पीटते रहते हैं उससे तो कुछ और ही लगता है। जुनेजा बताता है कि यद्यपि यह सत्य है किन्तु हृदय से फिर भी महेन्द्रनाथ सावित्री को बहुत चाहता है और उसकी इस कशमकश का जिम्मेदार स्वयं महेन्द्र है क्यों कि एक ओर तो वह सावित्री से झगड़ा करके गया है और दूसरी ओर उससे प्रार्थना कर रहा था कि वह जाकर किसी प्रकार सावित्री को समझााये और यदि जुनेजा यहां स्वयं न आया होता तो महेन्द्र अपने आप आ जाता। जुनेजा कहता है कि वह सावित्री को समझाने आया था किन्तु जब वह घर पर है ही नहीं तो समझाये किसे, इसलिए उसे लौट चलना चाहिए। बीना कहती है कि वह उसके डैडी को यह न बताये कि जगमोहन वहां आया था। जुनेजा उसे आश्वासन देकर ज्यों ही बाहर निकलने को मुड़ता है कि उसी समय बाहर से सावित्री का स्वर उभरता है जो किन्नी को अन्दर की ओर धक्का मारती हुई कमरे में प्रवेश कर रही होती है। किन्नी बकबक करती है तो स्त्री उसे मारने को दौड़ती है किन्तु जुनेजा बीच-बचाव कर देता है। सावित्री उल्टे जुनेजा से ही उलझ पड़ती है कि वह बीच में क्यों पड़ रहा है किन्नी दांत पीसती अन्दर की ओर चली जाती है।

स्त्री जुनेजा की ओर पलटती है और उससे पूछती है कि संभवत: वह उससे कुछ बात करना चाहता है जुनेजा टालना चाहता है किन्तु स्त्री कहती है कि उसे जो कहना हो कह ले। उसे यह मालूम होते हुए भी कि उसका पति महेन्द्रनाथ जुनेजा के घर में अस्वस्थ पड़ा है, उसके प्रति कोई सहानुभूति नहीं उभरती, उल्टे वह अपने परि की कमजोरियों का वर्णन करती हुई कहती है-यूं तो जो कोई भी एक आदमी की तरह चलता-फिरता, बात करता है वह आदमी ही होता है - पर असल में आदमी होने के लिए क्या जरूरी नहीं कि उसमें अपना एक माद्दा, अपनी एक शख्सियंत हो? इसलिए कह रही हूं कि जब से मैंने उसे जाना है, मैंने हमेशा हर चीज के लिए उसे किसी न किसी का सहारा ढूढ़ते पाया है। खास तौर से आपका राय। यह करना चाहिए या नहीं - जुनेजा से पूछ लूं, यहां जाना चाहिए यां नहीं - जुनेजा से रा कर लूं। कोई छोटी से छोटी चीज खरीदनी है, तो भी जुनेजा की पसंद से। कोइ बड़े से बड़ा खतरा उठाना है - तो भी जुनेजा की सलाह से। यहां तक कि मुझसे व्याह करने का फैसला भी कैसे किया उसने? जुनेजा की हामी भरने से। जिन्दगी में हर चीज की कसौटी जुनेजा; जो जुनेजां सोचता है, जो जुनेजा चाहता है, जो जुनेजा करता है, वही उसे भी सोचना है; वही उसे चाहना हे, वही उसे भी करना है। क्यों? क्योंकि जुनेजा तो एक पुरा आदमी है अपने में। और वह खुद! वह खुद एक पूरे आदमी का आधाा-चौथाई भी नही हैं यही नहीं, महेन्द्र के ऐसा बनने के पीछे वह जुनेजा की ही धूर्तता स्वीकाती है और जुनेजा पर यह आरोप भी लगाती है कि उसी के प्रभाववश महेन्द्र को व्यापार में घाटा हुआ क्योंकि उसका हिस्सा स्वयं जुनेजा खा गया। वह महेन्द्र की बरबादी का कारण जुनेजा को ही मानती है और कहती है - महेन्द्र ने व्याह क्या किया, आप लोगों की नजर में कुछ आपसे छीन लिया। महेन्द अब वह पहले बाला महेन्द्र रह ही नहीं गया। और महेन्द्र की जी जान से कोशिश कि वह वहीं बना रहे किसी तरह। कोई यह न कह सके जिससे कि वह अब पहले वाला महेन्द्र रह ही नहीं गया। और इसके लिए महेन्द घर के अन्दर रात-दिन छटपटाता है। दीवारों से सिर पअक्ता है। बच्चों को पीटता है बीबी के घुटने तोड़ता है। दोस्तों को अपना फुरसत का वक्त काटने के लिए उसकी जरूरत है। महेन्द के बगैर कोई पार्टी जमती नहीं। यही कारण है कि वह नफरत करती है इस सबसे - इस आदमी के ऐसा होने से। वह एक पूरा आदमी चाहती है अपने लिए। गला फाडकर वह यह बात कहती है।

जुनेजा पहले तो सावित्री के तर्कों को काटने का प्रयत्न करता हुआ अपने को महेन्द्र का सबसे अच्छा और विश्वासनीय मित्र सिद्ध करने का प्रयास करता है तथा सावित्री को समझाता है कि उसने वास्तव में महेन्द्र को इस प्रकार अपने शिकंजे में कस रखा है कि वह चाहते हुए भी उससे मुक्त नहीं हो पाता जबकि सावित्री उसे पति होते हुए भी अभी तक पहचान नहीं सकी है किन्तु जब वह देखता है कि सावित्री उस पर हावी होती जा रही है तो वह भी उसकी पोल खोल डालने को तत्पर हो उठता है और उसे झकझोरते हुए कहता है- जो-जो बातें तुमने कही हैं अभी, वे गलत नहीं हैं अपने में। लेकिन बाईस साल कर जाती हुई बातें वे नहीं है। आज से बाईस साल पहले भी एक बार लगभग उएसी ही बातें मैं तुम्हारे मुंह से सुन चुका हूं-तुम्हें याद है?

स्त्री यह सुनकर उसका मखौल उड़ाती है तो वह कहता है- मेरे घर पर हुई थी वह बात, तुम बात करने के लिए ही खास आयी थी वहाँ, और मेरे कंधे पर सिर रखे देर तक रोती रही थी। उस दिन भी बिलकुल इसी तरह मुमने

नोट

महेन्द्र को मेरे सामने उधेड़ा था। कहां था कि वह बहुत लिज-लिजा और चिपचिपा-सा आदमी है। पर उसे वैसा बनाने वालों में नाम तब दूसरों के थे। एक नाम था उसकी माँ का और दूसरा उसके पिता का। पर जुनेजा का नाम तब नहीं था ऐसे लोगों में। क्यों नहीं था, कह दूं न यह भी! सिर्फ इसलिए मैं जैसा भी था, जो भी था - महेन्द्र नहीं था। मुझसे उस वक्त तुम क्या चाहती थीं, मैं ठीक-ठीक नहीं जानता। लेकिन तुम्हारी बात से इतना जरूर जाहिर था कि महेन्द्र को तुम तब भी वह आदमी नहीं समझती थी जिसके साथ तुम जिन्दगी काट सकती।

स्त्री उसकी बात काटना चाहती है किन्तु जुनेजा फिर कहता है– पहले कुछ दिन जुनेजा एक आदमी था तुम्हारे सामने। जुनेजा के बाद जिससे कुछ दिन चकाचौंध रहीं तुम, वह था शिवजीत। एक बड़ी डिग्री, बड़े-बड़े शब्द और पूरी दुनिया घूमने का अनुभव। पर असल चीज वहीं कि वह जो भी था, और ही कुछ था– महेन्द्र नहीं था। पर जल्द ही तुमने पहचानना शुरू किया कि वह निहायत दोगला किस्म का आदमी है। हमेशा दो तरह की बातें करता है। उसके बाद सामने आया जगमोहन। ऊंचे सम्बन्ध, जवान की मिठास, टिप-टाप रहने की आदत और खर्च की दरिया दिली। पर तीर की असली नोंक फिर उसी जगह पर। कि उसमें जो कुछ भी था, जगमोहन का-सा था– महेन्द्र का-सा नही था। पर शिकायत तुम्हें उससे भी होने लगी थी कि वह सब लोगों पर एक-सा पैसा क्यों उड़ाता है, दूसरे की सख्त से सख्त बात को एक खामोश मुस्कराहट के साथ क्यों पी जाता है। असल बात इतनी ही ि महेन्द्र की जगह इनमें से कोई भी आदमी होता तुम्हारी जिन्दगी में, तो साल दो साल बाद तुम यही महसूस करती कि तुमने एक गलत आदमी से शादी कर ली है। उसकी जिन्दगी में भी ऐसे ही कोई महेन्द, कोई जुनेजा, कोई शिवजीत या कोई जगमोहन होता जिसकी वजह से तु यही सब सोचती, यही सब महसूस करती। क्योंकि तुम्हारे लिए जीने का मतलब रहा है कितना कुछ एक साथ होकर, कितना कुछ एक साथ पाकर और कितना कुछ एक साथ ओढ़कर जीना। वह उतना कुछ कभी तुम्हें किसी एक जगह न मिल पाता, इसलिए जि किसी के साथ भी जिन्दगी शुरू करती, तुम हमेशा इतनी ही खाली, इतनी ही बेचैन बनी रहती। वह आदमी भी इसी तरह तुम्हे अपने आसपास सिर पटकता और कपड़े फाड़ता नजर आता ।

सावित्री अपने पर लगे आरोपों को सुनकर रुलाई भरी हंसी हंसने लगती है और जुनेजा उसकी इस परिस्थिति को उपेक्षा करता हुआ कहता जाता है– आज महेन्द्र एक कुढ़पन वाला आदमी है पर एक वक्त था जब वह सचमुच हंसता था। क्योंकि तब वह अपने को हीन नहीं समझता था। मनोज से तुमने बहुत आशाएं बाँधी थी पर तुम एकदम बौरा गयीं जब तुमने पाया कि वह उतने नाम वाला आदमी तुम्हारी लड़की को साथ लेकर रातें-रात इस घर से चला गया। और इसके बाद तुमने एक अन्धाधुन्ध कोशिश शुरू की– कभी महेन्द्र को ही और झकझोरने की, कभी अशोक को ही चालुक लगाने की और कभी उन दोनों से धीरज खोकर कोई और ही रास्ता, कोई और ही चारा ढूंढ सकने की। ऐसे में पता चला जगमोहन यहां लौट आया है, आगे के रास्ते बन्द पाकर तुमने फिर पीछे की तरफ देखना चाहा किन्तु वह सहारा भी तुमसे छिन गया। जगमोहन ने तुम्हारें सामने असमर्थता प्रकट कर दी और तुम फिर इसी घर में लौट आयी। उसकी जगह मैं होता, तो मैंने भी तुमसे यही सब कहा होता। इसीलिए तुमने आते हीं बच्ची को पीट दिया।

सावित्री जुनेजा के मुख से इस प्रकार की भर्त्सना सुनकर विफर पड़ी। अपनी हार का एहसास होते ही उसके हृदय में यह विश्वास हो गया कि नारी के प्रति सभी पुरुष एक-सा सोचते हैं और वह कह उठती है, बिल्कुल एक-से है आप लोग! अलग-अलग मुखौट पर चेहरा? - चेहरा सबका एक ही।

जुनेजा चाहता है कि सावित्री महेन्द्र की मुक्त कर दे। इस पर सावित्री विक्षुब्ध होकर कहती है कि जुनेजा महेन्द्र को वापस मत भेजे। जुनेजा प्रत्युत्तर में कहता है - तो ठीक है। वह नहीं आयेगा। यह कहकर ज्योंही जुनेजा कमरे के बाहर निकलने को होता है कि उसी समय अशोक कमरे में प्रवेश करता है और अपने पिता की छड़ी मांगता है क्योंकि वह अपने पिता को साथ लेकर आया है किन्तु महेन्द्र की स्थिति ऐसी है कि वह बिना छड़ी के चल नहीं सकता। तभी बाहर से ऐसा शब्द उभरता है जैसे किसी का पांव फिसल गया हो और इसके साथ ही जुनेजा महेन्द्र को संभलने बाहर निकल जाता है। उसके साथ ही अशोक भी बाहर निकल जाता है। सावित्री स्थिर आंखों में बाहर की ओर देखती धीरे से कुर्सी पर बैठ जाती है। तभी लगभग अंधेरे में अशोक की बांह थामें महेन्दनाथ

नोट

की धुंधाली आकृति अन्दर आती दिखायी देती है। उन दोनों के आगे बढ़ने के साथ मातमी संगीत अधिक स्पष्ट और अंधेरा अधिक गहरा होता जाता है। यहीं पर नाटक की समाप्ति हो जाती है।

टास्क 'आधे-अधूरे' एवं 'आषाढ़ का एक दिन' की कथावस्तु के आधार का अंतर स्पष्ट कीजिए।

9.2 आधे-अधूरे– सप्रसंग व्याख्या

आप शायद सोचते हों कि मैं नाटक में कोई एक निश्चित इकाई हूँ– अभिनेता, प्रस्तुतकर्त्ता, व्यवस्थापक या कुछ और। परंतु मैं अपने संबंध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकता-उसी तरह जैसे इस नाटक के संबंध में नहीं कह सकता। क्योंकि यह नाटक भी अपने में मेरी ही तरह अनिश्चित है।

प्रसंग– आधुनिक हिन्दी नाटक के मसीहा मोहन राकेश नाटक के क्षेत्र में अनेक नवीन तथा क्रांतिकारी प्रयोग करने के लिए प्रसिद्ध हैं। 'आधे-अधूरे' उनकी यथार्थवादी ही नहीं, अभिनय की दृष्टि से भी एक महत्त्वपूर्ण नाट्यकृति है। इसमें सामान्य नाटकों की तरह अंक-विभाजन तथा दृश्य-विभाजन नहीं है। एक अन्य नवीनता यह है कि नाटकीय कथा आरंभ करने से पूर्व काले सूट वाले व्यक्ति को जिसका कोई नाम नहीं है और जो कालांतर में चार पुरुषों की भिन्न-भिन्न वेशभूषा में भूमिका निभाता है, मंच पर प्रस्तुत कर उसके माध्यम से उन चंद प्रश्नों को उठाया गया है जो कथानक में बाद में उभरते हैं। प्रस्तुत पंक्तियों में काले सूट वाला व्यक्ति अपना परिचय इस भंगिमा में और ऐसी शब्दावली में देता है कि दर्शक या पाठक उस परिचय को पाकर और अधिक उलझन में पड़ जाता है। वह एक प्रश्न-चिह्न बन जाता है, पहेली और उलझ जाती है, उत्सुकता और बढ़ जाती है।

व्याख्या– प्रेम को संबोधित करते हुए कहता है– मुझे रंगमंच पर देखकर आप मेरे बारे में कुछ अनुमान लगा रहे होंगे, मेरे स्वभाव, चरित्र, व्यक्तित्व, कृतित्व के विषय में सोचते होंगे, नाटक में मेरी भूमिका के विषय में अटकल लगा रहे होंगे। नाटक के आरंभ में ही मंच पर प्रस्तुत होने वाला प्रायः या तो नाटक का व्यवस्थापक होता है, या प्रस्तुतकर्ता या फिर अभिनय करने वाला अभिनेता। अतः आप सोच रहे होंगे कि मैं इनमें से ही कोई एक हूँ और अब मंच पर आकर जो कुछ कहूँगा, करूँगा उससे आपको निश्चित रूप से पता चल जायगा कि मैं इनमें से कौन हूँ–व्यवस्थापक हूँ, प्रस्तुतकर्ता हूँ या फिर अभिनेता हूँ। पर मैं स्वयं नहीं जानता, निश्चय नहीं कर पाया हूँ कि मुझे किसका की भूमिका निभानी है जब स्वयं निश्चय नहीं कर पाया, तो फिर आपको क्या बताऊँ कि मैं कौन हूँ और क्या करने या कहने जा रहा हूँ। एक बात और, यह नाटक भी अनिश्चित है। इसकी कथावस्तु, उसके विकास के सोपान, उसकी परिणति के संबंध में कुछ तय नहीं है, सब अनिर्धारित है, अनिश्चित है। पहले से कुछ नहीं कहा जा सकता। नाटक लिखते समय ही अपना मार्ग, अपना शिल्प, अपना विकास स्वयं बनाएगा। घटनाएँ, पात्र, अन्त पूर्व निर्धारित नहीं है। लेखन-प्रक्रिया के दौरान ही वे स्वयं अपना रूप गढ़ेंगे और आगे बढ़ेंगे। आप के मन में यह जानने की इच्छा होगी कि इस अनिश्चितता का कारण क्या है? कारण हर बात का होता है। जहाँ कार्य है वहाँ कारण भी होता है। पर कारण बताना बेकार है क्योंकि यह जरूरी नहीं कि मैं जो कारण बताऊँ वह सच हो और यदि वह सच हो भी तो आप मेरी बात मान कर उसे स्वीकार कर लें। अतः मैं नाटक के अनिश्चित होने का कारण नहीं बताता, आपकी कल्पना और विवेक पर छोड़ देता हूँ। आप स्वयं कदाचित नाटक समाप्त होने के उपरांत वास्तविक कारण का पता लगा लें।

विशेष– (1) हिन्दी नाटक में यह प्रयोग नितान्त नवीन एवं मौलिक है कि पात्र का नाम न हो, केवल वेशभूषा बतायी जाय और फिर यह कहा जाय कि नाटक का स्वरूप भी अनिश्चित है।

(2) मोहन राकेश उन सर्जनात्मक साहित्यकारों में से हैं जो उपन्यास, कहानी, नाटक की रूपरेखा, उसका अन्त, उसका शिल्प पहले से ही नहीं निर्धारित करते अपितु जैसे-जैसे रचना आगे बढ़ती है, अपना स्वरूप स्वयं निर्धारित

नोट

करती चलती है। पात्रों और घटनाओं पर उनका नियंत्रण नहीं, वे लेखक को जिधर चाहे मोड़ लेते हैं, लेखक उनके वश में होता है। कला के प्रति यह दृष्टि भी नवीन है, सच्ची है।

(3) काले सूट वाले व्यक्ति को अपने तथा नाटक के विषय में अनिश्चित बताकर लेखक कहना यह चाहता है कि उसका कोई पूर्वाग्रह नहीं है, बनी बनायी कहानी और बने बनाये पात्र नहीं हैं, वह तो केवल यथार्थ को अंकित करने के लिए प्रतिबद्ध हैं। कदाचित् लेखक दर्शकों को यह भी बताना चाहता है कि काले सूटवाला व्यक्ति जो चार पुरुषों की भूमिका भी निभाता है आधुनिक मनुष्य के प्रतिनिधि पात्र है जो आज की विषम परिस्थितियों के भँवर-चक्र में पड़कर स्वयं को टूटा, अनिर्णीत और संशयग्रस्त पाकर, अपनी अस्मिता खोकर, डाँवाडोल अनुभव करता है।

दो टकराने वाले व्यक्ति होने के नाते आपमें और मुझमें, बहुत बड़ी समानता है। यही समानता आप में और उसमें, उसमें और उस दूसरे में, उस दूसरे में और मुझमें ... बहरहाल इस गणित की पहेली में कुछ नहीं रखा है। बात इतनी ही है कि विभाजित होकर मैं किसी-न-किसी अंश में आप में से हर-एक व्यक्ति हूँ और यही कारण है कि नाटक के बाहर हो या अंदर, मेरी कोई भी एक निश्चित भूमिका नहीं है।

कमरे के एक हिस्से से दूसरे हिस्से में टहलने लगता है।

मैंने कहा था, यह नाटक भी मेरी तरह अनिश्चित है। उसका कारण भी यही है कि मैं इसमें हूँ और मेरे होने से ही सब कुछ उसमें निर्धारित या अनिर्धारित है।

प्रसंग– नाटक के आरंभ में ही काले सूट वाले व्यक्ति का कथन तथा बाद में चार पात्रों के रूप में उसकी भिन्न-भिन्न भूमिकाएँ इस बात का संकेत हैं कि वह नगरों-महानगरों में रहनेवाले, अपनी सलीब को अपने कंधों पर ढोनेवाले व्यक्तियों का प्रतिनिधि है जो आर्थिक विषम परिस्थतियों तथा महानगरीय जीवन-पद्धति के कारण एक-दूसरे से कटे हैं, अपरिचितों की तरह व्यवहार करते हैं, अजनबी हैं, टूटे हैं, अस्मिता खो चुके हैं। आस्थाविहीन, संशयग्रस्त, प्राचीन मूल्यों और आदर्शों के प्रति उदासीन ये व्यक्ति कभी महेन्द्रनाथ, कभी जगमोहन, कभी जुनेजा तो कभी सिंघानिया बन जाते हैं या परिस्थितियाँ उन्हें वह भूमिका अदा करने को बाध्य करती हैं। ऊपर से वे एक-दूसरे से भिन्न प्रतीत होते हैं पर मूलत: उनका चरित्र, जीवन-दृष्टि, मूलस्वभाव एक ही है–आत्मकेन्द्रित, स्वार्थी तथा सुखोपयोग की कामना करने वाला। नाटककार ने इसी तथ्य को काले सूटवाले के माध्यम से प्रस्तुत किया है।

व्याख्या–आज नगरों तथा महानगरों में रहने वाले, साथ-साथ काम करने वाले, एक ही इमारत के विभिन्न तलों में रहने वाले भी कुछ तो परिस्थितियों के कारण तथा कुछ पुरातन जीवनमूल्यों और विश्वासों के ढह जाने के परिणामस्वरूप एक-दूसरे के साथ अजनबी, अपरिचित की तरह व्यवहार करते हैं। जैसे भीड़ में टकराने वाले दो व्यक्ति टकरा जाने पर एक-दूसरे को दोषी ठहराते हैं, वैसी ही परिस्थिति आज महानगरों में रहने वालों की हो गयी है। घनिष्टता, आत्मीयता, सौहार्द्र, सहानुभूति, परदुखकातरता के भाव विलुप्त हो गये हैं। समाज के दो-चार व्यक्ति नहीं 80-90 प्रतिशत लोग ऐसे ही हैं। उनका पारस्परिक परिचय घनिष्ट नहीं होता, देख कर भी अनदेखा कर देते हैं, काम निकलने पर पहचानते तक नहीं। हमार व्यक्तित्व खंडित हो गया है, न प्रेम-भाव है, न पड़ौसी होने की आत्मीयता। सब एक-दूसरे से कट गये हैं। हमारा स्थायी चरित्र कुछ नहीं रह गया है, हम मौसम बताने वाले मुर्गे की तरह हवा के बदलते ही, परिस्थितियों में परिवर्तन होते ही अपना आचरण-व्यवहार बदलते रहते हैं। न स्थायी मित्र हैं, न स्थायी शत्रु। जो बात कभी राजनीति के विषय में सच थी, आज वह नित्य-प्रति के सामाजिक जीवन में घटित हो रही हैं हम रुख देखकर बात करते हैं–मतलब के लिए गधे को भी अपना बाप कहने लगते हैं जैसे नाटक में काले सूटवाला कभी महेन्द्र, कभी जगमोहन, कभी जुनेजा, और कभी सिंघानिया बनता है, वैसे ही समाज में व्यक्ति मुखौटे बदलता रहता है, विभिन्न रूप धारण करता रहता है। व्यक्तियों से समाज बनता है, जैसे व्यक्ति होंगे वैसा समाज होगा, वैसी ही सरकार बनेगी। अत: जीवन का स्वरूप व्यक्तियों के चरित्र पर निर्भर करता है। धूर्तो, बेईमानों, रिश्वतखोरों का जीवन सुख-शान्तिमय नहीं हो सकता। इसी प्रकार जब समाज के अधि कांश व्यक्ति आस्थाविहीन हों, अस्मिता खो चुके हों, स्वार्थी हों, लिजलिजे स्वभाव के हों, तो उनका समाज, जीवन-पद्धति और रहन-सहन भी अनिश्चित होंगे उसमें स्थायित्व नहीं आएगा।

नोट

विशेष– (1) मोहन राकेश पर अस्तित्ववादी दर्शन का प्रभाव है अत: वह आज के मनुष्य को आस्थाविहीन, टूटा हुआ अजनबी बताते हैं।

(2) महानगरीय जीवन का उनका अपना अनुभव भी इस चित्रण के लिए उत्तरदायी है।

(3) यह यथार्थ तो है पर जीवन के एक खंड का, समूचे जीवन का नहीं।

(4) इस प्रकार के चित्र, विचार, और जीवन-दर्शन निराशावाद को जन्म देते हैं, मानव के आत्मविश्वास को क्षति पहुँचाते हैं, आदर्शों और उदात्त जीवन मूल्यों से विमुख करते हैं। अत: श्रेयस्कर नहीं कहे जा सकते।

(5) स्पष्ट संकेत है कि दर्शकों को नाटक में अपना ही प्रतिरूप देखने का मिलेगा। नाटक के पात्र बहुत कुछ उन्हीं दुर्गुणों, दुर्बलताओं से अभिशप्त हैं जो हमारे चरित्र में हैं–आत्मकेन्द्रित होना, सुख-सुविधाओं के लिए उदात्त जीवन-मूल्यों की बलि चढ़ाना, आधुनिक फैशन तथा दूषित मूल्यव्यवस्था के कारण पारिवारिक जीवन में विघटिन और तजन्य विषाद।

पर कौन सी अड़चन? उसके हाथ में छलक गयी चाय की प्याली, या उसके दफ्तर से लौटनें में आधा घंटे की देर-ये छोटी-छोटी बातें अड़चन नहीं होतीं, मगर अड़चन बन जाती हैं। एक गुबार-सा है जो हर वक्त मेरे अंतर में भरा रहता है और मैं इंतजार में रहती हूँ जैसी कि कब कोई बहाना मिले जिससे उसे बाहर निकाल लूँ। और आखिर.....।

स्त्री चुपचाप आगे सुनने की प्रतीक्षा करती है।

आखिर वह सीमा आ जाती है जहाँ पहुँचकर वह निढाल हो जाता है ऐसे में वह एक ही बात कहता है।

स्त्री: क्या?

बड़ी लड़की: कि मैं इस घर से ही अपने अंदर कुछ ऐसी चीज लेकर गयी हूँ जो किसी भी स्थिति में मुझे स्वाभाविक नहीं रहने देती।

प्रसंग– महेन्द्रनाथ और सावित्री के बीच असामंजस्य था, दोनों में बनती नहीं थी। छोटी-छोटी बात पर वे झगड़ पड़ते थे, घर में कलह होती थी। इस वातावरण का प्रभाव बच्चों पर भी पड़ा। साथ ही सावित्री के चरित्र की कुछ विशेषताएँ-स्वच्छन्दताएँ पति पर रौब गाँठना, महत्वाकांक्षा, आदि भी बड़ी पुत्री बिन्नी ने माँ से विरासत में पायी थी। अत: प्रेम-विवाह करने पर भी वह अपने पति मनोज के साथ सुखी परिवार नहीं चला सकी। दोनों में आए दिन छोटी-छोटी बात पर मनमुटाव हो जाता। कुछ ही दिन में वह स्वयं को एक-दूसरे से कटे हुए, अजनबी और तनावपूर्ण मन:स्थिति में पाने लगे। बिन्नी पति के घर छोड़ माता-पिता के पास आ गई। एक दिन उसने माँ को सारी बात बताई। माँ ने कारण जानना चाहा तो बिन्नी अपनी उलझन बताते हुए कहती है–

व्याख्या– हम दोनों स्वाभाविक स्थिति में नहीं रह पाते, हमारा एक-दूसरे के प्रति सहज व्यवहार नहीं है; सर्वदा हमारे संबंधों में खिंचाव, तनाव बना रहता हैं हम दोनों के बीच कोई ऐसी चीज है जो हमें सहज नहीं होने देती पर वह चीज क्या है कारण क्या है, इसका चेष्टा करने पर भी पता नहीं लग पाया है। छोटी-छोटी बात जैसे चाय की प्याली में से चाय का छलक कर फर्श पर गिर जाना या उसका आधा घांटा देर से दफ्तर से लौटना मुझ पर खीज, आक्रोश पैदा कर देता है और मैं उल्टा-सीधा बोलने लगती हूँ, वह भी बिफर उठता है और झगड़ा बढ़ जाता है, मानसिक शांति समाप्त हो जाती है, हम एक-दूसरे से रूठ कर अलग-अलग रहने लगते हैं यह दूरी, अलगाव संबंधों में तनाव बढ़ता ही जाता है। हमारे बीच दरार पड़ गयी है, खाई इतनी बढ़ गई है कि लगता है कभी पट नहीं पायेगी। ऐसी स्थिति एक-दो बार नहीं, बार-बार पैदा होती है। मेरी इस खीज, उत्तेजना, असंयम, स्वयं पर नियंत्रण न रख पाने की प्रवृत्ति को देख और उसका कोई महत्त्वपूर्ण कारण न होने के फलस्वरूप मनोज यही कहता है कि इस व्यवहार, बर्ताव, असाधारण आचरण का कारण बाह्य घटनाएँ नहीं हैं, मेरी मानसिकता है, चरित्र की मूलभूत कमजोरी है जो मैंने इस घर, परिवर और परिवार के वातावरण से पायी है। इसी रुग्ण मानसिकता के कारण मैं छोटी-छोटी बात पर खीजती हूँ। खीजने का कोई ठोस कारण नहीं होता, खीजती इसलिए हूँ कि खोजना मुझे विरासत में मिला है। जैसे कुछ रोग वंशानुक्रमिक होते हैं, इसी प्रकार कुछ चारित्रिक एवं स्वभावगत विशेषताएँ बच्चे

नोट

माता-पिता से पाते हैं और लाख कोशिश करने पर भी स्वयं, को, अपनी आदतों को, अपने आचार-व्यवस्था को बदल नहीं पाते।

विशेष–(1) बिन्नी के चरित्र की एक दुर्बलता का संकेत जो उसने अपनी माँ तथा परिवर के वातावरण से पायी है।

(2) वंशानुक्रम के सिद्धांत की ओर संकेत।

(3) दाम्पत्य जीवन की कटुता का कारण बड़े ही तर्कपूर्ण ढंग से समझाया।

(4) अस्तित्ववादी विचारधारा का प्रभाव है।

(5) भाषा सरल, बोलचाल की है पर उसमें स्थिति तथा मानसिकता को प्रकट करने की अद्‌भुत क्षमता है।

मैं जानना चाहता हूँ कि मेरी क्या यही हैसियत है इस घर में कि जो जब जिस वजह से जो भी कह दे, मैं चुपचाप सुन लिया करूँ। हर वक्त की दुतकार, हर वक्त की कोंच, बस यही कमाई है यहाँ मेरी इतने सालों की?

प्रसंग– घर का मुखिया महेन्द्रनाथ अपनी पत्नी तथा आवारा बच्चों की सभी इच्छाएँ पूरी नहीं कर पाता अत: वे उसका अनादर करते हैं। उपेक्षा करते हैं। व्यंग्य करते हैं, जली-कटी सुनाते रहते हैं। महेन्द्रनाथ बहुत दिनों तक चुपचाप यह अपमान सहता रहता है, चाहते हुए भी अपना रोष प्रकट नहीं कर पाता पर एक दिन वर्षों से जमा होती हुई खिन्नता फूट पड़ती है और वह क्रोधाविष्ट हो अपने मन का गुबार निकाल बैठता है।

व्याख्या– महेन्द्रनाथ अपने परिवार के सदस्यों से व्यंग्यपूर्ण तथा आक्रोश भरे शब्दों में प्रश्न करता है– मैं इस घर-परिवार का मुखिया हूँ। अपने इस दायित्व को निभाने के लिए मैंने वर्षों परिश्रम किया। खून-पसीना बहाया, सबको जो कुछ दे सकता था दिया। मैं आशा करता था कि इस सबके बदले मुझे तुम लोगों से आदर मिलेगा, तुम लोग मेरे प्रति कृतज्ञता अनुभव करोगे और उस कृतज्ञता को अपने आचरण, बातचीत तथा व्यवहार से प्रकट करोगे। पर मैंने देखा कि न मुझे पत्नी से पति का सम्मान, प्यार-मुहब्बत, सहानुभूति मिली और न बच्चों से पिता का आदर और सेवा-भाव। इसके विपरीत सभी ने मुझे अपमानित किया है, उल्टी-सीधी बातें सुनाई हैं, ताने-तिश्ने दिये हैं, मुझे मूर्ख, व्यवहार में अकुशाल कह कर मेरा अपमान किया है, मेरी खिल्ली उड़ाई है, ऐसे-ऐसे आरोप लगाए हैं जिसके लिए मैं कतई उत्तरदायी नहीं हूँ। पग-पग पर मुझे हीन, असफल, अकर्मण्य सिद्ध करने के लिए तर्क दिये गये हैं। ऐसी-ऐसी ऊट-पटांग बातें कही गयी हैं जो कोई पत्नी और बच्चे अपने पति और पिता से नहीं कहेंगे। ऐसी अशोभन एवं अकथनीय बातें मैं वर्षों से सुनता आ रहा हूँ। समझता था कि कभी तो इनमें विवेक जागेगा और ये बातें बंद हो जायेंगी पर यहाँ तो मर्ज बढ़ता ही जा रहा है। क्या इतने वर्षों तक परिवार के लिए जान खपाने का, हाड़ तोड़ने का यही पुरस्कार मिलना चाहिए था? क्या इसके अतिरिक्त और कुछ पाने की पात्रता मुझ में नहीं थी? क्या मैं केवल इसी योग्य था कि परिवार के सभी सदस्य मेरा अपमान करें, मेरी उपेक्षा करें, मुझे खरी-खोटी सुनाते रहें और मैं चुपचाप भीगी बिल्ली बना सब कुछ सहता रहूँ?

विशेष– (1) महेन्द्रनाथ की मन:स्थिति का यथार्थ और मनोवैज्ञानिक चित्रण विश्लेषण।

(2) पात्र की घुटन, कुढ़न, विवशता, खीज की सरल भाषा में मार्मिक अभिव्यक्ति जिसे पढ़कर पाठक-दर्शक की सहानुभूति सहज ही जागृत हो उठती है।

मैं इस घर में एक रबड़-स्टैम्प भी नहीं, सिर्फ एक रबड़ का टुकड़ा हूँ-बार-बार घिसा जाने वाला रबड़ का टुकड़ा। इसके बाद क्या कोई मुझे वजह बता सकता है, एक भी ऐसी वजह कि क्यों मुझे रहना चाहिए इस घर में?

प्रसंग– महेन्द्रनाथ घरवालों के अपने प्रति व्यवहार से असंतुष्ट होकर कह रहे हैं कि उन्हें परिवार के सदस्यों ने केवल रबर-स्टैम्प की तरह इस्तेमाल किया, उन्हें वह आदर-सम्मान नहीं मिला जिसके वह पात्र थे। इस पर उनकी पत्नी उन्हें दुत्कारती हुई कहती है कि रबर-स्टम्प की अपनी कीमत होती है, उसका समाज के लोग, आदर करते हैं, उसकी अपनी प्रतिष्ठा, मान-मर्यादा और रुतबा होता है पर महेन्द्रनाथ को तो ये सब प्राप्त नहीं थे, अत: वह स्वयं को किस मुँह से रबर-स्टैम्प कहने का दुस्साहस करते हैं। महेन्द्रनाथ इस कटोक्ति से तिलमिला उठता है और हताश होकर कहता है–

नोट

व्याख्या– ठीक है, मैं तुम लोगों को वह मान-सम्मान, इज्जत-आबरू प्रतिष्ठा-रुतबा, समाज में स्थान नहीं दे पाया दिला-पाया जो रबर स्टैम्प लगने पर किसी कागज दस्तावेज को प्राप्त होता है। अत: मुझे स्वयं को रबर-स्टैम्प कहने का भी अधिकार नहीं है। मैं रबर-स्टैम्प भी नहीं हूँ, रबर का टुकड़ा मात्र हूँ। रबर के टुकड़े की बहुत कीमत नहीं होती, वह रबर के स्टैम्प से भाी गया गुजरा है। रबर के टुकड़े को घर के एक कोने में उपेक्षित, फालतू वस्तु की तरह फेंक दिया जाता है और जरूरत पड़ने पर उसका उठने-बैठने, घिसने के के लिए प्रयोग किया जाता है। कुछ समय प्रयोग करने के बाद वह पुन: कोने में धकेल दिया जाता है और वहाँ उपेक्षित पड़ा रहता है तब तक जब तक कि पुन: उसकी आवश्यकता नहीं पड़ती। कुछ-कुछ यही स्थिति महेंद्रनाथ की भी हो गयी थी। परिवारवाले उसकी उपेक्षा, अवमानना करते थे, उसे फालतू फर्नीचर की तरह समझ कर उसे कोने में ढकेल दिया गया था। केवल वक्त जरूरत पड़ने पर उसके घर के मुखिया होने के तथ्य का उपयोग किया जाता था। आवेदन-पत्र, निमंत्रण-पत्र या ऐसे ही किसी कागज-पत्र पर उसका नाम पिता या पति के रूप में लिखा जाता था और भी कुछ प्राप्त करने के लिए उससे सहयोग-सहायता ली जाती थी। पर ऐसे अवसर बहुत कम आते थे। अत: महेन्द्रनाथ कहता है कि उसकी उपयोगिता रबर के टुकड़े से अधिक नहीं रह गयी है। पर रबर का टुकड़ा जड़ है, वह अपनी इच्छा से उठ-बैठ नहीं सकता, उस पर स्वामी का पूर्ण अधिकार होता है, उसकी अपनी इच्छा कुछ नहीं होती। पर महेन्द्र तो सजीव पुरुष है, मान-अपमान की अनुभूति होती है, वह उसके प्रति प्रतिक्रिया भी करता है अत: वह अपमान-उपेक्षा से क्षुब्ध हो घर छोड़ना चाहती है, परिवर वालों से अलग होना चाहता है ताकि कम से कम उसे बार-बार अपमानित होने की कटु अनुभूति से, पीड़ा से मुक्ति मिले और वह स्वतंत्र जीवन बिता सके।

विशेष– (1) महेंद्र के स्वर में जो तल्खी और कटुता है, जो व्यंगय है उससे उसकी मनोदशा का पता चलता है। वह अंदर से क्षुब्ध है, अपमानित अनुभव करता है।

(2) भाषा सरल होते हुए भी प्रभावशाली है और अभिनेता अपनी भाव-भंगिमा तथा स्वर के उतार-चढ़ाव से उसे और भी अभिव्यक्तिमय बना सकता है।

ऐसे में मुझसे भी नहीं निभ सकता। जब और किसी को यहाँ दर्द नहीं किसी चीज का, तो अकेली मैं ही क्यों अपने को चीखती रहूँ रात-दिन? मैं भी क्यों न सुर्खरू होकर बैठ रहूँ अपनी जगह? उससे तो तुममें से कोई छोटा नहीं होगा।

प्रसंग– सावित्री बड़े लोगों को अपने घर आमंत्रित करती है ताकि उनकी सहायता से घर-गृहस्थी की गाड़ी सुचारू रूप से चलती रहे, कुछ काम मिलता रहे, धन का जुगाड़ हो सके और खाने-पीने के लाले न पड़ें। परंतु बेटे अशोक को इस तरह के लोगों का घर आना, सावित्री द्वारा उनका आदर-सत्कार करना उचित नहीं लगता। कदाचित् वह यह भी समझता है कि सावित्री के इन लोगों के साथ अनैतिक संबंध भी हैं। अत: वह उनके कार्टून बनाता है, उनका मजाक भी उड़ाता है। एक दिन जब सावित्री अशोक के इस आचरण पर उसे फटकारती है तो वह कहता है कि इन संभ्रांत, घनाढ्य, रुतबे वाले लोगों को घर आते तथा उनका अत्यधिक स्वागत-सत्कार देख वह अपने को और हीन अनुभव करने लगता है, स्वयं और परिवार को अपमानित होते महसूस करता है। अशोक का यह कथन सुन सावित्री क्षोभ, वितृष्णा तथा खीज में भर कहती है–

व्याख्या– घर में जीविकोपार्जन करने वाले दो ही प्राणी हैं, पति महेन्द्रनाथ तथा बेटा अशोक। व्यपार ठप्प हो जाने के कारण महेन्द्रनाथ वर्षों से खाली हाथ बैठा है, एक पैसा नहीं कमाता। बेटे को किसी हिल्ले से लगाने के लिए ताकि वह कुछ अर्जित कर सके वह दौड़-धूप करती है, बड़े लोगों से संपर्क स्थापित करना चाहती है कि किसी प्रकार घर का खर्च चल सके। पति और पुत्र दोनों के निष्क्रिय हो जाने पर, जीविकोपार्जन में असमर्थ हो जाने पर सावित्री पर सारी गृहस्थी का बोझ आ पड़ा है और वह जी-जान से आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए प्रयत्नशील हैं इसके लिए वह धनढ्य लोगों से, समाज के प्रतिष्ठित संभ्रांत व्यक्तियों से संबंध बढ़ाती है, उन्हें अपने यहाँ आमंत्रित करती है, उनका आवश्यकता से अधिक आतिथ्य करती है। वह यह सब अपने लिए नहीं परिवार के लिए, परिवार की प्रतिष्ठा के लिए करती है पर जब उसका यह आचरण बेटे के मन में एक ओर उसके चरित्र

नोट

के प्रति संदेह और दूसरी ओर उसके मन में हीनत भव जगाता है तो वह खीज उठती है और एक प्रकार से चेतावनी य धमकी देते हुए कहती है– जब तुम लोगों को ही परवाह-चिन्ता नहीं तो मैं ही क्यों खपूँ, मरूँ, सिर फोड़ूँ? मुझे क्या पड़ी है कि दूसरों की चिन्ता को ओढ़ूँ, जो कार्य दूसरों को, घर के पुरुषों को करना चाहिए वह मैं करूँ? दूसरों के लिए विशेषत: उनके लिए जो मेरे कार्यों को संदेह की दृष्टि से देखें, चरित्र पर अँगुली उठाने में भी संकोच न करें, मैं व्यर्थ क्यों स्वयं को नष्ट करूँ, परिश्रम भी करूँ और उल्टी-सीधी बातें भी सुनूँ? मैंने निर्णय कर लिया है कि आज से मैं भी हाथ पर हाथ रख कर बैठी रहूँगी, व्यर्थ की दौड़-धूप नहीं करूँगी भले ही घर में चूल्हा न जले और घर के लोगों को भूखे रहना पड़े। गृहस्थी के लालन-पालन का दायित्व पुरुषों पर होता है यदि वे इस दायित्व को नहीं समझते या समझकर भी पालन नहीं करते तो मुझे क्या पड़ी है कि सिर भी खपाऊँ और कटु वचन भी सुनूँ। कम से कम मैं इस आरोप से तो बच जाऊँगी कि मेरे कारण तुम्हारा हीनता भाव बढ़ता है, तुम अपमानित महसूस करते हो, तुम भूखो रहकर बड़प्पन की भावना के सहारे जीते रहना चाहते हो तो ऐसा ही करो। मुझे कुछ लेना-देना नहीं है।

विशेष–(1) सावित्री के चरित्र की एक विशेषता की झलक मिलती है कि वह दूसरों का दायित्व निभाकर स्वयं को सूर्खरू करना चाहती है। अपनी वास्तविक कमजोरी छिपाकर वह दूसरों को दोषी ठहराती हैं वस्तुत: वह स्वयं महत्त्वाकांक्षिणी है, पर-पुरुषों का संसर्ग भी उसे प्रिय है पर वह इन बातों को छिपाकर परमार्थ या परिवार-हित का ढोंग रचती है।

यूँ तो जो कोई भी एक अदमी की तरह चलता-फिरता, बात करता है वह आदमी ही होता है ... पर असल में आदमी होने के लिए क्या जरूरी नहीं कि उसमें अपना एक माद्दा, अपनी एक शखसियत हो?

प्रसंग–महेंद्रनाथ परिवारवालों के आचरण और व्यवहार से तंग आ, हीनताभाव से ग्रस्त हो घर छोड़कर अपने मित्रा जुनेजा के यहाँ चला जाता है और फिर प्रकृति से मजबूर हो वह जुनेजा को सावित्री के पास भोजता है कि वह उसे समझाए और फिर से सुलह होने पर वह घर लौट जाए। जुनेजा जब सावित्री के घर पहुँचा तो वह जगमोहन के साथ चली गयी थी, अत: उसे कुछ देर प्रतीक्षा करनी पड़ी। जब सावित्री लौटी और उसकी दृष्टि जुनेजा पर पड़ी तो वह क्रोध में भर उठी। बातचीत के दौरान जुनेजा सावित्री पर आरोप लगाता है कि उसने महेंद्रनाथ को बाँकर, पंगु बना दिया है और उससे विनय करता है कि वह उसे बंधन-से मुक्त कर दे। जुनेजा की बात सुन कर सवित्री महेंद्रनाथ के विषय में अपनी धारणा स्पष्ट बताते हुए कहती है कि शक्ल-सूरत, शरीर आदि से महेंद्रनाथ भले ही आदमी कहा जाय पर वस्तुत: वह लिजलिजा आदमी है, उसके रीढ़ की हड्डी है ही नहीं, वह अनिर्णय का शिकार रहता है तथा निठल्ला है।

व्याख्या– सामान्यत: जो व्यक्ति शारीरिक अंगों की दृष्टि से आदमी कहला सकता है, जो मनुष्यों की भाँति चलता-फिरता, उठता-बैठता, बातें करता है उसे हम आदमी कहते हैं। पशु या पक्षी से वह शरीर, आचार-व्यवहार, बोलने -चालने में भिन्न होता है, अत: हम उसे आदमी कहते हैं। पर प्रश्न उठता है कि क्या केवल यही गुण या विशेषताएँ, अपने निजी प्रभावशाली व्यक्तित्व हैं, अत: उसे आदमी कहना उचित नहीं है। वह आधा-अधूरा है, पूर्ण मनुष्य नहीं है। उसमें स्वतंत्र चिंतन की कमी है, आत्मविश्वास से हीन वह जुनेजा जैसे व्यक्तियों पर निर्भर रहता है, निठल्ला है, पुरुषार्थी नहीं है अत: उसे आदमी कहने में संकोच होता है।

विशेष– (1) महेंद्रनाथ के प्रति सावित्री की वितृष्णा का कारण यह है कि वह उसे पुरुषार्थी नहीं मानती। लेखक को नारी-मनोविज्ञान की सच्ची पहचान है।

(2) सावित्री के चरित्र पर प्रकाश डाला गया है।

(3) अप्रत्यक्ष रूप से महेंद्रनाथ के चरित्र की कमजोरियों का भी संकेत है।

मुझे उस असलियत की बात करने दीजिए जिसे मैं जानती हूँ।... एक आदमी है। घर बसाता है। क्यों बसाता है? एक जरूरत पूरी करने के लिए। कौन-सी जरूरत! अपने अंदर के किसी उसको ... एक अधूरापन कह लीजिए उसे ...उसको भर सकने की। इस तरह उसे अपने लिए ... अपने में पूरा होना होता है। किन्हीं

नोट

दूसरों को पूरा करते रहने में ही जिन्दगी नहीं काटनी होती। पर आपके महेन्द्रनाथ के लिए जिंदगी का मतलब रहा है... जैसे सिर्फ दूसरों के खाली खने भरने की ही एक चीज है वह। जो कुछ वे दूसरे उससे चाहते हैं, उम्मीद करते हैं, या जिस तरह वे सोचते हैं उनकी जिंदगी में उसका इस्तेमाल हो सकता है।

प्रसंग– जुनेजा जब सावित्री को अपने पति से समझौता करने और साथ रहने का आग्रह करता है तो सावित्री अपने पति को लिजालिजा, निठल्ला, आत्मविश्वसहीन तथा दूसरों पर निर्भर रहने वाला बताती हुई कहती है कि वह पूरा व्यक्ति न होकर आधा-अधूरा आदमी हो, उसका अपना कोई व्यक्तित्व नहीं है, वह एक ऐसा मोहरा है जो न स्वयं चलता है और न दूसरों को चलने देता है वह आक्षेप लगाती है कि जुनेजा ने ही उसे बिगाड़ा है, वह जुनेजा पर पूर्णत: निर्भर रहा है और उसी के कथानुसार अपना जीवन ढाला है। सावित्री की बात काटकर जुनेजा कुछ कहना चाहता है, सावित्री के दोषों को उजागर करना चाहता है और उन दोनों के दाम्पत्य जीवन की असफलता के लिए सावित्री को दोषी बताना चाहता है, पर सावित्री उसको बोलने ही नहीं देती और स्वयं बताने लगती है कि उनके दाम्पत्य जीवन की असफलता का वास्तविक कारण क्या रहा है।

व्याख्या– आप हमारे दाम्पत्य जीवन की असफलता का वास्तविक कारण, असलियत जताने जा रहे थे पर जो आप समझते हैं वह वास्तविकता नहीं है, वास्तविकता कुछ और है और आप यदि सुनने को तैयार हों तो सुनिये। मैं महेन्द्रनाथ के साथ रही हूँ, पत्नी के रूप में और बहुत समय तक। अत: जितना मैंने उसे निकट से दखा है, उसको सहा है, उसके अत्याचारों को सहा है, आपने नहीं। अत: मुझे उसका, उसके चरित्र का, उसकी मनोवृत्ति और स्वभाव का जितना अनुभव है उतना आपको नहीं, अत: दाम्पत्य जीवन की असफलता का असली रहस्य भी मुझे पता है आप केवल अनुमान लगा सकते हैं, असलियत न जानते हैं, न बता सकते हैं। महेन्द्रनाथ के साथ अनेक वर्ष बिताने, उसे निकट से देखने और बरतने के बाद मुझ पर स्पष्ट हो जाता है कि वह खंडित व्यक्तित्व वाला, लिजलिजा, चिपचिपा, अकर्मण्य व्यक्ति है जिसकी रीढ़ की हड्डी या तो कमजोर है या है ही नहीं। अपनी बात को पुष्ट करने के लिए वह वकीलों की तरह जिरह करती है।

प्रत्येक आदमी विवाह कर अपना घर बसाना चाहता है। घर बसाने के पीछे उसकी कुछ इच्छाएँ, आकांक्षाएँ, आवश्यकताएँ होती हैं और वह समझता है कि जीवनसाथी पाकर उसकी वे इच्छाएँ-आवश्यकताएँ पूरी हो जायेंगी। उनमें से एक आवश्यकता है शरीर की भूख, यौन-तृप्ति। यह इच्छा, यह भूख नैसर्गिक है, प्रकृति-प्रदत्त है, इसमें कोई दोष नहीं। व्यक्ति स्वयं में अपूर्ण है, अधूरा है। प्रकृति ने उसे अपूर्ण बनाया है। इसी अपूर्णता को दूर करने, खालीपन भरने अपने को पूरा करने के लिए वह जीवन साथी का चुनाव करता है, विवाह बंधन में बँधता है, परिवार के दायित्व निभाता है, स्त्री-पुरुष दोनों अपूर्ण हैं पर मिलकर, एक दूसरे के पूरक बनकर इस अपूर्णता को पूर्णता में बदनले का प्रयत्न करते हैं, दोनों का सम्पर्क बढ़ता है, संबंध घनिष्ट होते हैं, आत्मीयताा बढ़ती है एक दूसरे के लिए त्याग, बलिदान करने की भावना जागती है। यदि ऐसा होता है, तो दाम्पत्यजीवन सफल होता है, मूलत: अधे-अधूरे व्यक्तित्व वाले दो प्राणी पूर्ण बन जाते हैं वे पति-पत्नी मूलत: एक दूसरे के लिए होते हैं, तीसरा उनके बीच नहीं आना चाहिए। प्राथमिक कर्त्तव्य दोनों का एक दूसरे के प्रति होना चाहिए। यद ऐसा नहीं होता तो दाम्पत्य जीवन में विष घुल जाता है, संबंधों में दरार पड़ जाती है, दोनों के बीच एक ऐसी खाई उत्पन्न हो जाती है जो कभी पट नहीं पाती। महेन्द्र और सावित्री के बीच यही हुआ। महेन्द्रनाथ पत्नी के स्थान पर अपने मित्रों से अधिक जुड़ा रहा, उन्हें अधिक महत्त्व देता रहा, उनके लिए पत्नी को प्रताड़ना, यातना और अपशब्द कहता रहा। वह मित्रों की आवश्यकताओं, इच्छाओं और कार्यक्रमों को अपनी पत्नी की इच्छा, आकांक्षा, जीवनचर्या से अधिक महत्त्वपूर्ण मानता चला गया। पत्नी के समझाने-बुझाने पर भी उसने ध्यान नहीं दिया। उसका समय पत्नी के लिए कम, मित्रों के लिए अधिक था। उसकी दृष्टि में पत्नी मूर्ख रही, मित्र विवेक संपन्न, अत: वह उनकी परामर्श मानता, उनके बताये मार्ग पर चलताा, पत्नी की मंत्रणा उसे एक कान न सुहाती। मित्र जैसा चाहते उसे चलाते, उससे काम कराते, उसकी संगति से मनोरंजन करते। महेन्द्रनाथ उनके हाथ का मोहरा बन कर रह गया, उनके इस्तेमाल का एक उपकरण। उसकी अपनी इच्छा, अपना सच, अपनी कार्यपद्धति कुछ नहीं थी; उसके मित्र उस पर इतने हावी हो गये कि वह मानसिक रूप से उनका गुलाम हो गया और मजे की बात यह कि वह इस तथ्य को, कटु सत्य

नोट

को समझा भी नहीं। स्वयं को स्वतंत्र चिंतक, स्वेच्छा से कार्य करने वाला स्वयंभू मानता रहा। परंतु सावित्री तो सब समझती थी। उसे अपने पति की यह मानसिक दासता और मित्रों का अनुगमन करने की प्रवृत्ति फूटी आँख न सुहाई। उसने विरोध किया, समझाया, ऊँच-नीच दिखायी पर महेन्द्रनाथ की आँखों पर पर्दा पड़ा हुआ था अत: वह पत्नी के बताये मार्ग पर चलने और मित्रों से नाता तोड़ने के बजाय पत्नी को ही डाँटने-डपटने, मारने-पीटने और जोर-जबरदस्ती से कार्य करने पर विवश करता रहा जो वह नहीं करना चाहती थी।

विशेष– (1) सावित्री ने जो पूरे आदमी के गुण और विशेषताएँ बतायी हैं, वे तो ठीक हैं, उनसे किसी का विरोध नहीं हो सकता। पर इस व्याख्या के पीछे उसका उद्देश्य केवल महेन्द्रनाथ को दोषी ठहराना है, दाम्पत्य जीवन की असफलता का दायित्व उस पर डालना है, वह स्वयं अपनी दुर्बलता जानते हुए भी उनकी ओर आँख बंद किए रहती है।

(2) नारी मनोविज्ञान का, उसके सोचने-समझने का, दूसरों को दोषी ठहराने की प्रवृत्ति का यथार्थ अंकन है।

(3) जिरह की भाषा तथा वकीलों जैसी पद्धति नाटक के अभिनेय बनाने में सहायक है।

(9) वह एक पूरा आदमी चहती है अपने लिए–एक ... पूरा... आदमी। गला फाड़कर वह यह बात कहती है। कभी इस आदमी को ही वह आदमी बना सकने की कोशिश करती हैं, कभी तड़पकर अपने को इससे अलग कर लेना चाहती है। पर अगर उसकी कोशिशों से थोड़ा भी फर्क पड़ने लगता है इस आदमी में, तो दोस्तों में इसका गम मनाया जाने लगता है।

प्रसंग– सावित्री अपने पति महेन्द्र को आधा-अधूरा आदमी समझती है। उसका विचार है कि अपने अपूर्ण व्यक्तित्व के कारण वह दूसरों पर निर्भर करता है। उसमें स्वयं कोई पहल करने की, खतरा मोल लेकर नया कार्य आरंभ करने की क्षमता नहीं है। पति की इन कमियों को देख-देख कर वह खीजती है मन ही मन उससे घृणा करती है। कभी-कभी उसे सुधारने का भी प्रयास करती हैं पर जब महेन्द्र पत्नी की बात न मानकर चित्रों को उकसाने पर उसे मारता-पीटता है, सावित्री को अपने ढंग से चलने को विवश करता है तो दोनों के बीच की दरार बढ़ती जाती है। इसी को लेकर जब जुनेजा से बात होती है तो वह स्पष्ट कह देती है–

व्याख्या– मुझे आधे-अधूरे व्यक्तित्व वाले पुरुषों से घृणा है। मैं चाहती हूँ कि मेरा पति पूर्ण व्यक्तित्व वाला पुरुष हो, उसमें आत्म विश्वास हो, दृढ़ता हो, पौरुष हो, पुरुषार्थ हो। वह दूसरों के बताये मार्ग पर न चलकर स्वयं अपना मार्ग चुने, पहल करें, जोखि उठाये। अपनी इस इच्छा को मैं सबके सामन, गली-मुहल्ले में, छत के ऊपर चढ़कर कह सकती हूँ। मुझे यह कहने में कोई झिझक नहीं, कोई संकोच नहीं। मैं महेन्द्र से भी अपने मन की बात अनेक बार बहुत स्पष्ट रूप में कह चुकी हूँ। इतना ही नहीं उसे अपने मनोनुकूल ढालने का प्रयास भी करती रही हूँ ताकि वह पूर्णता प्राप्त करे, पुरुषार्थी बने, उसकी अपनी निजी शख्सियत हो, निजी माद्दा हो, स्वतंत्र चिंतन हो, मित्रों का मुँह न जोहे, आत्म-निर्भर बने, आत्मविश्वस के साथ कार्य करे। पर जब मित्रों के दबाव के कारण वह मेरी बात नहीं मानता, उनका ही पिछलग्गू बना रहता है तो मैं तड़प उठती हूँ उससे नाता तोड़ने को मन करता है और कुछ दिन तक हमारा नाता टूट भी जाता है। हम एक ही छत के नीचे अजनबियों की तरह रहते हैं। कभी-कभी ऐसा भी हुआ है कि मेरे प्रयत्न सफल होने लगते हैं, वह सुधरता प्रतीत होता है, उसमें आत्मविश्वास जागता है, वह मित्रों के प्रति उदासीन होने लगता है, मुझसे सलाह-मशविरा कर कोई नया कार्य करने की योजना बनाता है पर मित्रों को भला यह क्यों सुहाने लगा? महेन्द्र के चरित्र, स्वभाव, आचरण में जहाँ थोड़ा भी अंतर आने लगता है यार लोगों के दिल पर साँप लोटने लगता है, उन्हें लगता है शिकार पंजे से निकल रहा है, उन पर अश्रित व्यक्ति स्वतंत्र हाने, या पत्नी के चंगुल में फँसने जा रहा हैं अत: वे सवधान होकर, हर तरह की नीति अपनाकर उसे पुन: अपने जाल में फँसाते हैं। कभी चापलूसी करते हैं, कभी पत्नी के विरुद्ध भड़काते-उकसाते हैं, कभी धमकी देते हैं। वे उसे विश्वास दिलाते हैं कि उनके बताये मार्ग पर चलकर वह साधन-संपन्न बनेगा, समाज में प्रतिष्ठा पाएगा और यदि पत्नी की बात मानी तो रोटियों के लाले पड़ जाएँगे, परिवार नष्ट हो जाएगा, उसकी इज्जत धूल में मिल जाएगी।

विशेष–(1) सावित्री की मन:स्थिति का मनौवैज्ञानिक विश्लषण और चित्रण।

(2) इस कथन के द्वारा नाटककार स्पष्ट संकेत देता है कि पति-पत्नी के बीच मनमुटाव एवं तनाव का कारण

नोट

महेन्द्र की मित्रमंडली थी। वे एक ओर महेन्द्र को पंगु बनाये रखना चाहते हैं और दूसरी ओर सावित्री के विरुद्ध भड़काते रहते हैं।

(3) मध्यवर्गीय परिवारों की, दाम्पत्य जीवन की सच्ची तस्वीर प्रस्तुत की गयी है।

(4) भाषा सरल ही नहीं, मंचन के लिए नितान्त उपयुक्त है।

सावित्री महेन्द्र की नाक में नकेल डालकर उसे अपने ढंग से चला रही है। सावित्री बेचारे महेन्द्र की रीढ़ तोड़कर उसे किसी लयक नहीं रहने दे रही है! जैसा कि आदमी न होकर बिना हाड़-मांस का पुतला हो वह एक-बेचारा महेन्द्र!

प्रसंग– सावित्री अपने पति को आत्मनिर्भर बनाना चाहती है, मित्रों पर आश्रित होना उसे अच्छा नहीं लगता इसके लिए वह प्रयत्न करती है। उसके प्रयत्न सफल होने लगते हैं। महेन्द्र का मित्रों के यहाँ आना-जाना, उठना-बैठना कम हो जाता है। उसमें यह परिवर्तन देख मित्र गण आशंकित होने लगते हैं, उन्हें लगता है कि महेन्द्र उनके हाथ से निकल रह है, वह अपनी पत्नी की बात अधिक मानने लगा है अत: वे उसे भड़कने के लिए तरह-तरह की बातें करते हैं।

व्याख्या– पुरुष की एक बड़ी कमजोरी है कि वह स्वयं को नारी से सदा ऊँचा मानता रहा है, उसे यह तनिक भी बरदाश्त नहीं कि नारी उससे श्रेष्ठ कही जाय, उसे पुरुषा की अपेक्षा अधिक मान-सम्मान और प्रतिष्ठा मिले। परिवार में भी वह स्वयं की पत्नी से अधिक महान, शक्तिशाली और सत्तासम्पन्न देखना चाहता है। 'जोरु का गुलाम' उसके लिए गाली है। वह यह नहीं चाहता कि कोई उसे 'जोरू का गुलाम' कहे। पुरुष की इसी दुर्बलता का लाभ उठाया महेन्द्र के मित्रों ने। जब उन्होंने उसे अपने दबाव से छूटकर जाने के लिए छटपटाते देखा तो कहना आरंभ कर दिया कि महेन्द्र तो अब जोरु का गुलाम हो गया है। उसकी पत्नी उससे अधिक शक्तिशाली है, उसका रौब सारे परिवार पर है, महेन्द्र उसके सामने भीगी बिल्ली या दुम हिलाता कुत्ता रह गया है। जैसे ऊँट के नकेल डालकर या हाथी को अंकुश द्वारा वश में किया जाता है, वे वही करते हैं, उसी मार्ग पर चलते हैं जिस पर महावत चलाना चाहता है वैस ही सवित्री ने महेन्द्र को पालतू बना लिया है। वह वही करता है जो सावित्री चाहती है, वह अपने दिमाग से नहीं सावित्री के दिमाग से सोचता है। अब घर में उसकी ही तूती बोलती है। महेन्द्र के प्रति अपनी संवेदना और झूठी सहानुभूति व्यक्त करते हुए वे कहते हैं कि सावित्री ने तो महेन्द्र की रीढ़ की हड्डी ही तोड़ दी है। रीढ़ की हड्डी टूटने पर व्यक्ति ठीक से उठ-बैठ भी नहीं सकता। उसे हर काम के लिए दूसरों की सहायता लेनी पड़ती है, मुँह जोहना पड़ता है, वह पराश्रित हो जाता है। महेन्द्र भी अपनी पत्नी के रौब, दबदबे, आतंक के कारण अपना निजीपन, अपनी स्वतंत्र शक्ति आत्मनिर्णय की प्रवृत्ति खो बैठा है और प्रत्येक कार्य अपनी पत्नी के आदेश पर करता है। उसके सभी निर्णय उसके अपने नहीं पत्नी द्वारा लिये गये निर्णय होते हैं। बेचारे को पत्नी ने अपना गुलाम बनाकर रख छोड़ा है। वह जादूगरनी है और उसने अपने दाजू से महेन्द्र को पुरुष से भेड़ बना दिया है। कितना महान पतन है। कितनी शर्म की बाात है। पुरुष के लिए इससे अधिक डूब मरने की क्या बात हो सकती हैं! महेन्द्र कठपुतली होकर रह गया है और सावित्री सुत्रधार की तरह उसे मनमाना नाच नचा रही है, वह उसके हाथ का खिलौना मात्र बन कर रह गया है बेचारे महेन्द्र की इस दुर्दशा पर आँसू बहाते अफसोस जाहिर करने के अतिरिक्त हम कर भी क्या सकते हैं? पति-पत्नी का मामला जो ठहरा!

विशेष– (1) स्वार्थी मित्रों का मनोवैज्ञानिक चित्रण।

(2) मगरमच्छ के आँसू बहाना इसी को कहते हैं, नाक में नकेल डालना आदि मुहावरों का सटीक प्रयोग।

तुम्हारे लिए जीने का मतलब रहा है– कितना-कुछ एक साथ होकर, कितना-कुछ एक साथ पाकर और कितना-कुछ एक साथ ओढ़कर जीना। वह उतना-कुछ कभी तुम्हें किसी एक जगह न मिल पाता, इसलिए जिस-किसी के साथ भी जिन्दगी शुरू करतीं, तुम हमेशा इतनी ही खाली, इतनी ही बेचैन बनी रहतीं।

प्रसंग– महेन्द्र का मित्र जुनेजा महेन्द्र और सावित्री के बीच समझौता कराने, सावित्री को समझा-बुझाकर दोनों में मेल कराने के उद्देश्य से सावित्री के पास आया था। पर बातचीत के दौरान सावित्री ने महेन्द्र के प्रति वितृष्णा भाव

नोट

प्रकट करते हुए कहा कि वह अधूरा व्यक्ति है, लिजलिजा और चिपचिपा आदमी है और उसके इस अधूरेपन के लिए जुनेजा जैसे मित्र उत्तरदायी हैं तो जुनेजा बौखला उठा, वह संयम खो बैठा और सवित्री को ही महेन्द्र की दुर्दशा का, उसकी यातनापूर्ण जिन्दगी के लिए उत्तरदायी ठहराने लगा। उसने स्पष्ट कहा कि वह महत्वाकांक्षिणी स्त्री है, महत्वाकांक्षा पूर्ण करने के लिए नीति-अनीति, नैतिकता-अनैतिकता को अनदेखा कर स्वैचारिणी बनने तक को तैयार रहती है, कितने ही पुरुषों के बीच भटकती रही है और फिर भी असंतुष्ट है। उसने सावित्री पर आरोप लगाया कि वह स्वयं जुनेजा के प्रति आकृष्ट रही है और उसके संबंध शिवजीत तथा जगमोहन से भी रहे हैं। अपनी बात को अत्यंत कटु बनाने के लिए वह व्यंग्यपूर्ण भाषा का सहारा छोड़ अभिधा में दो टूक बात कहता है।

व्याख्या– तुम महत्त्वकांक्षी रही हो। तुम्हारी इच्छाएँ, आकांक्षाएँ, आवश्यकताएँ इतनी अधिक, इतनी वैविध्यपूर्ण और बहुमुखी रही है कि कोई एक व्यक्ति इन सबको संतुष्ट नहीं कर सकता। यही कारण है कि तुमने अनेक पुरुषों के साथ संबंध जोड़े, विभिन्न स्तरों के प्रभावशाली पुरुषों के साथ संपर्क स्थापित किया, नैतिकता-अनैतिकता का विचार त्याग अमर्यादित आचरण किया। वस्तुत: तुम्हारी प्रकृति, तुम्हारा चरित्र ही ऐसा है कि तुम किसी एक पुरुष की होकर रह ही नहीं सकतीं, एक पुरुष के साथ संपूर्ण जीवन बिताना तुम्हारे लिए संभव ही नहीं है। अत: यदि तुम्हारा विवाह महेन्द्र से न होकर शिवजीत, जगमोहन या किसी भी अन्य पुरुषा से होता, तब भी तुम असंतुष्ट ही रहतीं। तुम्हारे लिए जीवन का अर्थ है एक साथ बहुत कुछ पाना, एक साथ अनेक व्यक्तियों पर आधिपत्य जमाना, उन्हें अपना अनुगामी बनाना, उन्हें अपने इशाारे पर नचाना तुम केवल आदान चाहती हो, देने के लिए तुम्हारे पास कुछ नहीं है और यदि कुछ है भी तो उसके बदले बहुत ज्यादा चाहती हो। सेवा, त्याग, ममता, आस्था, श्रद्धा जो नारी के गुण हैं, उनका तुममें नितान्त अभाव है। परिणाम है असन्तोष, खीज, चिड़िचिड़ापन, कलह, टकराव। जो तुम नहीं हो, वह दिखाना चाहती हो, अत: आडम्बर, ढोंग, मिथ्याचरणा, प्रवंचना तुम्हारे स्वभाव के अंग बन गये हैं। अपनी महत्वाकांक्षाओं, कभी न संतुष्ट होने वाली भूख, कभी तृप्त न होने वाली इच्छाओं का परिणाम यह हुआ कि तुम्हारा स्वभाव चिड़चिड़ा बन गया, तुम सदा असंतुष्ट रहीं, छटपटाती रहीं, टूटती रहीं, कलह करती रहीं दूसरों पर व्यंग्य बाण छोड़ती रहीं, दूसरों के दोष देती रहीं, कमजोरियाँ बताती रहीं। तुम्हारे भटकने, दुखी होने और दूसरों में दोष देखने का कारण है तुम्हारा असंतोष, अस्थिर-चंचल स्वभाव, तुम्हारी महत्त्वाकांक्षाएँ। अत: भले ही महेन्द्र के स्थान पर और कोई पुरुष तुम्हारा पति होता, अपनी इस चरित्रिक दुर्बलता के कारण तुम उसके साथ भी दुखी रहती, तुम्हारा जीवन अव्यवस्थित रहता, परिवार टूटता, कलह होती। तुमने अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए कभी एक का, कभी दूसरे का हाथ पकड़ा, सहार लिया। नये पुरुष का सहारा लेते समय तुमने सोचा कि अब सुख मिलेगा, जीवन सफल होगा, शोष जिन्दगी चैन से कटेगी पर वह मृगतृष्णा हुई, भ्रम निकला और तुम वहीं की वहीं रहीं–चिरतृषित, अतृप्त, असंतुष्ट। तुम स्वयं अधूरी हो, तुम्हारे अपने चरित्र में दोष है, त्रुटियाँ हैं पर तुम उन्हें न देखकर दूसरों में विशोषत: अपने पति महेन्द्र में देखती रही हो। इसके फलस्वरूप तुम्हें मिली है रिक्तता, शून्यता, खालीपन, एक बोझ, एक कसमसाहट, एक अन्तर्दाह, एक छटपटाहट जिसके कारण तुम कभी चैन से नहीं बैठ पायीं, सदैव बेचैन रहीं।

विशेष– (1) सावित्री की मूल प्रवृत्ति काा, उसके चरित्रिक दोषों का उद्घाटन बड़ी सशाक्त शैली में किया गया है। सावित्री के माध्यम से नाटककार ने उच्च मध्यवर्गीय, स्वयं को आधुनिक कहनेवाली नारी के मनोभावों, मनोवृत्ति तथा चरित्र का सच्चा चित्रण किया है।

देखा है कि जिस मुट्ठी में तुम कितना कुछ एक साथ भर लेना चाहती थीं, उसमें जो था वह भी धीरे-धीरे बाहर फिसलता गया-कि तुम्हारे मन में लगातार एक डर समाता गया है जिसके मारे कभी तुम घर का दामन थामती रही हो, कभी बाहर का-और कि वह डर एक दहशत में बदल गया, जिस दिन तुम्हें एक बहुत बड़ा झटका खाना पड़ा.. अपनी आखिरी कोशिश में।

प्रसंग– जुनेजा सावित्री के चारित्रिक दोषों, दुर्बलताओं का पर्दाफाश करता है और बताता है कि वह महत्वकाांक्षी है, चंचल है, एक पुरुष के साथ न रहनेवाली भँवरी-प्रवृत्ति की औरत है। अपने इन्हीं दोषों के कारण वह सदा महेन्द्र में दोष निकालती रही-उसको लिजलिजा, दब्बू, निठल्ला, दोस्तों पर आश्रित रहने वाला कहकर उसे

नोट

आधा-अधूरा बताती रही। प्रथम तो महेन्द्र में ये सारे अवगुण शुरू से नहीं थे, यदि बाद में वह इन दुर्गणों से गस्त हो भी गया तो उसके लिए सावित्री भी कम जिम्मेदार नहीं हैं उसके बार-बार रोकने, फटकारने, भर्त्सना करने से उसमें वह हीन-भाव पैदा हो गया जो सावित्री को खलता रहा, खटकता रहा। जुनेजा के इस आरोप का खंडन करती हुई सावित्री प्रश्न करती है कि क्या उसने महेन्द्रनाथ को, उसके पूरे जीवन, जीवन की परिस्थितियों को अच्छी तरह देखा-समझा है? केवल अधूरी बातें जानकर वह जिस निष्कर्ष पर पहुँचा है, वह गलत है इस पर जुनेजा सावित्री से अपनी असहमति प्रकट करते हुए कहता है।

व्याख्या– मैंने महेन्द्र के उसके परिवेश को, उसके कार्यों को निकट से देखा है। तुमको और तुम्हारे चरित्र को भी मैं अच्छी तरह से समझता हूँ। मैं जान गया हूँ कि तुम बड़ी महत्त्वाकांक्षी हो, तुम्हारी आकांक्षाएँ असीम हैं। जैसे कोई अपनी मुट्ठी में है, वह भी निकल जाता है। उसी प्रकार तुमने अपनी क्षमता से अधिक चाहा, जितना प्राप्त कर सकती थी। उससे अधिक पाने की कामना की। परिणाम यह हुआ कि जो पहले से ही मुट्ठी में है, वह भी निकल जाता है। उसी प्रकार तुमने अपनी क्षमता से अधिक चाहा, जितना प्राप्त कर सकती थाी उससे अधि क पाने की कामना की। परिणाम यह हुआ कि जो पहले से प्राप्त था वह भी खो बैठीं। तुम्हारी मुट्ठी खाली रही और उस अभाव ने तुम्हें चिड़चिड़ा, पर-छिद्रान्वेषी तथा दूसरों पर आरोप लगाने वाला बना दिया। तुम अपना सुख चैन तो खो ही बैठीं, परिवार की सुख-शान्ति भी नष्ट करने लगीं। घर में कलह, परिवार के सदस्यों में संघर्ष, टकराव और वैमनस्य पैदा हो गया। सब एक दूसरे से कटने लगे। यदि तुम आवश्यकता से अधिक महत्त्वाकांक्षी न होती तो कम से कम पति के साथ संतुष्ट रहतीं, थोड़े में गुजारा करतीं, सदृगृहिणी का कर्त्तव्य निबाह कर संतान को योग्य बनतीं। पर तुमने वह सब तो किया नहीं, पर-पुरुषों के चक्कर में पड़ गयीं और तुम्हारे आचरण को देख संतान भी दुष्चरित्र एवं उच्छृंखल बन गयी। इसी प्रवृत्ति के कारण तुम पति को खो बैठीं, घर का सुख-चैन गँवा दिया। तुम भटक गयीं। तुम्हारी स्थिति भँवर में पड़े प्राणी की सी हो गयी। महेन्द्र तुमसे प्यार करता था, अब भी करता है, तुम से अलग नहीं रहना चाहता, पर तुम्हारे व्यवहार ने उसे सनकी बना दिया। वह खिन्न रहने लगा, मित्रों का सहारा ढूँढने लगा। स्थिति सुधरने की बजाय बिगड़ती गयी। तुम भटक गयीं। तुम्हारी स्थिति भँवर में पड़े प्राणी की सी हो गयी। पर-पुरुषों ने तुम्हारी आवश्यकताएँ पूरी नहीं कीं, बार-बार की असफलता, सपनों के टूटने से तुम्हें घोर निराशा हुई। दूसरी ओर घर में अशांति और कलह ने तुम्हारे चित को विक्षुब्ध कर दिय। बाहर की असफलता और घर की आंतरिक अशांति के पाटों के बीच तुम पिसती रहीं। न माया ही मिली और न राम। धीरे-धीरे मिथ्या आशंकाएँ, अनजाना भय, दु:स्वप्न तुम्हें घेरने लगे, तुम्हारा आत्मविश्वास कम होता गया। बार-बार तुम बाहर के लोगों का आश्रय ढूँढने लगीं, उनसे अपेक्षाएँ करने लगीं और बार-बार निराश होकर अपने जीवन में विष घोलती रहीं। घर को सँभालने और बाहर की प्रतिष्ठा बनाने में। एक आरे पति की नजरों में गिरीं, समाज में बदनाम हुईं, संतान की संदेहपात्र बनीं और दूसरी ओर जीवन की आवश्यकताएँ भी पूरी नहीं हो पायीं। इस प्रकार आातंक, भय, त्रास ने तुम्हें अपनी कुंडलियों में घेर कर तुम्हारा जीवन नारकीय बना दिया।

विशेष– (1) जुनेजा ने सावित्री को उसका सच्चा रूप दिखा दिया है।

(2) महत्त्वकांक्षिणी, आधुनिक नाारी की मूल प्रवृत्ति का सही विश्लेषण।

स्व-मूल्यांकन

सही विकल्प चुनिए–

1. आधे-अधूरे नाटक का मुख्य पात्र कौन-सा है?
   (क) जुनेजा (ख) महेंद्रनाथ (ग) अशोक
2. नाटक की मुख्य स्त्रीपात्र कौन है।
   (क) सावित्री (ख) बिन्नी (ग) किन्नी
3. नाटक का शीर्षक आधे-अधूरे किस पात्र द्वारा चरितार्थ होता है।
   (क) जुनेजा (ख) सिंघानिया (ग) महेंद्रनाथ
4. बड़ी लड़की बिन्नी के पति का क्या नाम है?
   (क) जगमोहन (ख) मनोज (ग) सिंघानिया

नोट

इसलिए कि आज वह अपने को बिल्कुल बेसहारा समझता है। उसके मन में यह विश्वास बिठा दिया है तुमने कि सब कुछ होने पर भी उसके लिए जिंदगी में तुम्हारे सिवा कोई चारा, कोई उपाय नहीं है और ऐसा क्या इसलिए नहीं किया कि जिंदगी में और कुछ हासिल न हो, तो कम से कम यह नामुराद मोहरा तो हाथ में बना ही रहे?

प्रसंग– जुनेजा सावित्री की बातें सुनकर इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि महेन्द्र और सावित्री के बीच समझौता नहीं हो सकता। उनकी रुचियाँ, उनका स्वभाव, उनका सोचने का तरीका दो ध्रुवों पर है। जो कभी एक-दूसरे के पास नहीं आ सकते। उन दोनों के मध्य रागात्मक संबंध, यदि थे भी, तो अब टूट गये हैं और पुन: स्थापित नहीं हो सकते। अत: वह सावित्री से आग्रह करता है कि दोनों का भला इसी में है कि वे एक दूसरे को तलाक दे दें, सावित्री महेन्द्र का परित्याग कर दे। जब सावित्री जुनेजा से पूछती है कि वह बार-बार इस बात को क्यों दुहरा रहा है, उसका उद्देश्य क्या हे, वह चाहता क्या है तो जुनेजा उत्तर देता है–

व्याख्या– महेन्द्र अब भी तुमसे प्यार करता है, तुम्हारे प्यार को अपना सहारा मानता है, उसे विश्वास है कि तुम्हारा प्यार उसका सबसे बड़ा संबल हैं उसके ये विचार भ्रांतिपूर्ण हैं पर वह उन्हें अपने मन से निकाल नहीं पाता और कहीं न कहीं उसके मन के कोने में आशा है कि तुम उसे अपना प्यार और सहारा देकर उबार लोगी। जब तक यह भ्रांत धारणा उसके मन में है वह अपने पैरों पर नहीं खड़ा हो सकता, स्वावलंबी नहीं बन सकता, मिथ्या मोह जाल में फँसा रहेगा। यदि यह भ्रांति दूर हो जाय तो वह कुछ हो सकता है, कुछ बन सकता है। यह भ्रांति तभी टूटेगी जब तुम स्पष्ट कह दो कि तुम उसे प्यार नहीं करतीं, तुम्हारा उससे कोई संबंध नहीं, वह इस भ्रम को दूर कर दे। वह तुम पर आश्रित है और तुम उसका एक मात्र सहारा हो, यह धारणा तुमने ही उसमें कूट-कूट कर भरी है। तुम्हारी स्पष्ट उक्ति, तुम्हारा दो टूक उत्तर इस भ्रांति को दूर कर देगा। पर तुम उसे प्यार न करते हुए भी, उसे निकम्मा, निठल्ला, अधूरा, लिजलिजा बताते-कहते हुए भी यह नहीं कर पातीं, उसे दो टूक उत्त नहीं देतीं, उसका परित्याग क्यों नहीं करतीं? कदाचित् इसलिए कि तुम्हें स्वयं पर पूरा भरोसा नहीं हैं। जिनसे तुमने संबंध बनाए थे, उन पर भरोसा नहीं हैं। तुम जानती हो कि तुम पुरुष के आश्रय के बिना नहीं रह सकतीं, कोई न कोई पुरुष तुम्हें चाहिए ही। साथ ही तुम्हारे मन में यह भी शंका है कि जो पुरुष तुम्हें आश्वासन देते हैं, आश्रय और सहायता का वचन दे रहे हैं, तुम्हारे लिए सब कुछ करने का यकीन दिला चुके हैं, वे धोखेबाज हो सकते हैं, झूठे हो सकते हैं, अपने वायदे से मुकर सकते हैं, तुम्हारी नौका को मँझधार में छोड़ सकते हैं। और यदि ऐसा हुआ तो तुम कहीं की न रहोगी। यही कारण है कि तुम महेन्द्र को त्यागने से हिचकती हो। तुमने उसे सेफ्टी वाल्व समझ रखा है। यदि तुम्हारे तथाकथित प्रेमियों ने तुम्हें छोड़ भी दिया तो कम से कम महेन्द्र तो तुम्हारी रक्षा, संरक्षण, भरण-पोषण के लिए रहेगा ही। अत: तुम अपने स्वार्थ के लिए अपनी सुरक्ष के लिए उसे प्यार न करते हुए भी, उसे घृणा करते हुए भी, उसे गालियाँ और अपशब्द कह कर भी, उसे त्याग नहीं पातीं।

तुम सोचती हो अकेली स्त्री, इस समाज में असहाय है, यदि पति न हो तो समाज के भेड़िए नारी को फाड़ कर रखा जाएँ अत: उनसे बचने के लिए पति नाम का व्यक्ति होना ही चाहिए। तुम महेन्द्र की पत्नी कहलाती रहोगी और समाज तुम्हें सदृगृहिणी का सम्मान देता रहेगा, तुम्हारी ओर तिरछी आँख से देखने का साहस नहीं करेगा। यह तुम्हारा स्वार्थ है, तुम्हारी कुटिलता है। अत: सद्नारी बनकर यदि उससे प्रेम नहीं कर सकतीं, समझौता नहीं कर सकतीं, तो उसे मुक्ति दे दो। उसकी भ्रांति दूर हो जाएगी और वह कटु सत्य को पाकर अपना भविष्य बनने का प्रयास करेगा।

विशेष– (1) जुनेजा द्वार सावित्री का असली रूप दिखया गया है कि वह त्रिया-चरित्र रचने में बड़ी कुशल है। उसने एक ओर महेन्द्र को विश्वास दिला रखा है कि वही उसकी एकमात्र शुभ चिंतक है, सहारा है, उसके अतिरिक्त सब उसको उल्लू बनाते हैं। दूसरी ओर वह उसके विषय में अनर्गल बातें कहकर, उसे निकम्मा बताकर दूसरे पुरुषों को अपनी ओर आकृष्ट कर अपने मायाजाल में फँसाना चाहती है।

नोट

(2) मोहन राकेश के भाषा के विषय में विचार बड़े खुले हैं। उन्हें किसी भाषा के शब्दों के प्रति न मोह है, न लगाव और न परहेज। यहाँ भी 'नामुराद मोहरा' का प्रयोग इसलिए किया गया है कि उससे अधिक अर्थीव्यंजना शक्ति किसी अन्य शब्द में नहीं हो सकती। हिन्दी के सामान्य दर्शकों के लिए यह जान-पहचाना और सशक्त प्रयोग है।

वह कमजोर है, मगर इतना कमजोर नहीं है। तुमसे जुड़ा हुआ है, मगर इतना जुड़ा हुआ नहीं है, उतना बेसहारा भी नहीं है जितना वह अपने को समझता है। वह ठीक से देख सके तो एक पूरी दुनिया है उसके आसपास। मैं कोशिश करूँगा कि वह आँख खोलकर देख सके।

प्रसंग– जुनेजा के विनयपूर्ण आग्रह पर भी जब सावित्री महेन्द्र को न तो अपनाने के लिए और न उसे मुक्त करने के लिए तैयार होती है और उलटे जुनेजा से कहती है कि सबका हित इसी में है कि जुनेजा महेन्द्र को अपने पास रखे। वह न महेन्द्र को अपने पस रखना चाहती है और न उसके पास जाना। सावित्री के इस दुराग्रह पर जुनेजा खीज उठता है और तैश में आकर कहता है–

व्याख्या– तुम बड़ी दम्भी औरत हो, तुम्हें अपने पर बड़ा घमंड हैं तुम महेन्द्र से कोई संबंध नहीं रखना चाहती तो ठीक है महेन्द्र अब इस घर में पैर भी नहीं रखेगा। यह सच है कि वह कमजोर है, तुमसे प्यार करता है, तुम्हें अपना हितैषी समझ कर झुकता रहा है, तुम्हारी बहुत सी अनुचित बातें नजरअंदाज करता रहा है पर यह मत समझो कि वह तुमसे कटकर, अलग रहकर जीवित ही नहीं रह सकेगा। महेन्द्र समझता है कि वह निराश्रित है, उसका कोई नहीं है पर यह उसका वहम है। वह तुमसे अलग रहकर भी जिन्दा रह सकता है; वह पूर्णत: निराश्रित भी नहीं हैं हम लोग, उसे आश्रय देंगे, उसकी देखभाल करेंगे और दिखा देंगे कि वह तुम्हारे बिना भी, इस घर के बाहर भी, परिवार से दूर रहकर भी जीवित है, सुखी है। कम से कम अपमान, वितृष्णा, अपशब्दों की उपेक्षा से तो बच जायेगा। हम उसे समझाएँगे कि वह सशक्त है, उसमें आत्मविश्वास पैदा करेंगे, उसे नये सिरे से सोचने तथा नये सिरे से काम करने की प्रेरणा देंगे और हो सकता है हम अपने कार्य में सफल भी हो जायें। उसका सोचने का, काम करने का, जिंदगी जीने का दृष्टिकोण बदल जाये! हम उसे बताएँगे कि उसकी दुनिया पत्नी तथा परिवार तक सीमित नहीं है। यह संसार बहुत बड़ा है, इसमें कार्य करने के अनेक अवसर हैं। सारा भविष्य खुला पड़ा है, आवश्यकता है केवल नजरिया बदलने की, संकीर्णता से ऊपर उठकर व्यापक दृष्टि अपनाने की, अपने को परिवार तक सीमित न समझकर वृहद् समाज में काम करने का उत्साह पैदा करने की। मैं पूरा प्रयास करूँगा कि मैं उसे उसकी अस्मिता से परिचित करा सकूँ, उसमें आत्मगौरव और आत्मविश्वास जगा सकूं और दिखा सकूं कि वह तुम पर निर्भर नहीं है और तुम्हारा यह भ्रम तोड़ सकूं कि वह तुम्हारे बिना जीवित ही नहीं रह सकता।

विशेष– (1) महेन्द्रनाथ के चरित्र का उद्घाटन करने में जुनेजाा का यह कथन सहायक है कि वह सावित्री को प्यार करता है, उस पर निर्भर भी है पर यदि उसमें आत्मविश्वास पैदा किया जाय तो वह आत्मनिर्भर हो सकता है।

(2) भाषा बड़ी सशक्त हैं 'कमजोर है पर इतना कमजोर नहीं' जैसे वाक्य अभिव्यक्ति को सशक्त बनाते हैं।

(3) जुनेजा के चरित्र पर भी प्रकाश पड़ता है कि वह मित्रता निभाने के लिए न सही, स्त्री का दंभ तोड़ने के लिए मित्र को सहयोग देगा।

9.3 अभ्यास-प्रश्न

1. 'आधे-अधूरे' नाटक का सार अपने शब्दों में लिखिए।?
2. 'आधे-अधूरे' नाटक मध्यवर्गीय विसंगतिपूर्ण जीवन की सशक्त अभिव्यक्ति है। इस कथन के आधार पर नाटक की समीक्षा कीजिए।
3. 'आधे-अधूरे' नाटक में नाटककार का उद्देश्य स्पष्ट कीजिए।

उत्तर: स्व-मूल्यांकन *नोट*

1. (ख) 2. (क) 3. (ग) 4. (ख)

9.4 संदर्भ पुस्तकें

1. *मोहन राकेश और उनके नाटक*– गिरीश रस्तोगी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
2. *मोहन राकेश*– जयदेव तनेजा– राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली।
3. *आधुनिक भारतीय नाट्य विमर्श*–*जयदेव तनेजा*– राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली।

नोट

इकाई 10: आधे-अधूरे– प्रमुख पात्रों का चरित्र-चित्रण

अनुक्रमणिका

उद्देश्य

प्रस्तावना

10.1 प्रमुख पात्रों का चरित्र-चित्रण

10.1.1 पुरुष एक: महेन्द्र नाथ

10.1.2 स्त्री: सावित्री

10.1.3 बड़ी लड़की : बिन्नी

10.1.4 अशोक

10.1.5 पुरुष चार : जुनेजा

10.2 सारांश

10.3 शब्दकोश

10.4 अभ्यास-प्रश्न

10.5 संदर्भ पुस्तकें

प्रस्तावना

स्वर्गीय मोहन राकेश के नाटक 'आधे-अधूरे' के सभी पात्र अपने आप में 'व्यक्ति' होते हुए भी आज के समष्टिगत जीवन और समाज का प्रतिनिधित्व करते हैं। अत: उन्हें व्यक्ति के रूप में प्रतीक पात्र कहना ही अधिक संगत प्रतीत होता है। हमारे विचार में, इसी दृष्टि से नाटककार ने उन्हें कोई विशिष्ट नाम न देकर (चाहे बाद में प्रतीकात्मक रूप में ही नाम भी आ गए हैं) पुरुष एक, पुरुष दो, पुरुष तीन, पुरुष चार, स्त्री, बड़ी लड़की, छोटी लड़की, लड़का जैसे संबोधनों से अभिहीत किया है। नाटक के स्वरूप विधान में भी उसने संवाद-योजना के लिए विशेष नाम न देकर उपर्युक्त प्रतीक-रूपों या नामों को ही दिया है। अत: पात्रों का चरित्र-चित्रण करते समय उनके व्यक्ति रूप की रक्षा करते हुए भी उन्हें सृष्टि के प्रतिनिधि या प्रतीक रूपों में देखना-समझना अनिवार्य है।' इन्हीं दृष्टियों से यहाँ नाटक के महत्त्वपूर्ण पात्रों का चरित्र-चित्रण प्रस्तुत है।

10.1 प्रमुख पात्रों का चरित्र-चित्रण

10.1.1 पुरुष एक : महेन्द्रनाथ

पुरुष एक अर्थात् महेन्द्रनाथ नाटक में प्रतीक रूप में वर्णित, मध्य से निम्न मध्य-वित्तीय स्थितियों की ओर अग्रसर हो रहे परिवार का मुखिया है। इस दृष्टि से उसे हम 'आधे-अधूरे' नाटक का आधुनिक नायक भी कह सकते हैं। अपने पात्र-परिचय में नाटककार ने उसके बाह्य व्यक्तित्व एवं उससे उभरते आन्तरिक व्यक्तित्व की झलक इन शब्दों में दी है– ''क. सू. वा. (काले सूट वाला आदमी) जो कि पुरुष एक उम्र लगभग पचास। चेहरे की शिष्टता में एक व्यंग्य पतलून-कमीज। जिंदगी से अपनी लड़ाई हार चुकने की छटपटाहट लिए।'' नाटक पढ़ने के बाद या अभिनय देखने के बाद महेन्द्रनाथ के व्यक्तित्व एवं चरित्र का जो एक समग्र बिम्ब उभरता है, वह वास्तव में इसी रूप में शिष्टता में व्यंग्य लिए हुए तो है ही, जिन्दगी में अपनी लड़ाई हार चुकने की छटपटाहट भी स्पष्टत: उभरकर

नोट

साकार हो उठती है। अन्त में अब वह लकड़ी का सहारा लिए, लड़कों की बाँह थामें धुँधले प्रकाश में दिखाई देता है लौटता हुआ, तो उसकी पराजय की कहानी और भी अधिक करुण बनकर साकार हो उठती है। इस प्रकार एक पंक्ति में हम कह सकते हैं कि महेन्द्रनाथ का व्यक्तित्व एवं चरित्र वास्तव में आज के अहंवादी, अशक्त मध्य- वर्गीय पुरुष की पराजय एवं करुणा की ही कहानी है।

महेन्द्रनाथ आधुनिक मध्य से निम्न-मध्य-वित्तीय-स्थितियों की ओर विघटित हो रहे समाज के एक परिवार का मुखिया है और मुखिया के रूप में वह एक समग्रत: टूट चुके व्यक्ति का चरित्र हमारे सामने प्रस्तुत करता है। प्रमुख रंग-शिल्पी ओमू शिवपुरी के शब्दों में– ''सावित्री की कमाई पर पलता हुआ बेकार महेन्द्रनाथ दयनीय है। कभी जिस घर का वह गृह-स्वामी था, आज उसी घर में उसकी हालत एक नौकर के समान है। अब वह केवल एक ठप्पा, एक रबड़ का टुकड़ा है। वह सावित्री के पुरुष-मित्रों को जानता है, और जब-तब उनका जिक्र करके अपने दिल की भड़ास निकालता रहता है। अपने कुचले आत्म-सम्मान को बचाने की खातिर वह अक्सर 'शुक्र-शनिवार' घर छोड़कर चला जाता है, लेकिन कुछ घण्टों बाद वापिस लौट आता है– थका, हारा, पराजित .. क्योंकि यही उसकी नियति है।

महेन्द्रनाथ के व्यक्तित्व एवं चरित्र की (सावित्री की और नाटककार की दृष्टि में भी) सब से बड़ी दुर्बलता उसका 'लिजलिजापन' है। वह हर बात के लिए दूसरों को मुँह देखने वाला व्यक्ति है, अत: उसकी पत्नी के शब्दों में वह 'पूरे आदमी का आधा चौथाई भी नहीं है। वह महेन्द्रनाथ के बारे में स्पष्ट कहती है– ''असल में आदमी होने के लिए क्या यह जरूरी नहीं कि उसमें अपना एक माद्दा, अपनी एक शख्सियत हा।''

''''' जब से मैंने उसे जाना है, मैंने हमेशा हर चीज के लिए उसे किसी-न-किसी का सहारा ढूँढते पाया है। यह करना चाहिए या नहीं– जुनेजा से पूछ लूँ। यहाँ जाना चाहिए या नहीं– जुनेजा से राय ले लूँ। कोई छोटी-सी छोटी चीज खरीदनी है, तो भी जुनेजा की पसन्द से। कोई बड़े-से बड़ा खतरा उठाना है– तो जुनेजा की सलाह से। यहाँ तक कि मुझसे ब्याह करने का फैसला भी किया उसने, जुनेजा क हामी भरने से।''

इस प्रकार अपने आप में वह कुछ भी नहीं रह जाता। यहाँ तक कि जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण भी एक प्रकार से निस्संग-सा, निष्क्रिय-सा बनकर रह जाता है। निस्संगता निष्क्रियता, खोखलापन और रिक्तता उस समय उसके जीवन का एक अंग ही बन जाती है कि जब कि वह यह अनुभव कर लेता है कि अपनी बाह्य असमर्थताओं के कारण घर-परिवार में भी बेगाना-सा बनकर रह गया है। उसे मन में निरन्तर यह भावना घर करती जाती है कि वह इन ह्रासोन्मुखी परिस्थितियों से बाहर निकल पाने में नितान्त असहाय एवं असर्थ होकर रह गया है। अपनी इन विवशताओं के लिए, वह भाग्य को दोष देने के लिए भी स्यात् विवश है, जबकि उसे विवशता की इस स्थिति में पहुँचाने वाला उसका अपना ही अपव्ययी स्वभाव रहा है। जब तक कारोबार चलता रहा, उसके अपने ही शब्दों में– ''चार सौ रुपये महीने का मकान था, टैक्सियों में आना-जाना होता था, किस्तों पर फ्रिज खरीदा गया था, लड़के-लड़की की कॉन्वेंट में फीसें जाती थी ''।'' और सावित्री के शब्दों में– ''शराब आती थी। दावतें उड़ती थीं। इस सब पर पैसा तो खर्च होता ही था।'' और वह पैसा इस सीमा तक खर्च हुआ कि महेन्द्रनाथ निठल्ला बनकर रहा गया है, पर दोष देता है वह अपनी किस्मत को।

महेन्द्रनाथ के चरित्र में यद्यपि पुरुषोचित अहं का भाव विद्यमान है, पर उस की रक्षा कर पाने में वह समर्थ नहीं हो पाता। वास्तविकता यह है कि स्वयं अपनी अयोग्यता एवं असमर्थता के कारण उसका यह अहं-भाव हीनता-ग्रन्थियों के रूप में परिवर्तित होकर रह जाता है। तभी तो अब सावित्री उसे आज फिर सिंघानिया के आने का समाचार देती है और महेन्द्रनाथ के घर पर न रहने की कल्पना कर कहती है– ''वह अब आएगा, तो जान क्या सोचेगा कि क्यों हर बार इसके आदमी की कोई-न-कोई काम हो जाता है बाहर।'' तो यह हीनताग्रस्त-सा उत्तर देता है– ''वह मुझसे तय करक तो आता नहीं कि मैं उसके लिए मौजूद रहा करूँ– घर पर।'' वह वास्तव में महेन्द्रनाथ के अहं की हीनता में परिवर्तित वह ग्रन्थि ही है कि जिसने कमाऊ पत्नी के सामने उसे एकदम व्यर्थ-सा बनाकर रख दिया हैं तभी तो वह अपत्नी से मिलने आने वाले पुरुषों को चाहे पसन्द नहीं करता, पर न तो उन्हें रोक ही पाता है और न उनका सामना कर पाने की समर्थ्य ही जुटा पाता है।

नोट

घर का मालिक या मुखिया होने की जो मर्यादा होती है, वह उसमें तनिक भी नहीं रह गई। विडम्बना यह है कि इस स्थिति का अहसास हो जाने पर भी आन्तरिक रूप में (बाह्य रूपों से भी) वह स्थिति को स्वीकार नहीं करना चाहता– तभी तो अब भी वह बात-बात में सावित्री को– अपनी पत्नी को कोंचता रहता है, अपने पैने दाँत उसके व्यक्तित्व एवं चरित्र पर गड़ाए रहता है। उसके अन्तर्तम को अपने तीखे व्यंग्य-बाणों से अनवरत छेदता रहता है। तात्पर्य यह है कि अपनी वस्तु-स्थिति को स्वीकार न कर पाना भी उसकी नियति एवं विवशता है और इस वर्ग-स्थिति वाले सारे समाज और जीवन की ही यही नियति एवं विवशता है। तभी तो अपने मूल से उखड़ा इन स्थितियों में जीवन की लाश को ढो रहा, नितान्त असहाय बना यह वर्ग, यह समाज, महेन्द्रनाथ के शब्दों में चीखने-चिल्लाने के लिए विवश हो रहा है– ''कितने साल हो चुके हैं मुझे जिन्दगी का भार ढोते। उनमें से कितने साल बीते हैं मेरे इस परिवार की देख-रेख करते? और उस सबके बाद आज मैं पहुँचा कहाँ हूँ? यहाँ कि जिसे देखो वही मुझसे उल्टे ढंग से बात करता है। जिसे देखो वही मुझसे बदतमीजी से पेश आता है। मैं जानना चाहता हूँ कि मेरी क्या यही हैसियत है इस घर में कि जो, जब, जिस वजह से जो भी कह दे, मैं चुपचाप सुन लिया करूँ? हर वक्त की दुत्कार, हर वक्त की कोंच, बस यही कमाई है यहाँ मेरे इतने सालों की?''

यह छटपटाहट, यह अनुभूति केवल महेन्द्रनाथ की नहीं, अपनी स्थितियों से कटे-छँटे, अपनी ही भूलों के कारण अकर्मण्य-से बनकर रह गये प्रत्येक ढहती आर्थिक स्थितियों वाले व्यक्ति की कहानी हैं पर इसके लिए वास्तव में उत्तरदायी कौन है? महेन्द्रनाथ का सबसे बड़ा दोस्त और शुभचिन्तक जुनेजा इसका उत्तरदायी स्वंय महेन्द्र को ही स्वीकार करता है। जुनेजा इसका मुख्य कारण यह मानता है कि महेन्द्रनाथ अन्तर्मन से सावित्री को बहुत अधिक चाहता है, उससे बहुत अधिक प्यार करता है। इसी कारण वह निठल्ला बनकर, व्यर्थ-सा होकर रह गया है। वह बड़ी लड़की बिन्नी से स्पष्टत: कहता है–

''फिर भी कहता हूँ कि वह (महेन्द्रनाथ) इसे (सावित्री) बहुत प्यार करता है इसीलिए कहता हूँ कि अपनी आज की हालत के लिए जिम्मेदार महेन्द्रनाथ खुद है। अगर ऐसा न होता, तो आज सुबह से ही रिरिया कर मुझसे न कह रहा होता कि जैसे भी हो, मैं इससे बात करके इसे समझाऊँ।'' और फिर वह सावित्री से भी कहता है कि– ''और जानकर ही कहता हूँ कि तुमने इस तरह शिकंजे में कस रखा है उसे कि वह अब अपने दो पैरों पर चल सकने लायक भी नहीं रहा।''

वास्तव में महेन्द्रनाथ की यह विवशता है कि वह बाहरी रूप से सावित्री से छुटकारा चाहता है। सावित्री आन्तरिक दृष्टि से चाहती है कि वह महेन्द्रनाथ से अलग हो जाये, पर नहीं हो पाती। वह न हो पाना भी महेन्द्रनाथ को एकदम अकेला, नितान्त अकेला बनाकर छोड़ देता है। वह घर-परिवार की भीड़ में भी अकेला रह जाता है। लड़के अशोक की सहानुभूति भी उसके लिए व्यर्थ बनकर रह जाती है। इसे हम उसकी विघटनशील प्रवृत्तियों एवं परिस्थितियों की देन ही कह सकते हैं। परिस्थितियों और प्रवृत्तियों का यह संत्रास स्त्री-पुरुष के दम को तो चाटे ही जा रहा है, परिवार के मुखियाओं– महेन्द्रनाथ को अशक्त बनाकर सारे परिवार को भी दुर्दशा से ग्रस्त कर रहा है। विडम्बना यह है कि अपनी समस्त दुर्बलताओं के रहते हुए भी महेन्द्रनाथ– अर्थात पुरुष अधिकार-भावना से ग्रस्त है। वह लड़खड़ाकर कर भी, दीवारों-दरवाजों का सहारा ले कर भी भावना (न जाने कौन-सी स्यात् परम्परागत) की बैसाखियों के सहारे गहराते अन्धकार में भी अपने-आप को खड़ किये रहना चहता है।

वास्तव में महेन्द्र के चरित्र को ठीक प्रकार से समझा एवं परखा जा सकता है। उसे जीना है अवश्य, पर शंकालु, ईर्ष्यालु और कुढ़नशील नियति लेकर, अपने निठल्ले और निकम्मेपन में, अपने टूटे-फूटे व्यक्तित्व को अधूरे अहं की बैसाखियों का सहारा देकर, घर-परिवार और पत्नी तक की उपेक्षाओं को ओढ़कर भी, उसी अधूरेपन से भरे वातावरण में भी अनवरत जिये जाता है– तब-तक जब-तक कि सामाजिक परिस्थितियाँ ही आमूल-चूल नहीं बदल जातीं।

10.1.2 स्त्री : सावित्री

नोट

स्त्री अर्थात् सावित्री का चरित्र आज के वित्तीय एवं वर्गीय परिस्थितियों की अनिवार्य देन–तनाव, घुटन, विवशता और विफलता की कहानी कहने वाला चरित्र है। उसका चरित्र उस नारी का चरित्र है जो कि युग-युगों से पिसती आ रही है, शोषण एवं उत्पीड़न का शिकार होती जा रही है– पर पहले कारण मानसिक नैतिकताओं से ओढ़ी हुई मान्यताओं के अधिक थे, जबकि आज उससे भिन्न हैं, अर्थात् अधिक हैं। पहले सावित्री अर्थात् नारी 'सम्पूर्णता' या 'जीवन की निजी समग्रता' नामक किसी वस्तु से परिचित नहीं थी, जबकि आज वह परिचित हो चुकी है। किन्तु इस परिचित एवं अर्थ-काम के वैषम्यों के कारण उसका जीवन व्यवहारत: पहले से भी कहीं अधिक कुढ़न, घुटन, तनाव, टूटन और बिखराव का शिकार होकर रहा गया है। वह एक ऐसी सुगन्धि की शीशी बनकर रह गई है कि जिसे खुला छोड़ देने से उस के सुगनि-सत्व के उड़ जाने का भय है, बन्द करके रख देने से सड़-गल कर उसके दुर्गन्धित हो जाने का भी उतना ही भय है। पहले 'पात्र' शीर्षक के अन्तर्गत नाटककार ने स्वयं स्त्री अर्थात सावित्री का जो बहिरंग अधिक और अन्तरंग कम परिचय चित्रण दिया है, ''स्त्री! उम्र चालीस को छूती। चेहरे पर यौवन की चमक और चाह फिर भी शेष। ब्लाउज और साड़ी साधारण होते हुए भी सुरुचिपूर्ण। दूसरी साड़ी विशेष अवसर की।''

इस परिचय में दो-तीन शब्द विशेष ध्यातव्य हैं। पहला तो यह कि यौवन की चमक और 'चाह फिर भी शेष'। यह चाह सावित्री के अन्तरंग जीवन को रूपयित करती हैं इसी प्रकार 'सुरुचिपूर्ण' शब्द उसकी वर्गीय सुरुचियों का परिचायक है। अन्त में 'दूसरी साड़ी विशेष अवसर की' शब्द उसकी वर्तमान विघटनशील आर्थिक एवं वर्गीय स्थितियों के परिचायक हैं। वास्तव में नाटककार ने इन्हीं तीन मुख्य बातों को ध्यान में रखकर स्त्री अर्थात् आज की मध्यवर्गीय वित्तीय स्थितियों से निम्न-मध्य-वर्गीय स्थितियों की ओर अग्रसर होती, नौकरी पेशा की विवशता को ओढ़े हुए, स्त्री के चरित्र का चित्रण किया है।

स्त्री अर्थात् सावित्री नाटक 'आधे-अधूरे' का केन्द्रीय नारी-पात्र है। वास्तविक अर्थों में 'आधे-अधूरे' नाटक उतनी महेन्द्रनाथ के अर्थात् पुरुष के तनाव और टूटन की कहानी नहीं है जितनी कि स्त्री अर्थात् सावित्री के तनाव और टूटन की कहानी है। सावित्री के कारण ही यह नाटक पुरुष-पात्र प्रधान न बनकर नारी-प्रधान बन गया है। अत: सावित्री को हम 'आधे-अधूरे' नाटक की नायिका तो निर्भ्रान्त रूप से कह ही सकते हैं, परन्तु मुख्य ध्यातव्य तथ्य यह है कि भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य-शास्त्रों में नायिका के जिन गुणों, रूपों आर अन्तरंग-बहिरंग चरित्रों को परिकल्पित किया गया है, वह उन सब की परिभाषा और सीमा में कतई नहीं आती। वह एक अपने ही किस्म की ओर नितान्त आधुनिका नायिका है जिसके चरित्र में परम्परा के किसी रूप-गुण को खोजना प्राय: व्यर्थ है। वह अपने आप में आधुनिक मध्य से निम्न-मध्य-वर्ग की ओर विवशत: विघटित होते स्त्री या नारी के चरित्र और व्यक्तित्व का समग्रत: प्रतिनिधित्व करती है। इन अर्थों और संदर्भों में सावित्री को हम परम्परागत नारी-चरित्र न कह कर समग्रत: और सम्पूर्णत: आधुनिक विघटनशील प्रवृत्तियों, मूल्यों और मानों वाले युग का नारी-पात्र और इस अर्थ में नायिका कह सकते हैं। सावित्री के चरित्र के रूप में नाटककार राकेश ने उस आधुनिक मध्यवर्गीय नारी का चरित्र-चित्रण किया है जो कि स्वयं पतित होकर भी अपने-आपको पतित नहीं मानना चाहती अर्थात् अपना अधूरापन दूसरों पर थोपने में ही अपने अहं की पुष्टि-तुष्टि स्वीकार करती है। तुष्ट होने की यह भावना उसे पति से अलग तो कर ही देती है, एक सीमा तक आवारा और स्वेच्छाचारिणी और एतदर्थ में ही एक सीमा तक निर्लज्ज भी बना देती है।

क्या आप जानते हैं

आधे-अधूरे नाटक के अतिरिक्त मोहन राकेश ने अलग-अलग भावकर्म पर दो और नाटक–लहरों के राजहंस तथा आषाढ़ का एक दिन की रचना की।

सावित्री को, स्वयं में अधूरापन रहते हुए भी, पूरापन और पूरे व्यक्ति की तलाश है। यह तलाश ही उसे आन्तरिक दृष्टि से गहन तनावपूर्ण स्थितियों में ला पटकती है। तनाव में छटपटाहट के सिवाए अन्य किसी भी प्रकार की

नोट

सफलता उसके हाथ नहीं लगती। अपनी इस विशेषताा और असफलता में भी सावित्री 'आधे-अधूरे' नाटक का सर्वाधिक सशक्त पात्र है, इसमें किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं है। उसके भीतर ऐश्वर्यपूर्ण जीवन व्यतीत करने की साथ कुछ इस सीमाा तक समाई हुई है जो उसे स्वाभाविक नहीं रहने देती। धन के साथ कामेच्छा ने भी जुड़ कर, एक कमाऊ नारी होते हुए भी उसके समूचे अन्तः, बाह्य व्यक्तित्व को बिखेर कर रख दिया है। आने वाले परिवर्तन की उसे अनवरत प्रतीक्षा है, उसे लाने के लिए हाथ-पाँव भी पटकती है, पर वह कभी नहीं आता, अतः उसका जीवन साकार करुणा की मूर्ति बनकर रह जाता है। अस्तित्व-बोध, उसका संकट और रक्षा का जवलन्त प्रश्न उसके सामने सदा उड़ा रहता है। वह अपने मानों एवं मूल्यों के आधार पर चाह कर भी जी नहीं पाती। अपनी ही शर्तों पर सम्मान पाने की कामना में जो है उसे सहेज पाने में असमर्थ रहती है, उसके साथ समझौता नहीं कर पाती, जो नहीं है उसके पीछे अनवरत भागते रहने की मृग-तृष्णा ने ही वास्तव में उसे कहीं का नहीं रहने दिया। यही उसके जीवन की सबसे बड़ी विडम्बना है।

सावित्री आवश्यकता से अधिक महत्त्वांकक्षिणी नारी है। अधूरेपन को भरे के लिए इधर-उधर भागती है और पूरापन प्राप्त नहीं कर पाती। परिणामतः स्वयं घुटन, तनाव भोगने के लिए विवश है, उसकी अपनी विवशता पविार के सदस्यों का भी गला घोंटने लगती है। सावित्री की इस हीनता-भावना और अधूरेपन को मुख्य बताते हुए, उसकी आन्तरिक पीड़ा को खोजने-जानने के प्रयत्न में महेश आनन्द लिखते हैं– ''सावित्री को अधूरापन हमशा खलता रहा। इस अधूरेपन को भरने के लिए उसने बाहर का सहारा लिया, कभी भी घर के अन्दर झाँकने की कोशिश नहीं की। अपने परिवार के सदस्यों को हीन-भावना से देखना और बाहर पूरापन खोजना ही घर में त्रासदायक 'हवा' भर देता है और स्वयं वह अपने 'स्व' को बाँट कर 'हर दूसरे-चौथे साल अपने को उसके झटक लेने की कोशिश करती हुई, इधर-उधर नजर दौड़ाती हुई कि अब कोई जरा मिल जाय'– लेकिन वह अपन जीवन की शून्यता को भर नहीं पाती क्योंकि उसे अलग-अलग मुखौटा लगाये एक ही चेहरा बार-बार मिलता है।''

इन चेहरों से हताश-निराश और एकदम बेबस-सी होकर कभी-कभी वह कहने या बड़बड़ाने के लिये विवश हो जाती है– ''कब तक और? साल दर साल एक दिन दूसरा दिन। जुनेजा इस सारी अवस्था का दोषारोपण उसी पर करते हुए, एक सीमा तक ठीक ही कहता है–

क्योंकि तुम्हारे लिए जीने का मतलब रहा है कितना कुछ एक साथ होकर, कितना कुछ एक साथ ओढ़कर जीना। वह उतना कुछ कभी तुम्हे किसी एक जगह न मिल पाता, इसलिए जिस किसी के साथ भी जिन्दगी शुरू करती, तुम हमेशा इतनी ही खाली, इतनी बेचैन बनी रहती ···।'' और फिर उसे कहीं की भी न रहने का दोषी ठहराते हुए जुनेजा कहता है– ''देखा है कि जिस मुट्ठी में तुम कितना कुछ एक साथ भर लेना चाहती थीं, उसमें जो था, वह भी धीरे-धीरे बाहर फिसलता गया है– कि तुम्हारे मन में लगातार एक ढर समाता गया है जिसके मारे कभी तुम घर का दामन थामती रही हो, कभी बाहर का। और कि वह डर एक दहशत में बदल गया जिस दिन तुम्हें एक बहुत बड़ा झटका खाना पड़ा। अपनी आखिरी कोशिश में।'' यह झटका उसकी प्रवृत्तियों को लगा, पर इससे वह निश्चय ही नितान्त असमर्थ होकर रह गई। मनोज को अपनाने की उसने अन्तिम चेष्टा की, पर वह उसकी लड़की बिन्नी को ही ले भागा। इससे वह और भी संत्रस्त एवं आतंकित हो उठी। वह फिर जगमोहन की ओर लौटने का अन्तिम प्रयास करती है, पर वहाँ से भी उसे निराशा ही हाथ लगती है। इसी कारण वह पति के रूप में महेन्द्रनाथ को अपना एक मोहरा पात्र बनाये रखने के लिए विवश होकर रह जाती है।

नाटककार ने जुनेजा के माध्यम से वास्तव में नाटक में वर्णित परिवार के लिये बन आई विवश परिस्थितियों का सारा दायित्व सावित्री पर ही डालने का प्रयास किया है। एक सीमा तक सावित्री की महत्त्वाकांक्षाएँ तथा एक-साथ बहुत कुछ मुट्ठी में समेट लेने की साध इस सब के लिए उत्तरदायी है भी, पर महेन्द्र का नाकारापन भी सावित्री को इस असहाय एवं अवाचित स्थितियों तक पहुँचाने में कम दोषी नहीं है। सावित्री की विडम्बना कितनी तीक्ष्ण एवं करुण है कि न चाहते हुए भी वह सारे परिवार का बोझ ढोये जा रही है, पति के तानों-उलझनों और व्यग्यों के साथ-साथ उनकी मार झेलने के लिए भी नितान्त विवश है। यह विवशता, उसका अपना अधूरापन और उसे भरने भी भाग-दौड़ और वह भी जीवन-समाज द्वारा एकदम अस्वीकृत एवं विकृत उपायों द्वारा सावित्री को तोड़कर रख देता है।

10.1.3 बड़ी लड़की : बिन्नी

नोट

'आधे-अधूरे' नाटक के सहायक पात्रों में से बड़ी लड़की बिन्नी या बीना का चरित्र-चित्रण वास्तव में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। उसे अपनी माँ सावित्री का ही नवीन या युवा संस्करण कहा जा सकता है। घर-परिवार के मुखिया लोगों– माँ-बाप दूसरे शब्दों में पति-पत्नी– के व्यवहारों, आपसी चिक-चिक, कुत्सित तनावों का परिवार के छोटे सदस्यों पर निश्चित ही कितना कुत्सित एवं गन्दा प्रभाव पड़ता है, किसी सीमा तक उन्हें अधूरा, असाधारण, असंगत, विकृत या अप्राकृतिक बना देता है– बिन्नी का चरित्र इस सबका ज्वलन्त परिचायक है। नाटककार ने, वास्तव में इस प्रकार के परिवारों में उभर रहे नयी पीढ़ी के युवक-युवतियों का चरित्र विशुद्ध मनोवैज्ञानिक धरातल पर किया है।

नाटककार ने पात्र-परिचय के अन्तर्गत बीना का जो परिचय दिया है, उसकी जो रूप-रेखा प्रस्तुत की है, उससे उसके चरित्र के अन्तः बाह्य रूपों की झलक मिलती है, ''बड़ी लड़की। उम्र बीस से अधिक नहीं। भाव में परिस्थितियों से संघर्ष का अवसाद और उतावलापन। कभी-कभी उम्र से बढ़कर बड़प्पन। साड़ीः माँ से साधारण। व्यक्तित्व में बिखराव।'' इस 'उम्र से बढ़कर बड़प्पन जैसी अभिव्यक्ति ह्रासोन्मुखी वर्गीय चेतनाओं का परिचायक है। और 'व्यक्तित्व में बिखराव' उपर्युक्त सभी गुणो स्थितियों की अन्तिम परिणतियों का द्योतक है। यह रूप-रेखा बड़ी लड़की बिन्नी या बीना को अपनी माँ के चरित्र से कुछ अलग देखने की प्ररेणा नहीं देती, उसके व्यक्तित्व एवं चरित्र का निर्माण किन परिस्थितियों में हुआ है, उसी के शब्दों में पढ़कर उसके मनोवैज्ञानिक पहलुओं को समझा परखा जा सकता है। नाटक के अन्त के पृष्ठों में वह अपने माता-पिता के संबंधों की विषमता की चर्चा जुनेजा से करती हुई बड़े स्पष्ट शब्दों में कहती है–

''आप नहीं जानते हमने इन दोनों के बीच क्या-क्या गुजरते देखा है घर में। ... मैं यहाँ थी, तो मुझे कई बार लगता था कि मैं एक घर में नहीं, चिड़िया घर के एक पिंजरे में रहती हूँ जहाँ ... आप शायद सोच भी नहीं सकते कि क्या-क्या होता रहा है यहाँ! डैडी का चीखते हुए सभी के कपड़े तार-तार कर देना ... उनके मुँह पर पट्टी बाँधकर उन्हें बन्द कमरे में पीटना ... चीखते हुए गुसलखाने में कमोड पर ले जाकर ... (सिहर कर) मैं तो बयान भी नहीं कर सकती कि कितने-कितने भयानक दृश्य देखे हैं इस घर में मैंने। कोई भी बाहर का आदमी उन सबको देखता जानता, तो यही कहता कि क्यों नहीं बहुत पहले ये लोग ... ?''

ऐसी निरीह एवं अस्वाभाविक परिस्थितियों में पलने वाले युवा मन का ऊब जाना, अस्वाभाविक या असाधारण, हो जाना या उन परिस्थितियों की परिधियों को तोड़ कर अवसर पाते ही निकल भागना नितान्त स्वाभाविक ही कहा जाएगा! बिन्नी को भी घर जब चिड़ियाघर-सा लगने लगता है, तो वह अवसर पाते ही, अपनी माँ के ही प्रेमी मनोज के साथ घर से भाग निकलीती है। तभी तो उसकाा युवक भाई अशोक, उसके इस पलायन को प्रेम नहीं मानता, बल्कि घर से निकल भागने का एक जरिया या बहाना कहता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बिन्नी के बारे में इस प्रेम-संबंध और घर से पलायन को अशोक के शब्दों में उचित ही कहा जायेगा। तभी तो बिन्नी मनोज के साथ आकर भी निभाव नहीं कर पाती। जिस असाधारण पारिवारिक परिवेश में वह पली थी, वह असाधारणता सुसराल में भी बनी रहती है। मनोज के साथ रह कर भी वह साथ नहीं रह पाती। माँ के समान वह भी अवसर पाते ही मनोज के प्रति निर्मम हो उठती है। मन के असंगत-विद्रूप गुब्बारे छोड़ती रहती हैं घर में उसके माँ-बाप परस्पर उत्पीड़न का आनन्द भागते रहे हैं, अब मान लेती है। एक ओर तो वह यह जानती और मानती है कि जिस घर के अस्वाभाविक वातावरण में उसका निर्माा हुआ है, उसी ने अन्तः दृष्टि से उसेक व्यक्तित्व को विद्रूप बना दिया है, पर वह अपने पति के सामने यह सब स्वीकार नहीं करना चाहती। मनोज बिन्नी के ही शब्दों में अक्सरर दृढ़ता के साथ कहा करता है उसे–

''ऐसे में वह एक ही बात कहता है। ... कि मैं इस घर से ही अपने अन्दर कुछ ऐसी चीज लेकर गई हूँ जो किसी भी स्थिति में मुझे स्वाभाविक नहीं रहने देती।''

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बिन्दी के बारे में मनोज के विचार अक्षरशः सत्य हैं। वास्तव में बिन्नी आन्तरिक दृष्टि स

नोट

घर-परिवार की टूटन, घुटन और कुढ़न को ही साथ लेकर वहाँ जाती है, तभी तो मनोज जैसे व्यक्ति के साथ भी वह निभाव नहीं कर पाती। वह स्वयं भी तो (माँ सावित्री के समान ही) नहीं जानता कि आखिर वह चाहतती क्या है? इसी कारण वह स्वयं में अस्पष्ट है और स्वीकार कर लेना चाहती है कि उसकी अस्वाभाविकता और निर्वाह-हीनता का कारण उसका यह अपना घर ही है। वह माँ सावित्री से स्पष्टत: कहती है–

''क्योंकि मुझे कहीं लगता है कि ... केसे बताऊँ क्या लगता है? वह जितने विश्वास के साथ यह बात कहता है, उससे ... उससे मुझे अपने से एक अजब-सी चिढ़ होने लगती है। मन करता है ... मन करता है। आस-पवास की हर चीज को तोड़-फोड़ डालूँ जिससे ... जिससे उसके मन को कड़ी-से-कड़ी चोट पहुँचा सकूँ। उसे मरे लम्बे बाल अच्छे लगते हैं। इसलिये सोचती हूँ इन्हें ही जाकर कटा आऊँ ... कुछ भी ऐसी बात जिससे एक बार तो वह अन्दर से तिलमिला उठे। पर करर मैं कुछ भी नहीं पाती। और जब नहीं कर पाती, तो खींझ कर ...।''

स्पष्ट है कि सावित्री का ही समूचा व्यक्तित्व बिन्दी में साकार हुआ है। वह अपने घरेलू संस्कार त्याग पाने में असमर्थ रहने के कारण ही खीझ एवं कुढ़न से भरी रहती है। वह न केवल अपने पति मनोज को ही अपनी इच्छा से संचालित करने की चेष्टा करती है, बल्कि कई बार अपनी माँ तक को अपने असन्तुलन में भी सन्तुलन बनाने का प्रयत्न करती हैं फिर अशाोक और किन्नी तो उसके छोटे भाई-बहन हैं, उन पर यदि वह अपने को थोपने का प्रयत्न करे तो आश्चर्य ही क्या। ये सारे प्रयत्न उसके व्यक्तित्व एवं कृतित्व में असंगतियों, भ्रान्तियों और विकृतियों को ही मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बढ़ावा दने वाले प्रमाणित होते हैं। उसका अपना घर-संसार (सुसराल) बिखर रहा है, इस बात से नाटककार ने उसे उतना अधिक चिन्तित नहीं दिखाया जितना कि अपने मायके के परिवार क बिखराव एवं विघटन से। यह उसके चरित्र की एक विचित्र-सी विडम्बना है। विवाह के बाद भी अपनी आन्तरिक चिन्ता के कारा ससुराल से नहीं, मायके स ही अधिक जुड़ी रहती है। वहाँ से बार-बार भाग कर वह मायक का रूख करती है और इस प्रकार स्यात् वह मनोज के मन पर ही चोट पहुँचाने का प्रयत्न करती है।

जिस प्रकार बिन्नी की माँ सावित्री को शादी के तत्काल बाद यह लगने लगता है कि वह लिजलिजा आदमी है, अधूरा आदमी है, उसी प्रकार बिन्नी भी मनोज को कुछ वैसा ही, शादी के बाद कुछ अन्य-सा लगने वाला आदमी समझती है, फिर भी उसके शब्दों में, ''ममा, ऐसा भी होता है क्या कि ... कि दो आदमी जितना ज्यादा साथ रहें, एक हवा में साँस लें, उतना ही ज्यादा अपने को एक-दूसरे से अजनबी महसूस करें?'' सो वह अपने घर की हवा से घुटकर भागी, यहाँ उसे चिड़िया घर की-सी अनुभति हुआ करती थी, अत: चली गई पर बाहर की हवा भी उसे रास नहीं आई– क्यों? क्योंकि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उसका निर्माण और पोषण जिन तत्वों से हुआ है, जिस वातावरण में हुआ, वह उसे कहीं भी अपने-आप को एडजस्ट नहीं करने देता। अत: घुटन, भटकाव और बिखराव ही उसकी नियति बन जाता है। वह अपनी इस स्थिति को समझती है, वह महसूस करती है, पिुर भी समझना और महसूस नहीं करना चाहती और इसी कारण उसे जो बनना चाहिए, जो उसे पाना चाहिए वह बन और पा नहीं पाती। आखिर वह बाधा कहाँ है, क्या है और क्यों है कि जो उसक दम को घोट रही है? वह अपनी माँ से असहाय-सी बनकर पूछती है–

''... और मैं आती हूँ कि एक बार फिर खोजने की कोशिश कर देखूँ कि क्या चीज है वह इस घर की जिसे लेकर बार-बार मुझे हीन किया जाता है ... तुम बता सकती हो ममा, कि क्या चीज है वह? और कहाँ है वह? इस घर की खिड़कियों, दरवाजों में? छत में? दीवारों में? तुम में? डैडी में? किन्नी में? अशोक में? कहाँ छिपी है वह मनहूस चीज जो वह कहता है मैं इस घर से अपने अन्दर लेकर गई हूँ?''

बताए कौन उसे? यही गुबार उसे घेरे रहता है, चैन से नहीं बैठने देता और वह भागती है, वापस वहीं जहाँ से उसे वह आन्तरिक अधूरापन मिला है। यह वापसी, यह प्रत्यावर्तन, यह यहाँ-से-वहाँ की आवा-जाही, इसी में उसके जीवन को चुक जाना है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि नाटककार ने मनोविज्ञान का आश्रय लेकर बिन्नी के माध्यम से उन घर-परिवारों की नियति दिखाई है जो अपनी परिस्थितियों से सन्तुष्ट नहीं होता, जहाँ हमेशा आपसी चिक-चिक लगी रहती है और जो बच्चों के भविष्य को भी तोड़-बिखेर कर रख देती है। बिन्दी ऐसी ही परिस्थितियों

नोट

का शिकार-अतएव टूटी, हताश, संत्रस्त और बिखरी-बिखरी चित्रित की गई है। ऐसे चित्रण में ही उसकी सफलता एवं सार्थकता है।

10.1.4 अशोक

राकेश के 'आधे-अधूरे' नाटक के सहायक पात्रों में लड़का अशोक अपना विशेष महत्त्व रखता ह। आज का युवक, विशेषत: मध्य एवं निम्न-मध्य-वर्गीय युवक अत्यधिक रूप से संत्रस्त है। उसका आन्तरिक संत्रास, घुटन और तनाव का कारण क्या है, क्यों वह कर्त्तव्यहीन, लापरवाह और विद्रोही बनता जा रहा है, वे कौन-सी परिस्थितियाँ हैं जो आज नवयुवकों को अपने-आप से ही भागे-भागे रहने के लिए एक प्रकार से विवश कर रही हैं– इन सब का चित्रण नाटककार ने अशोक को प्रतीक बनाकर किया है। अपने समग्र परिवेश में अशोक आधुनिक समाज से करे, असन्तुलित एवं असाधारण बन गये नवयुवकों का प्रतिनिधित्व करता है। नाटककार ने इस प्रतीक के माध्यम से मनोवैज्ञानिक धरातल पर उन पारिवारिक पृष्ठभूमियों को उद्‌घाटित किया है जो उसे पलायनवादी, निठल्ला और निकम्मा बना देने के लिए उत्तरदायी हैं। इन सब बातों को ध्यान में रखकर ही अशोक के व्यक्तित्व एवं चरित्र को अच्छी प्रकार से समझा-परखा जा सकता है।

पहले स्वयं नाटककार ने जो उसका परिचय दिया है, उसे देख लिया जाए। पात्र-परिचय के अन्तर्गत अशोक के बारे में नाटककार लिखता है– ''लड़का। उम्र इक्कीस के आस-पास। पतलून के अन्दर दबी भड़कीली बुशशर्ट धुल-धुलकर घिसी हुई। चेरे से, यहाँ तक कि हँसी से भी, झलकती खास तरह की कड़वाहट।'' अशोक की यह रूपरेखा उसकी बाह्य परिस्थितियों के अनुकूल तो है ही, मनोवैज्ञानिक स्तर पर उसकी अन्त: गहन, बिखरी एवं संत्रस्त परिस्थितियों की भी परिचायक है। 'भड़कीली बुशशर्ट धुल-धुलकर घिसी हुई', उसकी आर्थिक-वर्गीय असमर्थता का प्रतीक है और यही उसके आन्तरिक घुटन एवं बिखराव का भी प्रमुख कारण है। चेहरे और हँसी से झलकती खास तरह की कड़वाहट अशोक ही नहीं, आज के समूचे युवा वर्ग की आन्तरिक कड़वाहट एवं आन्तरिक खीझ का सटीक चित्रण है। उसके संत्रास ने उसे इस सीमा तक उधेड़ दिया है कि उसके चरित्र की सही स्थितियों का नाटककार के अनुकूल ही विश्लेषण करते हुए ओम् शिवपुरी लिखते हैं– ''लड़का पत्रिकाओं से अभिनेत्रियों की रंगीन तस्वीरें काटता हुआ उस मौके के इन्तजार में है, जब वह भी यहाँ से निकल सकेगा। अपने पिता के लिए उसके मन में करुणा है, माँ के लिये आक्रोश। वह बड़ी बहन के प्रेम में विश्वास नहीं करता, उसे घर से निकलने का जरिया मानता है, ''और सत्य तो यह है कि वह स्वयं भी अपने पारिवारिक परिवेश से निकल भागने के किसी जरिये की अनवरत खोज में रहता है। समाज-सेविका के पीछे उसके 'जूतियाँ चटखाते' रहने का कारण और उद्देश्य वास्तव में यही, प्रतीत होता है। वास्तव में वह अपने आपको इस घर में नितांत अकेला एवं एकदम पराया-सा अनुभव करता रहता है। इस अनुभति का कारण वही है– कोई, खास चीज– जो यहाँ किसी को भी अपनत्व की भावना से अनुप्राणित नहीं हपोने देती। यह अनुभति ही उसे जीवन आरंभ करने से पूर्व ही हताश, खिझ खिझा और विरक्त, बल्कि पलायनवादी बना देती है। उसकी हीनता की भावना उसे उस सीमा तक ग्रस्त किये रहती है कि यह मानवीय सहज संबंधों का महत्त्व तस्वीर काटने से अधिक नहीं स्वीकारना चाहता है। अर्थात् वह जीवन के यथार्थ से आँखें मूँद लेने में ही सुरक्षा समझ लेने वाला कबूतर बन कर रहा गया है। यह कबूतरपना उसे एक सीमा तक स्वच्छन्दतावादी एवं रोमांटिक बना देता हैं उस के लिए एक्ट्रेसों की तस्वीरें, अश्लील एवं यौन-व्यभिचारों से सम्बन्धित पुस्तकें, एक सैंटर वाली लड़की (समाज-सेविका) से रोमांस ही तब कुछ बन कर रहा गया है। अपनी छोटी बहन किन्नी को मिले उपंहार भी वह उसी लड़की को दे आता है।

दूसरी ओर, वह यह नहीं चाहता कि उसकी माँ पर-पुरुषों से मिले या उन्हें अपने घर पर बुलाये। स्वयं जिन अश्लील एवं स्वेच्छाचारी यौनाचारों की पुस्तकें पढ़ता है, नहीं चाहता कि उन्हें उसकी छोटी बहन किन्नी भी पढ़े। यहाँ तक कि जिस पिता से वह एक करुण सहानुभूति रखता है, जब वे उन पुस्तकों को देखना चाहते हैं जिन्हें स्वयं तकिये के नीचे रखकर सोता है और किन्नी के देखने पर उसे डाँट-फटकारकर बल्कि पीट तक देता है, पिता से कहता है– ''नहीं आपके देखने की नहीं।'' यद्यपि अशोक की माँ सावित्री के अनुसार वह जो बड़े लोगों से मिलती या

नोट

उन्हें घर बुलाती है तो इसलिए कि अशोक के लिए किसी रोजगार की जुगाड़ हो सके, पर नहीं, अशोक इस सबका विरोध करता है। इस विरोध का वह एक मनोवैज्ञानिक कारण भी देता है और वह यह कि इन लोगों के घर पर आने से वह अपनी निगाहों में जितना छोटा है, उससे कहीं और छोटा हो जाता है।'' वास्तव में इस प्रकार के समस्त कार्य व्यापार और व्यवहार अशोक के अपने में हीन तथा अधूरे होने की बातों की ही पुष्टि करते हैं।

अशोक-संत्रस्त, पीड़ित और आन्तरिक दृष्टि से विघटित होकर इस सीमा तक विद्रोह, पारस्परिक संबंधों या दुहरे संबंधों के दिखावे से विक्षुब्ध हो चुका होता है कि वह उन्हें तोड़ देने तक की बात साफ कह देता है। वह अपनी बहन बिन्नी से साफ-साफ शब्दों में कहता है– ''मैं कहना नहीं चाहता था, लेकिन ... कहना पड़ रहा है क्योंकि जब नहीं निभता इनसे यह सब, तो ये क्यों निभाये जाती हैं उसे ? ... जो चीज बरसों से एक जगह रुकी हैं, वह रुकी नहीं रहनी चाहिए।'' इतना ही नहीं वह यह भी कह देता है कि– ''मैं खुद अपने को बेगाना महसूस करता हूँ यहाँ।'' इस प्रकार अशोक प्राय: सभी जगह स्पष्टवादी– 'उसे उतना स्पष्टवादी न कहकर संत्रासों एवं हीनताओं के कारण मुँहफट कहना चाहिए'– बन गया है। इस सीमा तक कि सिंघानिया के बारे में वह अपनी माँ के सामने स्पष्ट कर देता है – ''तुम्हारा बॉस न होता तो उस दिन मैंने कान से पकड़कर घर से निकल दिया होता।'' उसकी दृष्टियाँ भी अधिक पैनी और तमीज से परे हो गई हैं। उपर्युक्त प्रसंग में ही है– 'सोफे पर टाँगें पसारे आप सोच कुछ रहे हैं, जाँघ खुजलाते देख किसी तरफ रहे हैं और बात मुझ से कर रहे हैं।'' वह माँ से यह भी कह देता है कि वह आदमी को नहीं देखती, बल्कि उसके ओहदे और तनख्वाह को देखती है, नाम और रुतबे को देखती है और यह उसे कतई पसन्द नहीं। पर यह सब उसका अक्रोश की आक्रोश है। व्यावहारिकता नाममात्र को भी नहीं है।

वह लोगों के (सिंघानिया के) तो कार्टून बनाता है, पर स्वयं वह मात्र विक्षुब्ध एवं निठल्ली युवा-पीढ़ी का प्रतीक कार्टून बनता जा रहा है। इस बात की उसे तनिक भी चिन्ता नहीं। बात-बात पर छोटी बहन किन्नी से कुढ़कर उसे पीट देना भी उसके अपने ही संत्रास एवं हीनता का परिचायक है। उसकी यह कुढ़न, खीझ और घुटन, उसकाा आन्तरिक बिखराव चेहरे पर उभरती एक विद्रूष एवं कड़वी हँसी बनकर रह गया है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से नाटकार ने अशोक के चरित्र और व्यक्तित्व में जो एक अन्य असाधारणत दिखाई है, वह यह है कि परम्परा और नियम के विपरीत वह अपने पिता के प्रति सहानुभूतिपूर्ण रहता है। यह असाधारणता अशोक के चरित्र को और भी अधिक विचित्र बना देती है।

नाटककार ने एक समा तक, अपनी सभी प्रकार की हीनताओं एवं असमर्थताओं में भी आधुनिक युवा-वर्ग की तरह फैशन की दौड़ में अशोक को आगे बताया है। दाढ़ी कटवाना उसने छोड़ दिया है। फ्रेंच-कट दाड़ी-मूछें रखने की फिराक में रहता है। अपनी बहन बिन्नी से कहता है– ''मैं फ्रेंच-कट रखने की सोच रहा हूँ। कैसी लगेगी मेरे चेहरे पर?'' यह तथ्य भी वास्तव में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अभावों में भाव ढूँढने की हीन मनोवृत्तियों का ही परिचायक है। दायित्वहीनता में भी वह आज के नवयुवकों का पूर्णतया प्रतिनिधित्व करता है। बी. एस. सी. तक पढ़ा होने पर भी वह नौकरी के प्रति उदासीन है। स्यात् उपेक्षा दिखाना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अपने महत्व को प्रतिष्ठित कराने या थोपने का ही एक प्रयास है और अशोक भी इसी भावना का शिकार दिखाई देता है। इसी भावना का शिकार होकर ही वह उन समस्त प्रवृत्तियाँ और परिस्थितियो को नकार देना चाहता है जो किसी भी तरह उसके प्रतिकूल पड़ती हैं। उसका सभी के प्रति उपेक्षा एवं तिरस्कार भरा व्यवहार, 'स्व' को थोपने का प्रयत्न इसी और संकेत करता है।

10.1.5 पुरुष चार: जुनेजा

काले सूट वाले पुरुष का अन्तिम रूप–जुनेजा, जो नाटककार के परिचायात्मक शब्दों में, ''पतलून के साथ पुरानी काट का लम्बा कोट। चेहर पर बुजुर्ग होने का खासा एहसास। साथ ही काइयाँपन'' भी लिए हुए है। जुनेजा का चरित्र दो दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। एक तो यह कि सावित्री अपने पति महेन्द्रनाथ की दुर्बलताओं और पतन का कारण जुनेजा को मानती है। दूसरी ओर जुनेजा महेन्द्रनाथ की सबसे बड़ी दुर्बलता सावित्री के प्रति उसके प्रम को मानता हैं इस सन्दर्भ में जुनजा यह भी स्वीकार करता है कि यदि सावित्री के साथ महेन्द्रनाथ इस सीमा तक न

बँधा होता, तो निश्चय ही उसका अपना एक अलग से व्यक्तित्व और महत्त्व होता। इन बातों के अतिरिक्त नाटक की जो मूल समस्या है, कथ्य एवं कथानक है, उसकी चरम परिणति और निष्कर्ष भी वास्तव में जुनेजा के माध्यम से सामने आते हैं। इन सब कारणों से पुरुष चार के रूप में जुनेजा का निश्चय ही एक अलग महत्त्व एवं व्यक्तित्व है, यद्यपि सावित्री के शब्दों में वह भी एक ही चेहरा है– अलग मुखौटे वाला एक ही पुरुष का चेहरा।

नोट

टास्क लेखक ने 'जुनेजा' को काइयाँ क्यों कहा है?

नाटक में जुनेजा की चर्चा आरंभ से ही होने लगती है। महेन्द्रनाथ उसे अपना परम सहायक मानकर कहता है– ''सोच रहा था जुनेजा के यहाँ हो आता। वह छः महीने बाहर रह कर आया है। हो सकता है कोई नया कारोबार चलाने की सोच रहा हो जिसमें मेरे लिये...।'' तुम्हारे लिए तो पता नहीं क्या-क्या करेगा वह ज़िन्दगी में। पहले ही कुछ कम नहीं किया है।'' और जब महेन्द्रनाथ जुनेजा द्वारा हमेशा अपनी मदद करने की बात कहता है, तो सावित्री तल्ख हो उठती है– ''न करता मदद, तो उतना नुकसान न होता जितना उसके मदद करने से हुआ है।'' जुनेजा के साथ मिलकर किये गये काम-धन्धों में पड़ने वाले घाटों के बारे में वह फिर कहती है– ''पहली बार प्रेस में जो हुआ तो हुआ। दूसरी बार फिर क्या हो गया? वही पैसा जुनेजा ने लगाया, वही तुमन लगाया। एक ही फैक्टरी लगी, एक ही जगह जमा-खर्च हुआ। फिर भी तकदीर ने उसका साथ दिया, तुम्हारा नहीं दिया।'' स्पष्ट है और कहने का तात्पर्य यह है कि जुनेजा के संबंध में सावित्री और महेन्द्रनाथ के विचार एकदम विरोधी है।

जुनेजा के प्रत्यक्ष दर्शन पुरुष चार के रूप में हमें नाटक के अन्तिम पृष्ठों में ही होते हैं। वह महेन्द्रनाथ के कहने से ही अन्तिम बार सावित्री को समझाने का प्रयत्न कर देखने के लिए उनके यहाँ आता है, ताकि खत्म हो और सभी शान्ति से रह सके, पर सावित्री का उस पर अविश्वास उसके काइयाँपन के कारण ही अधिक है और नाटक के अध्ययन से पता चलता है कि अपने काइयाँपन के कारण ही आर्थिक एवं व्यापारिक दृष्टि से उसका जीवन सफल भी है। जुनेजा महेन्द्रनाथ की दुर्बलताएँ पहचानता है और मानता है कि उसी कारण वह सावित्री को अन्तिम बार समझाने के लिए वहाँ आया है। अपनी मान्यताओं के अनुसार ही सावित्री से मुलाकात होने पर वह उससे स्पष्टतः कहता है– ''तुम किसी तरह छुटकारा नहीं दे सकती उस आदमी को? ... तुमने इस तरह शिकंज में कस रखा है उसे कि वह अब अपने दो पैरों पर चल सकने लायक भी नहीं रहा।'' इस प्रकार की बातें और जुनेजा के विचार मनोवैज्ञानिक धरातल पर ही उचित प्रतीत होते हैं। इस प्रकार नाटक में महेन्द्रनाथ की आन्तरिक असमर्थताओं को व्यक्त करने वाला पात्र तो जुनेजा है ही, सावित्री की आन्तरिक स्थितियों को भी उघाड़ कर नाटक के दर्शकों और पाठकों के सामने लाता है। जुनेजा महेन्द्रनाथ के जीवन में कहाँ तक घुसा हुआ है, सावित्री के शब्दों में पढ़िये–

''... जब से मैंने उसे जाना है, मैंने हमेशा हर चीज के लिये उसे किसी-न-किसी का सहारा-ढूँढ़ते हुए पाया है। खास तौर से आप (जुनजा) का। यह करना चाहिए या नहीं–जुनेजा से पूछ लूँ। यहाँ जाना चाहिए या नहीं–जुनेजा से राय कर लूँ। कोई छोटी-से-छोटी चीज़ खरीदनी है, तो भी जुनेजा की पसन्द से। कोई बड़े-से-बड़ा खतरा उठाना है–तो भी जुनेजा की सलाह से। यहाँ तक कि मुझसे ब्याह करने का फैसला भी कैसे किया उसने? जुनेजा के हामी भरने से।'' जुनेजा लाख दम भरे महेन्द्रनाथ की दोस्ती का और उसके उस पर भरोसे का, पर सावित्री की दृष्टि में यह सब उसका काइयाँपन ही है। तभी तो वह मानती है कि जुनेजा ने अपने स्वार्थ की दृष्टि से उसके पति महेन्द्रनाथ का मनमाना इस्तेमाल किया है, परिणामस्वरूप अपने-आप में एक व्यक्ति के रूप में वह कुछ भी नहीं रह गया। जुनेजा के काइयाँपन की पोल खोलते हुए वह स्पष्टतः कहती है– ''... इस बोझ को और कोई नहीं हो सकता, महेन्द्रनाथ, और खाने भर चुकने पर? महेन्द्रनाथ ढो लेगा। प्रेस खुला, तो भी। फैक्टरी शुरू हुई, तो भी। खाली खनक भरने की जगह पर महेन्द्रनाथ, और खाने भर चुकने पर? महेन्द्रनाथ कहीं नहीं। महेन्द्रनाथ अपना हिस्सा पहले ही ले चुका है, पहले ही खा चुका है।'' स्पष्टतः इन सब कारणों से ही नाटककार ने पुरुष चार के

नोट

रूप में जुनेजा का परिचय देते हुए उसके लिए 'कायइँपिन, शब्द का प्रयोग किया है। सावित्री के उपर्युक्त ब्यौरों से भी वह वास्तव में सुलझा हुआ काइयाँ ही प्रमाणित होता है जो अपना घर भरने के लिए दोस्ती की आड़ में दूसरों के साथ कोई भी खिलवाड़ कर सकता है। सावित्री जुनेजा को एक प्रकार से इसी बारे में चुनौती देती हुई सी कहती है–'' पर असल में उसकी बरबादी की नींव क्या चीज खोद रही थी ··· क्या चीज और कौन आदमी ··· अपने दिल में तो आप भी जानते होंगे।'' इस कथन से भी जुनेजा के चरित्र की वे आन्तरिक रेखाएँ जो कि नाटककार एक पुरुष के चौथे व्यक्तित्व के रूप में उभारना चाहता है, स्पष्ट हो जाती हैं।

स्व-मूल्यांकन

दिए गए कथन के सामने सही (✓) अथवा गलत (×) का निशान लगाइए–

1. नाटक का पात्र महेन्द्रनाथ कर्तव्यनिष्ठ एवं कर्मठ व्यक्ति है। ☐
2. सवित्री महेन्द्रनाथ में विकसित हुई चारित्रिक दुर्बलताओं का कारण उसके मित्र 'जुनेजा' को मानती है। ☐
3. महेन्द्रनाथ के पुत्र अशोक का चरित्र पारिवारिक कलह का परिणाम है। ☐
4. महेन्द्रनाथ का मित्र 'जुनेजा' सावित्री के प्रति आसक्ति भाव रखता है परंतु जाहिर नहीं होने देता। ☐

जिस प्रकार सावित्री के व्यवहार और कथन जुनेजा के अन्तर्मन को उघाड़ने वाले हैं, उसी प्रकार वह जुनेजा ही है जो सावित्री के अन्तर्मन की पर्तें एक-के-बाद-एक उघाड़ता चला जाता है। विगत की बातों के दुहराने पर जब सावित्री कहती है कि वह जुनेजा की इज्जत करती थी, तब वह उसका मज़ाक उड़ाता हुआ कहता है कि– ''तुम इज्ज़त कह सकती हो उसे ··· पर वह इज्ज़त किस लिए करती थीं? इसलिए नहीं कि एक आदमी के तौर पर मैं महेन्द्र से कुछ बेहतर था तुम्हारी नज़र में ··· सिर्फ इसलिए कि मैं जैसा भी था, जो भी था–महेन्द्र नहीं था। पहले कुछ दिन जुनेजा एक आदमी था तुम्हारे सामने ···।'' वह कहना चाहता है कि महेन्द्रनाथ से ऊबकर सावित्री ने उसकी तरफ भी प्रेम का पग बढ़ाया था। पर फिर वह अपनी इच्छा का पुरापन न पाकर वापिस लौट आई। अत: सावित्री के समूचे व्यक्तित्व का विश्लेषण जुनेजा इन शब्दों में करता है–

''असल बात यह है कि महेन्द्र की जगह इनमें से कोई भी आदमी होता तुम्हारी जिन्दगी में, तो साल-दो साल बाद तुम यही महसूस करती कि तुमने एक गलत आदमी से शादी कर ली है। उसकी ज़िन्दगी में भी ऐसे ही कोई महेन्द्र, कोई जुनेजा, कोई शिवजीत या कोई जगमोहन होता जिसकी वजह से तुम यही सब सोचतीं, यही सब महसूस करतीं।'' और फिर वह नाटक में पारिवारिक स्तर पर उभरी समस्या का सारा बोझ सावित्री पर डालते हुए कहता है– ''··· क्योंकि तुम्हारे लिए जीने का मतलब रहा है कितना कुछ एक साथ होकर, कितना कुछ एक-साथ पाकर, कितना-कुछ एक-साथ ओढ़कर जीना। वह उतना कुछ कभी तुम्हें किसी एक जगह न मिल पाता, इसलिए जिस किसी के साथ भी जिन्दगी शुरू करतीं, तुम हमेशा इतनी ही खाली, इतनी ही बेचैन बनी रहतीं। वह आदमी भी इसी तरह तुम्हें अपने आस-पास सिर पटकता ओर कपड़े फाड़ता नज़र आता और तुम ···।'' और इसी कारण चालाक बल्कि नाटककार के शब्दों में काइयाँ जुनेजा सावित्री के शिंकजे से साफ निकल भागता है। जुनेजा के ये शब्द ही नाटक के कथ्य एवं कथानक को चरम परिणति देने वाले हैं, अत: इसके चरित्र और व्यक्तित्व का महत्त्व स्पष्ट है।

10.2 सारांश

'आधे-अधूरे' नाटक के सभी पात्रों के चरित्र एक ही मूल-भावना से प्रेरित हाकर चित्रित किय गये हैं। सभी अपने-आप में अपूर्ण एवं अधूरे है और विडम्बना यह कि उसको अन्यों पर थोपना चाहते हैं। इस प्रकार की चारित्रिक योजना नाटक की अपनी एक विशेषता भी है और एक सीमा भी–जीवन के प्रति एकांगी दृष्टिकोण की सीमा।

10.3 शब्दकोश

नोट

1. **हामी भरना–** स्वीकार करना, स्वीकृति देना
2. **निरीह–** उदासीन, निष्क्रिय, विश्क्त, नम्र एवं शांत

10.4 अभ्यास-प्रश्न

1. महेन्द्रनाथ पूरे आदमी का एक-चौथाई भी नहीं है।'' इस कथन के आलोक में महेन्द्रनाथ की चारित्रिक दुर्बलताओं पर प्रकाश डालिए।
2. सावित्री बहुमुखी अपेक्षाएँ रखने वाली, समाज में अपना स्वतंत्र सम्मान पाने की जद्दोजहद करने वाली टूटती नारी का प्रतीक पात्र है।'' इस कथन के आलोक में सावित्री के चारित्रिक गुण-दोषों पर प्रकाश डालिए।
3. जुनेजा के सम्पूर्ण चरित्र की व्याख्या करने के लिए एक ही शब्द पर्याप्त है 'काईयाँ'।'' काईयाँ का अर्थ स्पष्ट करते हुए जुनेजा के चरित्र की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

उत्तर: स्व-मूल्यांकन

1. (×) 2. (✓) 3. (✓) 4. (×)

10.5 संदर्भ पुस्तकें

पुस्तकें

1. *मोहन राकेश और उनके नाटक*– गिरीश रस्तोगी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
2. *मोहन राकेश*– जयदेव तनेजा– राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली।
3. *आधुनिक भारतीय नाट्य विमर्श*–*जयदेव तनेजा*– राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली।

नोट

इकाई 11: आधे-अधूरे: भाषा-शैली एवं संवाद-योजना

अनुक्रमणिका

उद्देश्य

प्रस्तावना

11.1 भाषा-शैली

11.2 संवाद-योजना

11.3 सारांश

11.4 शब्दकोश

11.5 अभ्यास-प्रश्न

11.6 संदर्भ पुस्तकें

उद्देश्य

विद्यार्थी इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् सक्षम होंगे–

- मोहन राकेश के नाटक आधे-अधूरे की संवाद-योजना एवं भाषा वैशिष्ट्य को समझने में।

प्रस्तावना

भाषा, भाव एवं विचार-बोध का सर्वोत्तम माध्यम है। यों नाटकों में योजित पात्र शब्द-प्रयोगों के अतिरिक्त संकेतों–अर्थात् हाव-भाव प्रदर्शित करके, विशेष स्थितियों के लिए विशेष प्रकार का अभिनय करके भी भावों और विचारों का, विशेष प्रकार की अन्त: बाह्य स्थितियों का सम्यक् बोध करा देते हैं। परंतु इस प्रकार का भाव-बोध सर्व-सामान्य के लिए सुलभ नहीं होता, उसके लिए मनोभावों, अभिनय-शिल्प या भाव-प्रदर्शन आदि की विशिष्ट स्थितियों एवं विधाओं का ज्ञान एक सीमा तक आवश्यक होता है और वह सामान्य कोटि के दर्शकों के लिए संभव नहीं इस दृष्टि से नाटकों में भाषा एक विशिष्ट शिल्प का रूप धारण कर लेती है। अर्थात् भाषा का नाटकीय परिवेश में काव्य या साहित्य की अन्य विधाओं की तुलना में अपना एक अलग व्यक्तित्व, स्वरूप आकार एवं महत्त्व होता है।

नाटकों में भाषा के महत्त्व को जान लेने के अनंतर अब यह विचार कर लेना उचित एवं उपयुक्त रहेगा कि नाटकों की भाषा में किस प्रकार के सामान्य, सर्व-स्वीकृत पर आवश्यक गुण होने चाहिए जागरूक एवं जन-कलाकार इस प्रकार के गुणों के प्रति निश्चय ही विशेष सजग होता है। विषय एव विचार के अनुकूल रहने पर भी सरलता एवं स्पष्टता नाटकों की भाषा का दूसरा-प्रमुख गुण स्वीकार किया जाता है। तात्पर्य यह है कि भाषा ऐसी सरल और सुबोध एवं संप्रेषणीय होनी चाहिए कि सभी की समझ में आ सके, पर उसमें ऐसी क्षमता भी आवश्यक है कि वर्ण-विषय, भाव एवं विचार को समग्र रूप में रूपायित कर सके। तीसरे, भाषा पात्रों की सामाजिक एवं वर्गीय स्थितियों के अनुरूप होनी चाहिए। इसका तात्पर्य यह नहीं कि भाषायी प्रयोग करते समय कलाकार किसी विशेष प्रकार के आग्रह से जुड़ जाए। तात्पर्य यह कि वर्ण्य-विषय का, मूल प्रतिपाद्य एवं संवेद्य का सीधा सबंध जिन लोगों से जुड़ा हो, भाषा उनका भी प्रतिनिधित्व कर सके, अर्थात् व्यवहार-जगत में वे लोग जिस प्रकार की भाषा बोलते हैं, शब्दों का प्रयोग जिस रूप में करते हैं, इसका ध्यान रखा जाना चाहिए।

नोट

इन बातों के अतिरिक्त नाटकों की भाषा में यह भी आवश्यक है कि उसमें और जीवन में प्रयुक्त होने वाली भाषा में कोई अधिक अंतर दिखाई न दे। ऐसा तभी संभव हो सकता है जब कि नाटककार चमत्कार, कृत्रिमता, आडंबर आदि के चक्कर में न पड़ कर, सहज रहे। रोचकता, प्रसंगानुकूलता,अप्रतिहत प्रवाह, व्यंग्य-विनोद, चुस्ती, चुटीलापन, चित्त एवं प्रचलित सीमा में कहावतों-मुहावरों एवं रोजमर्रा के प्रयोग–ये सभी बातें नाटकों की भाषा के लिए प्राय: आवश्यक एवं अनिवार्य मानी जाती है। चित्रमयता और काव्यमयता भी भाषा के दो अच्छे गुण माने जाते हैं, पर ये उस सीमा तक नहीं रहने चाहिए कि आस्वाभाविक या कृत्रिम प्रतीत होने लगें। भाषायी जटिल प्रयोग नाटकों में वर्जित होने चाहिए।

11.1 भाषा-शैली

भाषायी दृष्टि से जब हम 'मोहन राकेश अन्य नाटकों से आधे-अधूरे की तुलना करते हैं तो पहली ही दृष्टि में यह पता चल जाता है कि पहले दो नाटकों की तुलना में 'आधे-अधूरे' नाटक में मोहन राकेश भाषा की दृष्टि से बहुत आगे बढ़ गये हैं। अर्थात् भाषा के प्रयोगों एवं शिल्पगत-स्वरूप में आकाश-पाताल का अंतर आ चुका है। अपने पहले दो नाटकों में राकेश काव्यमयता, चित्रमयता आदि के मोह से ग्रसित दिखाई पड़ते हैं। (मूल ध रातल एवं ऐतिहासिक परिवेश की दृष्टि से एक सीमा तक उस मोह को स्वाभाविक या अनिवार्य माँग भी कह सकते हैं), पर यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते न केवल उनका मोह भंग होता है अपितु वे भाषा को यथार्थ धरातल पर ले आते हैं। काव्यमयता एवं चित्रमयता के मोह के कारण उत्पन्न होने वाली कृत्रिमता या अभिजात्य का भाव 'आधे-अधूरे' नाटक की भाषा में कहीं एक क्षण के लिए भी दिखाई नहीं देता। इसी कारण अनेक विद्वानों ने उचित ही कहा है कि 'आधे-अधूरे' नाटक में साहित्य और जीवन की भाषा का अंतर स्पष्टत: मिटता हुआ दिखाई देता है। नाटककार जीवन के स्वाभाविक सत्य को स्वाभाविक भाषा में ही व्यक्त करना चाहता है और आधे-अधूरे में उसने ऐसा कर सकने की अद्‌भुत एवं पूर्ण क्षमता का परिचय भी दिया है। यहाँ नाटककार ने जीवन के जिन अन्त:, बाह्य, विशेष रूप से अन्त: स्तरों का चित्रण किया है, वह किसी काल्पनिक अभिजात भाषा में नहीं बल्कि आम-फहम या बोल-चाल की भाषा में ही किया है। 'आधे-अधूरे' की भाषा में भावुकता का आग्रह एकदम समाप्त होकर उसका सहज स्वाभाविक एवं व्यवहारिक रूप निखर आया है।

भाषा के रूप में उनके इस नाटक में दर्शक किसी भी प्रकार की दुरुहता का अनुभव नहीं करता। नाटक न तो यहाँ दार्शनिक गहराइयों के कारण किन्हीं विशेष प्रकार के शब्द जाल में उलझता है और न ही उसमें विशिष्ट परा-वैज्ञानिक या मनोवैज्ञानिक शब्दावली का प्रयोग है। इसी कारण 'आधे-अधूरे' नाटक की भाषा अधिक स्थिर एवं प्रभावी है। जैसा कि व्यवहार-जगत में हम लोग प्राय: विशेषणों, संज्ञाओं और कभी-कभी क्रिया रूपों के भी परवर्ती प्रयोग किया करते हैं, ठीक उसी प्रकार के प्रयोग नाटक में भी मिलते हैं। वाक्य-विन्यास वक्ता पात्रों की अन्त:, बाह्य स्थितियों के संपूर्ण साँचे में ढलकर हुआ है। अधिकाधिक शब्दों के प्रयोग से बचे रहने की भरसक चेष्टा की गई है। अत: डैश और व्याख्या-बिंदु आदि भी नाटक में भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से भाषा का व्यावहारिक अंग बनकर ही हमारे सामने आये हैं।

'आधे-अधूरे' नाटक की भाषा का प्रमुख गुण है हिन्दी-भाषी मध्य एवं निम्न-मध्यवर्गीय परिवारों में जिस प्रकार की भाषा का प्रयोग किया जाता है, ठीक उसी प्रकार की भाषा का प्रयोग। नाटक का विषय एक टूटते मध्यवर्गीय परिवार से है, अत: उसी की भाषा को प्रयुक्त करने की दिशा में नाटककार निश्चय ही आद्यन्त विशेष सजग रहा है और यह सजगता और जागरूकता प्रयत्न-साध्य रूप में कहीं भी नहीं है। यहाँ वर्ग विशेष का ध्यान रखने के कारण ही भाषायी दृष्टि से एकदम अकृत्रिमता एवं स्वाभाविकता का तत्त्व चरम रूप में विद्यमान है। कहीं भी ऐसा नहीं लगता कि कोई पात्र उधार ली हुई, कृत्रिम एवं वर्ग से बाहर की भाषा बोल रहा है। एक उदाहरण देखिए–

स्त्री: (तंग पड़कर) तो तुम खुद ही क्यों नहीं पूछ लेते उससे जो पूछना चाहते हो?

पुरुष एक : मैं कैसे पूछ सकता हूँ।

नोट

स्त्री : क्यों नहीं पूछ सकते?

पुरुष एक : मेरा पूछना इसलिए गलत है कि ....|

स्त्री : तुम्हारा कुछ भी करना किसी-न-किसी वजह से गलत होता है। मुझे पता नहीं है?

बिल्कुल वही भाषा! जो आज मध्य एवं निम्न मध्यवर्गीय हिन्दी-भाषी परिवारों में अपने रोजमर्रा के व्यवहार में बोली जाती है। साधारण, सरल और बोल-चाल की, फिर भी अभिव्यक्ति एवं संप्रेषण में सक्षम। इस प्रकार की स्वाभाविक भाषा निश्चय ही मोहन राकेश के अन्य नाटकों में नहीं मिलती, अन्य नाटककारों में भी यह विशेषता दिखाई नहीं देती। अत: एक वाक्य में हम 'आधे-अधूरे' नाटक की भाषा को 'वर्गीय पारिवारिक भाषा' कहकर अभिहित कर सकते हैं।

'आधे-अधूरे' नाटक में भाषा के स्वाभाविक स्वरूप-निर्माण के लिए नाटककार ने बोल-चाल की भाषा में से ही विविध उपयुक्त शब्दों का चुनाव किया है। तात्पर्य यह है कि आज के मध्य एवं निम्न-मध्य-वर्गीय परिवारों में मिश्रित या खिचड़ी रूप में जितनी प्रकार की भाषाओं का प्रयोग किया जाता है, उन सब के आम प्रचलित शब्द नाटक की भाषा में आ गये हैं। हमारे विचार में आम बोलचाल में संस्कृत के या तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक नहीं किया जाता, इसी कारण नाटक में भी इस प्रकार के शब्द कम ही आये हैं। युवा, अराजकता, सांख्यिकी जैसे कुछ ही तत्सम कहे जाने वाले शब्द नाटक में आ पाये हैं। आज की बोलचाल की भाषा के साथ देशज और तद्भव शब्दों के साथ-साथ उर्दू-अंग्रेजी आदि शब्दों के प्रयोगों की प्राय: भरमार रहा करती है। अत: 'आधे-अधूरे' नाटक की भाषा का स्वरूप अधिकांशत: इसी प्रकार के शब्दों के योग से विनिर्मित हुआ है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि नाटककार ने मध्य एवं निम्न-मध्य हिन्दी-भाषी परिवारों में व्यवहार में लाई जाने वाली भाषा का प्रयोग यहाँ किया है, उपर्युक्त विभिन्न एवं विविध भाषाओं के प्रयोग के कारण ही भाषा का यह वर्गीय स्वरूप साकार हो पाया है। यहाँ कुछ सम्मिलत प्रयोगों वाले उदाहरण प्रस्तुत हैं–

पुरुष एक : वह मुझ से तय करके तो आता नहीं कि मैं उसके लिए मौजूद रहा करूँ घर पर।

स्त्री : कह दूँगी, आगे से तय करके आया करे तुम से। तुम इतने बिजी आदमी जो हो। पता नहीं कब किस बोर्ड की मीटिंग में जाना पड़ जाय।

इसी प्रकार तत्सम शब्दों के संयोजन का एक उदाहरण देखिए– "अंतर्राष्ट्रीय संपर्क हैं कंपनी के, तो सभी देशों के लोग मिलने आते रहते हैं, जापान से तो एक पूरा प्रतिनिधि मण्डल ही आया हुआ था पिछले दिनों ... अभी उस दिन मैं जापान की पिछले वर्ष की औद्योगिक सांख्यिकी देख रहा था...।" इस प्रकार के अन्य कई उदाहरण भी प्रस्तुत किये जा सकते हैं जो कि भाषा के वर्गीय वैशिष्ट्य को व्यक्त करते हैं। उसी वर्गीय वैशिष्ट्य के कारण ही नाटककार ने भाषाओं के दुहरे और कहीं-कहीं अनुकरण के आधार पर बनाये गये शब्दों के प्रयोग भी किये हैं। जैसे, उदाहरण के लिए– चाय-वाय, बच्चा-अच्चा, गाल-वाल, सैंडविच-ऐंडिविच आदि। इसी प्रकार मन:स्थितियों की गहनता को व्यक्त करने के लिए अनेक स्थलों पर पूर्ण स्वाभाविक रूप से उच्चरित शब्दों के पहले अक्षर के दुहराने के भी कुछ उदाहरण मिल जाते हैं। कहीं-कहीं स्वाभाविक तुतलाहट का भाव भी दिखाई देता है। जैसे अशोक पर खिन्न सावित्री एक स्थान पर भावावेश या क्रोधावेश में स्वभावत: तुतला जाती है– "तुछ नई, तैना है तुजे. .. तितनी तछवीलें ताती ऐं अब तत लाजे मुन्ने ने?" यहाँ विशेष ध्यातव्य तथ्य यह है कि नाटककार स्वयं क्योंकि मूलत: पंजाबी है, अत: इन सभी प्रकार के भाषायी प्रयोगों का झुकाव पंजाबी भाषा-भाषी और परिवेश बदल जाने के कारण हिन्दी-भाषा का बोल-चाल में प्रयोग करने लगे हैं और कहा जा सकता है कि वह परिवेश नाटककार मोहन राकेश का अपना ही अधिक है। अधिक व्यापक परिवेश, परिभाषा और शब्दों में उसे हम दिल्ली में आ बसे, हिन्दी बोली और भाषा को अपना लेने वाले मध्य एवं निम्न-मध्यवर्गीय पंजाबी परिवारों की भाषा कह सकते हैं। उपर्युक्त उदाहरणों एवं नाटक में प्रयुक्त संवादों के उदाहरणों से भाषा पर पंजाबी भाषा और बोली, बोलने के लहजे की ठस सर्वत्र स्पष्टत: देखी जा सकती है।

नोट

नोट्स

एक वाक्य में हम इस नाटक 'आधे-अधूरे' की भाषा को आज की-आधुनिक दिल्ली की हिन्दी भाषा भी कह सकते हैं। भाषा की सरलता और सजीवता का यह एक बहुत बड़ा तथ्य है।

'आधे-अधूरे' नाटक भाषायी प्रयोगों की दृष्टि से एक अत्यंत सार्थक एवं जीवंत मुहावरा लिए हुए है। रंगमंच पर इसकी सर्वाधिक सफलता का मुख्य कारण भी विद्वान् विचारकों ने इसी तथ्य को स्वीकारा है। इस नाटक की भाषा के संबंध में अपने विचार व्यक्त करते हुए प्रसिद्ध रंग-शिल्प ओम् शिवपुरी लिखते हैं– "आधे-अधूरे आज जीवन के एक गहन अनुभव-खण्ड को मूर्त्त करता है। इसके लिए हिन्दी के जीवन्त मुहावरे को पकड़ने की सार्थक, प्रभावशाली कोशिश की गई है। पहले वाचन के समय ही मुझे इसकी भाषा में बड़ी कशिश लगी थी। कहना न होगा कि इस नाटक की एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण विशेषता इसकी भाषा है। इसमें वह सामर्थ्य है जो समकालीन जीवन के तनाव को पकड़ सके। शब्दों का चयन, उनका क्रम, उनका संयोजन–सब कुछ ऐसा है, जो बहुत संपूर्णता से अभिप्रेत को अभिव्यक्त करता है। लिखित शब्द की यही शक्ति और उच्चरित ध्वनि-समूह का यही बल है, जिसके कारण यह नाट्य-रचना बंद और खुले, दोनों प्रकार के मंचों पर अपना सम्मोहन बनाये रख सकी।" स्पष्ट है कि नाटक की भाषा रंगमंच के सभी रूपों की कसौटियों पर पूर्णतया खरी उतरी है। यही इसकी संपूर्ण सफलता का मुख्य रहस्य है।

मोहन राकेश ने स्वयं मंचीय दृष्टियों से नाटकों की सार्थकता इसी रूप में स्वीकार की है कि उसमें दृश्य और श्रव्य में पूर्णतया सामंजस्य रहना चाहिए। रंगमंच के प्रसंग में शब्द (भाषा) का तिरस्कार नाटककार मोहन राकेश को किसी भी सीमा में स्वीकार नहीं है। वे शब्दों अर्थात् भाषा की ही भूमिका को रंग-विधान में सर्वाधिक-महत्त्वपूर्ण स्वीकार करते हैं। अपनी इन मान्यताओं को मोहन राकेश ने 'आधे-अधूरे' नाटक की भाषा में पूर्णतया चरितार्थ किया है। उन्होंने नाटकों में अधिकाधिक शब्दों के माध्यम से ही कहने-करने का सफल प्रयास किया है। 'आधे-अधूरे' नाटक की भाषा के संबंध में महेश आनंद के विचार भी दर्शनीय हैं। वे लिखते हैं– "इस नाटक की भाषा अपने से पूर्ववर्ती हिन्दी नाटकों से एकदम अलग, आडंबरहीन, बोलचाल की भाषा है। नाटककार ने कहीं भी इसे साहित्यिक बनाने के चक्कर में व्यर्थ का रंग नहीं पोता।.. सबसे बड़ी विशेषता इस भाषा की यह है कि बोलचाल की भाषा होते हुए भी यह हरकत की भाषा है। नाटक के प्रत्येक शब्द का संबंध पात्रों की क्रियाओं के साथ जुड़ा है– इसलिए कहीं भी संवाद पात्रों से अलग नहीं जान पड़ते। नाटक के शब्द स्वयं हरकत करते हुए मालूम होते हैं। यही कारण है कि प्रत्येक पात्र दर्शक के सामने अपने-आप खुलता जाता है।"

भाषायी प्रयोगों के संबंध में वे आगे लिखते हैं– "पात्रों के आक्रोश, कुढ़न और तनावपूर्ण वातावरण को प्रदर्शित करने के लिए ध्वन्यात्मक शब्दों का प्रयोग मिलता है जो स्वयं बोलते हुए चलते हैं। 'रबड़ स्टैम्प', 'घुरघुसरा', 'नाशुक्रे-आदमी' जैसे शब्दों में पात्रों का आक्रोश तो भरा ही है– साथ ही ये शब्द पात्रों के समूचे व्यक्तित्व को स्पष्ट कर देते हैं। कहीं-कहीं ओह्-ओह्-हो-हो या हूँ-हूँ– शब्द केवल ध्वनि-सूचक न होकर पात्रों की टूटन और झल्लाहट को भी व्यक्त करते हैं।" कहने का तात्पर्य यह है कि 'आधे-अधूरे' नाटक की भाषा अपने समूचे मुहावरे में जीवंत, सार्थक, अन्तः बाह्य-तत्त्वों से संयत, उनको व्यक्त करने में पूर्ण सार्थक, समर्थ, सरल और स्वाभाविक है। ऐसा इसी कारण है कि नाटककार ने वर्ण्य-विषय के रूप में जिस प्रकार के लोगों को अपनाया है, जिस प्रकार की अन्तः-बाह्य स्थितियों को आधार बनाया है, सम्पूर्णतः एवं समग्रतः उनके अपने–नितांत अपने परिवेश की भाषा का आद्यंत ध्यान रखा है।

एक सीमा तक शब्द के खिंचने के साथ-साथ उसमें अंतर्निहत भाव और विचार भी समग्रतः रूपायित हो सकें, सभी प्रकार की स्थितियाँ भी व्यक्त हो सकें, नाटक की भाषा का एक अन्य गुण है। प्रत्येक शब्द की, वाक्य की और भाषा में प्रयुक्त मुहावरे की अपनी एक विशेष लचक है, एक विशिष्ट भंगिमा है कि सीधी अंतर में उतर कर अन्तः-साक्ष्य करा देती है। यहाँ दो-चार संवादों के उदाहरण प्रस्तुत हैं–

नोट

स्त्री : पाँच हजार तनख्वाह है उसकी। पूरा दफ्तर सँभालता है।

लड़का : पाँच हजार तनख्वाह है, पूरा दफ्तर संभालता है, पर इतना होश नहीं कि अपनी पतलून के बटन ...

स्त्री : अशोक!

लड़का : तुम्हारा बॉस न होता, तो उस दिन मैंने कान पकड़ कर घर से बाहर निकाल दिया होता। सोफे पर टाँग पसारे आप सोच क्या रहे हैं, जाँघ खुजलाते देख किसी तरफ रहे हैं और बात मुझसे कर रहे हैं–

भाषा की लोच, लचक और नजाकत इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाती है। व्यक्ति बोल रहे हैं, अपने बारे में नहीं बल्कि दूसरों के बारे में। पर यह भाषा का ही कमाल है कि जिनके बारे में बोल रहे हैं, उनके स्वरूप तो उभर ही आते हैं, बोलने वालों का अपना आन्तरिक विद्रूप भी साकार हो उठता है।

इस प्रकार, उपर्युक्त विवेचन के निष्कर्ष स्वरूप अन्त में हम यही कहना चाहते हैं कि 'आधे-अधूरे' नाटक की भाषा वास्तव में नाटक की ही भाषा है। इस प्रकार की सहज नाटकीय भाषा का चमत्कार कोई मोहन राकेश जैसा व्यक्तित्व ही दिखा सकता था। जिसे हम भाषायी दृष्टियों से सर्वथा सार्थक मुहावरा एवं उसका प्रयोग कह सकते हैं, जिसे हम जीवन की, जीवंत एवं सहज भाषा कह सकते हैं, 'आधे-अधूरे' नाटक की भाषा उसी जीवंत-सहज भाषायी-शिल्प के सहज-स्वाभाविक साँचे में ढल कर हमारे सामने आयी है। नाटककार के पहले भाषा-रूप से सर्वथा हटकर– पर उसकी अपनी सहजता एवं स्वाभाविकता से हटकर नहीं, यही इसका चरम वैशिष्ट्य है।

11.2 संवाद-योजना

संवाद नाटकों का मूल विधायक तत्त्व माना जाता है। नाटक के दृश्य-कलेवर का निर्माण एवं सृजन वास्तव में संवादों की योजना के रूप में ही हुआ करता है। इसी कारण संवाद नाटकों का परमावश्यक तत्त्व है। ध्यातव्य है कि संवाद नाटक के बाह्य या दृश्य कलेवर का तो निर्माण करते ही हैं, उसकी आत्मा भी वास्तव में संवादों में ही अंतर्हित रहती हैं नाटक का कथ्य, कथानक, भाव, विचार, उद्देश्य, समस्यांकन, पात्रों के अन्तः, बाह्य चरित्र, संवेद्य, संवेदना और अनुभूतियाँ, यहाँ तक कि वातावरण की, परिस्थितियों की वास्तविक अभिव्यक्ति भी नाटकों में संवादों के माध्यम से ही हो पाती है। कथानक की योजना उसका आदि, मध्य, अंत आदि विभिन्न स्थितियों में अन्तः, बाह्य विकास भी संवादों द्वारा ही नाटकों में संभव हुआ करता है। इसके अतिरिक्त सर्जक कलाकार या नाटककार अपनी ओर से जो कुछ कहना चाहता है, उसके लिए भी वह किसी न किसी पात्र के संवादों का ही आश्रय लेता है। इस प्रकार नाटकों में संवाद एक प्रमुख एवं व्यापक तत्त्व है। उसके बिना नाटक का ढाँचा ही खड़ा नहीं हो सकता। यह भी निर्विवाद और अंतिम तथ्य है कि नाटक की सफलता-असफलता उचित, सुघड़ एवं सुचिंतित व्यावहारिक संवादों पर ही अवलंबित रहती है। इनके सद्भाव में कोई नाटक सफल होता है और अभाव में असफल।

सामान्य रूप एवं अर्थ में संवाद कुछ व्यक्तियों (कथात्मक साहित्य में पात्रों) द्वारा आपस में की गई बातचीत या वार्तालाप को ही कहा जाता है। पर वार्तालाप, बातचीत और संवाद में वास्तविक एवं मौलिक अंतर यह होता है कि बातचीत में आंगिक या कायिक अभिव्यक्ति (अभिनेयता) की कोई विशेषता नहीं समझी जाती, जबकि संवादों के लिए यह सब एक प्रकार की अनिवार्यता है। संवादों में वक्ता के कथन के अनुरूप कायिक या आंगिक और वाचक भावाभिव्यक्ति भी आवश्यक हुआ करती है। चेहरे पर आने वाले उतार-चढ़ाव शरीर या अंगों का संचालन या हिलना-डुलना भी ठीक संवाद-शब्दों की भावना के अनुरूप ही होना चाहिए। तभी विशेष स्थिति में किया गया वार्तालाप या बातचीत संवाद की श्रेणी में अभिहित किये जाते हैं। तात्पर्य यह है कि संवादों में शब्द जितना कहते हैं, उतने ही चेहरे के उतार-चढ़ाव एवं हाव-भाव भी कहा करते हैं। कभी-कभी तो यह भी होता है कि किसी संवाद के शब्द भाव या विचार को उतनी अभिव्यक्ति नहीं दे पाते जितने कि चेहरे के उतार-चढ़ाव, हाव-भाव या आंगिक-वाचिक संचालन। कई बार नाटककार संवादों के शब्दों में मात्र सांकेतिकता से काम लिया करता है, वह

नोट

व्याख्या-बिन्दुओं या डैशों का प्रयोग करके एक बात बीच में ही छोड़ दिया करता है। ऐसी स्थिति में व्यक्त हाव-भाव एवं अंग-संचालन ही उनें पूर्ण अभिव्यक्ति दे पाते हैं। अत: पारिभाषिक शब्दावली में हम उचित अभिनेता में संयत वार्तालाप या बातचीत को ही संवाद नाम से अभिहित कर सकते हैं।

संवाद कई प्रकार के होते हैं। नाटक की दृष्टि से दो रूपों को ही मुख्य मानकर चल सकते हैं– एक संपूर्ण संवाद, अर्थात् जिनमें अभिनेयता का संयम तो रहता है, पर वक्ता पात्र अपनी बात कहने के लिए पूर्ण शब्दों एवं वाक्यों का प्रयोग करता है। कहीं भी अधूरापन दिखाई नहीं देता। दूसरे सांकेतिक संवाद। इस प्रकार के संवाद प्राय: असंतुलित एवं अव्यक्त मन: स्थितियों के द्योतन के लिए या फिर भावावेश की स्थितियों की अभिव्यक्ति के लिए ही नाटकों में योजित किये जाते हैं। इस प्रकार की संवाद-योजना में नाटककार सांकेतिकता के तत्त्व का समावेश करने के लिए व्याख्या-बिंदुओं (...) या फिर डैशों (–) आदि का सहारा लिया करता है। इस प्रकार के संवाद प्राय: अत्यधिक संक्षिप्त और कभी-कभी तो एक-शब्द मात्र ही हुआ करते हैं। जैसे–

लड़का : (उसके पीछे जाने को होकर) मैं देखता हूँ इसे। कम से कम इस लड़की को तो मुझे...।

स्त्री : सुन।

लड़का : (किसी तरह निकल जाने की कोशिश में) पहले मैं जाकर इसे ...।

स्त्री : (काफी सख्त स्वर में) पहले तू आकर यहाँ .. बात सुन मेरी।

इसी प्रकार पहले प्रकार के अर्थात् संपूर्ण संवाद का भी एक उदाहरण देखिये–

लड़का : तुम्हारा बॉस न होता तो उस दिन मैंने कान पकड़ कर घर से निकाल दिया होता। सोफे पर टाँग पसारे आप सोच कुछ रहे हैं, जाँघ खुजलाते देख किसी तरफ रहे हैं और बातें मुझसे कर रहे हैं– (नकल उतारता) 'अच्छा यह बतलाइये कि आपके राजनीतिक विचार क्या हैं?' राजनीतिक विचार हैं मेरे– खुजली और उनकी मरहम।

स्पष्टत: संवादों के इन दोनों रूपों का 'आधे-अधूरे' नाटक में पूर्ण सफलता के साथ प्रयोग हुआ है। इसमें बाह्य गौरव तो है ही, प्राण या आत्म-तत्त्व भी अपने समग्र रूप में विद्यमान है। नाटकों में इनके अतिरिक्त संवादों का एक अन्य रूप भी हुआ करता है। उस रूप को परंपरागत संस्कृत नाटकों में 'आकाश-भाषित' और आजकल 'आत्म-संभाषण' नाम-रूप दिया जाता है। इनका प्रयोग प्राय: अकेला पात्र किया करता है। इनकी विशेषता यह होती है कि एक ही पात्र स्वयं ही प्रश्न करता है। और उनके उत्तर भी स्वयं देकर विशेष स्थितियों या घटित हो चुकी घटनाओं की सूचना दे दिया करता है। 'आधे-अधूरे' नाटक में इस प्रकार की विशुद्ध संवाद-योजना का स्वरूप नहीं मिलता। फिर भी आरंभ के प्रथम अंक में संवादों को हम इस श्रेणी में एक सीमा तक रख सकते हैं। हाँ, यदि हम उन्हें 'आकाश-भाषित' या 'आत्म-संभाषण' न कहना चाहें, तो नाटक की नव्य-विधा के अनुरूप उन्हें हम नया नाम-रूप दे सकते हैं। हमारे विचार में वह नया नाम-रूप हो सकता है– परिचायात्मक-संवाद! वेसै संस्कृत नाटकों की भूमिका में सूत्रधार, नट, नटी आदि पात्र जो संवाद बोला करते थे, 'आधे-अधूरे' नाटक के आरंभ के संवादों की यह 'परिचयात्मक-संवाद' विधा एक प्रकार से उनसे मिलती-जुलती है। 'आधे-अधूरे' में इस प्रकार की संवाद योजना का मूल प्रेरणा-स्रोत भी संस्कृत के नाटक ही हैं। अंतर इतना ही है कि संस्कृत नाटकों में सूत्रधार, नट-नटी आदि पात्र नाटक के लेखक, विषय आदि के बारे में परिचय देते हैं, जबकि यहाँ एक मुख्य पात्र (पुरुष एक) का अपना, अपने परिवेश, परिवार और परिस्थितियों का और इस रूप में आज के जीवन की अनेक विडंबनाओं का परिचय दिया गया है। फिर भी संवादों के इस रूप की मूल-चेतना निश्चय ही संस्कृत नाटकों के उपर्युक्त रूप जैसी ही है। उदाहरण देखिए–

का. सू. वा. : (कुछ अन्तर्मुखी भाव से सिगार की राख झाड़ता) फिर एक बार, फिर से वही शुरुआत...।

(जैसे कोशिश से अपने आप को एक दायित्व के लिए तैयार करके सोफे से उठा पड़ता है।)

मैं नहीं जानता आप क्या समझ रहे हैं, मैं कौन हूँ, और क्या आशा कर रहे हैं मैं क्या कहने

नोट

जा रहा हूँ। आप शायद सोचते हों कि मैं इस नाटक में कोई एक निश्चित इकाई हूँ–अभिनेता, प्रस्तुतकर्त्ता, व्यवस्थापक या कुछ और। परंतु मैं अपने संबंध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कह सकता। क्योंकि यह नाटक भी 'अपने में मेरी ही तरह अनिश्चित है।'

संस्कृत नाट्य-विधा से परिचित और संस्कृत नाटकों के अध्येता समझ सकते हैं कि वहाँ के सूत्रधार के समान यह सब नाट्य-विषय, पात्र-विषय आदि का प्रतिपाद्य ही है। इसे मूल पात्र द्वारा ही योजित करने का काम मोहन राकेश ने हिंदी में पहली बार यहाँ किया है, यह एक निश्चित सत्य है। इस प्रकार संवाद-योजना के स्वरूप पर निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि 'आधे-अधूरे' नाटक में संवाद-योजना के ये तीन रूप ही मुख्यत: उपलब्ध होते हैं। इन तीनों में से पहले दो रूप तो मोहन राकेश के पूर्ववर्ती नाटकों समेत सभी प्रकार के समस्या-नाटकों में मिलते ही हैं, हाँ तीसरा रूप निश्चय ही 'आधे-अधूरे' नाटक की अपनी और हिंदी-नाटकों में पहली बार-योजना– स्वीकारी जा सकती है।

टास्क रंगमंच की दृष्टि से आधे-अधूरे की परख कीजिए।

उपयुक्त और अच्छे संवादों की कुछ अपनी विशेषताएँ एवं गुण स्वीकार किये जाते हैं। सबसे पहली और मुख्य बात तो यह कि संवाद नाटकीय मूल वस्तु के विधान, विकास और चरम परिणति में पूर्णतया समर्थ एवं सहायक होने चाहिए। क्योंकि नाटकों में वस्तु-विधान का एक मात्र साधन या कारण-उपादान होता है अत: इस प्रकार की सामर्थ्य होना परम आवश्यक है। दूसरे, संवाद वस्तु-विषय से संबंधित पात्रों के समग्र विधान, उनके चरित्र-चित्रण और चरम विकास में पूर्ण सक्षम एवं साहयक होने चाहिये। चरित्र-चित्रण से वास्तविक तात्पर्य पात्रों के केवल बाह्य व्यक्तित्व के निरूपण से नहीं है। वास्तव में ऐसा संवाद करते भी नहीं हैं, यदि करते भी हैं तो बहुत कम संख्या और मात्रा में। चरित्र-चित्रण से तात्पर्य पात्रों के केवल बाह्य व्यक्तित्व के निरूपण से नहीं हैं वास्तव में ऐसा संवाद करते भी नहीं हैं, यदि करते भी हैं तो बहुत कम संख्या और मात्रा में। चरित्र-चित्रण से वास्तविक तात्पर्य पात्रों के अन्त:व्यक्तित्व एवं चरित्र उसके द्वारा उच्चरित संवाद के शब्दों से पाठक या नाट्य-दर्शक के सामने-सजीव-साकार हो उठना चाहिए। उसका तथ्यगत रूपायन, उसके आंतरिक दुरावपूर्ण रूपों का भी सहज उद्घाटन संवादों की सफलता का एक बहुत बड़ा मानदण्ड स्वीकारा जाता है। यानी आँसू बहाने वाला पात्र मगरमच्छ के आँसू बहा रहा है या वास्तविक अन्त: अनुभूतियों से परिचालित होकर, आंतरिक विवशता के आँसू बहा रहा है। इसको अपने सही रूप में पाठकों या दर्शकों के सामने सम्प्रेषित कर देने में ही संवादों की वास्तविक एवं निर्विवाद सफलता है।

इन मुख्य बातों के अतिरिक्त व्यावहारिकता, पात्र-स्थिति-सापेक्षता, सरलता, संक्षिप्तता, चुस्ती, चुटीलापन, भाव-प्रवणता आदि अच्छे संवादों के अन्य गुण माने जाते हैं। भाषण की सीमा तक या भाषण जैसी संवादों की लंबाई नाटकों में हमेशा ही उपेक्षणीय मानी गई है। भाषण और संवाद का अंतर स्पष्ट है। संवादों की भाषा भी अभिव्यक्ति सक्षम, सरल, चुस्त, चुटीली और स्वाभाविक होनी चाहिए। कई बार संवाद-योजना करते समय पात्रों की आयु, शिक्षा, सामाजिक परिवेश, देश-काल आदि अन्य बातों का ध्यान रखना भी प्राय: अनिवार्य हो जाया करता है। जटिलता, कठिनता और अबूझता तो किसी भी स्थिति में, विशेषत: रंगमंचीय नाटकों में, सह्य नहीं मानी जाती। इसी प्रकार मनोरंजकता या रोचकता, यथार्थता, प्रभविष्णुता आदि अच्छे एवं उपयुक्त संवादों के अन्य गुण तथा विशेषताएँ स्वीकार की जाती है।

इस प्रकार, मुख्य रूप से, कहा जा सकता है कि उपयुक्त और अच्छे नाटकों के संवादों की योजना करते समय नाटककार को मुख्यत: इन्हीं गुणों एवं विशेषताओं का अनिवार्यत: ध्यान रखना होता है। इन्हीं गुणों एवं विशेषताओं की कसौटी पर ही 'आधे-अधूरे' नाटक की संवाद-योजना की परख यहाँ प्रस्तुत है।

मोहन राकेश ने संवाद के सभी रूपों का प्रयोग एकदम स्वच्छंद, मुक्त एवं स्वाभाविक रूप में किया है। सबसे बड़ी

नोट

और मुख्य बात तो यह है कि आज का नाट्य-शिल्प एवं राग-शिल्प जिस प्रकार के सरल, सुगम, स्वाभाविक, अभिव्यक्तिसक्षम और जिस प्रकार के संवादों की माँग करता है, राकेश के प्रस्तुत नाटक के संवाद सभी दृष्टियों से उसी प्रकार के हैं। अपने पूर्ववर्ती 'आषाढ़ का एक दिन' और 'लहरों के राजहंस' नाटकों में काव्यमयता आदि का विशेष आग्रह प्रदर्शित किया है। इसके कारण संवादों की भाषा में काव्यमयता का गुण तो अवश्य आ गया है, पर वहाँ भाषा सामान्य पाठक एवं दर्शक की दृष्टि से यदि कठिन नहीं तो गहन-गंभीर आवश्य हो गई है। इसके विपरीत 'आधे-अधूरे' में संवाद योजना करते समय किसी प्रकार की काव्यमयता का आग्रह नहीं रखा गया। इसी कारण यहाँ संवादों का एक अपना वैशिष्ट्य है और वह वैशिष्ट्य अभिनेयता और रंगमंचीय दृष्टियों से ही अधिक है। यही इनकी एक प्रमुख विशेषता है।

क्या आप जानते हैं

आधे-अधूरे नाटक की भाषा अपने पूर्ववर्ती आषाढ़ का एक दिन और लहरों के राजहंस से बिल्कुल मेल नहीं खाती। यथार्थ के धरातल पर गढ़ा गया यह नाटक काव्यमयता से मुक्त है।

इतना सब होते हुए भी संवादों द्वारा व्यक्त अनुभूति में किसी भी तरह की शिथिलता नहीं आने पाई। प्रत्येक संवाद वक्ता पात्र के अंत:, बाह्य के साथ कुछ इस प्रकार से संमजित है कि उसके व्यक्तित्व के सभी रूप स्वत: ही संवादीय शब्दों के पर्यावरणों में स्पष्ट-साकार होने लगते हैं। उससे मूल कथ्य एवं कथानक को भी गति, विकास एंव स्पष्टता प्राप्त होती है। तात्पर्य यह है कि संवादों में नाटककार ने नाटक की अन्त:, बाह्य समग्र स्थितियों की अनुकूलता का पूर्णतया ध्यान रखा है। संवादों की नाट्य-स्थितियों की अनुकूलता ने भाषा को भी स्वाभाविक और सहज रखा है, इस बारे में महेश आनंद का कथन है– "नाटक के संवाद नाट्य-स्थितियों के अनुकूल हैं। कोई भी संवाद रंग-स्थति में बाधक नहीं बनता।" आगे अपनी बात को नाटक के संवाद-उदाहरणों द्वारा सटीक मानते हुए वे लिखते हैं– "एक स्थान पर जब महेन्द्रनाथ जुनेजा से मिलने के लिए जाता है, क्योंकि उसके अनुसार 'हो सकता है कि कोई नया कारोबार चलाने की सोच रहा हो, जिसमें मेरे लिये ...' इसका उत्तर देते हुए सावित्री कहती है– "पहले ही कुछ कम नहीं किया है", इसके साथ वह झाड़न से कुर्सियाँ आदि झाड़ना शुरू कर देती है और कहती जाती है, 'इतनी गर्द भरी रहती है हर वक्त इस घर में! पता नहीं कहाँ से चली आती है।' यहाँ केवल एक शब्द 'गर्द' के द्वारा घर के तनाव, बिखराव, घुटन और दोनों के विचारों की विषमता की और संकेत तो किया ही है, साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया है कि यह 'गर्द' जुनेजा की दी हुई है जिसे महेन्द्रनाथ उसके साथ व्यापार करके बटोर लाया है। यह संवाद नाट्य-स्थिति के अनुकूल होने के साथ-साथ पात्र की क्रियाओं और आक्रोश के साथ जुड़ा हुआ है। इसी विशेषता के कारण जो नाटकीय बिंब बनते हैं, दर्शक उनके साथ यात्रा करता चलता है।" तात्पर्य यह है कि राकेश ने स्थितिनुकूल (अन्त:, बाह्य दोनों प्रकार की स्थितियाँ) संवाद-योजना करने में यहाँ विशेष दक्षता का परिचय दिया है। यह दक्षता उसके अन्य नाटकों में इतनी स्पष्टता एवं तीव्रता के साथ निश्चय ही दिखाई नहीं देती।

इस नाटक की संवाद-योजना के मध्य एक अन्य अत्यधिक विशिष्ट गुण भी दिखाई देता है। उसे हम संवाद-योजना का मौन रूप कह सकते हैं। अनेक स्थानों पर पात्र संवाद बोलते-बोलते सहसा रुक जाते हैं, एकाएक नि:शब्द से परस्पर देखने या इधर-उधर की कुछ व्यर्थ-सी क्रिया-प्रक्रियाएँ करने लगते हैं। पर यह मौन और व्यर्थ की क्रिया-प्रक्रियाएँ निश्चय ही संवाद के शब्दों से भी कहीं अधिक कह जाती है। सारा नाटक आदि से अन्त तक तनाव एवं आंतरिक घुटन की स्थतियों में ही घटित होता है। संवाद-योजना का यह मौन या नि:शब्द-रूप वास्तव में तनाव और घुटन से पूर्ण क्षणों को बोधात्मक किंतु मूक स्वर प्रदान करता है। वे व्यर्थ-सी क्रियाएँ जैसे नि:शब्द या मौन-संवादों के क्षणों में भी नाटक का दर्शक किसी ऊब, व्यति-क्रम या असंबद्धता का अनुभव नहीं करता; बल्कि कथ्य एवं कथानक के साथ पूर्णतया जुड़ा रहता है। कहा जा सकता है कि वह और भी अधिक जुड़ जाता है।

नोट

इस प्रकार संवादों की शाब्दिक एवं सांकेतिक योजना के बीच आने वाले मौन-संवादों या नि:शब्द संवादों से भरे एक प्रसंग का एक उदाहरण देखें–

स्त्री : (गहरी वितृष्णा के साथ) जितने नाशुक्रे आदमी तुम हो, उससे तो मन करता है कि आज ही मैं...।

(कहती हुई अहाते के दरवाजे की तरफ मुड़ती है कि बाहर से बड़ी लड़की की आवाज सुनाई देती है)

बड़ी लड़की : ममा!

(स्त्री रुककर उस तरफ देखती है। चेहरा कुछ फीका पड़ जाता है।)

स्त्री : बीना आयी है बाहर।

(पुरुष एक न चाहते मन से अखबार लपेट कर उठ खड़ा होता है।)

पुरुष एक : फिर उसी तरह आयी होगी।

स्त्री : जाकर देख लोगे क्या चाहिए उसे?

(बड़ी लड़की की आवाज फिर सुनाई देती है।)

बड़ी लड़की : ममा, टूटे पचास पैसे देना जरा।

(पुरुष एक किसी अनचाही स्थिति का सामना करने की तरह बाहर के दरवाजे की तरफ बढ़ता है।)

स्त्री : पचास पैसे है न तुम्हारी जेब में? होंगे तो सही दूध के पैसों से बचे हुए।

इस प्रसंग के संवादों में जो गैप बार-बार आया है, उसमें जिस प्रकार की क्रियाएँ की गई हैं, वे स्त्री-पुरुष के संबंधों, पारस्परिक तनावों एवं हीनता से भरी मन: स्थितियों को तो व्यक्त करती ही हैं, आर्थिक एवं अन्त:, बाह्य स्थितियों को भी नि:शब्द कह देती हैं। संवाद-योजना का यह नव्य-भव्य एवं भौतिक रूप हमें अन्य कहीं कम ही दिखाई देता है।

संवादों में स्तरीय भिन्नता रहते हुए भी समग्र अनुभूति में कहीं किसी भी प्रकार की बाधा नहीं पड़ती, यह एक अन्य विशेषता है। इस प्रकार का भी एक प्रसंगीय उदाहरण प्रस्तुत कर देना उचित रहेगा। सिंघानिया के घर पर आने की चर्चा चल रही है। उस समय बड़ी लड़की (बिन्नी), लड़के (अशोक) और स्त्री (सावित्री) में जो संवाद चलते हैं, वे इसे दुहरे स्तर के अच्छे उदहारण है'। देखिए–

लड़का : मुझे नहीं चाहिए नौकरी। कम-से-कम उस आदमी के जरिये हरगिज नहीं।

बड़ी लड़की : क्यों, हरगिज नहीं।

लड़का : चुकंदर है? वह आदमी है? जिसे न बैठने का शऊर है न बात करने का।

स्त्री : पाँच हजार तनख्वाह है उसकी। पूरा दफ्तर सँभालता है, पर इतना होश नहीं कि अपनी पतलून के बटन ...।

इतनी ही नहीं, इसी प्रसंग में अशोक सिंघानिया की हरकतों की नकल उतारते हुए उसे घर से बाहर तक निकाल देने की बात कह देता है। तब सावित्री अपना माथा सहला कर बड़ी लड़की (बिन्नी) से कहती है– "ये लोग हैं जिनके लिए मैं जानमारी करती हूँ रात-दिन।" यहाँ स्तरीय भिन्नता है, एक साथ दुहर स्तरा तो है ही, मन:स्थितियाँ भी विभिन्न एवं दुहरी-सी दिखाई देती हैं, फिर भी सावित्री के अंतिम कथन में बात वहीं, उसी नाटक के संपूर्ण बिंब–तनाव एवं घुटन पर ही आकर केंद्रित हो जाती है। मूल संवेदना का तारतम्य कहीं भी टूटने नहीं पाता।

कथानक की तीव्र गति, पात्रों के अन्त:, बाह्य चारित्रिक उद्‌घाटन के संवाद ही हैं जिनके द्वारा यह सब स्वाभाविक

नोट

पर द्रुत गति से घटित होता है। संवादों की संक्षिप्तता यहाँ विशेष दर्शनीय है। राकेश के 'आषाढ़ का एक दिन' और 'लहरों के राजहंस' आदि नाटकों में तनाव एवं मनोवेगों की अभिव्यक्ति के क्षणों में संवाद भाषण की सीमा से भी लंबे हो गये हैं। वहाँ क्रमशः कालिदास और नंद जब भावावेश एवं तनाव के क्षणों में बोलने लगते हैं, तो निरंतर बोलते ही जाते हैं। उन नाटकों के तृतीय अंकों में आने वाले संवाद–हालाँकि वे कथ्य एवं कथानक की चरम परिणतियों के द्योतक हैं, फिर भी अत्यधिक लंबे हो गये हैं। इसके विपरीत 'आधे-अधूरे' नाटक में किसी भी प्रकार की स्थिति में संवादों की संक्षिप्तता, सार-पूर्णता एवं तात्त्विकता एक ही स्तर की बनी रही है। संवाद के रूप में यदि एक शब्द भी कहा गया है, तो वह एक समूचे बिंब का विधायक है। उदाहरण के लिए बड़ी लड़की बिन्नी का यह संक्षिप्त-सा संवाद देखिए–

"मैं इस घर से ही अपने अंदर कुछ ऐसी चीज लेकर गयी हूँ जो किसी भी स्थिति में मुझे स्वाभाविक नहीं रहने देती।"

यह संवाद बिन्नी के मायके और ससुराल दोनों की अस्वाभाविक एवं असुन्तुलित स्थितियों का बिंब सहसा उभार देता है। इसी प्रसंग में दो-एक और संक्षिप्त संवाद देखें। संवाद महेन्द्रनाथ और सावित्री के हैं–

स्त्री : वह इस वस्तु तुम से बात नहीं कर रही।

पुरुष एक : पर बात तो मेरे ही घर की हो रही है।

स्त्री : तुम्हारा घर! हँह!

ध्यान दीजिए स्त्री के कथन पर– "तुम्हारा घर! हँह!" क्या यह अत्यंत संक्षिप्त-सा संवाद पुरुष एक महेन्द्रनाथ की दयनीय एवं सर्वथा उपेक्षित स्थितियों, दूसरी ओर सावित्री के अहं और व्यंग्य-व्यवहार का समग्र चित्र हमारे सामने प्रस्तुत नहीं कर देता? घर का तनाव और घुटनपूर्ण वातावरण, टूटते संबंधों की प्रक्रिया भी तो इन दो-तीन शब्दों से ही एक समग्र बिंब बनकर हमारे सामने उजागर हो जाती हैं वास्तव में पुरुष एक महेन्द्रनाथ और स्त्री-सावित्री के संवादों की योजना जिस स्वाभाविक सजगता के साथ की गई है, उसमें जो तीखापन, व्यंग्य और कटुता है, वह इस समूचे नाटक की प्राण हैं इस प्रकार के सहज स्वाभाविक संवादों की योजना राकेश जी के अपने ही अन्य नाटकों में तो क्या, अन्य नटककारों में भी कहीं नहीं मिलती।

स्व-मूल्यांकन

दिए गए कथन के सामने सही (✓) अथवा गलत (×) का निशान लगाइए–

1. 'आषाढ़ का एक दिन' और आधे-अधूरे नाटक का मूल प्रतिपाद्य समान है। ☐
2. 'आधे-अधूरे' नाटक के माध्यम से मोहन राकेश ने रंगमंचीय दृष्टि से क्रांतिकारी परिवर्तन किए। ☐
3. 'आषाढ़ का एक दिन' के नाटक कालिदास एवं आधे-अधूरे के नाटक महेन्द्र में पुरोषोचित कमजोरियाँ एक-सी हैं। ☐
4. 'आधे-अधूरे' मध्यवर्गीय समाज के यथार्थ की परत दर परत सच्चाई को उघाड़ने में सफल है। ☐

मूलतः नाटक एक आंतरिक घुटनशीलता तो लेकर चला ही है, अंतर के साथ-साथ बाह्य तनाव की स्थितियाँ ही यहाँ आद्यन्त रूप से विद्यमान हैं। अतः संवादों में भी मुख्यतः इन्हीं बातों का बिंबात्मक उभार है। फिर भी तनाव, घुटन एवं टूटन के क्षणों में दो-एक स्थानों पर ऐसे संवाद भी आ गये हैं जिन्हें रंजक या मनोरंजक भी कहा जा सकता है। प्रसंग सिंघानिया के सावित्री के घर में आने का है। सावित्री उससे अपने बेटे अशोक की सिफारिश करना चाहती है कि वह उसे कहीं नौकरी पर लगवा दे। इस प्रसंग से संबंधित संवाद योजना का रूप देखें–

स्त्री : याद है न आपको?

पुरुष दो : याद है। कुछ बात की थी तुमने एक बार। अपने किसी कजिन के लिए कहा था ... नहीं, वह तो मिसेज मल्होत्रा ने कहा था। तुमने किसके लिये कहा था?

नोट

स्त्री : इसके लिये।

पुरुष दो : हूँ-हूँ ... क्या पास किया है इसने? बी. काम.?

स्त्री : मैंने बताया था बी.एस-सी0 कर रहा था ... तीसरे साल में बीमार हो गया, इसलिये ...।

पुरुष दो : अच्छा-अच्छा ... हाँ ... बताया था तुमने कि कुछ दिन एयर-इण्डिया में ..।

स्त्री : एयर-फ्रीज में।

पुरुष दो : हाँ, एयर-फ्रीज में। हूँ...हूँ...हूँ...।

इस प्रकार का एकाध अन्य प्रसंग भी आता है जहाँ संवाद पूर्ण हास्य की तो नहीं, रंजकता के कारण अधरों पर थिरक उठने वाली मुस्कान की स्थिति उत्पन्न कर देते हैं। वरना नाटक के मूल संवेद्य के समान आद्यन्त घुटन एवं तनाव की स्थिति उत्पन्न कर देते हैं। तनाव की यह स्थिति नाटक के पाठक एवं श्रोता के मन-मस्तिष्क में भी बनी रहती है। इस स्थिति को बनाये रखना ही वास्तव में संवादों की सबसे बड़ी सफलता एवं सार्थकता है।

इस प्रकार, उपर्युक्त विवेचन के निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता है कि कथ्य, कथानक आदि की दृष्टियों से 'आधे-अधूरे' नाटक के संवाद पूर्णतया नाटकीय, सहज, स्वाभाविक हैं। वस्तु को विकास देने वाले तो हैं ही, पात्रों के अन्तः, बाह्य व्यक्तित्वों को साकार कर देने की पूर्ण क्षमता भी इनमें विद्यमान है। संप्रेषणीयता का गुण इस सीमा तक विद्यमान है कि नाटककार जो कुछ कहना चाहता है, नाटक का सामान्य-विशेष सभी प्रकार का पाठक और दर्शक उसे सहज ही ग्रहण कर लेता है। इससे बड़ी सफलता निश्चय ही अन्य कोई नहीं हो सकती।

11.3 सारांश

भाषा, भाव एवं विचार-बोध का सर्वोत्तम माध्यम है। यों नाटकों में योजित पात्र शब्द-प्रयोगों के अतिरिक्त संकेतों–अर्थात् हाव-भाव प्रदर्शित करके, विशेष स्थितियों के लिए विशेष प्रकार का अभिनय करके भी भावों और विचारों का, विशेष प्रकार की अन्तः बाह्य स्थितियों का बोध करा देते हैं। अर्थात् भाषा का नाटकीय परिवेश में काव्य या साहित्य की अन्य विधाओं की तुलना में अपना एक अलग व्यक्तित्व, स्वरूप आकार एवं महत्त्व होता है।

भाषायी दृष्टि से जब हम 'मोहन राकेश अन्य नाटकों से आधे-अधूरे की तुलना करते हैं तो पहले दो नाटकों की तुलना में 'आधे-अधूरे' नाटक में मोहन राकेश भाषा की दृष्टि से बहुत आगे बढ़ गये हैं। अर्थात् भाषा के प्रयोगों एवं शिल्पगत-स्वरूप में आकाश-पाताल का अंतर आ चुका है। अपने पहले दो नाटकों में राकेश काव्यमयता, चित्रमयता आदि के मोह से ग्रसित दिखाई पड़ते हैं। पर यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते न केवल उनका मोह भंग होता है अपितु वे भाषा को यथार्थ धरातल पर ले आते हैं। काव्यमयता एवं चित्रमयता के मोह के कारण उत्पन्न होने वाली कृत्रिमता या अभिजात्य का भाव 'आधे-अधूरे' नाटक की भाषा में कहीं एक क्षण के लिए भी दिखाई नहीं देता। 'आधे-अधूरे' की भाषा में भावुकता का आग्रह एकदम समाप्त होकर उसका सहज स्वाभाविक एवं व्यवहारिक रूप निखर आया है।

संवाद नाटकों का मूल विधायक तत्त्व माना जाता है। नाटक के दृश्य-कलेवर का निर्माण एवं सृजन वास्तव में संवादों की योजना के रूप में ही हुआ करता है। इसी कारण संवाद नाटकों का परमावश्यक तत्त्व है। नाटक का कथ्य, कथानक, भाव, विचार, उद्देश्य, समस्यांकन, पात्रों के अन्तः, बाह्य चरित्र, संवेद्य, संवेदना और अनुभूतियाँ, यहाँ तक कि वातावरण की, परिस्थितियों की वास्तविक अभिव्यक्ति भी नाटकों में संवादों के माध्यम से ही हो पाती है। कथानक की योजना उसका आदि, मध्य, अंत आदि विभिन्न स्थितियों में अन्तः, बाह्य विकास भी संवादों द्वारा ही नाटकों में संभव हुआ करता है। इसके अतिरिक्त सर्जक कलाकार या नाटककार अपनी ओर से जो कुछ कहना चाहता है, उसके लिए भी वह किसी न किसी पात्र के संवादों का ही आश्रय लेता है। 'आधे-अधूरे' नाटक विशुद्ध संवाद-योजना का स्वरूप नहीं मिलता। फिर भी आरंभ के प्रथम अंक में संवादों को हम इस श्रेणी में एक सीमा तक रख सकते हैं। हाँ, यदि हम उन्हें 'आकाश-भाषित' या 'आत्म-संभाषण' न कहना चाहें, तो नाटक की

नोट

नव्य-विधा के अनुरूप उन्हें हम नया नाम-रूप दे सकते हैं। हमारे विचार में वह नया नाम-रूप हो सकता है– परिचायात्मक-संवाद! 'आधे-अधूरे' नाटक के आरंभ के संवादों की यह 'परिचयात्मक-संवाद' विधा एक प्रकार से उनसे मिलती-जुलती है। 'आधे-अधूरे' में इस प्रकार की संवाद योजना का मूल प्रेरणा-स्रोत भी संस्कृत के नाटक ही हैं। मोहन राकेश ने संवाद के सभी रूपों का प्रयोग एकदम स्वच्छंद, मुक्त एवं स्वाभाविक रूप में किया है। सबसे बड़ी और मुख्य बात तो यह है कि आज का नाट्य-शिल्प एवं राग-शिल्प जिस प्रकार के सरल, सुगम, स्वाभाविक, अभिव्यक्तिसक्षम और जिस प्रकार के संवादों की माँग करता है, राकेश के प्रस्तुत नाटक के संवाद सभी दृष्टियों से उसी प्रकार के हैं। अपने पूर्ववर्ती 'आषाढ़ का एक दिन' और 'लहरों के राजहंस' नाटकों में काव्यमयता आदि का विशेष आग्रह प्रदर्शित किया है। इसके कारण संवादों की भाषा में काव्यमयता का गुण तो अवश्य आ गया है, पर वहाँ भाषा सामान्य पाठक एवं दर्शक की दृष्टि से यदि कठिन नहीं तो गहन-गंभीर आवश्य हो गई है। इसके विपरीत 'आधे-अधूरे' में संवाद योजना करते समय किसी प्रकार की काव्यमयता का आग्रह नहीं रखा गया। इसी कारण यहाँ संवादों का एक अपना वैशिष्ट्य है और वह वैशिष्ट्य अभिनेयता और रंगमंचीय दृष्टियों से ही अधिक है। यही इनकी एक प्रमुख विशेषता है।

11.4 शब्दकोश

1. **निःशब्द–** बिना शब्द का, शब्द रहित, जिसमें आवाज न हो
2. **दुरावपूर्ण–** छुपाना, छिपा हुआ

11.5 अभ्यास-प्रश्न

1. 'आधे-अधूरे' नाटक की भाषा अपने पूर्ववर्ती नाटकों से अलग है। तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत कीजिए।
2. 'आधे-अधूरे' नाटक के संवाद अपने पात्रों को सजीव एवं जीवंत करने में सहायक है। विवेचन कीजिए।

उत्तर: स्व-मूल्यांकन

1. (×) 2. (✓) 3. (×) 4. (✓)

11.6 संदर्भ पुस्तकें

पुस्तकें

1. *मोहन राकेश और उनके नाटक*– गिरीश रस्तोगी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
2. *मोहन राकेश*– जयदेव तनेजा– राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली।
3. *आधुनिक भारतीय नाट्य विमर्श*–*जयदेव तनेजा*– राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली।

नोट

इकाई 12: आधे-अधूरे: तात्त्विक समीक्षा

अनुक्रमणिका

उद्देश्य

प्रस्तावना

12.1 आधे-अधूरे: तात्त्विक विवेचन

12.2 सारांश

12.3 शब्दकोश

12.4 अभ्यास-प्रश्न

12.5 संदर्भ पुस्तकें

उद्देश्य

विद्यार्थी इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् सक्षम होंगे–

- आधे-अधूरे नाटक का तात्त्विक विवेचन करने में।

प्रस्तावना

स्वर्गीय मोहन राकेश एक अत्यन्त सजग कलाकार रहे हैं। साहित्य के प्रत्येक विधात्मक रूप में, जहाँ भी उन्होंने लेखनी उठाई, आधार और वर्ण्य-विषय बाह्य रूप से चाहे कोई भी, किसी भी युग का क्यों न रहा हो, पर आन्तरिक की भोगी जा रही परिस्थितियों, प्रवृत्तियों एवं चेतनाओं को ही उन्होंने अपना प्रतिपाद्य, संवेद्य या उद्देश्य, अथवा समस्यांकन कुछ भी कह लीजिए, अपना वर्ण्य-विषय बनाया है। इन मूल तथ्यों को ध्यान में रखकर ही 'आधे-अधूरे' नाटक` प्रतिपाद्य, उद्देश्य, संवेद्य आदि का वास्तविक आंकलन किया जा सकता है।

12.1 आधे-अधूरे: तात्त्विक विवेचन

आज का जीवन अनेक प्रकार की अनिश्चित स्थितियों के कडुवे धुएँ के घूँट भरे हुए व्यतीत हो रहा है। 'आधे-अधूरे' नाटक में चूँकि विघटन की प्रक्रिया का ही मुख्यत: रूपायन हुआ है, उसकी चरम परिणति का नहीं, वैसा हो पाना सम्भव भी नहीं था, क्योंकि अभी तो वर्णीय क्रिया-प्रक्रियाएँ विघटन की दिशा में गतिशील हैं, इसी कारण स्वयं नाटककार ने भी उसे अनिश्चित स्थिति का नाटक या 'अनिश्चित नाटक' कहकर अभिहित किया है। नाटक को आदि से अन्त तक पढ़ जाने या रंगमंच पर अभिनीत होते देख जाने के बाद भी पाठक या दर्शक के लिए कोई निश्चित धारणा बना पाना सम्भव नहीं हो पाता, अत: यह स्पष्ट है कि वस्तुत: नाटककार कहना क्या चाहता है। केवल यही कहा जा सकता है कि नाटककार उन प्रक्रियाओं का यथार्थ दिग्दर्शन कराना चाहता है जिनसे मलिन होकर आज का मध्य वित्तीय स्थितियों वाला वर्ग इच्छाओं और आर्थिक अभावों के कारण अनवरत विघटित होकर टूटने के कगार तक पहुँच जाना चाहता है। इसी कारण नाटककार स्वयं ही अपने कथ्य एवं कथानक को कोई निश्चित निर्धारित रूपाकार प्रदान नहीं करना चाहता। तभी तो काले सूट वाला पुरुष आरम्भ में ही कहता है– ''बात इतनी सी है ही कि विभाजित होकर मैं किसी न किसी अंश में आप में से हर एक व्यक्ति हूँ और यही कारण है कि नाटक के बाहर हो या अन्दर, मेरी कोई भी एक निश्चित भूमिका नहीं है।'' वह फिर कहता है–''मैंने

नोट

कहा था यह नाटक भी मेरी तरह अनिश्चित है। उसका कारण भी यही है कि मैं इसमें हूँ और मेरे होने से ही सब-कुछ इसमें निर्धारित या अनिर्धारित हैं एक विशेष परिवार, उसकी विशेष परिस्थितियाँ! परिवार दूसरा होने से परिस्थितियाँ बदल जातीं; मैं यही रहता। इस परिवार की स्त्री के स्थान पर कोई दूसरी स्त्री किसी दूसरी तरह से मुझे झेलती-या वह स्त्री मेरी भूमिका ले लेती और मैं उसकी भूमिका लेकर उसे झेलता। नाटक अन्त तक फिर भी इतना ही अनिश्चित बना रहता...।'' स्पष्ट है कि आज के स्त्री-पुरुष की अनिश्चित स्थितियों का, परिवार के रूप में परस्पर झेलने की विवशताओं का प्रतिपादन करना ही नाटककार का प्रतिपाद्य या उद्देश्य है। पर समस्या है कि स्त्री-पुरुष की जो भूमिका घर-परिवार, जीवन और समाज में बिताई जा रही है, वह किसी सदुद्देश्यत से परिचालित नहीं है, बल्कि सहज जीने के लिए, विवशताओं और परिस्थितियों के कोड़ों से परिचालित होकर निभाई जा रही है। इस प्रकार जब जीवन का नाटक ही अनिश्चित-सा, एक विवशता-सा, एक घुटन-सा बनकर रह गया हो, तो फिर कोई निश्चित उद्देश्य लेकर भी कैसे चल जा सकता है? इस बात की सफाई देते हुए ही तो काले सूट वाला पुरुष कहता है–

''पर हो सकता है मैं एक अनिश्चित नाटक में एक अनिश्चित पात्र होने की सफाई भर पेश कर रहा होऊँ। हो सकता है यह नाटक एक निश्चित रूप ले सकता हो–किन्हीं पात्रों को निकाल देने से, दो-एक पात्र और जोड़ देने से, कुछ भूमिकाएँ बदल देने से, कुछ पंक्तियाँ हटा देने से, कुछ पंक्तियाँ बढ़ा देने से, या परिस्थितियों में थोड़ा हेर-फेर कर देने से। हो सकता है। आप पूरा देखने के बाद या उससे पहले ही, कुछ सुझाव दे सकें इस सम्बन्ध में।'' हमारे विचार में 'आधे-अधूरे' नाटक का मूल, संवेद्य उद्देश्य और समस्या आदि सभी-कुछ इन्हीं शब्दों में, इन्हीं पंक्तियों में अन्तर्निहित है। नाटककार मोहन राकेश ने अत्यधिक सूक्ष्मदर्शिता एवं सूक्ष्म कलात्मकता से काम लेकर अपना मन्तव्य एक-एक शब्द और वाक्य में भर दिया है। अतः इस वक्तव्य का प्रत्येक शब्द और वाक्य प्रतिपाद्य आदि की दृष्टि से व्याख्या माँके अपेक्षा करता है।

टास्क आधुनिक मध्यवर्गीय समाज की समस्याओं/विडंबनाओं पर प्रकाश डालिए।

काले सूट वाला पुरुष अनिश्चित नाटक का अनिश्चित पात्र है। वह इसकी सफाई इस प्रतीकार्य में देता हुआ प्रतीत होता है कि जब आज की विषम परिस्थितियों ने उस जैसे पुरुष (या नारी को भी) को जीवन में प्रत्येक दृष्टि से अनिश्चय एवं अविश्वास का परिवेश, आयाम प्रदान कर दिया है तो फिर वह अपने को या अपनी क्रिया-प्रक्रियाओं (प्रतिक्रियाओं को भी) किसी निश्चित शब्दावली में क्योंकर परिभाषित कर सकता है? इस दृष्टि से यह कहानी, इसका प्रतिपाद्य आज के समूचे, अनवरत बिखर रहे, विघटित हो रहे मूल्यों वाले मानव के जीवन और समाज की कहानी और प्रतिपाद्य बन जाते हैं। वह पुरुष, उसका परिवार और परिवेश तो मात्र प्रतीक आज के समूचे, अनवरत बिखर रहे, विघटित हो रहे मूल्यों वाले मानव के जीवन और समाज की कहानी और प्रतिपाद्य बन जाते हैं। वह पुरुष, उसका परिवार और परिवेश तो मात्र प्रतीक हैं, पर विघटित सभी हो रहे हैं–इसमें कोई सन्देह नहीं। तभी तो वह आगे कहता है–''हो सकता है यह नाटक निश्चित रूप ले सकता हो–किन्हीं पात्रों को निकाल देने से, दो-एक पात्र और जोड़ देने से।'' तनिक गहराई से विचार कर देखिए, यदि हम कुछ अनचाही क्रियाओं को प्रश्रय देने वाले व्यक्तियों को जीवन और समाज से निकाल दें, सन्तुलित व्यवहार वाले लोगों को जीवन और समाज में प्रश्रय देने लगें, तो क्या यह जीवन का नाटक और उसके पात्र निश्चित रूप नहीं ले सकते? पर, क्योंकि जीवन जिस राह पर चल रहा है, जिस राह पर चलने के लिए आज का मनुष्य विवश कर दिया गया है, उस स्थिति में जीवन के समान ही वह नाटक या इसका प्रतिपाद्य निश्चित रूप कैसे ले सकता है? अपनी इसी विवशता के कारण नाटककार ने भी यथार्थ रूप में एक परिवार के रूप में एक वर्ग के मात्र विघटन की कहानी को ही अपना प्रतिपाद्य बनाया है और उसके बाद? व्यवहार-जगत की दिशा-हीनता नाटककार को भी किसी निश्चित दिशा की

नोट

ओर न बढ़ने देने का अभेद्य अवरोध-सा है।

इसी प्रकार वह आगे कहता है–''कुछ भूमिकाएँ बदल देने से'' जी हाँ, यदि व्यवहार-जगत में घटित हो रही भूमिकाओं को किसी भी प्रकार बदला जा सके तो जीवन के समान नाटक और उसके पात्रों को भी निश्चित रूप दिया जा सकता है, पर जब जीवन यों ही ओढ़ी हुई इच्छाओं को लेकर अपनी भूमिका निभा रहा है, तो एक युग-कलाकार कहाँ से वे आदर्श ले आए जो कि संभावित ही न हों और फिर वह कहता है कि–''कुछ पंक्तियाँ हटा देने से, कुछ पंक्तियाँ बढ़ा देने से'' भी नाटक एक निश्चित रूप ले सकता है। क्या पंक्तियाँ बढ़ाने-घटाने का प्रतीक अर्थ हम उन मान्यताओं और विचारों को घटाने-बढ़ाने का नहीं ले सकते जो कि जीवन के लिए आवश्यक (उन्हें अपना लिया जाए) और अनावश्यक (उन्हें त्याग दिया जाए) हैं, उसका जागरूक रूप से निराकरण कर जीवन और समाज को विघटित होकर टूटन के कगार तक पहुँचने से पहले ही थामने का सुप्रयास किया जाए? तभी तो काले सूटे वाले पुरुष के इसी संवाद के संदर्भ में ही नाटककार ने उपर्युक्त वाक्यों के बाद यह भी कहलवाया है कि–''या परिस्थितियों में थोड़ा हेर-फेर कर देने से।'' पर परिस्थितियों में हेर-फेर तभी सम्भव हो सकता है जब कि जीवन में से अनावश्यक पात्रों, भूमिकाओं, वैचारिक पंक्तियों को हटाया जाये। उसके बिना अनवरत विकास की इस प्रक्रिया को, अनिश्चितता की इस स्थिति को किसी भी अन्य ढंग या प्रयास से बदला नहीं जा सकता। इसे निश्चित नहीं बनाया जा सकता। इसी संदर्भ में नाट्ककार ने जागरूक लोगों को इस विषय समस्या पर विचार करने की प्रेरणा भी दी है–''हो सकता है आप पूरा देखने के बाद, या उससे पहले ही, इस सम्बन्ध में कुछ सुझाव दे सकें।'' नाटककार चाहता है कि लोग सोचें, सुझाव दें, पर उससे पहले जीवन की वास्तविक स्थिति को आँखें खोलकर देख लें। यदि वे जान-बूझकर आँखें मूँद रहे, इन स्थितियों को टालते रहे, तो अस्तित्व का जो बोध हुआ है, वह गलत दिशा की ओर अग्रसर होकर, अपने ही आधे-अधूरेपन की परछाइयों में पूर्णता का अनर्गल प्रयत्न करते हुए उसी प्रकार अविश्वास, कुण्ठा, हीनता और विघटन का शिकार हो जाएगा, जिस प्रकार महेन्द्रनाथ और सावित्री सपरिवार हो गये। पुरुष के रूप में आने वाले एक, दो, तीन, चार पुरुष और इसी क्रम-संख्या में नारी-पात्र खण्डशः खण्ड-खण्ड हो गये। खण्ड में ही पिण्ड है और पिण्ड में ही खण्ड है, इस प्रकार दोनों या सभी अन्योन्याश्रित है। अलग-अलग करके देखना, या एक-दूसरे के अधूरेपन को लेकर बिसूरना खण्ड का नाश करने वाला तो है ही, पिण्ड को भी तोड़क अतीत की कहानी बना देने वाला प्रमाणित हो सकता है, जिस का समस्यात्मक अंकन मात्र नाटककार मोहन राकेश ने किया है। व्यवहार जगत में अभी तक इस का कोई समाधान दिखाई न देने के कारण नाटककार भी यहाँ कोई समाधान प्रस्तुत नहीं कर सका। यह उसकी परिवेशगत असफलता नहीं विवशता है।

आज का जीवन, विशेषतः मध्यवर्ग से निम्न-मध्यवर्ग की ओर विघटित हो रहा जीवन; वास्तव में मानव-समाज के अस्तित्व के लिए ही एक चुनौती बनकर रह गया है।

महानगरियों में मध्य एवं निम्न मध्य वर्ग किस प्रकार घुट-पिट कर अनियमितताओं, अनिश्चितताओं और अयाचित स्थितियों का शिकार हो जाने के लिए एक प्रकार से विवश हैं उनकी यंत्रणा का आभास हमें नाटक की एक पात्र बिन्नी या बीना के इन शब्दों से भी मिल जाता है–

''मैं वहाँ थी, तो मुझे कई बार लगता था कि मैं एक घर में नहीं, चिड़ियाघर के एक पिंजरे में रहती हूँ जहाँ आप शायद सोच भी नहीं सकते कि क्या-क्या होता रहा है। डैडी का चीखते हुए मम्मी के कपड़े तार-तार कर देना ··· उनके मुँह पर पट्टी बाँध कर उन्हें बन्द कमरे में पीटना ··· खींचते हुए गुसलखाने में कमोड पर ले जाकर ··· मैं तो बयान भी नहीं कर सकती कि कितने-कितने भयानक दृश्य इस घर में देखे हैं मैंने! कोई भी बाहर का आदमी उन सब को देखता–जानता, तो यही कहता कि क्यों नहीं बहुत पहले ही ये लोग?''

तो इन स्थितियों में आज का जीवन जिया जा रहा है। क्या इस सब को एक प्रकार की विवशता मानकर ही चुप

नोट

होकर बैठ जाना चाहिए? चुप हैं, तभी तो एक छुटकारे की इच्छा से जवान लड़की (बिन्नी) को माँ के प्रेमी के साथ घर से भाग जाना पड़ता है, जवान लड़के को वितृष्ण होकर फिल्मी एक्ट्रेसों की तस्वीरें काटकर सहेजनी तो पड़ती ही हैं, किसी के पीछे टूटी-फूटी चप्पलें और भी अधिक चटखानी पड़ती हैं। यहाँ तक कि अपनी बहन के जन्म-दिन पर मिले उपहारों को भी आगे उपहार बना देने के लिए विवश हो जाना पड़ता है। जिन लोगों को अगली पीढ़ियों को इन सब प्रकार के विद्रूपों से बचाना है, वे स्वयं अपने अधूरेपन की चिन्ता न करके, दूसरों को अधूरा मान, पूर्ण पुरुष या पूर्ण नारी की तलाश में भटकते फिरते हैं। घर-परिवार में पारस्परिक असहयोग का भाव इस सीमा तक विकसित हो चुका है कि परिस्थितिवश या अपनी कुछ दुर्बलताओं के कारण असहाय बन गया। पुरुष मात्र रबर-स्टैम्प बनकर रह जाता है और कमाऊ नारी?–उन सब को सम्भालने के लिए विवश रहते हुए भी पूर्णता की खोज में नाहक घुली जा रही है। अपना दोष, अपना अधूरापन कोई भी स्वीकारना नहीं चाहता! सभी दूसरों को खराब करने का दोष अपने नहीं, किसी दूसरे के मत्थे पर मढ़ देना चाहते हैं। इस बारे में कहे गए महेन्द्रनाथ के करुण एवं खीझ से भरे शब्द निश्चय ही विशेष दर्शनीय हैं–

''मैं इस घर में एक रबड़-स्टैम्प भी नहीं, सिर्फ एक रबड़ का टुकड़ा हूँ–बार-बार घिस जाने वाला रबड़ का टुकड़ा। इसके बाद क्या कोई मुझे वजह बता सकता है, एक भी ऐसी वजह, कि क्यों मुझे रहना चाहिए इस घर में? ... नहीं बता सकते न? ... मेरे भरोसे तो सब बिगड़ता आया है और आगे बिगड़ ही बिगड़ सकता है ... इन सब की जिन्दगियाँ चौपट करने का जिम्मेदार मैं हूँ। फिर भी मैं इस घर से चिपका हूँ क्योंकि अन्दर से मैं आरामतलब हूँ, घर-घुसरा हूँ, मेरी हड्डियों में जंग लगा है।'' इस अहसास से अर्थात् हीनता-भावना (अहसासे-कमतरी) से भरकर महेन्द्रनाथ घर से भाग जाना चाहता है। उधर सावित्री सब का पालन करने का दम्भ पाल कर भी अपने अधूरेपन को स्वीकार न कर पूर्णता की खोज में घर से भाग जाना चाहती है। यह भागने का प्रयत्न–पलयानवादी मनोवृत्ति–वास्तव में वर्गीय नियति बन चुकी है। इसका मुख्य कारण है आर्थिक विषमता, जो पास है उससे भी कहीं आगे बढ़कर पाने की दुराशा और इस सब के मूल में काम, नहीं–कामना। हाँ काम (मग) भी उसी का अंगभूत है। अत: 'अर्थ' और 'काम' ने मिलकर एक ऐसे विघटन की प्रक्रिया प्रारम्भ कर दी है जिसकी चपेट में आकर बाहर से अच्छे-भले दिखाई देने वाले परिवार भी भीतर ही भीतर अनवरत टूट रहे हैं। पति-पत्नी के सम्बन्ध टूट रहे हैं। माँ-बेटी एक-दूसरे के हक पर डाका डाल रही हैं। बाप-बेटा, माँ-बेटी किसी में भी तो सहज सौहार्द का भाव नहीं रह गया है। यही सब अपेन उग्र एवं पूर्ण यथार्थ के रूप में 'आधे-अधूरे' नाटक में चित्रित एवं रूपायित हुआ है। यह रूपायन ही इसका चरम लक्ष्य भी है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि 'आधे-अधूरे' नाटक का मूल प्रतिपाध, उद्देश्य एवं समस्या आज के जीवन की, विशेषता मध्य और निम्न-मध्यवर्गीय जीवन के अधूरेपन को ही दर्शाना है। यहाँ वर्णित, परविार एक प्रतीक है, एक माध्यम है। उस परिवार की सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि वहाँ नकारात्मक रुख ही अधिक है। इसी का यह परिणाम है कि परिवार का छोटा-बड़ा प्रत्येक सदस्य अपने अधूरेपन को नकार कर दूसरों को ही अधूरा स्वीकारना चाहता है। नाटक की यह स्थिति हम अपने जीवन के चारों ओर कहीं भी देख सकते हैं। फिर सहनशीलता कहीं नहीं है, यदि कुछ सह्यता है तो मात्र अपने अधूरेपन की, अन्य किसी की भी नहीं। इस पर सभी को पूर्णता की तलाश है। इस बात की तनिक भी परवाह या चिन्ता नहीं कि यह तलाश उनके व्यक्तिगत जीवन को ही नहीं बल्कि समष्टिगत या परिवारिक जीवन को ही नरक का जलता हुआ कुण्ड बना देना चाहती है। यह समग्र और पूर्ण अभिव्यक्ति बड़े सशक्त ढंग से महानगरीय मध्य-निम्न-मध्यवर्गीय जीवन का एक समग्र बिम्ब हमारे सामने उभार कर रख देती है। स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्धों के विघटित होने का परिणाम परिवार को ही नहीं, समाज को भी भोगना पड़ रहा है। एक अलक्षित-सी असमर्थता का भाव भी सर्वत्र परिव्याप्त होता जा रहा है। कुल मिलाकर जीवन की विद्रूपता का सशक्त चित्रण नाटक में समग्र रूप में हो पाया है, पर उसका कोई समाधान या दिशा-निर्देश नहीं है। बस व्यंग्य है–जीवन का एक कटु-व्यंग्य।

नोट

क्या आप जानते हैं

आधे-अधूरे नाटक में मोहन राकेश ने मध्य एवं निम्न मध्य वर्गीय जीवन की विडंबनाओं को उभारा है पर इसका कोई समाधान प्रस्तुत नहीं किया है। यह नाटक जीवन की कटुता पर एक तीखा व्यंग्य है।

मोहन राकेश के प्रस्तुत नाटक 'आधे-अधूरे' के मूल प्रतिपाद्य के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों ने अपने विचार व्यक्त किये हैं। उन पर भी यहाँ संक्षेप में विचार-विश्लेषण कर लेना उचित रहेगा। प्रसिद्ध रंगकमी ओम् शिवपुरी राकेश के नाटक 'आधे-अधूरे' के प्रतिपाद्य की ओर इंगित करते हुए इसे 'जीवन सार्थक मुहावरा' कहकर, अपने इसी शीर्षक वाले लेख में लिखते हैं–''जहाँ तक अधिनिरूपण का सवाल है, 'आधे-अधूरे मेरे लिए कई दृष्टियों से अर्थवान हैं यह नाटक एक स्तर पर स्त्री-पुरुष के बीच के लगाव और तनाव का दस्तावेज है। महेन्द्रनाथ सावित्री से बहुत प्रेम करता है। सावित्री भी उसे चाहती रही होगी, लेकिन ब्याह के बाद महेन्द्रनाथ को बहुत निकट से जानने पर उसे उससे वितृष्णा होने लगी, क्यों जीवन से सावित्री की अपेक्षाएँ बहुमुखी और अनन्त हैं। अब महेन्द्रनाथ की बीमारी की हालत में सावित्री बहुत कटु हो गई है। एक ओर घर को चलाने का असह्य बोझ है, तो दूसरी ओर जिन्दगी में कुछ भी हासिल न कर पाने की तीखी कचोट। सावित्री बची-खुची जिन्दगी को ही एक पूरे, सम्पूर्ण पुरुष के साथ बिताने की आकांक्षा रखती है। पर यह आकांक्षा पूरी नहीं हो पाती, क्योंकि सम्पूर्णता की तलाश ही शायद वाजिब नहीं।'' स्पष्टत: यहाँ इसी ओर इंगित किया गया है कि मूलत: आर्थिक दबाव ही सब प्रकार के सम्बन्धों में कटुताएँ उत्पन्न करके पारिवारिक एवं सामाजिक विघटन का कारण बन रहे हैं। इसी की चरम परिणति 'आधे-अधूरे' नाटक में दिखाई गई है। ओम् शिवपुरी ने इस नाट्य-कृति को 'पारिवारिक विघटन की गाधा' भी स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध में वे लिखते हैं–'' `` इस अभिशप्त कुटुम्ब का हर-एक सदस्य एक-दूसरे के लिए जहरीले हो रहे हैं।'' यह जहरीलापन अंत में परिवारों को किधर से ले जाएगा, सांकेतिक रूप से यह एक मुख्य विचारणीय विषय है। इसी प्रकार श्री ओम्शिवपुरी ने इस नाट्य-कृति को 'मानवीय सन्तोष के अधूरेपन का रेखांकन भी कहा है। यह सत्य भी है, क्योंकि नाटक के सभी पात्र जीवन से बहुत-कुछ चाहते हैं, पर प्राप्ति के अभाव में अतृप्त एवं अधूरे ही रहते हैं। वास्तव में बहुत कुछ चाहना ही जीवन को तिक्त और अधूरा बनाकर रख देने वाला होता है। इस व्यापक एवं परीक्षित अनुभूति का यथार्थ रूपायन नाटक में हुआ है।

अधिक पाने की चाह, पर उसकी अपूर्ति स्वाभावत: हीनता की भावना को जन्म देती है। तभी तो अशोक माँ के प्रयत्नों से या इच्छाओं से बड़े-बड़े लोगों का अपने घर में आना पसन्द नहीं करता। उनका आना उसकी हीन-भावना पर जैसे सान चढ़ा देता है, फिर भी यह मूलत: अपने को जितना छोटा मानात है, बड़े एवं प्रभावशाली व्यक्तियों के घर में आने पर अपने-आप को उससे भी कहीं छोटा अनुभव करने लगता है। उसके अपने ही शब्दों में ''जितना छोटा, है, उससे कहीं और छोटा हो जाता है।'' वास्तव में, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह हीनता की भावना ही है जिसने अपने-अपने स्थान पर सभी में अधूरेपन की भावना अलक्षित-रूप से ही सही, जगा दी है और सभी उससे छुटकारा पाने के लिए विकल हैं। तभी तो कहीं सामंजस्य नहीं बैठ पाता और परिणाम? वही वितृष्णा, पारस्परिक विक्षुब्धा दोषारोपण एवं घुटन-विघटन के बाद चरम परिणाति के रूप में टूटन–बस!

स्व-मूल्यांकन

सही विकल्प चुनिए–

1. आधे-अधूरे नाटक का विषय है–
   (क) मध्यवर्गीय विडंबनाएँ (ख) दलित समस्या (ग) उच्चवर्ग का अहंभाव
2. नाटक में महेन्द्रनाथ को लिजलिजा और दुर्बल व्यक्ति किसने कहा है?
   (क) बिन्नी ने (ख) सावित्री ने (ग) जुनेजा ने

नोट

3. सावित्री का पुत्र अशोक उससे भिन्न रहता है–
   (क) उसके अनैतिक संबंधों के कारण (ख) पिता से उसके तनाव के कारण
   (ग) वैचारिक मतभेद के कारण
4. बिन्नी का अपनी ससुराल से बार-बार वापस लौटकर आने का कारण है–
   (क) पति का दुर्व्यवहार (ख) ससुराल में कलहपूर्ण वातावरण
   (ग) अपने घर के दूषित माहौल से अलग न हो पाना

इस सम्बन्ध में श्री महेश आनन्द के विचार भी दर्शनीय हैं। अपने एक समीक्षा लेख ''समकालीन जिन्दगी और रंग-मूल्यों की तलाश'' में आधे-अधूरे' के प्रतिपाद्य के बारे में उन्होंने लिखा है–''यह नाटक विघटित होते हुए मध्वर्गीय परिवार में व्याप्त कुण्ठाजन्य घुटन और उससे मुक्त होने की विवशता को पेश करता है। इसी के माध्यम से राकेश ने स्त्री-पुरुष-सम्बन्धों के असामंजस्य के प्रश्न को भी उभारा है ···।'' आगे वे फिर लिखते हैं कि, ''नाटककार स्पष्ट करता है कि जब व्यक्ति आवश्यकता से अधिक महत्वाकांक्षी हो जाता है। तो वह स्वयं के अधूरेपन को भरने के लिए इधर-उधर भागता है लेकिन कहीं भी पूरापन नहीं पाता। इसी अधूरेपन के कारण वह स्वयं के वीर अपने से सम्बन्धित व्यक्तियों के जीवन को दु:खदायी बना देता है।'' इस सब के परिणामों की ओर इंगित करते हुए वे आगे कहते हैं–'' ··· अप्रत्यक्ष रूप से नाटककार यह भी स्पष्ट करता है कि अधूरेपन को भरने के लिए विकृत मूल्यों का सहारा लेना किसी भी दृष्टि से श्रेयस्कर नहीं है। इन्हीं विकृत मूल्यों के कारण उत्पन्न असामंजस्य और कटुता सारे परिवार को बिखेर ही नहीं देती बल्कि एक ऐसे जहरीले वातावरण का निर्माण भी कर देती है ···'' जो सब कुछ के टूटकर बिखर जाने का कारण भी बन जाती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि 'आधे-अधूरे' नाटक का मूल प्रतिपाद्य मानवीय सम्बन्धों में आ रहे अनवरत परिवर्तन को चित्रित करना ही मुख्य है। और अनवरत परिवर्तनमान मूल्यों-मानों ने मानव की नियति को एक असंभावित और विद्रूप से व्यतिक्रम या विपर्यय का शिकार बनकर एक ऐसी विडम्बना दे दी है जिसे तोड़ना और चाहकर भी वह न तोड़ पाने के लिए विवश है। जिस परम्परा में मानव आदिकाल से जीता आया है, वह क्रमश: अपनी समग्र रूढ़ियों एवं अन्तर्विरोधो को लेकर भी जीवन-जीने का एक ढर्रा बन चुकी थी। उसमें स्यात् मानव अपने-आप को यदि पूरा नहीं तो एक सीमा एक अनुभव करता ही था। पर आज की यान्त्रिकता और बौद्धिकता ने उस सबको परिसमाप्त कर दिया है। अत: आज का मानव अपने ही अस्तित्व एवं उसके बोध से लड़ने के लिए विवश है। यह लड़ाई उसे ही टूटने और बिखेर कर रख देने की प्रक्रिया में चल रही है। इसका सीधा सम्बन्ध व्यक्ति के स्तर से लेकर परिवार और समाज के सभी स्तरों पर समान प से परिव्याप्त हो रहा है। सम्बन्धों में एक तिक्त, एक भयावह कटुता, एक निर्ममता परिव्यात होकर उसे केवल भीतर से ही नहीं, बल्कि बाहर से भी तोड़कर रख देना चाहती है। पहले व्यक्ति भीतर से टूट कर भी जीवन–समाज में रहने के लिए बाहर से नहीं टूटना चाहता था, पर महत्वकांक्षाओं से अपने ही प्रति वितृष्ण होकर आज वह बाहर से भी टूट जाना चाहता है और तोड़कर रख देना चाहता है। अपने सम्पर्क में आने वाले सभी कुछ को और सभी लोगों को भी। जीवन के इसी यथार्थ धरातल को ही मोहन राकेश ने 'आधे-अधूरे' को ही विवेचन का विषय बनाया है।

12.2 सारांश

स्वर्गीय मोहन राकेश एक अत्यन्त सजग कलाकार रहे हैं। साहित्य के प्रत्येक विधात्मक रूप में, जहाँ भी उन्होंने लेखनी उठाई, आधार और वर्ण्य-विषय बाह्य रूप से चाहे कोई भी, किसी भी युग का क्यों न रहा हो, पर आन्तरिक की भोगी जा रही परिस्थितियों, प्रवृत्तियों एवं चेतनाओं को ही उन्होंने अपना प्रतिपाद्य, संवेद्य या उद्देश्य, अथवा समस्यांकन कुछ भी कह लीजिए, अपना वर्ण्य-विषय बनाया है। इन मूल तथ्यों को ध्यान में रखकर ही 'आधे-अधूरे' नाटक` प्रतिपाद्य, उद्देश्य, संवेद्य आदि का वास्तविक आंकलन किया जा सकता है।

आज का जीवन अनेक प्रकार की अनिश्चित स्थितियों के कडुवे धुएँ के घूँट भरे हुए व्यतीत हो रहा है। 'आधे-अधूरे'

नोट

नाटक में चूँकि विघटन की प्रक्रिया का ही मुख्यत: रूपायन हुआ है, उसकी चरम परिणति का नहीं, वैसा हो पाना सम्भव भी नहीं था, क्योंकि अभी तो वर्णीय क्रिया-प्रक्रियाएँ विघटन की दिशा में गतिशील हैं, इसी कारण स्वयं नाटककार ने भी उसे अनिश्चित स्थिति का नाटक या 'अनिश्चित नाटक' कहकर अभिहित किया है। नाटक को आदि से अन्त तक पढ़ जाने या रंगमंच पर अभिनीत होते देख जाने के बाद भी पाठक या दर्शक के लिए कोई निश्चित धारणा बना पाना सम्भव नहीं हो पाता।

'आधे-अधूरे' नाटक का मूल प्रतिपाध, उद्देश्य एवं समस्या आज के जीवन की, विशेषता मध्य और निम्न-मध्यवर्गीय जीवन के अधूरेपन को ही दर्शाना है। यहाँ वर्णित, परविार एक प्रतीक है, एक माध्यम है। उस परिवार की सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि वहाँ नकारात्मक रुख ही अधिक है। इसी का यह परिणाम है कि परिवार का छोटा-बड़ा प्रत्येक सदस्य अपने अधूरेपन को नकार कर दूसरों को ही अधूरा स्वीकारना चाहता है। नाटक की यह स्थिति हम अपने जीवन के चारों ओर कहीं भी देख सकते हैं। फिर सहनशीलता कहीं नहीं है, यदि कुछ सह्यता है तो मात्र अपने अधूरेपन की, अन्य किसी की भी नहीं। इस पर सभी को पूर्णता की तलाश है। इस बात की तनिक भी परवाह या चिन्ता नहीं कि यह तलाश उनके व्यक्तिगत जीवन को ही नहीं बल्कि समष्टिगत या परिवारिक जीवन को ही नरक का जलता हुआ कुण्ड बना देना चाहती है। यह समग्र और पूर्ण अभिव्यक्ति बड़े सशक्त ढंग से महानगरीय मध्य-निम्न-मध्यवर्गीय जीवन का एक समग्र बिम्ब हमारे सामने उभार कर रख देती है। स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्धों के विघटित होने का परिणाम परिवार को ही नहीं, समाज को भी भोगना पड़ रहा है। एक अलक्षित-सी असमर्थता का भाव भी सर्वत्र परिव्याप्त होता जा रहा है। कुल मिलाकर जीवन की विद्रूपता का सशक्त चित्रण नाटक में समग्र रूप में हो पाया है, पर उसका कोई समाधान या दिशा-निर्देश नहीं है। बस व्यंग्य है—जीवन का एक कटु-व्यंग्य।

12.3 शब्दकोश

1. **वितृष्णा** : तृष्णा रहित
2. **समष्टिगत** : समवेत रूप में लाया हुआ, सामूहिक रूप में

12.4 अभ्यास-प्रश्न

1. आधे-अधूरे नाटक का सविस्तार तात्त्विक विवेचन प्रस्तुत कीजिए।

उत्तर: स्व-मूल्यांकन

1. (क) 2. (ख) 3. (क) 4. (ग)

12.5 संदर्भ पुस्तकें

1. *मोहन राकेश और उनके नाटक*– गिरीश रस्तोगी, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
2. *मोहन राकेश*– जयदेव तनेजा– राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली।
3. *आधुनिक भारतीय नाट्य विमर्श–जयदेव तनेजा*– राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली।

नोट

इकाई 13: अतीत के चलचित्र: प्रमुख रेखाचित्रों का सारांश एवं सप्रसंग व्याख्या

अनुक्रमणिका

उद्देश्य

प्रस्तावना

13.1 प्रमुख रेखाचित्रों का सारांश

13.1.1 भाभी

13.1.2 बिट्टो

13.1.3 अभागी स्त्री

13.2 प्रमुख रेखाचित्रों की सप्रसंग व्याख्या

13.2.1 भाभी

13.2.2 बिट्टो

13.2.3 अभागी स्त्री

13.3 शब्दकोश

13.4 अभ्यास-प्रश्न

13.5 संदर्भ पुस्तकें

उद्देश्य

विद्यार्थी इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् सक्षम होंगे–

- महादेवी के कुछ महत्त्वपूर्ण रेखाचित्रों एवं उनकी विशिष्टताओं से परिचित होंगे।

प्रस्तावना

महादेवी के रचना संसार का प्रधान स्वर करुणा और वेदना है या फिर धारदार व्यंग्य। उनके रेखाचित्रों में एक ओर सामाजिक यथार्थ का अंकन है तो दूसरी ओर सामाजिक दर्शन एवं सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति है। समाज द्वारा उपेक्षितों अन्याय पीड़ितों तथा तिरस्कृतों में महादेवी की करुणा और सामाजिक चेतना के केन्द्र में भारतीय नारी है। उनके रेखाचित्रों में संसार के कण्टकाकीर्ण पथ को प्रशस्त करने और सामाजिक जीवन को परिष्कृत करने की सशक्त प्रेरणा मिलती है। कुछ प्रमुख रेखाचित्रों का सारांश यहाँ प्रस्तुत है।

13.1 प्रमुख रेखाचित्रों का सारांश

13.1.1 भाभी

इस संस्करण का संबंध भी वर्मा परिवार के इंदौर प्रवास से है। उन दिनों महादेवी जी आठ वर्ष की हो चुकी थीं और इंदौर के मिशन स्कूल में पढ़ती थीं। अन्य बालिकाओं के समान वह भी ईश-प्रार्थना एवं पाठ्यक्रम की एकरसता से ऊब कर स्कूल न जाने का बहाना खोजती रहती थीं। उनकी किताबों का बोझ संभाले उन्हें स्कूल तक पहुंचाने

नोट

के लिए एक वृद्ध को रखा गया था जिसे सब कल्लू की मां कहकर पुकारते थे। उसे सख्त हिदायत थी कि वह महादेवी को सीधे स्कूल और फिर वहाँ से सीधे घर ले आये। अत: मार्ग का खेल, तोते आदि ही मनोरंजन का एकमात्र साधन थे और महादेवी जीवन की उस एकरसता से ऊबने लगी थीं।

जिस भव्य मकान में महादेवी रहती थीं उससे कुछ ही हटकर एक दुकान थी। उसके स्वामी थे एक मारवाड़ी सेठ जो पीतल के बर्तनों का व्यापार करते थे। उसी दुकान के पिछवाड़े उनके घर में उनकी एकाकी विधवा पुत्र-वधू रहती थी। ससुर के लाख मना करने पर भी वह बाल-विधवा घर का काम-काज निबटाकर द्वार पर पड़े टाअ के पर्दे के पीछे आकर खड़ी हो जाया करती थी और पर्दे के छेदों में से बाहर का दृश्य देखकर अपनी पहाड़ जैसी लंबी वीरान जिंदगी के भार को कम करने का प्रयास करती थी। महादेवी ने स्कूल जाते और घर लौटते हुए उसे छेदों के बीच से अपनी ओर देखते हुए देखा था और उनका मन उस युवती के विषय में कुछ जानने को उत्सुक था। परंतु कल्लू की माँ का अनुशासन बड़ा कठोर था अत: चाहते हुए भी वह उस घर में न जा सकीं।

हां, कल्लू की माँ ने पर्दे के पीछे से झांकने वाली उस बाल-विधवा के बारे में बहुत-सी बातें बतायीं–वह अनाथ है, माँ-बाप कोई नहीं है। वह महा अभागिन है क्योंकि विवाह के एक वर्ष के अंदर ही उसका पति स्वर्ग सिधार गया। बूढ़े सेठ ने सबके मना करने पर भी अपने इकलौते पुत्र का विवाह कर दिया था और वह साल-भर में ही सबको रोता-विलखता छोड़ सदा के लिए चला गया। अब ससुराल में बूढ़े सेठ थे और उनकी एक बेटी जो विवाह के उपरांत अपनी ससुराल में रहती थी और कभी-कभी तीज-त्यौहार पर अपने पिता और विधवा भाभी के पास आकर कुछ दिन रह जाती थी। वृद्ध ससुर बड़े शकी मिजाज के थे और अपनी पुत्र-वधू पर तरह-तरह के प्रतिबंध लगाते रहते थे। नन्द उनसे भी एक कदम आगे थी और जब-जब वहां रहती अपनी विधवा भाभी को तरह-तरह की यंत्रणाएं देती थी। उसके जाने के बाद बाल विधवा के दुर्बल गोरे हाथों पर जलने के लंबे काले निशाल और पैरों पर नीले दाग उन यातनाओं की कहानी कहते थे जो उस निष्ठुर, शंकालु नन्द द्वारा उस निरीह, भोली-भाली पर चंचल युवती को सहनी पड़ती थी।

विधवा होने के कारण उसे प्रात: से रात्रि तक घर का सारा काम करना पड़ता था–खंडहर जैसे घर और लंबे-चौड़े आंगन को बुहारना, स्नान तथा कपड़े धोने के लिए कुएं से पानी खींचना, कपड़े धोना, खाना पकाना, बर्तन मांजना न जाने घर के ऐसे कितने काम उस अकेली जान को करने पड़ते थे। विधवा का संयमित साधनामय जीवन बिताने के कारण न वह पेट-भर भोजन कर सकती थी और न रंग-बिरंगे कपड़े पहन सकती थी। मेले-तमाशे, आस-पड़ौस में जाकर मनोरंजन करना तो दूर रहा वह अपने घर की देहरी तक नहीं लांघ सकती थी। अत: घर-गृहस्थी का सारा काम करने के बाद भी जब समय बचा रहता, और वह ऊबने लगती तो टाट के पर्दे के पीछे खड़ी हो उसके छेदों में से बाहर झांकने लगती। निष्ठुर, क्रूर समाज को उसकी यह भाव-भंगी भी सह्य न होती और उसे चंचल, मनचली एवं कुलटा कहा जाता। अत: वह बेचारी घर में ससुर और नन्द के अत्याचार सहती और बाहरवालों की जली-कटी सुनती। पर विवश थी और चुपचाप सब सहने के लिए बाध्य थी। उसके चरित्र की विशेषता यह थी कि काम के बोझ से दबी होने, ससुर-नन्द के अत्याचार सहते हुए और शरीर के क्लांत होने पर भी उसके ओठों पर मंद-मंद मुस्कान क्रीड़ा करती रहती थी।

जीवन का रथ यूँ ही दौड़ता रहता यदि बरसात के एक दिन ठीक उस विधवा के सामने एक घटना न घटी होती। मूसलाधार वर्षा के कारण कल्लू की माँ पानी रुकने की प्रतीक्षा करती रही और उधर पानी रुकते ही महादेवी स्कूल से घर की ओर अकेली ही चल दीं। गीली सड़क पर ठीक उस परदे पड़े घर के सामने उनका पैर फिसला और वह चोट से नहीं लज्जा के कारण को खींच कर भीतर किया, अपने आंचल से उनके कपड़ों और शरीर पर लगी कीचड़ को पोंछा और इस प्रकार अपने ममतामय हृदय का परिचय दिया।

उसी दिन से वह घर और उसमें रहने वाली साधनारत विधवा, महादेवी के लिए स्नेह और ममता का स्रोत बन गये और दोनों में दिन-प्रति-दिन घनिष्टता बढ़ती गयी। 18 वर्ष की विधवा तथा आठ वर्ष की बालिका अन्तरंग सखियां बन गयीं। महादेवी का क्रीड़ा-संसार-खिलौने, गुड़िया-गुड्डे उनके गहने-कपड़े सब उनके घर से हटकर उस युवती के घर में पहुँच गये।

नोट

क्या आप जानते हैं महादेवी के रेखाचित्रों के पात्र काल्पनिक नहीं बल्कि उनके आस-पड़ोस के वे पात्र हैं जिनके दर्द को उन्होंने बड़े करीब से देखा है, जाना है, महसूस किया है।

उन्नीस वर्ष की गोरी, सुंदर यौवन संपन्न युवती को विधवा के वस्त्र-सफेद ओढ़नी और काला लहंगा-पहनने पड़ते। पर उसके मन में रंग-बिरंगे, गोटेदार रेशमी वस्त्रों, कसीदे कढ़े वस्त्रों के प्रति गहरा आकर्षण और मोह था। उसकी इसी रुचि को पहचान कर सहृदय, निश्छल और संवेदनशील महादेवी ने अपना खेलना छोड़ अवकाश के समय में उस बाल विधवा के लिए अपनी नन्हीं अंगुलियों से एक ओढ़नी काढ़ी। तीज के दिन चुपचाप ओढ़नी छिपाकर अपनी भाभी को आश्चर्य में डालने के लिए उसके वह घर गयीं। उस समय वह विधवा दालान में दरवाजे की ओर पीठ किये बैठी कुछ बीन रही थी। महादेवी ने दबे पांव जाकर वह ओढ़नी खोलकर उसके सिर पर डाल दी। वह हड़बड़ा कर उठी, क्षण-भर को अपना वैधव्य भूल आत्मविस्मृत हो उठी। उसने सुहागिन की तरह उस ओढ़नी को पहना और खिलखिला कर हंस पड़ी। तभी बज्रपात हुआ। ससुर तथा ननद ने सारा दृश्य देख लिया था। बिना पूरा बात समझे वे दोनों उस असहाय, भोली, गऊ-सी सीधी, दुर्बल काय युवती पर दानवों की तरह टूट पड़े। उन्हें निरपराध युवती पर कठोर प्रहार करते देख महादेवी तो रोने लगीं और वह विधवा मार सहते-सहते अन्ततः बेसुध बेहोश होकर एक कोने में लुढ़क गयी। तब जाकर उन पशुओं को संतोष हुआ।

इस क्रूर एवं दानवी कृत्य को देखकर महादेवी को इतना अधिक मानसिक आघात पहुँचा कि वह कई दिनों तक ज्वर में पड़ी रहीं। रोग-शय्या से उठने के बाद जब उन्होंने उस अभागिन युवती-विधवा को पुनः देखा तब वह पूरी तरह बदल चुकी थी। उसकी आंखों में विषाद का गाढ़ा रंग चढ़ गया था, होंठों की मुस्कान गायब हो गयी थी; वह युवत से वृद्धा बन गयी थी, तभी वर्मा परिवार को इंदौर छोड़ना पड़ा।

अनेक वर्ष बाद महादेवीजी ने उस निरीह असहाय अपनी 'भाभी' के विषय में खोज-खबर की तो पता चला उसके श्वसुर परलोक सिधार गये हैं, छोटी-सी दुकान के स्थान पर एक विशाल अट्टालिका बन गयी है और उस अनाथ विधवा का कुछ पता नहीं है कि वह इस विकराल भवसागर की किस उत्तल तरंग के आघात से कहां किस दशा में पड़ी है।

13.1.2 बिट्टो

एक बार महादेवी जी को ज्वर रहने लगा। चिकित्सकों ने परामर्श दिया कि वह प्रयाग की भीषण गर्मी से बचने के लिए किसी पर्वतीय स्थान पर जाकर कुछ दिन रहे। डॉक्टरों का परामर्श मान कर वह नैनीताल चली गयी। परंतु पर्वतों से नैसर्गिक प्रेम करने वाली महादेवी को नैनीताल का कोलाहल और कृत्रिम जीवन रास न आया, अतः उन्होंने नैनीताल से तीन मील दूर एक रमणीक स्थल ताकुला को अपना निवास बनाया। फिर भी डॉक्टर से परामर्श होने के लिए सप्ताह में एक दिन तो नैनीताल जाना ही पड़ता था।

ऐसे ही एक दिन जब उनका नौकर कुलमणि मल्लीताल के बाजार से कुछ सामान खरीदने गया था और झील के किनारे अपेक्षाकृत एकांत किनारे बैठी महोदवी जी उसके लौटने की प्रतीक्षा कर ही थीं, एक पूर्व परिचिता महिला का स्वर सुनाई दिया, "अरे यह तो महादेवी हैं।" स्वर सुनकर गर्दन मोड़ कर देखा तो पहचान गयीं और फिर अपनी बाल्यसखी के साथ उसके बंगले पर भी गयीं जहाँ वह अपने दो बच्चों के साथ ठहरी हुई थी।

दोनों कुछ समय तक अपनी-अपनी बातें सुनाती रहीं, अतीत के पन्ने उलटती रहीं। इस वार्तालाप में उस महिला ने बताया कि उन दोनों के परिचित एक 54 वर्ष के धनाढ्य सज्जन ने दूसरी पत्नी की मृत्यु के बाद दो पुत्रों के रहते हुए भी उस अवस्था में तीसरा विवाह किया है। गनीमत यह है कि उनकी तीसरी पत्नी बाल विधवा है और उसकी उम्र भी 14 वर्ष की न होकर 34 वर्ष की है अन्यथा यहाँ तो यह भी होता है कि कब्र में पैर लटकाये बूढ़ा भी खोडषी से विवाह कर लेता है। उन महिला ने उस नवविवाहित से मिलाने का भी वायदा किया और उसे निबाहा भी।

नोट

वृद्ध महाशय अपनी पत्नी के साथ मल्लीताल की दुकान के ऊपर को कमरे लेकर रह रहे थे। जब ये दोनों वहाँ पहुँची तो वृद्ध महाशय कुछ सामान खरीदने बाजार गये हुए थे अत: द्वार खटखटाने पर उनकी पत्नी ने दरवाजा खोला। यह पैंतीस वर्ष की अपनी वया की अपेक्षा अधिक बड़ी, दुर्बल, निस्तेज और सामान्य व्यक्तित्व वाली स्त्री थी। वह साधारण वेशभूषा और मामूली गहने पहने हुए थी। टसर की मटमैली साड़ी में लिपटी उस रोगिणी जैसे स्त्री में न उमंग थी और न उल्लास। अत: महादेवी के मस्तिष्क में यह प्रश्न चक्कर काटता रहा कि उसने ऐसा स्वास्थ्य और उदास मन होते हुए भी गृहस्थी बसाने का निर्णय क्यों लिया?

कुछ देर बैठने के बाद जब वे उतर रही थीं तो जीने की सीढ़ियों पर परिचित वृद्ध मिल गये और उन्होंने बार-बार पुन: आने और उनकी पत्नी से परिचय बढ़ाने का आग्रह किया कि महादेवी जी उन महिला से कई बार मिलीं और उन्होंने उस अभागिन के विषय में बहुत कुछ जान लिया जो इस प्रकार है:

बिट्टो तीन भाइयों में अकेली बहिन थी अत: घर का लाड़-प्यार उस पर बरसता रहता था। उस समय की प्रथा के अनुरूप बिट्टो का विवाह तभी हो गया जब वह अबोध बच्ची थी और विवाह का अर्थ न समझती थी। विवाह के एक वर्ष के भीतर ही उसका पति चल बसा और वह विधवा हो गयी। अभी भी वह इतनी समझदार नहीं थी कि विधवा का अर्थ और उसके अंधकारपूर्ण भविष्य के संबंध में कुछ अनुमान लगाकर दुखी होती। ससुराल के लोगों ने उसे अशुभ समझ कर घर में रखना अस्वीकार कर दिया अत: उसे पिता के घर में ही रहना पड़ा। माता-पिता ने अपनी सहज-स्वाभाविक ममता के साथ उसे पाला-पोसा और बड़ा किया। उनके जीवित रहने तक उसे किसी प्रकार का अभाव न महसूस हुआ। परंतु क्रूर विधाता से उसका यह सुख भी न देखा गया और पहले पिता और कुछ दिन बाद ही माता को भी उसने छीन लिया।

माता-पिता की आंखें मुंदते ही बिट्टो पर भीषण गाज गिरी। उसके जीवन का दु:स्वप्न आरंभ हो गया। भाइयों तथा भाभियों ने तरह-तरह के अत्याचार करने प्रारंभ कर दिये। उसे अपने पति को खा जाने वाली कहा गया, मांगलिक अवसरों पर उसकी उपस्थिति पर रोक लगा दी गयी और पड़ोसी जब-तब उसके चरित्र पर भी व्यंग्य-वाणों की वर्षा कर उसे मर्माहत करने गले। घर के नौकर-चाकर कम कर दिये गये और सारी गृहस्थी का भार उसके दुर्बल कंधों पर डाल दिया गया। मामूली सी भूल पर न केवल उसको अपशब्द सुनने पड़ते अपितु मार भी पड़ने लगी। उस विषाक्त वातावरण में दम घुटने के कारण वह शरीर और मन दोनों से शिथिल होती गयी। उसे ज्वर रहने लगा और कभी-कभी बेहोशी के दौरे भी पड़ने लगे। ज्वर को यक्ष्मा का पूर्व लक्षण माना गया और बेहोश होने को मिर्गी का संक्रामक रोग बताया गया अत: घर वालों को छूत की बीमारियों से बचने की चिंता सताने गली। भाइयों ने उसकी ससुराल को पत्र लिखा कि वे लोग आकर उसे ले जायें क्यों उन्होंने बहुत दिनों तक उनका भार संभाला है पर ससुरल वालों ने न केवल उनकी बात मानी अपितु बिट्टो पर झूठे कलंक भी लगाये।

बिट्टो से पिंड छुड़ाने का कोई अन्य उपाय न देखकर बड़ी भाभी को एक तरकीब सूझी। उसने समाज सुधारक की भूमिका निबाहते हुए बिट्टो के पुनर्विवाह का प्रस्ताव रखा, बिट्टो की अपनी इच्छा क्या है, इसकी चिंता किसी को न थी क्योंकि वह तो परिवार पर बोझ थी और उस बोझ को हटाना था। अत: वर की तलाश की गयी और संयोगवश वह 54 वर्ष के विधुर मिल गये। जब बिट्टो को समाचार दिया गया तो उसने करुण-क्रंदन के साथ विवाह का विरोध किया पर वहाँ सुनने वाला कौन था? अंत में एक शुभ मुहूर्त में विवाह संपन्न हो गया और बिट्टो अपने मां-बाप की देहली की भीगी आँखों से सदा के लिए प्रणाम कर अपने पति के घर आ गयी।

नैनीताल प्रवास का एक दिन तो अंत होने ही वाला था अत: एक दिन उस अभागिन बिट्टो को बस में बिठाकर बिदा दी गयी और केवल पत्र-व्यवहार द्वारा उसके संबंध में थोड़ी-बहुत जानकारी मिलती रही।

इस घटना के चार वर्ष बाद नैनीताल में बिट्टो से परिचय कराने वाली महिला ने लिखा कि बिट्टो के पति ज्वर ग्रस्त होकर अपनी अंतिम यात्रा पर निकल पड़े थे और उनके दोनों पुत्रों ने आकर सारी संपत्ति पर अधिकार कर लिया था। भाग्य की मारी बिट्टो का आगे क्या हुआ यह अज्ञात ही रहा।

13.1.3 अभागी स्त्री

नोट

निरपराध, सती का जीवन बिताने की इच्छुक, माता, पत्नी, बहन कहलाने की कामना करने वाली स्वाभिमानिनी वेश्या पुत्रियों के साथ समाज द्वारा किये गये अन्याय और दुर्व्यवहार को उजागर करने तथा ऐसी युवतियों को समाज में उचित स्थान, मान सम्मान, प्रतिष्ठा एवं सम्मानपूर्वक रहने करने का अधिकार मिलना ही चाहिए, यही बताने के लिए इस रेखाचित्र की रचना की है। इसकी नायिका एक ऐसी अभागिनी वेश्या पुत्री है जिसने अपनी मां का आदेश न मानकर वेश्यावृत्ति अपनाना अस्वीकार कर दिया और मां से सदा के लिए नाता तोड़ लिया। एक धनाढ्य परिवार के उदार हृदय एवं प्रगतिशील विचारों वाले युवक से विवाह कर सती– साध्वी पत्नी का जीवन बिताने के लिए समाज से विद्रोह किया और उस विद्रोह के कारण अनेक कष्ट सहे और जीवन-भर अपनी लड़ाई आप ही लड़ती रही।

वर्षा ऋतु थी, संध्या का समय था, आकाश में घने बादल घिर आये थे, रिमझिम बूंदाबांदी भी हो रही थी। सिर-दर्द से परेशान महादेवी अपने कक्ष में उदास और खिन्न मन लिये पड़ी थीं। उनकी उदासी का कारण यह भी था कि छात्रावास की एक छात्रा टाइफाइड से पीड़ित थी और उसके मीलों दूर रहने वाले माता-पिता धन के अभाव में उसे देखने तक नहीं आ सकते थे।

उसी समय शयन-कक्ष के बाहर बरामदे में उन्हें किसी के चलने की आहट सुनाई दी। दो-चार क्षण प्रतीक्षा की कि आगंतुक उनके कक्ष में आयेगा, पर जब वह नहीं आया तो उन्होंने पुकारा-कौन है? उत्तर में एक सुडौल गोरे हाथ ने परदा हटाते हुए संकोच और भयभीत स्वर में अनुमति मांगी-क्या मैं भीतर आ सकती हूँ? 'आइये' सुनकर एक युवती ठिठकते कदमों से अंदर आयी। उसे देखकर लगा जैसे वह हाड़-मांस की स्त्री न होकर किसी रंगीन चित्र की सुंदरी है।

संकेत पाकर उसने वर्षा-जल से भीगी अपनी चादर उतारी और सामनेवाली कुर्सी पर बैठ गयी। उसकी मुखाकृति से लगता था कि अपने से पूर्व वह जी-भर कर बहुत देर तक रो चुकी है। क्योंकि उसकी पलकों के किनारे कुछ सूजे हुए जान पड़ते थे। वह कुछ देर तक चुपचाप बैठी रही, बोलने में मानो संकोच हो रहा था या उसकी समझ में न आ रहा था कि अपनी व्यथा-कथा कैसे, कहां से आरंभ करे। फिर उसकी झुकी आंखों से एक आँसू चमककर उसकी गोद में आ गिरा और उसके मुख से केवल इतना निकला, "मुझे कोई काम दे दीजिए।" उसने अपनी योग्यता भी बताई-उसे हिंदी आती है और वह गाना भी जानती है। उसके विषय में और अधिक जानकारी पाने के लिए जब उससे प्रश्न किये गये तो पता चला कि वह एक वेश्या-पुत्री है, उसने मां का आदेश नहीं माना, वेश्यावृत्ति नहीं अपनायी और एक उदार हृदय, प्रगतिशील विचारों वाले धनाढ्य परिवार के युवक से विवाह कर लिया। ससुरालवालों ने इसे अपनी कीर्ति-प्रतिष्ठा के विरुद्ध जघन्य अपराध मानकर लड़के को घर से निकाल दिया। पिछले डेढ़ वर्ष से उसका पति बीमार है। उसके उपचार तथा दवा-दारु में उनके पास जो थोड़ा-बहुत धन था, वह समाप्त हो चुका है। गहनों में केवल एक छल्ला बचा है जो उसके पति ने उपहार के रूप में लिया था और उसे वह प्राण रहते नहीं बेचेगी। वह स्वयं तो भूखी रहकर मरने को भी तैयार है परंतु उसकी चिंता का मुख्य विषय है पति, उसका रोग, उपचार और पथ्य के लिए साधन जुटाना। इसीलिए वह कुछ काम-धाम करना चाहती है। उसने यह भी बताया कि उसके पति के माता-पिता युवक बेटे को तो ले जाने और उसके रोग का उपचार करने का प्रबंध करने को तो तैयार हैं परंतु उस कुलटा, वेश्या-पुत्री को किसी भी शर्त पर साथ ले जाना नहीं चाहते और उधर उसके पति इस बात पर अड़ा है कि वह जायेगा तो अपनी पत्नी के साथ वरना वहीं तिल-तिल कर प्राण दे देगा।

उस अभागिन वेश्या-पुत्री की दारुण कथा सुनने के बाद महादेवी को हिंदू समाज, उसके व्यवस्थापकों, धर्म व्यवस्थाओं मान्यताओं पर रोष भी आया, वह क्षुब्ध भी हुईं पर उनके सामने वह स्वयं भी लाचार थीं। समाज के भय से ही वह उस अनाथ, विपदा की मारी, आर्थिक दृष्टि से विपन्न युवती को महिला विद्यापीठ या छात्रावास में कोई काम नहीं दे सकीं क्योंकि यदि छात्राओं के अभिभावकों को पता चल गया कि छात्रावास में एक वेश्यापुत्री रहती है (भले ही सेविका के रूप में) तो वे रुष्ट हो जाएंगे, छात्रावास और विद्यापीठ की बदनामी होगी और

नोट

स्त्री-शिक्षा के लिए जो साधना वह कर रही हैं उसमें व्यवधान पड़ेगा। कुल मिलाकर उसे काम देना घाटे का सौदा होगा। अत: वह इच्छा होते हुए भी कोई काम न दे पायीं।

नोट्स

रेखाचित्र अभागी स्त्री के अंतिम वाक्य– "सच्चा अभिजात्य क्या है? क्या संपन्न वर्ग में जीने वाली स्त्रियाँ सच्चे अर्थों में अभिजात्य हैं? क्या समाज द्वारा दिए गए सच्चरित्रता, सतीत्व एवं कुलीनता के प्रमाण-पत्र सच्चे हैं, प्रामाणिक हैं।" ये प्रश्न मूलत: महादेवी के प्रश्न हैं उनके मन के उद्‌गार हैं।

युवती इतनी स्वाभिमानिनी थी कि दान लेना उसे किसी भी हालात में स्वीकार्य नहीं था। अत: उन्होंने एक उपाय सोच निकाला-कभी नकल करने के लिए कुछ पन्ने दे दिये तो कभी बेकार के कुछ पत्र लिखवाने लगीं ताकि उस काम के बदले में कुछ आर्थिक सहायता दी जा सके। पर युवती इतनी चतुर थी कि उसे समझने में देर नहीं लगी कि वह केवल अभिनय है, महादेवी केवल उसके अहं को संतुष्ट करने के लिए यह छद्‌म लीला कर रही हैं, नाटक रच रही हैं। वास्तव में उनके पास उसके लिए कोई काम नहीं है। अत: उसने उनके यहाँ आना बंद कर दिया।

बहुत दिनों तक लेखिका को उसका कोई समाचार नहीं मिला। केवल एक बार आकर कुछ सहानुभूति और सहायता अवश्य ले गयी थी। कुछ महीने बाद एक परिचिता ने बताया कि वह अभागिन लाख प्रयत्न करने पर भी अपने पति को नहीं बचा पायी। अंतिम क्षणों में उसके श्वसुर पुत्र का मुख देखने अवश्य पधारे थे पर पुत्र की मृत्यु पर उसी कुलकलंकिनी को अपने लाडले की मृत्यु का कारण मान उन्होंने उसे खूब खरी-खोटी सुनाई थी और उसके लाख चिरौरी करने पर उसे सेविका मानकर घर के किसी कोने में शरण देने की बात भी अस्वीकार कर दी थी। "जो लेकर अपने घर से निकली थी, वही लेकर भलमनसाहत से अपनी मां के पास लौट जाओ, नहीं तो तुम्हारे साथ हमें बुरी तरह पेश आना पड़ेगा। हमारे कुल में दाग लगाकर भी क्या तुम्हें संतोष नहीं हुआ।"

बाद में लेखिका ने उस तथाकथित वेश्यापुत्री के विषय में बहुत खोज-बीन की तो पता चला कि या तो वह विधवा-आश्रम में चली गयी है या फिर अपनी मां के पास लौट गयी है। सच्चाई कई वर्षों बाद पता चली जब महादेवी को उस अभागिन का पत्र मिला। उसमें लिखा था-वह अच्छी है, मुझे भूली नहीं है, पर और कष्ट नहीं देना चाहती। उसमें यह भी पूछा गया था कि उसकी उस योजना का क्या हुआ जिसके अंतर्गत साधनहीन स्त्रियों को जीवकोपार्जन के साधन सिखाकर उन्हें स्वावलंबी बनाने के लिए आश्रम खोलने का विचार था। रेखाचित्र का अंत महादेवी के मन में उठे प्रश्नों के साथ होता है, "सच्चा अभिजात्य क्या है? क्या संपन्न वर्ग में जीनेवाली स्त्रियां सच्चे अर्थों में अभिजात्य हैं? क्या समाज द्वारा दिये गये सच्चरित्रता, सतीत्व एवं कुलीनता के प्रमाण-पत्र सच्चे हैं, प्रामाणिक हैं?"

13.2 प्रमुख रेखाचित्रों की सप्रसंग व्याख्या

13.2.1 भाभी

(1) उस समाधि-जैसे घर में लोहे के प्राचीर से घिरे फूल के समान वह किशोरी बालिका बिना किसी संगी-साथी, बिना किसी प्रकार के आमोद-प्रमोद के, मानों निरंतर वृद्धा होने की साधना में लीन थी।

शब्दार्थ– समाधि=किसी के शव पर बनाया जानेवाला भवन या स्मारक। **प्राचीर**=चारदीवारी, परकोटा।

प्रसंग–ये पंक्तियाँ महादेवी वर्मा के संस्मरण 'भाभी' में से उद्धृत की गयी हैं। बाल-विधवा उन्नीस वर्ष की मारवाड़ी युवती की वैधव्यजन्य यातनाओं, उस पर लगाये गये प्रतिबंधों की चर्चा करते हुए लेखिका उस खंडहर जैसे विशाल भवन का वर्णन करती हैं जिसमें उस निरीह, असहाय, एकाकी किशोरी को रहना पड़ता था।

नोट

व्याख्या– वह मकान विशाल अवश्य था पर खंडहर हो रहा था। उस घर की दीवारें किसी किले की दीवारें जैसी लगती थीं जिन्हें भेद कर भीतर जाना उतना ही कठिन था जितना लोहे की बनी अभेद्य दीवारों को तोड़कर किले में प्रवेश करना। वह घर न लगकर समाधि लगता था क्योंकि उसमें कोई चहल-पहल, गति-विधि, बातचीत की ध्वनियाँ न दिखाई देती थीं न सुनाई पड़ती थीं। लगता था उसमें रहने वाले प्राणी निर्जीव निष्प्राण शव हैं। चौबीसों घंटे वहाँ सन्नाटा छाया रहता था। न कोई बाहर से आता था और न कोई वहाँ से निकल कर बाहर जाता था। सर्वत्र मनहूसियत का वातावरण छाया रहता था। उस अभेद्य लोहे के दुर्ग जैसे मकान में रहती थी केवल यह युवती मारवाड़िन बाल-विधवा, जिसकी देह फूल जैसी कोमल थी और जिसके ओठों पर खेलती फीकी मुस्कान एवं शरीर से निकलती सुगंध वातावरण को सुवासित किये रहते थी। अत: लगता था कि क्रूर विधाता ने एक कोमल कली को किसी लोहे के कठोर पिंजड़े में बंद कर दिया है। उसी किशोरी को उस खंडहर जैसे सूने भवन में सारा दिन अकेले रहना पड़ता था क्योंकि परिवार का एक मात्र अन्य सदस्य उसका श्वसुर दिन निकलते ही दुकान पर जा बैठता था। उसे किसी से मिलने भी नहीं दिया जाता था और घर से बाहर जाने का तो प्रश्न ही नहीं था। विध वा होने के नाते मनोरंजन करना निषिद्ध था, अत: सारा समय या तो घर-गृहस्थी के कामों में बिताना पड़ता था अथवा ऊबते-ऊबते रात की प्रतीक्षा में। आमोद-प्रमोद का कोई साधन नहीं था। यदि ऊबने पर द्वार पर टाट के पर्दे के छेदों से बाहर का दृश्य देखने और इस प्रकार मन बहलाने का प्रयास करती, तो उलाहने, ताने, झिड़कियाँ सहनी पड़ती थीं। अत: घर का सूना, मनहूस, एकाकी वातावरण तथा वैधव्य के कारण झेलने वाली मानसिक पीड़ा एवं मिताहार के परिणामस्वरूप वह उन्नीस वर्ष की किशोरी अकाल ही मन और शरीर दोनों से वृद्ध होती जा रही थी। युवती होते हुए भी ऐसे पोपले मुख वाली वृद्धा का जीवन बिताना पड़ रहा था और वह यह सब एक साध नारत तपस्विनी, साध्वी की तरह कर रही थी।

विशेष– (1) उपमा अलंकार का प्रयोग है। उपमान बड़े सटीक हैं।

(2) बिंब-धर्मी चित्र स्थिति को साकार कर देता है।

(3) विधवा की करुण, दयनीय दशा का मार्मिक वर्णन है और समाज की कुरीतियों, रूढ़ियों पर अप्रत्यक्ष प्रहार भी।

(4) वृद्ध की साधना .. में लीन थी–लाक्षणिक प्रयोग है। साथ ही व्यंग्य भी।

(2) पता चला कि वधू की रक्षा का भार संसार को सौंपकर वृद्ध कभी के विदा हो चुके हैं, परंतु कठोर संसार ने उसकी कैसी रक्षा की, यह आज तक अज्ञात है। इतने बड़े मानव-समुद्र में उस छोटे बुद्‌बुद् की क्या स्थिति है, यह मैं जानती हूँ, परंतु तब भी कभी-कभी मन चाहता है कि बचपन में जिसने अपने जीवन के सूनेपन को भूलकर, मेरी गुड़ियों की गृहस्थी बसाई थी, खिलौनों का संसार सजाया था, उसे एक बार पा सकती!

शब्दार्थ– मानव-समुद्र में=असंख्या मनुष्यों से भरी इस विशाल दुनिया में। **बुद्‌बुद्**=बुलबुला।

प्रसंग– यह गद्यांश महादेवी वर्मा के संस्मरण, 'भाभी' से उद्‌धृत किया गया है। बाल-विधवा के घर के ठीक सामने बरसात की गीली, कीचड़-भरी गली में लेखिका के पैर फिसलने की घटना के बाद दोनों में इतनी आत्मीयता बढ़ गयी कि उम्र का फासला होते हुए भी वे अंतरंग सहेलियाँ बन गयीं। विधवा के रंग-बिरंगे कपड़ों तथा कसीदा कढ़े वस्त्रों के प्रति आकर्षण को लेखिका की बाल-बुद्धि ने पहचान लिया और उन्होंने बड़े यत्नपूर्वक अपनी उस ममतामयी सखी के लिए एक ओढ़नी कसीदा काढ़ कर तैयार की और तीज के शुभ अवसर पर चुपके से उसे उढ़ा दी। वह अनहोनी और अप्रत्याशित घटना देखकर विधवा के श्वसुर और ननद ने उस पर जो कहकर ढाया वह इतना क्रूर एवं रोंगटे खड़े कर देने वाला था कि लेखिका उसे देखने के बाद ज्वर-पीड़ित हो गयीं। बाद में उनका परिवार इंदौर छोड़ कर अन्यत्र चला गया। अपनी उस निरीह, निश्छल, ममतामयी और अभागिन सखी को महादेवी भूल नहीं पायीं और उसके विषय में खोज-खबर की।

व्याख्या– बाल विधवा और उसके परिवार के विषय में पूछताछ करने पर पता चला कि उसके वृद्ध श्वसुर स्वर्ग

नोट

सिधार चुके हैं और अपनी विधवा पुत्र-वधू को उसके भाग्य के सहारे इस कठोर दुनिया और नृशंस समाज में अकेला, निराश्रित, असहाय छोड़ गये हैं। श्वसुर की मृत्यु के बाद वह कहां गई, कैसे रही, समाज के खूंखार भेड़ियों से उसने आत्म-रक्षा कैसे की या फिर उनसे पीछा छुड़ाने के लिए उसने किसी पोखर-तालाब कुएँ में गिरकर अपनी रक्षा की-इसका ठीक-ठीक पता नहीं चला। यह सागर की तरह विशाल है, गहरा है, इसमें रहनेवाले लोग भयानक, हिंसक जंतुओं की तरह अपना शिकार पाकर उसे निगलने की तलाश में रहते हैं। इसमें घटनेवाली घटनाएँ और परिस्थितियाँ सागर की उत्ताल, भीषण तरंगों के समान हैं जिनका आघात सहन करने कठिन है। इस विशाल मानव-समूह के बीच बाल विधवा की स्थिति एक दुर्बल, भद्र बुलबुले से अधिक नहीं थी अत: हो सकता है कि जैसे बुलबुला सागर की लहरों में विलीन हो जाता है, वैसे ही वह असहाय, दुर्बल युवती कुछ दिनों बाद और जिसकी ममता तथा अपनत्व देखकर मैं अपना बाल-संसार-गुड़िया-गुड्डे, खिलौने आदि अपने घर से उठाकर उसके घर ले गयी थी और जिसने अपनी जिंदगी का सूनापन भूलकर मेरे उस संसार को सजाया-संवारा था, नए प्राण और नया जीवन देकर हरा-भरा किया था।

विशेष– (1) हिन्दू समाज में निरीह, अनाथ, बेसहारा बाल-विधवा की करुण स्थिति का संकेत किया गया है।

(2) महादेवी की सहृदयता एवं संवेदनशीलता की झलक मिलती है।

(3) मानव .. स्थिति-रूपक अलंकार है।

(4) काव्यात्मक भाषा-शैली का प्रयोग गद्य-गीत का सा आनंद देता है।

टास्क आपकी दृष्टि में अभागी-स्त्री रेखाचित्र का सुखद अंत क्या हो सकता था? समझाइए

(3) आज भी जब कोई मेरे रंगीन कपड़ों के प्रति विरक्ति के संबंध में कौतुक-भरा प्रश्न कर बैठता है तो वह अतीत फिर वर्तमान होने लगता है। कोई किस प्रकार समझे कि रंगीन कपड़ों में जो मुख धीरे-धीरे स्पष्ट होने लगता है वह कितना करुण और कितना मुर्झाया हुआ है। कभी-कभी तो वह मुख मेरे सामने आने वाले सभी करुण क्लांत मुखों में प्रतिबिंबित होकर मुझे उनके साथ एक अटूट बंधन में बांध देता है।

शब्दार्थ– विरक्ति=राग, मोह न होना, अरुचि। **कौतुक**=जिज्ञासा, आश्चर्य। **वर्तमान होने लगता है**=याद आ जाती है, भूली हुई बातें पुन: स्मरण हो उठती हैं। **जो मुख**=बाल विधवा का चेहरा। **करुण-क्लांत**=पीड़ा एवं कष्टों के कारण मुर्झाए, फीके, आभाहीन चेहरे।

प्रसंग– यह गद्यांश महादेवी वर्मा के संस्मरण, 'भाभी' से लिया गया है। संस्मरण के अंत में लेखिका अपनी बाल-सखी मारवाड़ी विधवा की ममता, सहृदयता एवं उसके दुर्भाग्य का स्मरण करती हुई बताती हैं कि किस प्रकार एक घटना ने उनके मन में रंग-बिरंगे कपड़ों के प्रति विरक्ति का भाव पैदा कर दिया जो आज तक विद्यमान है।

व्याख्या– आज मेरे जीवन की संध्या भी समीप आ पहुंची है आज भी मेरे मन में रंगीन कपड़ों, कसीदे कढ़े वस्त्रों के प्रति आकर्षण नहीं है। सच पूछो तो उनके प्रति विरक्ति का भाव है। अनेक व्यक्तियों को-पुरुष और स्त्री दोनों रंग-बिरंगे कपड़ों के प्रति मेरी विरक्ति का कारण जानने की जिज्ञासा होती है और कभी-कभी वे लोग साहसपूर्वक मुझसे यह प्रश्न कर ही डालते हैं कि मुझे रंग-बिरंगे वस्त्रों से चिढ़ क्यों है? उनके इस प्रकार के प्रश्नों का संतोषजनक उत्तर दूँ, या न दूँ। पर उस प्रश्न को सुनकर मुझ पर एक अनोखी प्रतिक्रिया होती है। प्रश्न सुनते ही मेरा मन वर्षों के अंतराल को पा कर अतीत में उस घटी घटना की ओर दौड़ पड़ता है जब तीज के दिन मैंने यत्नपूर्वक तैयार की गयी कसीदा-कढ़ी ओढ़नी उस अभागिन बाल-विधवा के सिर पर डाल दी थी और जिसे देखकर वह अबोध, निश्छल किशोरी बालकों सी मुक्त हंसी से आत्मविस्मृत हो खिलखिला पड़ी थी और जिसे अक्षम्य अपराध मानकर उसके श्वसुर तथा ननद ने उसकी इतनी पिटाई की थी कि वह पिटते-पिटते बेहोश हो गयी थी।

नोट

वह घटना अपनी पूरी क्रूरता एवं अमानवीयता के साथ मेरे नेत्रों के सम्मुख साकार हो उठती है और मैं काँप उठती हूँ, मेरा हृदय विक्षोभ, आक्रोश एवं पीड़ा से दहकने लगता है। मेरे स्मृति पटल पर वह भोला मासूम चेहरा, उसके चारों ओर पड़ी ओढ़नी अंकित होने लगती है, वह सारा दृश्य धीरे-धीरे उभरने लगता है कि किस प्रकार ओढ़नी को देखकर पहले उसका चेहरा प्रमुदित और उल्लसित हो उठा था और फिर श्वसुर-ननद के आक्रोश भरे रूक्ष कठोर शब्दों को सुनते ही वह धीरे-धीरे गर्म हवा के झोकों से प्रताड़ित कोमल फूल की तरह निष्प्रभ होता हुआ अंत में मुर्झा गया था। उसके मुख की प्रत्येक रेखा करुणा में डूब गयी थी, वह रुआंसी हो उठी थी। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि मुझे न केवल उस अभागिन का आँसुओं में भीगा, कुम्हलाया, आभाहीन चेहरा ही याद आता है अपितु मेरे नेत्रों के सम्मुख भारत की विशेषत: हिन्दू समाज में पुरुष समाज द्वारा प्रपीड़ित अत्याचार की चक्की में पीसी नारियों के करुण मुखों की लंबी कतार खड़ी हो जाती है और मैं करुणाविगलित हो उठती हूँ, डबडबायी आंखों और दर्द भरे दिल से हिंदू नारी की रक्षा के लिए भगवान से प्रार्थना करने लगती हूँ। मैं उन सभी संतप्त, संत्रस्त, अभागिन, दीन-हीन नारियों के साथ जुड़ जाती हूँ, उन्हें अपना अभिन्न अंग मानकर उनका दु:ख, उनकी पीड़ा, उनका संताप करना चाहती हूँ। उस बाल-विधवा की करुण कहानी भारत की असंख्य असहाय, अनाथ एवं समाज द्वारा प्रवंचिता स्त्रियों की कहानी है और नारी होने के नाते (स्वयं भी अपने जीवन में पति-परित्यक्ता एवं प्रवंचिता होने के कारण) मेरा हृदय उनके ताप-संताप को देखकर चीत्कार कर उठता है।

विशेष– (1) अत्याचार पीड़ित नारी के प्रति महादेवी की संवेदना उनके व्यक्तित्व का अभिन्न अंग है।

(2) अतीत ... होने लगता है .. लाक्षणिक प्रयोग।

(3) भाषा-शैली में काव्यात्मकता एवं वक्रता उनकी गद्य शैली की विशेषता है।

13.2.2 बिट्टो

(1) पर्वतीय भूमि मेरी धात्री से मां बन गई है। पैदल ही कई सौ मीलों की यात्रा कर मैंने उसकी प्रशान्त सुषमा और प्रसुप्त जीवन को अनेक रूपों में देखा है परंतु उस निस्तब्ध सौंदर्य और नगर के कोलाहल में मैं अब तक कोई समझौता न करा सकी। अपनी धूलभरी धरती का अंक छोड़कर मुझे उन्हीं तुषारधौत चरणों में विश्राम मिलता है जिन्होंने साधना से धूल के विशाल दुर्ग बनाकर अपनी करुणा को हमारे लिए सुरक्षित रखा है।

शब्दार्थ– धात्री=धाय, बच्चे का पालन-पोषण करने वाली सेविका। **प्रशांत सुषमा**=शान्तिपूर्ण वातावरण का सौंदर्य, शोभा। **निस्तब्ध**=शांत, कोलाहल से दूर। **अंक**=गोद। **तुषारधौत**=बर्फ, हिमपात के कारण सफेद दिखने वाले। **धूल के विशाल दुर्ग**=ऊँचे पहाड़ जिन पर चढ़ना कठिन है। **करुणा**=नदियों का जल जिनको पीने और खेतों की सिंचाई के लिए काम में लाया जाता है।

प्रसंग– यह गद्यांश महादेवी द्वारा लिखे गये संस्मरण 'बिट्टो' से लिया गया है। ज्वर रहने पर चिकित्सकों के परामर्श से महादेवी को कुछ समय के लिए पर्वतीय प्रदेश के रम्य पर्यटन-स्थल नैनीताल में रहना पड़ा। उसी के संबंध में अपने विचार व्यक्त कर रही हैं।

व्याख्या– मुझे पर्वत प्रदेश से अगाध प्यार है। भले ही मेरा जन्म मैदानी प्रदेश में हुआ हो और लालन-पालन भी उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश के नगरों में हुआ हो पर मुझे पर्वतों से उतना ही प्यार है जितना किसी बच्ची को अपनी मां से होता है। धाय की तुलना में माँ से अधिक गहरा प्यार होता है। इसी प्रकार लेखिका को अपने जन्म स्थल और लालन-पालन करने वाली धरती से अधिक स्नेह पर्वतभूमि से है। उन्होंने कई बार पर्वत प्रदेशों की विशेषत: धार्मिक तीर्थ-स्थलों-बद्रीनाथ, केदारनाथ आदि की यात्रा की है और वह भी किसी निष्ठावान श्रद्धालु भक्त की तरह पैदल चल कर। वाहन सुगम होने पर भी उन्होंने पैदल यात्रा करना ही उचित समझा है। पैदल यात्रा करने में एक लाभ यह भी है कि यात्री जब तक चाहे रुक-रुक कर या धीमी गति से यात्रा करते हुए, आसपास के रमणीक दर्शनीय प्राकृतिक सौंदर्य के दृश्यों को देख सकता है, उनका प्राकृतिक सौंदर्य-पान कर सकता है, उसमें रम सकता है। शांत वातावरण एवं शुद्ध, स्वास्थप्रद वायु में सांस लेकर मन तथा शरीर को विश्राम दे सकता है।

नोट

कदाचित् इसीलिए महादेवी जी ने पैदल यात्रा करना ही ठीक समझा और पैदल ही ऊँचे-ऊँचे दुर्गम पहाड़ों की यात्रा की। इस यात्रा का एक अन्य लाभ यह भी हुआ कि वह पर्वत-प्रदेश के रहने वालों के हरन-सहन, उनकी सभ्यता, संस्कृति, स्वभाव, चरित्र, धार्मिक विश्वासों और सामाजिक रीति-रिवाजों से भी भली-भांति परिचित हो सकीं।

इन पर्वत-प्रदेशों में बीच-बीच में आकर्षक, वैभवसंपन्न, पर्यटन स्थलों के रूप में अनेक नगर भी बस गये हैं जैसे मसूरी और नैनीताल। पर्वत प्रदेश में स्थित होने पर भी इन नगरों में अन्य नगरों के समान चहल-पहल, दौड़-धूप, आपा-धापी फैशन आडम्बर, शोर गुल, वाहनों की भीड़ आदि दिखाई पड़ने लगी। है। अत: एकांत, कोलाहल से दूर रहने के इच्छुक शांत वातावरण में रहने की इच्छा रखनेवाले पर्यटक को इन नगरों का कोलाहल रास नहीं आता; वह एक-दो दिन में ही उससे परेशान और क्षुब्ध होने लगता है। महादेवी ऐसे ही स्वभाववाली साहित्य साधिका थीं। अत: जब कभी नगर के कोलाहल से तंग आकर, वर्ष भर अनवरत परिश्रम करने के बाद वह शरीर और मन को विश्राम देना चाहतीं और वहाँ के शांत, सौम्य, एकांत, पवित्र, रमणीय वातावरण में कुछ दिन बितातीं नगरों-इलाहाबाद, इंदौर आदि से भागकर पर्वतों की यात्रा के लिए निकल पड़तीं और वहाँ के शांत, सौम्य, एकांत, पवित्र, रमणीय वातावरण में कुछ दिन बितातीं, विश्राम करतीं। दूर पर स्थित हिमालय की शुभ्र हिम से आच्छन्न चोटियाँ और उन पर पड़ती प्रात: की स्वर्णिम किरणें उनके आकर्षण का मुख्य केंद्र होती और वह उन्हें देखते हुए कभी सौंदर्य में डूब जातीं तो कभी चिंतन की समाधि लगा लेतीं। वह उन पर्वतों के प्रति कृतज्ञता भाव से भर उठतीं जो सहस्रों वर्षों की साधना, तपस्या के उपरांत विराट और ऊँचे आकार वाले बने हैं तथा जिनकी गोद में क्रीड़ा करती नदियाँ, सोते, प्रभात, झरने अपने जल से न केवल अपने आस-पड़ोस के प्राणियों को अपितु पहाड़ों से लेकर सागरपर्यंत फैली भूमि, मैदानों में बसे प्राणियों को जल देकर प्राणदान देते हैं–पीने के लिए पानी और खेतों की सिंचाई के लिए पर्याप्त जल-राशि देते रहते हैं।

विशेष– (1) महादेवी का पर्वत-भूमि से प्रेम।

(2) वाहन उपलब्ध होने पर भी पैदल यात्रा की रुचि।

(3) प्राकृतिक सौंदर्य एवं एकांतप्रिय स्वभाव।

(4) प्रकृति द्वारा अस्त विभूतियों के प्रति कृतज्ञता-भाव।

(5) भावुकता एवं ममता।

(6) काव्यात्मक शैली, सूत्र शैली-धात्री से माँ बन गयी।

(2) अब तक पति उसके निकट ऐसा ही था जैसा ईश्वर, जो हमारी इन्द्रियों से परे रहकर भी हमारे हृदय की अचल श्रद्धा और अडिग विश्वास का आधार बना रहता है। भावुक उपासक के समान उसके बिना तर्क किये ही एक सुखमय साधना से अपने जीवन को घेर लिया था।

शब्दार्थ– इंद्रियों से परे=जिसे हमारे ज्ञानेन्द्रियाँ न देख पाती हैं, न सुन पाती हैं और न स्पर्श कर पाती हैं। **उपासक**=उपासना, भक्ति, पूजा करने वाला, आराधक, भक्त।

प्रसंग– यह गद्यांश महादेवी रचित संस्मरण 'बिट्टो' से लिया गया है। बिट्टो बाल्यावस्था में ही विधवा हो गयी, अशुभ और अमंगलमयी समझ ससुरालवालों ने उसे त्याग दिया पर मां-बाप की छत्रछाया और लाड़-प्यार के कारण उसे कोई कष्ट न हुआ और वह साध्वी विधवा के समान साधना का, संयमित जीवन बिताने लगी।

व्याख्या– हिंदू विधवा के अपने संस्कार, विश्वास, आस्था और सिद्धांत होते हैं। वह परंपरा से चले आ रहे कठोर नियमों का पालन करते हुए तपस्विनी का सा कठोर जीवन बिताती है, मन को चंचल नहीं होने देती, अपनी इंद्रियों को वश में रखती है। पिता के घर में रहते हुए बिट्टो भी ऐसा ही संयम-नियम का जीवन बिता रही थी। उसके लिए उसका पति, मरने के बाद भी, ईश्वर के समाज पूज्य, आराध्य एवं श्रद्धा-भक्ति का पात्र था। यद्यपि उसने एक दिन भी दांपत्य जीवन का पति सान्निध्य का सुख नहीं पाया था, तथापि उसकी अस्पष्ट मूर्ति को हृदय-पटल पर अंकित किये उसकी स्मृति में लीन वह रात-दिन तपस्या का जीवन बिता रही थी। जिस प्रकार हम ईश्वर को

नोट

न देख पाते हैं, न सुन पाते हैं और न उसका स्पर्श कर पाते हैं फिर भी उसके अस्तित्व में विश्वास करते हैं, उसे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान एवं सर्वत्र उपस्थित मान कर उसकी पूजा-अर्चना करते हैं, उसी प्रकार यद्यपि बिट्टो ने अपने पति को ध्यानपूर्वक न देखा था और न उसके साथ रही थी फिर भी वह उसके लिए सजीव सत्य था, उसकी श्रद्धा और आस्था का एकमात्र पात्र; उसकी स्मृति एवं उसके प्रति एकनिष्ठ प्रेम उसके जीवन का आधार था। वह सच्चे अर्थों में सती थी। अत: कोई भी तर्क, कोई भी प्रलोभन उसे अपने मार्ग से विचलित नहीं कर सकता था। उसने निर्णय कर लिया था कि वह अपना शेष जीवन पतिव्रता साध्वी विधवा की तरह बितायेगी और केवल पति का ध्यान करते हुए ही अपनी इहलीला समाप्त कर देगी। वह अत्यंग संवेदनशील, भावुक, श्रद्धालु एवं रूढ़ियों को सहर्ष स्वीकार कर कृच्छ साधना करने को तत्पर आदर्श भारतीय नारी थी और उसने अपना जीवन उन्हीं आदर्शों के अनुरूप ढाल लिया था।

विशेष– (1) भारत की हिंदू विधवा का आदर्श बताया गया है।

(2) बिट्टो के चरित्र की विशेषताओं का संकेत मिलता है।

(3) चिंतन प्रधान शैली जिसमें विचारों की गरिमा है।

(4) जीवन को घेर लिया था-अंग्रेजी भाषा के वाक्य की छाया।

(3) हमारे यहाँ का पुरुष उसे ठीक रूप में किस अंश तक समझ सकेगा, यह कहना कठिन है। पुरुष बेचारे की उग्र तपस्या और अखण्ड साधना स्त्री के द्वारा प्राय: भंग होती रही है। इसी से उसने इस मायाविनी जाति के स्वभाव की व्याख्या करने के लिए पोथे रच डाले हैं।

प्रसंग– ये पंक्तियाँ 'बिट्टो' नामक संस्मरण से अवतरित की गयी हैं। इनकी लेखिका हैं सुश्री महादेवी वर्मा। बिट्टो के करुण, कष्टमय जीवन की कहानी, जो उन्होंने स्वयं बिट्टो के मुख से कई खंडों में सुनी थी,बताने के बाद लेखिका पुरुषों के आचरण पर कटाक्ष करती हुई बताती हैं।

व्याख्या– पुरुष ने आदिकाल से नारी को कष्ट दिये हैं, उसके लिए ऐसे नीति-नियम बनाये हैं जिनके कारण उसे जीते-जी नरक भोगना पड़ता है। अपने लिए सभी सुविधा जुटाने और नारी को अनेक बंधनों में जकड़ने के लिए शास्त्रों की रचना की गयी है जिनमें सबसे प्रथम और महत्वपूर्ण है 'मनुस्मृति'। पुरुष स्वभावत: कठोर और एकाधि कार का उपासक होता है। आत्मकेंद्रित एवं स्वार्थी होने के कारण वह नारी को दु:ख तो देता है परंतु उसकी आंतरिक पीड़ा को या तो जानता पहचानता नहीं या जानते हुए भी उसके प्रति उदासीन रहता है और नारी दु:ख पाती रहती है। उसके साथ पुरुष-प्रधान समाज ने एक और क्रूर मजाक किया है। अनेक पौराणिक कहानियों में पुरुष के अध :पतन, तप-मग्न होने एवं साधना-विरत होने का कारण स्वयं उसकी दुर्बलता, काया शक्ति, नारी-शरीर के प्रति आकर्षण न बताकर उल्टे नारी को दोषी ठहराया गया है। इन ग्रंथों में असंख्य कथाएँ हैं जिनमें बताया गया है कि किसी रूपसी ने, सुंदरी देव कन्या ने, अप्सरा ने ऋषियों की तपस्या में विघ्न डाला। समाधिस्थ ऋषि-मुनि के समाधि -स्थल के निकट जो अपने संगीत, नृत्य तथा अन्याय भाव-भंगिमाओं से उसकी तपस्या भंग की और बेचारा ऋषि अप्सरा के कटाक्ष-बाणों अथवा उसके सुरीले संगीत पर मुग्ध हो अपनी तपस्या-साधना से विचलित हो नारी के मोह-पाश में पड़कर अध:पतित हो गया। इन शास्त्रों ने सत्य को झुठला कर, पुरुष के दोषों और दुर्बलताओं पर पर्दा डालकर नारी को दोषी ठहराया और उसको कहीं मायाविनी, कहीं छलना और कहीं जादूगरनी कहकर उसे लांछित किया। यह नारी के प्रति पुरुष द्वारा किया गया घोर अन्याय और मिथ्या दोषारोपण था। दोषी पुरुष को निर्दोष बताना एवं निरपराध स्त्री को सब पापों की जड़ कहकर उसका तिरस्कार करना कहाँ का न्याय है? पर मनु महाराज से लेकर अनेक स्मृति ग्रंथ और नीतिशास्त्र की पुस्तकें लिखने वाले बड़े-बड़े शास्त्रकारों, धर्माचार्यों और विद्वानों ने यही किया है।

विशेष– (1) मैथिलीशरण गुप्त ने पुरुषों के इस आचरण के प्रति व्यंग्य करते हुए लिखा था–

नोट

नरकृत शास्त्रों के सब बंधन
हैं नारी ही को लेकर
अपने लिए सभी सुविधाएँ
पहले ही कर बैठे नर।

(2) संस्कृत की एक उक्ति है– पुरुषस्य भाग्यं नारी चरित्रं देवो न जानाति कुतो मनुष्यः।

इसमें भी नारी चरित्र को रहस्यमय बताकर उसकी निंदा की गयी है।

(3) महादेवी नारी होने के कारण स्त्री की व्यथा को समझती हैं अतः उन्होंने यहाँ वस्तुस्थिति को व्यंग्य द्वारा स्पष्ट किया है।

(4) स्त्री जब किसी साधना को अपना स्वभाव और किसी सत्य को अपनी आत्मा बना लेती है तब पुरुष उसके लिए न महत्व का विषय रह जाता है न भय का कारण, इस सत्य को सत्य मान लेना पुरुष के लिए कभी संभव नहीं हो सका। अपनी पराजय को बलात् जय का नाम देने के लिए ही संभवतः वह अनेक विषम परिस्थितियों और संकीर्ण सामाजिक धार्मिक बंधनों में उसे बांधने का प्रयास करता रहता है।

शब्दार्थ– बलात्=जबर्दस्ती, बलपूर्वक। **विषम**=कठिन, कठोर।

प्रसंग– यह गद्यांश महादेवी वर्मा कृत संस्मरण 'बिट्टो' से अवतरित किया गया है। बिट्टो की दुर्भाग्यपूर्ण कष्टमय, करुणा विगलित करनेवाली व्यथा-कथा कहने के बाद लेखिका नारी और पुरुष के स्वभाव और प्रवृत्ति का वैषम्य बताते हुए पुरुष की कठोरता तथा नारी की तपोसाधना पर प्रकाश डालती हैं।

व्याख्या– स्त्री, विशेषतः विधवा हिन्दू स्त्री, वैधव्य का जीवन बड़े संयम, नियम और इंद्रियनिग्रह के साथ बिताती है। वह इस कठोर, साधनारत एवं तपस्यापूर्ण जीवन को स्वयं सहर्ष अपनाती है। वह उस पार थोपा नहीं जाता। वह इस जीवन को साधना मानती है और साधक की निष्ठा, सावधानी, सतर्कता एवं संयम के साथ बिताती है। वह इस तपःभूत जीवन में सभी प्रलोभनों, आकर्षणों, मोह-माया से स्वयं को सुरक्षित रखते हुए तपस्विनी का जीवन जीती है और यह सब बड़े सहज-स्वाभाविक ढंग से होता है। इसी प्रकार वह अपने मृत पति को जन्म-जन्मांतर का साथी मानकर उसे अपने हृदय-मंदिर में देव-मूर्ति की तरह प्रतिष्ठित कर उसका स्मरण, ध्यान, उपासना, आराधना करती है। वह उसे आत्मा का सत्य मानती है जिसे न तर्क खंडित कर सकते हैं और न सांसारिक प्रलोभन मिथ्या बना पाते हैं। पति कैसा भी हो–अमीर-गरीब, सबल-दुर्बल, स्वास्थ-रोगी, गुणवान-गुणहीन–उसके लिए एक मात्र पुरुष है जिसके प्रति उसे निष्ठापूर्वक रहना है, पातिव्रत्य धर्म का पालन करना है। परंतु पुरुष जाति इतनी स्वार्थी है, आत्मकेंद्रित और केवल अपना हित सोचने वाली है कि वह नारी के इन गुणों को नहीं पहचानती, पहचानती भी है तो स्वीकार नहीं करती। वह अपने मिथ्या अहंकार में चूर, अपने को स्त्री से ऊँचा एवं महान् सिद्ध करने के प्रयास में स्त्री के लिए अनेक बंधनों का, नियमों का, आदर्शों का निर्माण करता है और स्त्री को बाध्य करता है कि वह उनके अनुरूप अपना आचरण ढाले, व्यवहार करे और पुरुष को सर्वस्व मानकर उसकी पूजा-अराधना, सेवा-भक्ति करे। दुर्बल होते हुए भी वह सबल दिखाना चाहता है, गुणहीन होते हुए भी गुणवाते दिखने का प्रयत्न करता है, अपनी पराजय को जय में बदलना चाहता है और ऐसा करने के लिए तरह-तरह के उपाय करता है, छल-छद्म रचता है, नीति-ग्रंथों एवं शास्त्रों का निर्माण करता है जिनमें स्त्री को हीन बताया जाता है, उसमें दुर्बलता एवं दोष दिखाकर कहा जाता है कि स्त्री को सदा बंधनों में जकड़ कर रखना चाहिए, उसे कभी स्वतंत्रता नहीं देनी चाहिए। उस पर समाज भी, नियंत्रण रखता है और धर्म भी। इसीलिए स्त्री के लिए अनेक सामाजिक बंधनों एवं धार्मिक नियमों का विधान किया गया है। इन बंधनों में बंध कर न स्वतंत्रता का जीवन जी सकती है और न अपनी इच्छा से मर ही सकती है। जीते जी जिन्दा लाश को ढोने के लिए बाध्य की जाती है।

नोट

विशेष– (1) पुरुष समाज की कठोरता, प्रवंचनापूर्ण आचरण एवं मिथ्या अहंकार पर चोट की गयी है।

(2) नारी-चरित्र की महिमा का वर्णन है।

(3) सूक्ति रूप में वाक्यों को अर्थगर्भित बनाया गया है।

(4) प्राचीन शास्त्र-ग्रंथों मनु-स्मृति आदि में कही गयी बातों पर व्यंग्य-कटाक्ष है।

(5) मनु महाराज जो कह गये हैं उसे असत्य प्रमाणित कर कुंभी-पाक में विहार करने की इच्छा न हो तो यह कहना ही पड़ेगा कि बिट्टो तीसरे विवाह की इच्छा को हृदय के किसी निभृत कोने में छिपाए हुए है और उसके उद्धार के लिए निरंतर कटिबद्ध वृद्ध परोपकारियों की, इस पुण्य भूमि में और विशेष कर इस जाग्रत युग में कमी नहीं हो सकती।

शब्दार्थ– मनु महाराज=मनुस्मृति के लेखक जिसे हिन्दू लोग धर्म और नीति का प्रामाणिक ग्रंथ मानते हैं और जिसमें बताये गये विधि-विधान को अकाट्य एवं अनुलंघनीय माना जाता है। **उसे**=उनके इस कथन को कि स्त्री को सदा पराधीन रहना चाहिए-बचपन में माता-पिता के, विवाह होने पर पति के तथा विधवा होने पर पुत्र के संरक्षण एवं पराधीनता में रहना चाहिए। स्त्री-स्वातंत्र्य सर्वत्र तथा सर्वदा वर्जित है। **कुंभीपाक**=एक नरक का नाम जहाँ पापी को मरने के बाद रहकर अनेक घोर यातनाएं सहनी पड़ती हैं। **निभृत**=सूने, एकांत, छिपे।

प्रसंग– यह गद्यांश महादेवी वर्मा कृत संस्मरण 'बिट्टो' से लिया गया है। संस्मरण के अंत में बिट्टो के जीवन की संपूर्ण करुण कथा कहने के बाद वह बड़ी तीखी भाषा में हिन्दू समाज विशेषत: पुरुष वर्ग की नृशंसता एवं धूर्तता पर प्रहार करती हैं। बिट्टो के पहले पति की मृत्यु के बाद बाल विधवा होते हुए भी दूसरा विवाह करने की इच्छा नहीं थी। परंतु उसके भाई-भाभियों ने उसे बोझ समझकर तथा समाजसुधारक होने की वाहवाही लूटने के लिए स्वार्थवश उसका विवाह मृत्यु के कगार पर खड़े एक वृद्ध से कर दिया था और अब वह भी मृत्यु-शय्या पर पड़ा यमराज के दूतों के आने की प्रतीक्षा कर रहा था, दो-चार घड़ी का मेहमान था। लेखिका की सखी ने लिखा था कि ससुरालवालों ने मरणासन्न वृद्ध की संपत्ति हड़पने की सारी योजना बना ली थी अत: बिट्टो का भविष्य अंध कारमय है। सखी का कथन पूर्णत: सत्य था। पर इसी कथन को व्यंग्य का आधार बनाकर महादेवी हिन्दू धर्माचार्यों, नीति-ग्रंथ रचनाकारों और स्वयं को समाज-सुधारक कहने वाले धूर्त लोगों पर करारी चोट करती है।

व्याख्या– मनुस्मृति के यशस्त्रवी, अमर और हिन्दू जाति में सर्वाधिक प्रमाणिक माने जाने वाले शास्त्र-गंथ के लेखक मनु महाराज कह गये हैं कि स्त्री को माता-पिता , पति, पुत्र के अधीन रहना चाहिए। उसे स्वतंत्रता कभी नहीं दी जाय, उसे अपने पैरों पर खड़े होने के योग्य कभी न बनाया जाय, उसे सदा परमुखापेक्षी रखा जाय, उसकी इच्छा को कोई महत्व नहीं दिया जाय। मनु के इन वचनों को मानने वाली स्त्री ही सती है, पवित्र है, निष्कलुष और वंदनीय है। यदि कोई स्त्री उनके इन वचनों को, उनके आदेश को (भले ही वह अनैतिक, अन्यायपूर्ण तथा कठोर हो) ठुकराती है तो वह स्वेच्छाचारिणी, दुष्चरित्रा एवं पापिनी कही जाएगी और उसके पाप-कर्म के लिए उसे सबसे अधिक कष्ट और यातना दिये जाने वाले 'कुभीपाक' नामक नरक में रहकर अनेक यंत्रणाएं झेलनी पड़ेंगी। यदि कोई पुरुष भी मनु महाराज के आदेशों का उल्लंघन करने में सहयोग या सहायता देता है तो उसे भी दण्ड भोगना पड़ेगा। परंतु आज का युग मनु महाराज और उनके वचनों को पीछे छोड़ हजारों वर्ष आगे बढ़ गया है, वह अधिक सजग, सचेत जागरूक, स्त्री के प्रति अधिक संवेदनशील तथा सहानुभूतिपूर्ण बन गया है। अत: आज के समाज सुधारक जोश में आकर कहेंगे, झूठा अनुमान लगायेंगे, बिट्टो से पूछताछ करने और उसकी इच्छा जानने का प्रयत्न किये बिना भी कहते फिरेंगे कि भले ही बिट्टो अपने मुंह कुछ न कहती हो, स्पष्ट शब्दों में अपना तीसरा विवाह करने की इच्छा व्यक्त न करती हो, परंतु वह मन ही मन चाहती है कि उसका विवाह एक बार पुन: हो, उसकी तीसरी बार भंवरे पड़े और पति के साथ नए घर में गृहस्वामिनी बनकर प्रवेश करे। ये स्वार्थी, जोश में भरे लोग यह भी कहेंगे कि बिट्टो जैसी अनाथ, अनाश्रित, अभागिनी को अपनी परिणीता, जीवन-संगिनी बनाने वाले बूढ़ों की भी कमी नहीं है। कब्र में पैर लटकाये ऐसे अनेक असंख्य पोपले मुंह वाले बूढ़ों को वे जानते हैं जो प्रस्ताव सुनकर ऐसे लपकेंगे जैसे कौआ अभक्ष्य पर और गिद्ध मांस पर झपटता है। अत: इस जागरण और समाज-सुध

नोट

ार के युग में बिट्टो जैसी विधवाओं का विवाह अब समस्या नहीं रह गया है। अत: बिट्टो के भविष्य को लेकर चिंता करने की कोई आवश्यकता नहीं है। सब ठीक हो जायेगा।

विशेष– (1) यहाँ महादेवी की लेखनी जो प्राय: कविता में कोमल, करुण भावों की अभिव्यक्ति करती है और गद्य में भी प्राय: या तो काव्य का लावण्य और भाषा की मृदुता बिखेरती है या करुणा की मंदाकिनी प्रवाहित है कि पहले भले ही समझ में न आवे पर एक बार आशय समझने पर वह पैनी छुरी की तरह काट करता है।

(2) मनु और मनुस्मृति पर किया गया व्यंग्य भी बड़ा धारदार है।

(3) छद्मजोश से भरे धूर्त समाज सुधारकों को भी नहीं बख्शा गया है जो समाज-सुधार के नाम पर अपना कोई स्वार्थ पूरा करते हैं। बूढ़ों का एजेंट बनकर स्त्रियों पर जुल्म ढाते हैं।

13.2.3 अभागी स्त्री

(1) जब मेरा शरीर इतना निकम्मा था कि इनके सुख-दुख में दो-चार रात जागना भी सहज नहीं तब किस बूते पर मैंने इन बालिकाओं को उनकी माताओं से इतनी दूर ला रखा है? जब अभी तक मनुष्य बनने की स्वयं मेरी ही साधना पूर्ण नहीं हुई तब इन बालिकाओं को मनुष्य बनाने का भार लेने का मुझे हौसला कैसे हुआ? ऐसे दीा को अक्षम्य आपराधों की कोटि में ही स्थान मिलना चाहिए।

शब्दार्थ– बूते=बल, भरोसा। **हौसला**=साहस। **दम्भ**=अभिमान गर्व, घमंड। **अक्षम्य**=जो क्षमा न किया जा सके।

प्रसंग– यह गद्यांश महादेवी वर्मा द्वारा लिखित संस्मरण 'अभागी स्त्री' से उद्धृत किया गया है। जिसमें वेश्यापुत्री होते हुए भी कुलवधू एवं सद्गृहिणी बनने की कामना करने वाली, समाज द्वारा युवती की करुण कहानी प्रस्तुत की गयी है। इस अभागिन वेश्यापुत्री से भेंट होने से कुछ घंटों पूर्व की अपनी मानसिकता का चित्रण करते हुए महादेवी स्वयं अपनी भर्त्सना करती हैं।

व्याख्या– उत्तरदायित्व स्वीकार करने से पूर्व व्यक्ति को अपनी शक्ति, सामर्थ्य, क्षमता, साधन-संबल आदि की सही-सही जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिए। उसे अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि उस कर्त्तव्य को निबाहने की शक्ति उसके तन-मन में है या नहीं। महादेवी कहती हैं कि उन्होंने प्रयाग महिला विद्यापीठ की स्थापना की, उसमें दूर-दूर के नगरों से आकर रहने वाली छात्राओं के लिए छात्रावास की भी समुचित व्यवस्था की और छात्रावास में अपने माता-पिता को छोड़कर वहाँ पढ़ने के लिए छात्राएं आने भी लगीं परंतु उन्होंने शीघ्र ही अनुभव किया कि छात्राएं यदा-कदा बीमार पड़ती जाती हैं और उस स्थिति में उनकी सेवा-सुश्रुषा, उपचार, परिचर्या करने के लिए एक ऐसी स्त्री की आवश्यकता है जो तन-मन से पूरी तरह स्वस्थ हो, जिसके हृदय में उन अपरिचित, अनजान, दूर-दूर से आयी बालिकाओं के प्रति माँ की सी ममता और सच्ची सेविका का सेवा-भाव हो। महादेवी ने स्वयं को तन-मन से इस काम के लिए अक्षम पाया। वह किसी छात्रा के बीमार होने पर लगातार दो-चार रात नहीं जाग सकती थीं, प्रयत्न भी करतीं तो स्वयं बीमार पड़ जातीं "जब एक छात्रा टाइफाइड से पीड़ित हुई तो वह सोचने लगीं और अपने को उस दायित्व को निबाहने में असमर्थ पाकर वह आत्म-भर्त्सना और पश्चाताप करती हैं कि जब उनमें यह सामर्थ्य नहीं थी तो उन्होंने उन किशोरियों को अपने माता-पिता से अलग कर अपने पास बुलाने और उनके अध्यापन का दायित्व क्यों स्वीकार किया। उन्हें पहले से ही जान लेना चाहिए था कि उनका तन और मन दोनों उस भार को संभालने में अक्षम है और उन्हें यह दायित्व नहीं ओढ़ना चाहिए था। अपनी इस असमर्थता को पहचानने के बाद वह आत्मग्लानि से भर कर सोचने लगती हैं–अभी तक वर्षों की साधना करने और स्वयं को सद्भावपूर्ण बनाने के निरंतर प्रयास के बावजूद मैं पूरी तरह मनुष्य नहीं बन पायी हूँ। अभी भी मुझमें पूरी तरह मानवोचित गुण नहीं आ पाये हैं। मैं अभी भी अपूर्ण हूँ। पूर्ण मानव बनने में अभी कसर है, मंजिल तक पहुँचने में देर लगेगी। जब मैं स्वयं पूर्ण मानव नहीं बन पायी हूँ तो मुझे इन बालिकाओं को पूर्ण मानव बनाने का दायित्व स्वीकार करना चाहिए था। कदाचित् अपनी अयोग्यता को, अक्षमता एवं दोषों को जानते हुए भी यदि मैंने गुरु-गंभीर दायित्व ओढ़ने का प्रयास या साहस किया तो उसका कारण मेरा मिथ्या गर्व, अहंकार और स्वयं को वास्तविकता से अधिक समर्थ समझने का दम्भ था और दम्भ, मिथ्या गर्व करना, जानबूझ कर ऐसे अपराध हैं जिसको क्षमा

नोट

नहीं किया जा सकता और जिसके लिए अपराधी को दंड मिलना ही चाहिए। अत: इन बालिकाओं की अभिभाविका बनने, उनका संपूर्ण दायित्व ओढ़ने की जिम्मेदारी करने के उपरांत यदि अब मैं इन किशोरियों के स्वास्थ्य, अध्ययन, शील आदि की ठीक से देखभाल नहीं करती तो मेरा अपराध दुगना होगा। पहले इन बालिकाओं के प्रति उनकी साज-संवार न कर पाने का और दूसरा इनके माता-पिता के प्रति विश्वासघात करने का क्योंकि उन्होंने मुझ पर विश्वास करके ही तो उन्हें संरक्षण में छोड़ा है।

विशेष– (1) महादेवी के व्यक्तित्व का एक पहलू उजागर होता है– आत्म-चिंतन, आत्म-विश्लेषण, आत्मालेचन एवं अपने दोष को स्वीकार कर ग्लानि तथा पश्चाताप करना।

(2) उनकी भावुकता एवं संवेदनशीलता भी प्रकट होती है।

(3) उर्दू शब्दों-निकम्मा, बूते पर, हौसला आदि का प्रयोग भाषा में सहज प्रवाह एवं सजीवता लाता है।

(4) प्रश्नवाचक वाक्यों का प्रयोग भी शैली को प्रभविष्णु बनाता है।

स्व-मूल्यांकन

दिए गए कथन के सामने सही (✓) अथवा गलत (×) का निशान लगाइए–

1. महादेवी के रेखाचित्रों की मूल भावना करुणा और वेदना है। ☐
2. महादेवी के रेखाचित्रों के पात्र यद्यपि काल्पनिक है किंतु लेखिका ने उसे ऐसे गढ़ा है कि वे सजीव प्रामाणिक प्रतीत होते हैं। ☐
3. महादेवी ने अपने रेखाचित्रों में आवश्यकतानुसार देशज शब्दों का प्रयोग किया है। ☐
4. 'रामा' रेखाचित्र महादेवी के स्वयं के परिवार से संबंध रखता है। ☐
5. रेखाचित्र 'भाभी' पूर्णत: काल्पनिक पात्र है। ☐

(2) वह पतित कही जाने वाली मां की पुत्री है और बिना समाज के प्रवेश-पत्र के ही साध्वी स्त्रियों के मंदिर में प्रवेश करना चाहती है। उसे पता नहीं कि समाज के पास वह जादू की छड़ी है जिससे छूकर वह जिस स्त्री को सती कह देता है केवल वही सती होने का सौभाग्य प्राप्त कर सकती है।

प्रसंग– यह गद्यांश महादेवी वर्मा के रेखाचित्र 'अभागी स्त्री' से अवतरित किया गया है। इसमें लेखिका ने एक ऐसी युवती की करुण कथा कही है जिससे समाज अपनी रूढ़, गली-सड़ी मान्यताओं के कारण निरपराध होते हुए भी पतित कहता है और जिनके लाख प्रयत्न करने पर भी उनके सती-साध्वी, सद्गृहिणी का जीवन बिताने की आशाओं पर पानी फेर देता है। उनके लिए सारे द्वार बंद कर उन्हें तिल-तिल कर जलने को बाध्य करता है। यह अभागी युवती अपने सहृदय पति को स्वस्थ बनाने के लिए उसकी दवा-दारू में अपने सारे गहने बेचकर जब भूखों मरने की स्थिति को पहुँच जाती है तो महादेवी की ख्याति सुनकर उनके पास कुछ काम पाने की आशा से आती है। उस दीन-हीन युवती के साथ मातृ-गृह, पति-गृह और समाज द्वारा किये गये अन्याय को सुनकर, उसकी वास्तविक स्थिति तथा चारित्रिक गरिमा का परिचय पाकर जो प्रतिक्रिया समाज के प्रति क्षोभ एवं आक्रोश उनके मन में उत्पन्न होता है, उसी का वर्णन यहाँ किया गया है।

व्याख्या– उस बरसात की रात में युवती से बातचीत करने के उपरांत लेखिका को पता चला कि वह वेश्या पुत्री है जिसके पिता, कुल, वंश आदि का कुछ पता नहीं है अत: जिसे समाज ने पतिता, कुलटा, दुष्चरित्रा कहकर बहिष्कृत कर दिया है। एक उदार हृदय और प्रगतिशील विचारों वाले युवक ने अपने माँ-बाप की इच्छा के विरुद्ध उससे विवाह कर लिया जिसके फलस्वरूप इन दोनों पति-पत्नी को उनके परिवारवालों ने त्याग दिया। प्रतिष्ठित परिवार में कुलवधू और गृहिणी बनने का अधिकार केवल उस युवती को मिलता है जो समाज द्वारा निर्धारित शर्तों को पूरा करे-कुलीन हो, समाज द्वारा विवाह के लिए योग्य मानी जाय, अग्नि की प्रदक्षिणा कर भांवरे डाले और जिसे उसके ससुरालवाले स्वीकार कर डोली में बिठाकर घर ले जाएँ। यह युवती वेश्या के गर्भ से पैदा हुई थी अत:

नोट

इन सब शर्तों को पूरा करने में असमर्थ थी। यदि वह वेश्या वृत्ति अपना कर पतिता का आचरण करती, नवयुवकों को भ्रष्ट कर, अनेक परिवारों का दांपत्य जीवन नष्ट करती तो समाज उस सबके चुपचाप सहन कर लेता, उसकी अनुमति उसे मिल जाती। परंतु उसने वह पाप-मार्ग न अपनाकर यदि विवाह-बंधन में बंधकर सती-साध्वी सद्गृहिणी का जीवन बिताने की कामना की और उसमें सफल भी हुई, तो उसे उसका दु:साहस अनैतिक, मर्यादाविरुद्ध, समाज-द्रोही कृत्य मानकर उसका तिरस्कार किया गया, पत्नी-पत्नी को समाज से बहिष्कृत किया गया और उन्हें कष्टपूर्ण जीवन बिताने के लिए बाध्य किया गया। सच्चरित्र, गुणवान, सुयोग्य, सुशील होते हुए भी उसे कुलवधू बनने के अधिकार से केवल इसलिए वंचित किया गया क्योंकि वह वेश्या की बेटी थी। जिस प्रकार अछूतों को मंदिर में प्रवेश करने की अनुमति केवल इसलिए नहीं है क्योंकि वे एक जाति विशेष में पैदा हुए हैं, कर्म और चरित्र से महान होते हुए भी जन्म से निम्न जाति के हैं, इसी प्रकार वेश्यापुत्री सर्वगुणसंपन्न होते हुए भी कुलवधू बनने के अधिकार से वंचित कर दी गयी क्योंकि भले ही उसने कोई अपराध नहीं किया था, उसकी माँ ने समाज की मर्यादा के विरुद्ध आचरण ही नहीं किया था, उसे जन्म भी दिया था। अत: मां के अपराध के लिए बेटी को दंड देना समाज ने उचित समझा।

आगे लेखिका समाज पर व्यंग्य करती हुई कहती हैं कि समाज के पास अपने नियम-कानून-विधि-विधान की एक जादुई छड़ी है जिसके स्पर्श से लोहा सोना बन जाता है, पतिता भी साध्वी हो जाती है, लाखों चूहा खानेवाली बिल्ली भी हज कर कुलवधू बन जाती है। समाज का यह विधि-विधान प्रवेश-पत्र है, पासपोर्ट है जिसके अभाव में सती-साध्वी होते हुए भी नारी को गृहिणी के मंदिर में प्रवेश नहीं करने दिया जाता। समाज जिसे चाहे उसे प्रमाण-पत्र दे देता है, वह निरंकुश है, विवेकहीन है, स्वार्थी है संकीर्ण मनोवृत्ति वाला और रूढ़िवादी है। इसी का परिणाम है दुष्चरित्राएँ कुलीन कहलाकर राज करती हैं और निरपराध सती-साध्वी स्त्रियाँ समाज द्वारा लांछित-तिरस्कृत होकर या तो दर-दर की भीख मांगती हैं या फिर कोठों पर बैठकर समाज को और दूषित बनाती हैं।

विशेष– (1) लेखिका ने समाज-व्यवस्थापकों के रूढ़िवादी विचारों, मान्यताओं और नियमों पर तीखा प्रहार कर जागरूक पाठकों को सचेत किया है।

(2) अपनी मानवतावादी दृष्टि के कारण वह जन्म को नहीं कर्म को प्रतिष्ठा की कसौटी मानती हैं। 'जन्मनाभवति ब्राह्मण:' को अस्वीकार कर 'करुणा भवति ब्राह्मण:' को स्वीकार करती हैं।

(3) माता द्वारा किये गये अपराध का दंड पुत्री को देना अत्यंत अनुचित एवं अन्यायपूर्ण है।

(4) पुरुष-प्रधान समाज की कटु अलोचना की गयी है।

(3) भगवान के विराट रूप के समान ही मनुष्य के विराट रूप की अर्चना का अधिकार इन्हीं को प्राप्त है, पर जब यह अपनी दुर्बुद्धि से अनुशासन भंग कर देती हैं, तब इनका अपराध अक्षम्य हो उठता है। इन्हें जानना ही चाहिए कि जिसने ऊँचे स्वर्ग की सृष्टि की है, उसी ने नीचे पाताल की रचना भी की है। यदि पाताल के सब जीव जंतु स्वर्ग की ओर दौड़ पड़ें तो सृष्टि एक दिन भी न चले।

शब्दार्थ– विराट=विशाल, महान। **अर्चना**=पूजा, आराधना, सेवा। **अनुशासन**=समाज के बनाये नियम, विधि-विधान।

प्रसंग– प्रस्तुत गद्यांश महादेवी कृत रेखाचित्र 'अभागी स्त्री' से उद्धृत किया गया है। वेश्या समाज की अपार सेवा करती है। वह कामायुक्त, विलासी पुरुषों की कामाग्नि में स्वयं को आहुति की तरह समर्पित होकर समाज के कालुष्य, भ्रष्टाचार, अनैतिक कर्मों को रोकने का कार्य करती है। समाज की वासनाओं और उच्छृंखल प्रवृत्तियों की दुर्गंधपूर्ण टोकरी ढोकर वह समाज को और अधिक गंदा तथा मलिन होने से बचाकर समाज के लिए अत्यंत उपयोगी कार्य करती है। इसी कटु सत्य को बताती हुई महादेवी व्यंग्यपूर्ण शैली में टिप्पणी करती हैं।

व्याख्या– बाइबिल आदि धर्म-ग्रंथ कहते हैं कि परमात्मा ने पुरुष को अपना रूप दिया, अपनी छवि प्रदान की अत: पुरुष भगवान का ही रूप है। भारतीय धर्म तथा दर्शन से संबंधित ग्रंथ भी आत्मा को परमात्मा का अंश बताते हैं। जिस प्रकार भगवान के विराट रूप की पूजा करना सबका कर्त्तव्य है उसी प्रकार उसके अंश पुरुष की

नोट

पूजा-आराधना-सेवा करना भी परम धर्म है, परम कर्त्तव्य है। यही समझ कर समाज ने वेश्याओं के लिए विधान बनाया कि वे पुरुष मात्र की सेवा, पूजा, अर्चना करें अर्थात् उसकी संपूर्ण इच्छाएं पूरी करें, उसकी काम-वासना की आग शांत करने के लिए वासना के अग्नि-कुंड में अपनी आहुति देती रहें। यही उनका सबसे बड़ा धर्म-कर्म है, दायित्व है, कर्त्तव्य है। इसी दायित्व को निभाने के लिए परमात्मा ने उन्हें जन्म दिया है अत: उनका एक मात्र कर्त्तव्य-कर्म है जीवन-भर पुरुषों की कामाग्नि को शांत करना। यदि वे ऐसा नहीं करतीं तो धर्म-पथ से च्युत तो होती ही हैं, समाज के विधि-विधान का उल्लंघन कर अनुशासन-भंग करने, मर्यादा-विरुद्ध आचरण करने का भी अपराध करती है। और यह अपराध अक्षम्य है, इसके लिए कठोर दंड दिया जाना चाहिए।

अत: वेश्या के गर्भ से उत्पन्न कन्या को केवल वेश्या बनकर रहना है, आजीवन पुरुषों की कामाग्नि को शांत करने के लिए अपने शरीर और मन की आहुति देनी है। उन्हें चुनाव करने का भी अधिकार नहीं है। जो है, जैसा है– वृद्ध, रोगी, कोढ़ी, विकलांग, नपुंसक-उसी की अंकशायिनी बनकर अपना शरीर अर्पित करना है। इस पूजा-अर्चना-सेवा, आत्मदमन-बलिदान का फल क्या मिलता है? समाज उसे पतिता, छलना, कुलटा, पुरुष को धोखा देने वाली, प्रवंचिका कहता है। समाज की इतनी बड़ी सेवा करने वाली, उसकी सुरक्षा करने वाली इस समाज सेविका का समाज तिरस्कार करता है, उसे लांछित करता है, उसे पतिता कहकर उसकी उपेक्षा करता है। यह है हमारे पुरुष-प्रधान समाज की दूषित मनोवृत्ति, कलुषित मानसिकता, कृतज्ञता। यदि कोई पवित्रात्मा, सरल, निश्छल स्वभाव वाली वेश्या कन्या समाज के इस अनुशासन का, विधि-विधान का क्रूर नियमों का उल्लंघन कर वेश्या-वृत्ति त्याग कुलवधू बनने का दुस्साहस करती है, गंदा पेशा छोड़कर भद्र समाज में प्रवेश करना चाहती है, सती-साध्वी पत्नी बनकर अपना जीवन बिताना चाहती है, तो यह क्रूर समाज उसके इस साहस की निंदा करता है, उसे घोर अपराध बताकर उसे कठोर दण्ड देता है। समाज इतना निष्ठुर, स्वार्थी एवं रूढ़िवादी है कि वह इस युवती के सद्गुणों को, उसके शील, सद्भावों की इज्जत नहीं करता, उसे अपने जीवन को सुधारने का अवसर नहीं देता। वह चाहता है कि वह अभागिन सारा जीवन नरक की यातना भोगे, कीचड़ में पड़ी रहे, यदि कीचड़ में से कमल उत्पन्न होने का अवसर मिलता हो, तो वह उससे भी उसे वंचित रखता है। इस प्रकार हमारा समाज और उसके नियम ही वेश्या-वृत्ति को अमर बनाये हुए हैं।

आगे वह व्यंग्य करती हुई कहती हैं कि इन वेश्या-पुत्रियों को यह जानना-समझना चाहिए कि भगवान ने एक और स्वर्ण-लोक की सृष्टि की है जिसमें केवल देवी-देवता, धर्मात्मा, सच्चरित्र लोग रहते हैं। केवल उन्हीं को स्वर्ग में प्रवेश करने तथा वहाँ के सुख-सुविधापूर्ण जीवन बिताने का अधिकार है। दूसरी ओर भगवान ने पाताल लोक की सृष्टि की है जहाँ केवल कीट-पतंग, पापी, अधर्मी, कलुषित चरित्रवाले जीव निवास करते हैं, नाना प्रकार के कष्ट भोगते हैं और जन्म-जन्मांतर तक यही क्रम चलता रहता है। उन्हें पाताल लोक छोड़कर स्वर्ग की ओर आंख उठाकर देखने का भी अधिकार नहीं है, वहाँ जाने की कामना करना या जाने के लिए चरण बढ़ाना तो घोर अक्षम्य अपराध है। यदि उन्हें ऐसा करने दिया जाय, तो विधाता की रची सृष्टि अनुशासन-भंग के कारण दो दिन भी न चल पाये। यही बात वेश्याओं के संबंध में भी सत्य है। परमात्मा ने उनके लिए अलग बस्ती बनायी है, उनके कार्य अलग से निर्धारित किये हैं। उन्हें समझ रखना चाहिए कि जो जीवन के जरिए हैं वे परमात्मा के विधान के अनुरूप है, उसी की बनायी व्यवस्था का परिणाम है और उसकी आज्ञा का उल्लंघन करना, उसके आदेशों का पालन न कर सती-साध्वी बनने, कुलवधू सद्गृहिणी बनने का स्वप्न देखना, उसके लिए प्रयत्न करना परमात्मा के विधान में हस्तक्षेप करने के समान घोर अपराध होगा और ऐसे अपराध का दण्ड भी ऐसा भयानक होगा कि नरक के कष्ट भोगनेवाले भी उसकी कल्पना कर आतंकित हो उठेंगे। अत: वेश्या-पुत्रियों को अपने भाग्य पर संतोष कर, उसे ईश्वरीय विधान मानकर चुपचाप उस नरक में ही पड़े रहना चाहिए।

विशेष– (1) लेखिका के विचार वेश्याओं, विशेषत: वेश्या-कन्याओं के प्रति अत्यंत उदार एवं विवेकसंपन्न हैं।

(2) वह पुरुष-समाज को वेश्या-वृत्ति के लिए उत्तरदायी ठहराकर एक कटु सत्य को उद्घाटित करती है।

(3) भाषा-शैली में एक ओर साहित्यिक गरिमा और औदात्य है और दूसरी ओर व्यंग्य की तीखी धार भी।

(4) समाज इन्हें न जाने कितने दीर्घ काल से, कितने ही उपायों के द्वारा समझाता आ रहा है कि यह माता, पुत्री, पत्नी आदि त्रिगुणात्मक उपाधियों से रहित जीवनमुक्त नारी-मात्र है और इनकी इसी मुक्ति

नोट

से समाज का कल्याण बंधा हुआ है। फिर भी यदि यह अपने गुरु कर्त्तव्य से च्युत होकर पत्नीत्व, मातृत्व आदि संबंधों को चुराती फिरें तो समाज चुराई हुई वस्तु पर इनका स्वत्व स्वीकार करके क्या अपना विधान ही मिथ्या कर दे?

शब्दार्थ– त्रिगुणात्मक उपाधियाँ=तीन गुणों तथा उनके अनुरूप तीन नाम। **जीवनमुक्त**=जीवन और उसके सुख-दुख से निर्लिप्त, संन्यासी, विरक्त। **गुरु**=भारी, महान, गंभीर। **च्युत**=हटकर, गिरकर, फिसल कर। **स्वत्व**=अधिकार, **विधान**=कानून, व्यवस्था, आचार-संहिता।

प्रसंग– प्रस्तुत पंक्तियाँ महादेवी वर्मा के रेखाचित्र 'अभागी स्त्री' से अवतरित की गयी हैं। वेश्या-पुत्री के साथ समाज द्वारा किये गये अन्याय और दुर्व्यवहार के विषय में बताते हुए वह समाज की व्यवस्था एवं आचार-संहिता पर प्रहार करती हुई तथा नारी के मुक्ति-आंदोलन का समर्थन करती हुई लिखती हैं।

व्याख्या– समाज में नारी के गुणों, कार्यों तथा मनोभावों को देखते हुए प्रमुखत: तीन रूप हैं–संतान को कार्य में धारण करने तथा उसे जन्म देने वाली माँ, पुत्री तथा पति की सेवा करने वाली, उसकी गृहस्थी की देखभाल करने वाली पत्नी। वेश्या और वेश्या-पुत्रियों से अपेक्षा की जाती है, उन्हें बाध्य किया जाता है कि वे केवल लंपट, कामी, विलासी पुरुषों की कामाग्नि शांत करने का साधन बनी रहें, अपने संगीत, नृत्य और काम-केलियों से उनका मनोरंजन करती रहें। उन्हें समझाया जाता रहा है कि उनके जीवन की उपयोगिता और सार्थकता केवल वेश्या बने रहने में है। अत: उन्हें किसी की मां या पत्नी बनने का विचार तक अपने मन में नहीं लाना चाहिए। मां या पत्नी का जीवन तो उन्हें नाना प्रकार के सामाजिक-पारिवारिक दायित्वों को निबाहना पड़ेगा। वे सब प्रकार के बंधनों, दायित्वों औ कर्तव्यों से मुक्त होकर अपनी इच्छा के अनुसार जैसा-चाहें वैसा जीवन बिता सकेंगी। वेश्या बने रहने में ही उनका स्वयं का हित है और समाज का कल्याण भी। वे स्वयं भी भोग-ऐश्वर्य, तड़क-भड़क का जीवन जी सकेंगी और समाज उच्छृंखल, कामुक पुरुषों को भी अपने में उलझाकर व्यभिचार, दुराचार की आग को फैलने से रोक सकेंगी। अत: उन्हें अपने और समाज दोनों के हित के लिए वेश्या बना रहना चाहिए, पत्नी, माँ बनने की बात सोचनी तक नहीं चाहिए। यह बात इन पतिता कही जाने वाली स्त्रियों को समाज, और उसके पुरोधा, धर्मशास्त्र, नीति-ग्रंथ न मालूम कितनी सदियों से तरह-तरह के तर्क, दृष्टांत और चापलूसी भरी बातें कहकर समझाते आ रहे हैं। इस पर भी यदि कोई वेश्या-पुत्री समाज के नियम-कानून, विधि-विधान का उल्लंघन कर वेश्यावृत्ति त्याग कर सद्गृहिणी, पत्नी या कुलवधू बनने के लिए प्रयास करती है तो समाज उसके दुस्साहस को, नियम-भंग के अपराध को सहन नहीं कर पाता। वह उनके इस प्रयास को चोरी कहता है। वह आरोप लगाता है कि वे पत्नीत्व या मातृत्व की चोरी करती हैं और चोरी करना सर्वत्र, सभी समाजों तथा सभी कालों में दण्डनीय अपराध माना गया है अत: ऐसी दुस्साहसी जानबूझ कर, निषिद्ध पाप-कर्म करने वाली स्त्री को दण्ड देना न्याय-संगत है, समाज के हित में है। जिस प्रकार चोर को चोरी करने का दण्ड न देना, उसे अपराध करने के लिए प्रोत्साहित करना है और ऐसा प्रोत्साहन समाज में व्यवस्था, अराजकता, अनुशासनहीनता एवं अशांति को जन्म देगा इसी प्रकार वेश्या-पुत्री को वेश्या-वृत्ति त्याग कर किसी पुरुष के साथ विवाह-बंधन में बंधकर पत्नी और माँ बनने की अनुमति देना घोर अनैतिक, समाज-विरोधी, कार्य होगा और इसके परिणामस्वरूप समाज की व्यवस्था चरमरा जाएगी, पापाचार बढ़ेगा, काम, लम्पट पुरुष परिवारों की भोली-भाली कन्याओं का शीलहरण करेंगे। अत: यह समाज के व्यापक हित में ही है कि वेश्याओं को वेश्या ही बने रहने दिया जाय, उन्हें उस नारकीय जीवन से मुक्त करने के लिए न तो कोई प्रयास किया जाय और न उन्हें स्वयं इसका कोई अवसर दिया जाय।

विशेष– (1) समाज के अन्यायपूर्ण, स्वार्थी एवं अनैतिक विधि-विधान पर करारी चोट की है।

(2) नारी की विवशता पर सहानुभूति दिखाई है।

(3) भाषा-शैली में तार्किकता भी है और व्यंग्य भी।

(4) शब्द-चयन उपयुक्त है विशेषत: 'चुराती फिरें।'

(5) यह अपने विद्रोही पति के साथ सही ही क्यों न हो जावे, परंतु इसके रक्त के अणु-अणु में व्याप्त मलिन संस्कार कैसे धुल सकेगा! स्वेच्छाचार से उत्पन्न यह पवित्रता की साधना उस शूद्र की तपस्या के समान ही बेचारे

नोट

समाज की वर्ण-व्यवस्था का नाश कर रही है, जिसका मस्तक काटने के लिए स्वयं मर्यादा पुरुषोत्तम दौड़ पड़े थे।

शब्दार्थ– विद्रोही पति=वह युवक जिसने अपने माता-पिता, परिवार समाज की इच्छा के विरुद्ध उस वेश्या-पुत्री के साथ विवाह कर विद्रोह का शंखनाद फूंका था। **पवित्रता की साधना**=पातिव्रत्य धर्म का निर्वाह करते हुए गृहिणी का जीवन बिताना। **शूद्र**=शंबूक नामक शूद्र जिसने राम के राज्यकाल में तपस्या की थी और धर्म के व्यवस्थापकों ने आरोप लगाया था कि शूद्र की तपस्या के कारण वर्षा नहीं हो रही है, अकाल पड़ रहा है और उनकी बात मानकर मर्यादा पुरुषोत्तम कहे जाने वाले राम ने उसकी हत्या की थी। **वर्ण-व्यवस्था**=समाज को चार वर्णों-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र में विभाजित कर उन्हें अलग-अलग कार्य करने का विधान जिसके कारण अस्पृश्यता आदि दुर्गुण उत्पन्न हुए, भेदभाव बढ़ा तथा अत्याचार हुए। **पुरुषोत्तम**=भगवान राम।

प्रसंग– ये पंक्तियाँ महादेवी वर्मा द्वारा लिखित रेखाचित्र 'अभागी स्त्री' से ली गयी हैं। वेश्या-पुत्री ने एक उदार हृदय युवक से विवाह कर लिया पर घरवालों एवं समाज ने इस पवित्र बंधन को स्वीकृति नहीं दी, विरोध किया और पति-पत्नी की इस प्रकार प्रताड़ना की कि उनका जीवित रहना दुर्भर हो गया। इसी अनीतिपूर्ण, क्रूर एवं विवेकहीन समाज-व्यवस्था पर कटाक्ष करती हुई महादेवी कहती हैं।

व्याख्या– वेश्यापुत्री यदि सती-साध्वी हो, निर्मल चरित्र एवं सुशील हो, यदि विधिपूर्वक किसी युवक से विवाह कर ले तो उसे अपवित्र, पतिता, लांछिता मानने पीछे क्या तर्क है, क्या न्याय है? वह किसी भी सती-साध्वी स्त्री के समान पौराणिक सुलोचना और सावित्री के समान अपने मृत पति के शव के साथ चिता में जीवित जलने के लिए भी प्रस्तुत है। इससे अधिक सतीत्व की और क्या कसौटी हो सकती है। फिर भी समाज यदि उसे मलिन कहे, पापाचारिणी, पतिता कहे तो यह समाज का अविवेक, दुराग्रह और अन्याय ही है पर समाज सदियों से यही करता रहा है और पता नहीं कब तक वह हठधर्मिता करता रहेगा। वह समझता है कि वेश्या के गर्भ से उत्पन्न होने के कारण उसके शरीर का अंग-अंग, रक्त का अणु-अणु इतना मलिन हो चुका है कि न गंगा का पवित्र जल और न सब कुछ भस्मीभूत कर देने वाली अग्नि उसकी मलिनता को प्रक्षालित या भस्मीभूत कर सकते हैं। एक बार संयोग से कलंक का टीका जो उसके माथे पर लग गया वह कभी भी लाख प्रायश्चित करने, तप, साधना, पवित्र आचरण करने पर भी नहीं धुल पायेगा। समाज उसकी पवित्र साधना को, साध्वी जीवन बिताने के निर्णय और विवाह के पवित्र बंधन में बंधने को भी वैसा ही पाप, दृष्कृत्य, जघन्य अपराध मानता है जैसे रामराज्य में शंबूक के शूद्र होने पर भी तपस्या करने को पाप माना गया था और उसे दण्ड देने के लिए भगवान राम को उकसाया गया था। राम त्रेता युग में हुए थे, वह भगवान के अवतार माने जाते हैं, वह मर्यादापुरुषोत्तम कहे जाते हैं, राम-राज्य और उसकी व्यवस्था आदर्श मानी जाती है फिर भी उन्होंने समाज और धर्म के व्यवस्थापकों के आदेश पर तपोभूमि में तपस्या करते निरपराध शंबूक का वध किया था। फिर आज तो कलियुग है, और समाज तथा धर्म के व्यवस्थापक भी उतने ज्ञानी, विवेकसंपन्न एवं उदार नहीं हैं जितने त्रेतायुग के थे, अत: यदि आज वेश्या पुत्री के सद्कर्म को, उसकी साधना को पाप कृत्य कहकर, समाजविरोधी दण्डनीय अपराध मानकर उसे प्रपीड़ित किया जाता है तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। पुरुष समाज सदा से ऐसा ही क्रूर, स्वार्थी और स्त्री-द्रोही रहा है। वर्ण-व्यवस्था और उससे उत्पन्न भेद-भाव, अन्याय पहले भी थे, आज भी हैं।

विशेष–(1)पुरुष-प्रधान समाज की अनीति, वर्ण-व्यवस्था के कारण होने वाले अन्याय पर करारी चोट की गयी है।

(2) मिथकीय प्रसंग (शंबूक कथा) का बहुत ही सटीक और सार्थक प्रयोग।

(3) भाषा-शैली काव्यात्मक।

(4) महादेवी का क्रांतिकारी व्यक्तित्व और नारी जाति के प्रति सहानुभूति एवं उसे न्याय दिलाने की चिंता।

(5) 'बेचारे समाज' में तीखा व्यंग्य है।

(6) लेखिका ने राम के अनीतिपूर्ण कार्य के लिए उनको भी नहीं बख्शा है। यह उनका साहस है।

नोट

13.3 शब्दकोश

1. **प्रमुदित–** हर्षित, आनंदित
2. **निष्प्रभ–** प्रभाहीन, विवर्ण
3. **करुणा विगलित–** दु:ख की अतिशयता, दु:ख से परिपूर्ण
4. **प्रवंचिता–** धोखा खाई हुई, ठगी हुई

13.4 अभ्यास-प्रश्न

1. रेखाचित्र 'भाभी' की कथा अपने शब्दों में लिखिए,
2. अभागी स्त्री का कथासार लिखिए।

उत्तर: स्व-मूल्यांकन

1. (✓) 2. (×) 3. (✓) 4. (✓) 5. (×)

13.5 संदर्भ पुस्तकें

1. *अतीत के चलचित्र–महादेवी वर्मा,* लोकभारती प्रकाशन, दिल्ली।
2. *हिंदी के श्रेष्ठ रेखाचित्र–* चौथीराम यादव, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
3. *महादेवी–दूधनाथ सिंह–*राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

नोट

इकाई 14: अतीत के चलचित्र: प्रमुख पात्रों का चरित्र-चित्रण

अनुक्रमणिका

उद्देश्य

प्रस्तावना

14.1 प्रमुख पात्रों का चरित्र चित्रण

14.1.1 रामा

14.1.2 भाभी

14.1.3 सबिया

14.1.4 बिट्टो

14.1.5 अभागी स्त्री

14.2 सारांश

14.3 शब्दकोश

14.4 अभ्यास-प्रश्न

14.5 संदर्भ पुस्तकें

उद्देश्य

विद्यार्थी इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् सक्षम होंगे–

- अतीत के चलचित्र के महत्त्वपूर्ण पात्रों के चारित्रिक वैशिष्ट्य को समझने में।

प्रस्तावना

महादेवी वर्मा ने अपने संस्मरणात्मक साहित्य पर जो टिप्पणी की है, वही उनकी रचनाओं की सच्ची समीक्षा है, "अतीत में मिले-खोये व्यक्तियों या पशु-पक्षियों को स्मरण करते समय कभी-कभी मेरे इतने आंसू गिरे हैं कि लिखा हुआ कागज गीला हो जाने के कारण नष्ट हो गया है और कभी-कभी हंसी ने मुझे इतना अस्थिर कर दिया है कि मेरी लिखावट टेढ़ी-मेंढ़ी हो गयी है। मेरे संस्मरणों में मेरे आंसू और हंसी ही नहीं अनेक तीव्र आवेगों के गहरे चिह्न अलग-अलग पहचाने जा सकते हैं।"

महादेवी की दृष्टि व्यापक एवं हृदय अत्यंत उदार है। अत: उनके रेखाचित्रों-संस्मरणों का विषय-क्षेत्र भी अत्यधिक विशाल है। साहित्य सहचर यात्रा-संबंधी संस्मरण, यात्रा में मिले व्यक्ति अड़ोस-पड़ोस के दीन-दु:खी, और पशु-पक्षी सभी के स्मृति-चित्र बड़ी आत्मीयता से उकेरे गये हैं पर अधिकांश रचनाएँ समाज द्वारा उपेक्षित, पीड़ित तथा शोषित उन व्यक्तियों से संबद्ध हैं जिनके सहज मानवीय गुणों ने उनके हृदय को कभी भावाभिभूत किया, कभी नेत्रों को अश्रुपूरित तथा कभी जिनके ऊपर होने वाले अत्याचारों ने उसकी फूल बरसाने वाली लेखनी को अंगार उगलने के लिए बाध्य कर दिया, स्वयं नारी एवं पुरुष प्रधान समाज द्वारा उत्पीड़ित नारी होने के कारण उनके रेखाचित्रों की मुख्य विषय थी नारी, नारी के विविध रूप, उसके जीवन की समस्याएँ तथा उसके कष्ट एवं पीड़ा ही रहे हैं। अत: कहीं उनेंनं पूरी मानवीयता, सहृदयता एवं करुणासिक्त लेखनी से उनकी करुण कथा की है तो कहीं समाज पर गहरी, करारी, व्यंग्यात्मक चोट की है।

नोट

समाज में व्याप्त सड़ी-गली रूढ़ियों के विरुद्ध निरंतर कहीं मौन तो कहीं मुखर संघर्ष का स्वर इनके रेखाचित्रों में सतत सुनाई देता है ओर करुणा की अजस्र स्रोतस्विनी बहकर पाठकों के हृदय को करुणा विगलित करती है। यहाँ उनके कुछ पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं का विवेचन प्रस्तुत है।

14.1 प्रमुख पात्रों का चरित्र-चित्रण

14.1.1 रामा

बाल सुलभ सरलता एवं ममता की प्रतिमूर्ति रामा बुंदेलखंड का एक साधारण ग्रामीण बालक था जिसे अपनी विमाता के कठोर और क्रूर अत्याचारों के कारण बचपन में ही अपना घर-परिवार त्याग कर देश परदेश भटकना पड़ा था और सौभाग्यवश महादेवी वर्मा की ममतामयी, धर्मपरायण एवं सहृदय माता के आश्रय में कुछ समय बिताने का अवसर मिला था। लम्बी चुटिया, संकीर्ण माथे पर घनी भौंहों, छोटी-छोटी आँखों, अनगढ़ मोटी नाक, फैले हुए नथुने, फूले हुए काले होंठ और उनमें बीच सघन सफेद दांतों वाला यह ग्रामीण युवक कुल मिलाकर कुरूप ही कहा जा सकता है। उसकी सांप के पेट जैसी सफेद हथेली, पेड़ की टेढ़ी-मेढ़ी गाँठदार टहनियों जैसी उंगलियाँ और काले पैरों को देखकर ही महादेवी के पिता पहले आश्चर्य चकित रह गये थे और फिर हँसते-हँसते बोल उठे थे, "यह किस लोक का जीव ले आये हैं, धर्मराज जी!" पर उसकी इस शारीरिक कुरूपता एवं बेढंगेपन के आवरण में छिपा था एक सरल, ममताभरा, सहृदय, सहिष्णु, सेवापरायण, निश्छल, पवित्र हृदय जिसको केवल संवेदनशील एवं सहानुभूति प्रवण हृदय तथा मर्मभेदी आँखें ही पहचान सकती हैं। तभी तो जिसे पिता के कुरूप कहकर मजाक किया पर उसे माता ने सुपात्र समझकर मन्द स्थायी नौकर होते हुए भी स्थायी शरण देने का निश्चय किया था और इससे हनुमान से भी अधिक निष्ठावान एवं सेवापरायण भृत्य ने उनके विश्वास और भरोसे को तनिक भी ठेस न लगने दी थी।

रामा या तो अपनी कुरूपता और बेडौल अंगयष्टि से अपरिचित था या उसके प्रति उदासीन। अत: वह अपने अंगों को सावधानी से वस्त्रों में छिपाने की कोशिश नहीं करता था। हाँ, वह अपनी वेशभूषा को सुरक्षित रखने के प्रति पूर्ण सतर्क था अत: परिवार के बच्चे लाख चेष्टा करने पर भी उसके कुर्ते, पगड़ी, बुंदेलखण्डी जूतों तथा गठीली लाठी को कोई नुकसान नहीं पहुँचा पाये। वह इन सब वस्तुओं को भिखारी के धन की तरह अपनी अंधेरी कोठरी में पूर्ण सतर्कता के साथ सुरक्षित रखता था।

सेवा-भाव एवं कर्त्तव्य-निष्ठा रामा में कूट-कूट कर भरी थी। इन गुणों को उसने संस्कार स्वरूप पाया था। अत: पहले दिन से ही अपना कार्य-भार समझने के बाद वह प्रात: से रात्रि तक अपने काम में जुटा रहता था। यद्यपि उसका प्रधान दायित्व था घर के तीन बच्चों की देखभाल करना, उनका सारा कार्य करना और उसका अधिकांश समय बच्चों को प्रात: काल सोते से उठाने, उनके हाथ-मुँह धुलाने, नाश्ता कराने, स्नान कराने, भोजन कराने, खेल-कूद में हिस्सा लेकर उनका मनोरंजन करने और रात्रि के भोजन के बाद उन्हें सोने से पहले लोरियाँ गाने तथा कहानी कहने में ही बीतता था, फिर भी वह घर के अन्य काम करने का भी मौका निकाल लेता था। बच्चों को उठाने से पूर्ण पूजा घर की सफाई करना और पूजा के पात्रों को नीबू से रगड़कर चमकाना भी उसकी दिनचर्या का अभिन्न अंग बन गया था।

बच्चों के प्रति ममता, उनके लिए प्रगाढ़ स्नेह, उनके स्वास्थ्य की चिन्ता, सेवा-भाव देखकर लगता था कि वह सेवक नहीं, उन बच्चों का वात्सल्यपूर्ण अभिभावक है। प्रात: से रात तक तो वह बच्चों की देखभाल करता उनके प्रक्षालन, खान-पान, मनोरंजन आदि का ध्यान रखता और अपने सेवा भाव में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं आने देता था, बीमार होने पर जिस तरह उनकी सेवा-सुश्रुषा करता, उनके विषय में चिन्तित रहता और उनके पथ्य तथा औषधि का ध्यान रखता, वह सब इस युग में आश्चर्य चकित कर देता है। भाई के चेचक निकलने पर वह शेष दो बच्चों को लेकर मकान के ऊपर खंड में जाकर रहा और उन्हें इतना लाड़-प्यार, स्नेह-ममता दी कि बच्चे अपने भाई को भी भूल गये, परिवार के अन्य सदस्यों–माता-पिता की याद तक न आयी। इसी प्रकार प्लेग फैलने के दिनों जब अचानक महादेवी ने अपने कान के पीछे गिल्टी निकलने की बात रामा को बताई तो वह बेचारा

नोट

सन्न रह गया और फिर उसने ईंट के गर्म टुकड़े को गीले कपड़े में लपेटकर दो दिन और दो रात बिना सोये उनके बिछौने के पास बैठ सिकाई करता रहा, रात-दिन भगवान का जाप करता रहा, देवी-देवताओं की मनौतियाँ मनाता रहा और जब गिल्टी गई तो सन्तोष की सांस ली। इसी अथक सेवा-भाव एवं परिचर्या का परिणाम था कि उसके स्वयं गिल्टी निकल आयी और वह बहुत बीमार रहा। उसकी सेवा-भावना एवं बच्चों के प्रति स्नेह अहेतुक था। तभी तो जब माँ ने कृतज्ञता प्रकट करते हुए उससे कहा, "तुमने इसे बचा लिया था रामा!" तो उसने केवल अपने हाथ बढ़ाकर माँ के चरण छूकर आर्द्र वाणी में मन ही मन कुछ कहा था और उसकी आँखें डबडबा आयी थीं।

बच्चों के प्रति उसके स्नेह-सागर की थाह लगाना कठिन है। वह बच्चों की न केवल देखभाल करता था, उनके मनोरंजन और दिलबहलाव के लिए नए-नए साधन-खिलौने, गीत, लोरियाँ, कहानियाँ आदि जुटाता था, उनके अपराध भी छिपाता था, उन अपराधों को अपने सिर ओढ़कर दण्ड सहने के लिए भी तत्पर रहता था। मेले में महादेवी के खोने का कारण स्वयं उनका अहंकार भाव, धृष्टता एवं उद्दण्डता थी पर मेले से लौटने के बाद उसने उनके खो जाने के लिए स्वयं को उत्तरदायी घोषित किया और इस प्रकार जो दण्ड महादेवी को मिलना चाहिए था, वह स्वयं भोगा, "पर मेरे अपराध को अपने ऊपर लेकर डाँट-फटकार भी रामा ने ही सही, और हम सबको सुलाते समय उसकी वात्सल्य भरी थपकियों का विशेष लक्ष्य भी मैं ही रही।" इसी प्रकार ठाकुर साहब के यहाँ चोरी के लिए उकसाने का मूल कारण स्वयं उसने अपने आप को माना और सोच के कारण महादेवी के कान भी ऐंठे पर माँ से झूठी शिकायत होने पर न तो कोई उसने प्रतिवाद किया और न असली बात बताई क्योंकि असली बात बताने पर बच्चे ही दंडित होते। उसने बच्चों को मिलने वाल भर्त्सना एवं उपदेश का कड़वा घूंट स्वयं पीया।

अनपढ़, गँवार एवं फूहड़ होते हुए भी रामा बाल-स्वभाव से पूरी तरह परिचित था जैसे बाल-मनोविज्ञान का पंडित हो। अत: बच्चों को रिझाने में, उनका मनोरंजन करने में, उनके परस्पर झगड़े मिटाने में, सबको एक साथ सन्तुष्ट रखने में वह पूर्णत: सफल रहा। उसके पास कथा-कहानियों का अक्ष्य कोश था, लोरियाँ और ग्राम्य-गीत बड़ी तन्मयता से सुनाता था और बच्चों के बीच विग्रह का निर्णय इस प्रकार सुनाता था कि बच्चे सन्तुष्ट होकर सन्धि कर लेते थे। उसने अपनी स्वल्प बुद्धि से पता लगा लिया कि महादेवी को उर्दू और उर्दू पढ़ानेवाले मौलवी साहब से अरुचि है। अत: उसने अपने प्रयत्नों से बच्ची को उस भार से मुक्त कराया। उसके प्रयत्नों के परिणामस्वरूप माँ के पूजा-पाठ में राक्षसों की तरह विघ्न डालने वाले बच्चे शान्त रहे और माँ उनकी ओर से निश्चिन्त होकर अपने अनुष्ठानों में तन्मय होकर लगी रहीं।

उसे स्वामिनी के परिवार के बच्चों से इतना प्यार और लगाव हो गया था कि वह अपनी घर-गृहस्थी बसाने और अपनी सन्तान से सुख पाने की कल्पना ही नहीं करता था। माँ के बार-बार आग्रह करने पर कहता था, "बाई की बातें! माये नासपिटे अपनन खौं का करने हैं, मोरे राजा हरे बने रहें-जेई अपने रामा की नैया पार लगा दैहें।" वह इन बच्चों के मनोरंजन के लिए अपने भावी बच्चों को मारने-पीटने की बातें करता था, उन्हें गालियाँ देता था। इन्हीं बच्चों के प्रति ममता के कारण उसकी अपनी ईर्ष्यालु पत्नी से नहीं बन सकी, उसकी बच्चों के प्रति ईर्ष्या और बेरुखी के कारण दोनों के बीच कलह रहने लगी और अन्त में पत्नी रूठ कर अपने मायके चली गयी। बच्चों के स्नेह के कारण ही वह अपनी नवविवाहिता पत्नी के मोह में न फंसा बल्कि उसके जाने के बाद उसे ऐसे भूल गया "जैसे वह पानी की लकीर हो।" बाध्य होकर जब उसे गाँव लौटना पड़ा तो कदाचित् बच्चों का बिछोह न सहने एवं पत्नी के कलह के परिणामस्वरूप ही वह बीमार पड़ गया और फिर कभी स्वस्थ न हो सका।

सहिष्णुता में भी रामा अतुलनीय था। एक ओर उसने बच्चों के अत्याचार सहे, कोई प्रतिवाद नहीं किया, कोई शिकायत नहीं की और दूसरी ओर पत्नी के रूप, ईर्ष्यालु, कलहप्रिय स्वभाव को भी शंकर की तरह विष के समान पीता रहा। महादेवी लिखती हैं, "हम पर रामा की ममता जितनी अथाह थी, उस पर हमारा अत्याचार भी उतना ही सीमाहीन था।" पत्नी के कटु व्यवहार ने तो उसके प्राण ही ले लिये।

सारांश यह कि रामा के रूप में महादेवी ने एक सरल हृदय, निश्छल, ममतामय, कर्त्तव्यनिष्ठ, सेवापरायण एवं सहिष्णु किशोर का चित्र अंकित किया है जो स्वामी के परिवार के बच्चों के लिए जिया और उन्हीं के लिए मरा।

नोट

14.1.2 भाभी

'भाभी' नामक रेखाचित्र की अनामधन्या नायिका को लेखिका ने कोई नाम नहीं दिया है। अपने व्यक्तिगत जीवन में सगी भाभी तो क्या दूर रिश्ते की भाभी न होने तथा अपनी सहपाठिनियों से भाभी के मधुर संबंध की बात सुनकर तथा पड़ोस की बाल विधवा ममतामयी उन्नीसवर्षीय नवयुवती से स्नेह पाकर ही महादेवी ने उसे 'भाभी' मानकर उसका करुण चित्र उकेरा है। यद्यपि इस रचना के माध्यम से उन्होंने हिन्दू परिवारों की बाल-विधवाओं का, उनकी दुर्दशा, उनके साथ होनेवाले अमानवीय व्यवहार तथा समाज द्वारा प्रतारणना का प्रतिनिधि चित्र अंकित किया है परन्तु जो नवयुवती इस रेखाचित्र के केंद्र में है, उसमें अपनी निजी विशेषताएं भी थीं जिनके कारण वह विशिष्ट पात्र बन जाती है।

मारवाड़ी सम्पन्न परिवार की यह युवती दुबली-पतली, कोमलांगी और गौरवर्ण के कारण आकर्षक थी। उसके व्यक्तित्व के सर्वाधिक आकर्षक अंग थे उसकी काली आंखें तथा ओठों पर सदा क्रीड़ा करती मुस्कान। विवाह के एक वर्ष के भीतर ही जब उसकी मांग का सिंदूर पुछ गया तो उसे मृत्यु पर्यन्त विधवा का संयम, साधना एवं कठोर परिश्रम का जीवन बिताना ही था और इस दृष्टि से वह किसी तपस्विनी से कम नहीं थी। प्रायः उपवास, निराहार और निरन्तर मिताहार से दुर्बल देह प्रातः से रात तक घर-गुहस्थी के काम में जुटी रहती थी। घर-आंगन बुहारना, कुएं से पानी खींचकर गृहस्थी के काम में के लिए पर्याप्त जल-भंडार सुरक्षित रखना, कपड़े धोना, स्नान करके पूजा-पाठ करना फिर चौका-बरतन, कूटना-पसीना, भोजन बनाना, ससुर की सेवा करना-सभी काम उस अकेली के दुर्बल कंधों पर आ पड़े थे। और वह ये सारे काम बड़े मनायोग से करती थी। विशेषता यह थी कि कठोर परिश्रम करने, दिन-भर के कठोर परिश्रम से क्लान्त होने तथा नाना प्रकार के प्रतिबन्धों के कारण मानसिक रूप से घुटन महसूस करते हुए भी वह सदा मुस्कराती रहती थी, प्रतिबन्ध भी अनेक और कई प्रकार के थे। उसे व्रत-उपवास रखने पड़ते, लोहे के प्राचीर से घिरे खंडहर जैसे बड़े मकान में बिना किसी संगी-साथी के बिना किसी आमोद-प्रमोद के समय बिताना पड़ता था। केवल पूर्णिमा और अमावस्या को एक ब्राह्मणी आती थी और वह भी श्वसुर की उपस्थिति में और अपना सीधा लेकर तुरंत चली जाती थी। पहाड़-सा दिन काटते न कटता था। अतः जब श्वसुर के दुकान पर चले जाने के बाद वह द्वार पर टंगे भूरे टाट के पर्दे के पीछे खड़ी हो जाती और उसके छेदों में से बाहर का दृश्य देखकर अपना मन बहलाने की चेष्टा करती तब भी उसे व्यंग्य वाण सहने पड़ते थे। आस-पड़ोस के लोग तो कम पर स्वयं श्वसुर तथा ननद उसकी चंचलता का ढिंढोरा पीटने लगते थे। ननद के ससुराल से आने पर तो उसका जीवन नारकीय हो उठता था। इतना सब सहते हुए भी वह सदा प्रसन्न रहने की चेष्टा करती मुस्कराती रहती। यह उसकी सहिष्णुता एवं जिजीविषा का ज्वलंत प्रमाण था।

यदि उसमें कोई दुर्बलता थी (और उसे दुर्बलता कहना भी कहां तक न्यायोचित है) तो वह यह कि विधवा होने के बाद भी उसके मन में रंग-बिरंगे कसीदे-कढ़े वस्त्रों के प्रति ललक थी और इसी मोह के कारण न केवल उस निरपराध को अपने श्वसुर और ननद की बेहोश हो जाने की स्थिति तक मार सहनी पड़ी अपितु उस घटना के बाद वह युवती होते हुए भी सदा के लिए वृद्धा बन गयी।

निस्संतान होते हुए भी उसके शरीर में मां का हृदय था और उस हृदय में ममता का अक्षय भंडार भरा पड़ा था। एक आकस्मिक संयोग ने जब आठ वर्ष की महादेवी तथा उन्नीस वर्ष की बाल विधवा को मिला दिया, उनकी घनिष्ठता बढ़ती गयी और वे अन्तरंग सखी बन गयीं तो उस सरल हृदय युवती ने अपनी सारी ममता आठ वर्ष की बालिका पर उड़ेल दी। वह महादेवी के उलझे बालों को बड़ी सावधानी से सुलझाकर उनकी चोटी करती, उनके आने की आहट पाते ही द्वार खोलने दौड़ पड़ती, उनकी गुड़ियों के लिए कपड़े सिलती, अपना दुखड़ा सुनाती महादेवी से कहानियाँ सुनती। अपने कोमल एवं ममता भरे व्यवहार से उसने भावुक, संवेदनशील, परदुःखकातर महादेवी का मन जीत लिया। यही कारण है कि इन्दोर त्यागने के बाद भी लेखिका ने इस निरीह, अभागिनी, अन्याय-पीड़िता के बारे में जानने के लिए भरसक प्रयास किया और जब पता चला कि उसके वृद्ध श्वसुर उसे अकेला छोड़कर चल बसे हैं तो उनका हृदय नाना आशंकाओं से कांप उठा, "और तब . . . तब न जाने किस अनिष्ट संभावना से, न जाने किस अज्ञात प्रश्न के उत्तर में मेरे मन की सारी ममता आर्त्त-क्रन्दन कर उठती है—नहीं ·· नहीं।"

14.1.3 सबिया

नोट

सतीत्व कर्त्तव्यनिष्ठा एवं त्याग का आदर्श सबिया का विधाता ने काला वर्ण देते हुए भी उसके के अंग-प्रत्यंग को ऐसे सांचे में ढाला था कि दूर से वह सुडौल अंगों वाली युवती पेरिस प्लास्टर की मूर्ति जान पड़ती थी। अपने साज-शृंगार के प्रति भी वह उदासीन नहीं थी अत: जब कभी वह अपने पुराने रंग धुले कपड़े और छोटे-मोटे गिलट के जेवरों सेशृंगार करती तो ऐसे लगती थी जैसे हमारे सामने वह मिट्टी की मूर्ति खड़ी है जिसके सारे कच्चे रंग धुल गये हों और जहाँ-तहाँ से केवल सुडौल रेखाओं में बंधी मिट्टी झांक रही हो। मां की ममता एवं पत्नी की पति-भक्ति एवं सेवा-भाव उसे संस्कार में मिला था। अत: जब पति उसे, उसकी दो संतानों और अन्धी बूढ़ी सास को छोड़ कर दूसरी मोहिनी के रूप-जाल में फंस विदेश भाग गया तो उसने पूरी ममता से अपनी संतान की साज-संभाल की, बूढ़ी अन्धी सास की सेवा की और बहुत-कुछ जानते-समझते हुए भी पल भर को यह आशा न छोड़ी कि उसका पति एक दिन अवश्य लौट कर आयेगा। संतान के लिए ही उसने नौकरी की तलाश की और महादेवी जी के यहां काम पाकर तन-मन से उस काम में जुट गयी। वह एक मास के बेटे को पाँच वर्ष की बिटिया के संरक्षण में सौंप जब कमर में फटी धोती कस काम में जुटती तो अपनी बिटिया की कमर पर स्नेह-दुलार की थपकी और बेटे को ममताभरी दृष्टि से देखना कभी न भूलती। उसे केवल एक ही धुन थी-काम करने की। प्रात: से दस बजे तक एक क्षण को भी विश्राम किये बिना वह फुर्ती से काम करती रहती, दस बजे नहाने-धोने जाती और दोपहर को भोजन पाने के लिए महिला छात्रावास के सामने थाली-लोटा लिए आ खड़ी होती। उसकी इस दिनचर्या में एक दिन भी व्यतिक्रम नहीं होता। छात्रावास के रसाई-घर से भात (चावल)दाल आदि पाकर वह घर जाकर अपनी सास को पहले भोजन कराती बाद में स्वयं करती, क्योंकि वह बिना सास को खाना खिलाये स्वयं भोजन करना पाप समझती थी "ओहका बिन खियाये-पियाये कैसन खाब।" उसकी इसी शालीनता को देख महादेवी उस पर कुछ अधिक कृपालु हो उठीं थीं और सबिया के दिन अच्छी तरह कटने लगे थे। वह धर्मपरायण, देवी-देवताओं में विश्वास करने वाली सती धार्मिक अनुष्ठान भी बड़ी श्रद्धा-भक्ति से करती थी। पति के पुनरागमन का समाचार पाकर वह जिस तत्परता के साथ सत्यनारायण की कथा का प्रबन्ध करने दौड़ पड़ी थी, उससे उसकी श्रद्धा-भक्ति का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। अपने पुराने संस्कारों और ईश्वरीय न्याय में विश्वास करने के कारण वह भाग्यवादी थी। अपने कष्टों के लिए किसी दूसरे को दोष न देकर स्वयं अपने कर्मों तथा भाग्य को उसके लिए उत्तरदायी मानती थी। अत: जब लम्पट, धूर्त्त और धोखेबाज पति उसे निराश्रित छोड़ कर चला गया तब भी उसने पति को दोषी न ठहराकर स्वयं को अभागिन कहकर संतोष कर लिया, "ना भइया, करा धरा न होय, अपना बीहा-बरा आदमी रहा।" और भक्तिन के उलाहना देने पर यह कहने पर कि जिस स्त्री के साथ वह भागा है वह अवश्य बड़ी तेज-तर्रार होगी। सबिया ने केवल इतना कहा था "माता, अपना-अपना भाग।"

दुष्चरित्र, स्वार्थी एवं लम्पट पति के प्रति सबिया की निष्ठा, पति-प्रेमप पति के लिए सर्वस्व बलिदान करने की तत्परता तो उसे पौराणिक सतियों से भी ऊँचा उठा देती है। पति द्वारा धोखा दिये जाने पर, उसे निराश्रित छोड़ कर परस्त्री के साथ भाग जाने पर भी उसने दूसरे पुरुष के साथ विवाह करने और उसके घर बैठने का प्रस्ताव ठुकरा दिया था जबकि ऐसा करना उनकी जाति में अनुचित और पाप-कर्म न मानकर सामान्य व्यवहार माना जाता था और प्राय: उस वर्ग की जातियाँ यही किया करती थीं। जब उसी की जाति-बिरादरी वालों ने उसके इस आचरण को झक्कीपन, पागलपन, मूर्खता कहा तो उसका केवल एक ही उत्तर था, 'मौन'। इसी प्रकार जब विदेश से सपत्नी गेंदा को लेकर लौटा और पहले चिरौरी-खुशामद करके गेंदा को साथ रखने के लिए सहमत कर लिया और बाद में दोनों उसकी छाती पर मूंग दलने लगे, स्वयं मजे में रहते हुए सबिया और उसके बच्चों की उपेक्षा करने लगे तो भी न उसने कलह की, न शोर मचाया बल्कि औरों के भड़काने पर ऐसा जवाब दिया जिसने सबकी बोलती बन्द कर दी, "यदि वह पागल हो जाता या किसी रोग से पीड़ित होता, तो सब उसे क्या करने की सलाह देते?"

क्या आप जानते हैं हिंदी में संस्मरणात्मक रेखाचित्र विधा पाश्चात्य साहित्य की देन है।

नोट

उसकी सहिष्णुता, क्षमाशीलता और उदारता देखकर लगता है कि वह इस लोक की प्राणी न होकर देवलोक से अपभ्रष्ट कोई देवी होगी। पति द्वारा प्रवंचना, धोखा, झूठ, लम्पटता को तो उसने सहा ही, अपनी सपत्नी के व्यंग्य-वाण, कर्कश शब्द पति से चुगली कर उसे पिटवाना भी उसने चुपचाप सहन किया। प्रतिशोध की भावना उसके मन में कभी उठी ही नहीं। उसने पति को बार-बार क्षमा किया, उसके दोषों और अपराधों की अनदेखी की। उदार तो वह इतनी थी कि महादेवी से प्राप्त नीली रेशमी साड़ी पति के एक बार कहने पर ही उतार कर सपत्नी के लिए दे दी। सपत्नी तथा पति सुख से रह सकें इसके लिए पहले उसने महादेवी जी से पचास रुपये पेशगी मांगे और जब पूरे न मिले तो शेष के लिए अपनी माँ की दी हुई एक मात्र अन्तिम निशानी अपनी हमेल बेच दी और इस प्रकार उन रुपयों से जाति-भोज का प्रबन्ध कर उस अवैध संबंध को वैध बना दिया, केवल इसलिए कि वह दोनों सुख से निष्कंटक जीवन बिता सकें। उसकी शालीनता, सहृदयता तथा विद्वेषहीनता का एक अन्य उदाहरण तब मिलता है जब वह अपने साथ सपत्नी गेंदा को महादेवी जी के यहां लाती है और उनसे उसे आशीर्वाद देने को कहती है, "छुटकी मां लागत है मालकिन!" जैसे गेंदा सपत्नी न होकर उसकी छोटी सहोदरा बहन हो। एक ओर वह दोनों पति-पत्नी मिलकर सबिया की उपेक्षा ही नहीं करते थे, जानबूझ कर उसे पीड़ा भी देते थे और दूसरी ओर सबिया प्रतिदिन निष्ठापूर्वक उनके लिए अपने परिश्रम से प्राप्त भोजन लेकर घर पहुंचती थी। अनुपम है यह आत्म-बलिदान, सहिष्णुता, क्षमाशीलता एवं देवोपम उदारता।

यह नहीं कि सबिया पत्थर की मूर्ति थी। जड़ और संवेदनहीन थी, वीतराग थी और उसे शारीरिक तथा मानसिक कष्ट होता ही न था। अपने पति के दुर्व्यवहार और उपेक्षापूर्ण आचरण से, उसकी निर्दयता से, सपत्नी के व्यंग्य-वाणों से छिद-छिद कर वह मर्माहत होती थी, रोना आता था पर वह भरसक अपने आँसुओं को दूसरों के सामने प्रकट नहीं होने देती थी। नीम के पेड़ से सिर टिकाकर रो लेती थी या झाड़ू लगाते-लगाते रुक-रुक कर आंखें पोंछने लगती थी। आशाएं मिट्टी में मिल गयीं, सपने टूट-टूट कर चकनाचूर हो गये। मिली भी तो पति की प्रताड़ना और सपत्नी की डाह पर उसने सब चुपचाप झेला, विष का घूंट पीती रही। अपना सम्पूर्ण जीवन पति के लिए बलिदान कर दिया।

आज के मनोवैज्ञानिक अपने सूक्ष्म ज्ञान का परिचय देते हुए सबिया को आत्मपीड़न नारी कहेंगे जिससे स्वयं को पीड़ा देने में ही सुख मिलता है, महादेवी जैसी विदुषी, आस्थावान महिलाएं उसे पुराणों की सती सावित्री या उससे भी बढ़कर बताएंगी जिसने यमराज से लड़कर अपने पति सत्यवान के प्राण लौटा लिये थे परन्तु हामरी दृष्टि में न तो वह किसी मानसिक ग्रंथि का शिकार आत्म-पीड़न नारी थी और न पुराणों की सावित्री। वह भी एक सामान्य हरिजन युवती जिसे संस्कारों, परम्परागत विश्वासों, धर्मभीरुता तथा भारतीय नारी के आदर्शों ने ऐसी मूर्ति के रूप में गढ़ा था जो केवल देना जानती है, लेना नहीं।

14.1.4 बिट्टो

इस संस्मरण में बिट्टो के व्यक्तित्व, स्वभाव, चरित्र के विषय में कम बताया गया है, उसके सम्बन्धियों-पति, माता-पिता, भाई-भाभी तथा ससुरालवालों के अनाचार, जघन्य व्यवहार, क्रूरता तथा अत्याचारों पर अधिक प्रकाश डाला गया है।

कदाचित् लेखिका का उद्देश्य बिट्टो के पीड़ामय जीवन का करुण चित्र उपस्थित कर तत्कालीन समाज में व्याप्त कुरीतियों रुढ़ियों तथा अंधविश्वासों और उनके कारण नारी की दुर्दशा की करुण कथा कहना अधिक अभीष्ट था। अत: यहाँ उसके चारित्रिक गुणों का वर्णन कम है, उसकी दुर्दशा के चित्र अधिक करुण विगलित करनेवाले तथा मर्म को छेदनेवाले हैं।

नैनीताल में जिस बिट्टो को महादेवी ने पहली बार देखा उसका व्यक्तित्व बिल्कुल सामान्य था। दुर्बल, क्षीण काया, रोगियों जैसा निष्प्रभ चेहरा, दो टूटे दांत, निकली हुई आंखें, सब मिलकर उसे एक आकर्षणहीन सामान्य स्त्री बना रहे थे। वेशभूषा भी उसकी अत्यंत मलिन थी। टसर की मैली साड़ी, दो-एक आभूषण पहने वह चलती लाश जैसी लगती थी। उसके मन में न कोई उत्साह था न कोई उमंग। लगता था जैसे बेमन से जिन्दगी का बोझ उठाये कोल्हू

नोट

के बैल की तरह बंधी-बंधायी लीक पर चल रही है। अपने व्यवहार में वह शिष्ट, विनीत एवं सुसंस्कृत नजर आती थी। द्वार खटखटाने पर उसने जिस प्रकार बड़े विनीत भाव से आगन्तुकों का स्वागत किया, पति की अनुपस्थिति की सूचना दी उससे प्रकट है कि उसके संस्कार शालीन, शिष्ट, सुसंस्कृत परिवार की महिला के संस्कार थे।

यदि बाल-विवाह न होता, विवाह के वर्ष में ही वह विधवा न हो जाती तो उसकी कहानी निश्चित ही कुछ होती, विवाह से पूर्व भी तीन भाइयों की अकेली बहन होने के कारण उसे मां-बाप और परिवार का पूरा लाड़-प्यार, ममता-स्नेह मिला था और विधवा होने के उपरान्त भी ससुरालवालों द्वारा ठुकरा दिये जाने पर माता-पिता ने उसकी ऐसी साज-संभाल की थी कि उसे किसी प्रकार का अभाव महसूस न हुआ था। लेखिका के शब्दों में "माता-पिता ने उसे नवनीत की पुतली के समान संभाल कर रखा था और हिन्दू नारी की तरह वह विधवा अपने मृत पति के प्रति पूर्ण निष्ठावान होकर सती, साध्वी तपस्विनी नारी का जीवन बिता रही थी। असमय काल का ग्रास बना पति उसके हृदय की श्रद्धा और अडिग विश्वास का आधार बना हुआ था और वह उसकी स्मृति की डोर पकड़कर ही इस भवसागर को पार कर जाती।"

माता-पिता की मृत्यु के बाद भाई-भाभियों ने जो अत्याचार किये उन्हें भी उसने बड़े धैर्य से सहा। इससे उसकी सहिष्णुता एवं परिस्थितियों से समझौता करने की शक्ति का पता चलता है। घर-गृहस्थी का सारा काम तो वह निरीह पशु की तरह करती ही थी। भाभियों तथा पड़ोसियों के तीर की तरह पैने बाण भी सहती रहती थी। घर के इसी विषाक्त वातावरण ने उसका शरीर और मन तोड़ दिया। वह बीमार रहने लगी और ऐसी अमंगलमयी, रोगिणी को दो रोटी देना भी परिवार को असह्य हो उठा अत: उससे मुक्ति पाने के उपाय सोचे जाने लगे। समाज-सुधार के नाम पर, वाहवाही लूटने के लिए, विधवा का पुनर्विवाह कर पुण्य लूटने के लिए पात्र की खोज की गयी और परिवार के सौभाग्य तथा बिट्टो के दुर्भाग्य से एक चव्वन वर्ष के बेटों वाले विधुर मिल गये। बिट्टो की इच्छा के विरुद्ध विवाह कर दिया गया और उसने बेमन से, निरुत्साह से नयी गृहस्थी संभाली।

नोट्स महादेवी ने अपने रेखाचित्रों में उत्पीड़ित, दु:खी, अभावग्रस्त पात्रों के माध्यम से भारतीय समाज की ज्वलंत समस्याएँ साकार की हैं।

मन में घोर पीड़ा पाले इस अभागिन ने फिर भी अपना कर्त्तव्य समझ पूरी निष्ठा और लगन से पति की सेवा की। उसमें हिन्दू नारी की परिस्थितियों से समझौता करने और परम्परागत रूढ़ियों के भार को ढोने की अपार क्षमता थी। मन के किसी कोने में भले ही वह अपने वृद्ध पति के प्रति अरुचि या उपेक्षा का भाव धारण किये रहती हो, प्रकट में वह पतिव्रत धर्म का पूरी तरह निर्वाह करती रही। पति-सेवा को उसने अपने जीवन की साधना का अभिन्न अंग मान लिया और वह यह साधना पूरी निष्ठा के साथ करती रही, तिल-तिल कर तपस्या अग्नि-कुंड में स्वयं को होम करती रही।

इस प्रकार बिट्टो उन सहस्रों अभागिन हिन्दू नारियों का प्रतिनिधित्व करती है जो समाज की रूढ़ियों, एवं अतयाचारों तथा परिवारवालों के अत्याचारों को मूक, निरीह, असहाय पशुओं के समान झेलती रहती हैं और अपनी करुण कथा से केवल कुछ भावुक प्राणियों के दिल में दर्द पैदा कर सदा के लिए शून्य में विलीन हो जाती है।

14.1.5 अभागी स्त्री

स्त्री का शाश्वत और सनातन गुण है उसका नारीत्व। वह किसी भी वर्ग, जाति, सम्प्रदाय, सामाजिक स्तर की क्यों न हो वह सबसे पहले नारी है बाद में कुछ और-सद्गृहिणी साध्वी पतिव्रता पत्नी, माँ या फिर वेश्या। हो सकता है कि विषम परिस्थितियों में उसका यह मूल गुण कुछ समय के लिए राख में ढके अंगारे की तरह दब जाय, पर वह कभी मरता नहीं। नारी जीवन की सार्थकता भी दो बातों में है-पत्नीत्व एवं मातृत्व, जाया और जननी। इस

नोट

रेखाचित्र की नायिका भी अपनी इस स्वाभाविक आकांक्षा की पूर्ति के लिए अपने नारीत्व को सार्थक करने के प्रयास में अपनी वेश्या मां से विद्रोह कर सद्गृहिणी बनने का प्रयास करती है। उसकी माँ वेश्या थी, अत: पिता का कुछ पता नहीं, उसकी कोई स्वतंत्र पहचान नहीं, उसके वंश-गोत्र का कुछ पता नहीं। सौभाग्य से उसे एक उदार हृदय, प्रगतिशील विचारों का सुधारक, साहसी, स्वाभिमानी एवं सच्चा प्रेमी युवक मिल भी जाता है। वह भी अपनी प्रेमिका के समान अपने परिवार से, मां-बाप से अपनी कुल-जाति से विद्रोह करता हे और इस प्रकार दोनों समाज द्वारा तिरस्कृत और लांछित जीवन बिताने का साहसी कदम उठाते हैं और जाति, समाज, कुल, परिवार से कहकर अपनी नई जीवन-यात्रा आरंभ करते हैं। वे सद्गुणी हैं, सच्चरित्र हैं, योग्य हैं, परिश्रमी तथा अध्यवसायी हें अत: व विषम परिस्थितियों में भी अपनी जीवन-नौका को खे सकते थे परन्तु विधाता समाज से कम क्रूर नहीं निकला और पति रोगग्रस्त हो खटिया पर पड़ गया। परिणाम यह हुआ कि समाज का प्रवेशपत्र पाये बिना साध्वी, सद्गृहिणियों के मन्दिर में प्रवेश करने के प्रयास में उसे सफलता नहीं मिली और उसे अनेक कष्ट सहने पड़े। विधाता, समाज के व्यवस्थापकों तथा घरवालों की क्रूरता, अनीति और अन्याय के कारण उस अभागी सती की साध अधूरी ही रह गयी।

वह हिन्दू समाज की सामान्य सद्गृहिणियों और सती-साध्वी का आदर्श समझी जानेवाली स्त्रियों से किसी भी प्रकार कम पतिव्रता, सेवापरायण, पति के प्रति पूर्ण समर्पिता नहीं थी। उसने जिस पुरुष का हाथ पकड़ा उसकी पूर्ण समर्पण भाव से सेवा की, निष्ठावान बनी रही और जब तक जीवित रहा उसको स्वस्थ बनाने के लिए सर्वस्व होम कर दिया। पति की दवा-दारू में उसने अपने सारे आभूषण बेच दिये और रात-रात भर जागकर उसकी परिचर्या की। अँगुली में पड़ा छल्ला उसने केवल इसलिए नहीं बेचा कि वह उसके पति द्वारा दिया गया उपहार था और उसके साथ वह भावात्मक रूप से जुड़ी थी। अत्यंत विपन्न होने पर वह कोई भी ऐसा कार्य करने को प्रस्तुत है जो मर्यादा और प्रतिष्ठा के प्रतिकूल न हो; वह स्वयं भूखों मरने के लिए तैयार हे परन्तु पति को निराश्रित छोड़कर मर भी नहीं सकती इसीलिए महादेवी की शरण में आकर कहती है, "मुझे कोइ काम दीजिए।" वह अपनी योग्यता बताकर यह संकेत भी देती हे कि वह सुपात्र है और अपना कार्य निष्ठापूर्वक करेगी।

स्व-मूल्यांकन

दिए गए कथन के सामने सही (✓) अथवा गलत (×) का निशान लगाइए–

1. रामा की कुरुपता पर उसके गुण भारी हैं। ☐
2. 'भाभी' शूद्र परिवार से ताल्लुक रखने के कारण ससुराल में उपेक्षिता है। ☐
3. सबिया कुरुप होने के कारण पति के प्रेम से वंचित रह गई। ☐
4. रेखाचित्र 'बिट्टो' में महादेवी ने अनमेल विवाह के दुष्परिणामों की ओर थ्यान आकर्षित किया है। ☐
5. 'अभागी स्त्री' रेखाचित्र यह दर्शाता है कि वेश्या समाज का सभ्य समाज से जुड़ना परंपरा को तोड़ना है। ☐

पति की मृत्यु के बाद भी वह हिन्दू विधवा का सात्विक एवं करुणापूर्ण जीवन जीने के लिए प्रस्तुत है। श्वसुर की गाज गिराती वाणी सुनकर वह साहस जुटाकर विनम्र प्रार्थना करती है, "घर में कई नौकर-चाकर हैं। मेरे लिए दो मुट्ठी आटा भारी न होगा। मैं भी आपकी सेवा करती हुई पड़ी रहूंगी।" श्वसुर द्वारा ठुकराये जाने और तिरस्कृत होने पर वह चाहती तो पुन: अपनी मां के पास लौटकर वेश्यावृत्ति अपना सकती थी या फिर अपने रूप-जाल से आकृष्ट कर किसी की रखैल बन सकती थी या यदि कोई उदार पुरुष मिलता तो उनके साथ विवाह कर सकती थी। परन्तु उसने ऐसा कुछ नहीं किया और सती, साध्वी, निष्ठावान पतिव्रता के समान शेष जीवन कठिनाइयों में काटा।

वह बुद्धिमान है, विवेकसम्पन्न है, परिश्रमी है। उसकी एकमात्र अभिलाषा है विपन्न होते हुए भी स्वाभिमान और स्वावलंब का जीवन बिताना। इसीलिए पति के रहते और उसकी मृत्यु के बाद भी न किसी के आगे आंचल पसारती हैख न किसी का भार बनकर रहना चाहती है, विधवा-आश्रम के टुकड़ों पर पलना उसके स्वाभिमानी स्वभाव को

नोट

स्वीकार्य नहीं, अत: वह सिलाई-बुनाई करके किसी न किसी प्रकार अपने दिन काटती है। सहायता और सहानुभूति भी वह केवल उसी व्यक्ति से ग्रहण करने को प्रस्तुत है जो सच्चा दानी है, जिसके मन में दीन-दलितों की सहायता करने की सच्ची अहेतुक अभिलाषा है। इसीलिए वह एक बार पति की रुग्णवस्था में लेखिका से सहायता करने आयी थी और अपने अन्तिम पत्र में भी उसने लिखा था, "जब नहीं मिलेगा, तब मुझसे मांगने में उसे संकोच न होगा।" उसकी बुद्धि-चातुरी का पता उस घटना से लगता है जब महादेवी द्वारा दिये गये सहायतार्थ काम-लेखों की नकल करना या बेकार के पत्र लिखना आदि के रहस्य को जान जाती है। महादेवी का अभिनय और उसके पीछे छिपे सौजन्य का पता चलते ही वह उनके यहां आना बन्द कर देती है क्योंकि वह किसी के ऊपर अकारण बोझ बनकर जीवित रहना नहीं चाहती।

टास्क महादेवी वर्मा के नारी विषयक दृष्टिकोण पर टिप्पणी कीजिए।

वेश्यापुत्री समाज द्वारा तिरस्कृत होती है, सब ओर से लांछित होने पर हीनता-ग्रन्थि का शिकार होना स्वाभाविक है परन्तु इस रेखाचित्र की नायिका जिसे वेश्यापुत्री होने के कारण पतिता समझा गया हीनता-ग्रंथि का शिकार होने की बजाय बड़ी स्वाभिमानिनी है। वह दान स्वीकार करने को तैयार नहीं है, बिना काम किये किसी से एक पैसा तक लेना नहीं चाहती उसे अपनी अपने पति की प्रतिष्ठा का पूरा ध्यान है, "अपने पति की प्रतिष्ठा के लिए और अपने आत्मसम्मान के लिए भी वह दान नहीं स्वीकार करेगी।" और इसी आत्मसम्मान के लिए ज्योंही उसे महादेवी के लेख नकल कराने या पत्र लिखने-लिखवाने के पीछे उनके दया-दान भाव का पता चलता है, तो उसी क्षण वह स्वत: हटकर उनके मन-मस्तिष्क पर पड़े बोझ को हटा देती है। उसका स्वाभिमान इस बात से भी प्रकट होता है कि घोर आर्थिक संकट के समय भी उसने अपनी सम्पन्न मां से कोई आर्थिक सहायता नहीं मांगी। "विवाह के उपरान्त मां से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहा। उससे रुपया लेने से मृत्यु अच्छी है।" श्वसुर द्वारा ठुकराये जाने पर भी यह स्वाभिमानिनी नारी अपने परिश्रम से अपना पेट पालती है। चाहती तो महादेवी को पत्र लिखकर कुछ सहायता पा सकती थी पर उसने स्पष्ट लिखा, "वह अच्छी है, मुझे नहीं भूली है, पर और कष्ट नहीं देना चाहती।"

वह सुस्वरूप और आकर्षक व्यक्तित्व वाली युवती है पर समय के फेर ने उसे करुणा की साकार मूर्ति बना दिया है। उसके हाथ और मुख सुडौल तथा गौर वर्ण के हैं और जब वह कमरे में प्रवेश करती है तो महादेवी के नेत्रों के सम्मुख नीले परदे की पार्श्वभूमि पर एक रंगीन चित्र-सा उभर आता है। पर कुछ क्षणों बाद ही जब वह उसे ध्यान से देखती हैं तो उसकी करुण दशा साकार हो उठती है, ". . . मुख सुडौल गोरा; पर बहुत मुरझाया हुआ सा लगा। नाक के अग्रभाग की लाली हाल ही में पोंछे गये आंसुओं की सूचना दे रही थी-पलकों की कोरें भी शायद रोने से ही कुछ सूज आयी थीं . . . ओठ इतने सूख रहे थे . . . आंख से ढुलका हुआ एक आंसू उसकी गोद में गिरने से पहले . . . चमक गया।" उसके इस करुण पर स्वाभिमानी व्यक्तित्व ने ही महादेवी को इतना प्रभावित किया कि वह उसे भूल नहीं पायीं और उन्हें तथाकथित सम्भ्रान्त महिलाओं के अभिजात्य होने पर भी संदेह होने लगा, "क्या तुझे आज भी समाज द्वारा मिले भलाई-बुराई के प्रमाण-पत्रों पर विश्वास है?"

उसकी शालीनता, शिष्टाता और सौम्य आचरण का परिचय हमें कई बार मिलता है। वह महादेवी के कक्ष के बाहर बरामदे में आकर भी कक्ष में प्रवेश करने का साहस या धृष्टता नहीं करती। "कौन है ?" पुकारे जाने पर सभीत कण्ठ से रुक-रुक कर प्रश्न करती है-क्या भीतर आ सकती हूं? कुर्सी पर बैठने के बाद भी बहुत देर तक उसके कण्ठ से शब्द नहीं निकल पाते और प्रश्न करने पर भी वह अपनी करुण कथा कहकर श्रोता को द्रवित करने की बजाय केवल यह कह पाती है, 'मुझे कोई काम दीजिए' अपनी योग्यता बताते समय 'गाना भी' कहने के पहले उसका सम्पूर्ण शरीर संकुचित हो उठता है।

सारांश यह कि वेश्यापुत्री होने के नाते समाज द्वारा तिरस्कृत, लांछित और प्रताड़ित यह युवती करुणा की साकार मूर्ति होते हुए भी साध्वी और सद्गृहिणि अदम्य कामना रखनेवाली पति के प्रति पूर्णत: समर्पिता सेवापरायण,

नोट

स्वाभिमानिनी, परिश्रमी एवं चतुर, विवेकशील नारी है। नारीत्व के सनातन, शाश्वत गुणों से सम्पन्न यह युवती साधना, तपस्या और त्याग का जीवन बिताकर एक ऐसा आदर्श प्रस्तुत करती है, पतिता कही जानेवाली युवतियों के लिए एक ऐसा मार्ग प्रशस्त करती है जिस पर चलकर भारत की असंख्य नारियाँ अपने लांछन को धोकर सात्विक जीवन बिता सकती हैं।

14.2 सारांश

बाल सुलभ सरलता एवं ममता की प्रतिमूर्ति रामा बुंदेलखंड का एक साधारण ग्रामीण बालक था जिसे अपनी विमाता के कठोर और क्रूर अत्याचारों के कारण बचपन में ही अपना घर-परिवार त्याग कर देश परदेश भटकना पड़ा था और सौभाग्यवश महादेवी वर्मा की ममतामयी, धर्मपरायण एवं सहृदय माता के आश्रय में कुछ समय बिताने का अवसर मिला था। लम्बी चुटिया, संकीर्ण माथे पर घनी भौंहों, छोटी-छोटी आँखों, अनगढ़ मोटी नाक, फैले हुए नथुने, फूले हुए काले होंठ और उनमें बीच सघन सफेद दांतों वाला यह ग्रामीण युवक कुल मिलाकर कुरूप ही कहा जा सकता है। पर उसकी इस शारीरिक कुरूपता एवं बेढंगेपन के आवरण में छिपा था एक सरल, ममताभरा, सहृदय, सहिष्णु, सेवापरायण, निश्छल, पवित्र हृदय जिसको केवल संवेदनशील एवं सहानुभूति प्रवण हृदय तथा मर्मभेदी आँखें ही पहचान सकती हैं। रामा या तो अपनी कुरूपता और बेडौल अंगयष्टि से अपरिचित था या उसके प्रति उदासीन। अत: परिवार के बच्चे लाख चेष्टा करने पर भी उसके कुर्ते, पगड़ी, बुंदेलखण्डी जूतों तथा गठीली लाठी को कोई नुकसान नहीं पहुँचा पाये। वह इन सब वस्तुओं को भिखारी के धन की तरह अपनी अंधेरी कोठरी में पूर्ण सतर्कता के साथ सुरक्षित रखता था।

'भाभी' नामक रेखाचित्र की अनामधन्या नायिका को लेखिका ने कोई नाम नहीं दिया है। अपने व्यक्तिगत जीवन में सगी भाभी तो क्या दूर रिश्ते की भाभी न होने तथा अपनी सहपाठिनियों से भाभी के मधुर संबंध की बात सुनकर तथा पड़ोस की बाल विधवा ममतामयी उन्नीसवर्षीय नवयुवती से स्नेह पाकर ही महादेवी ने उसे 'भाभी' मानकर उसका करुण चित्र उकेरा है। यद्यपि इस रचना के माध्यम से उन्होंने हिन्दू परिवारों की बाल-विधवाओं का, उनकी दुर्दशा, उनके साथ होनेवाले अमानवीय व्यवहार तथा समाज द्वारा प्रतारणना का प्रतिनिधि चित्र अंकित किया है परन्तु जो नवयुवती इस रेखाचित्र के केंद्र में है, उसमें अपनी निजी विशेषताएं भी थीं जिनके कारण वह विशिष्ट पात्र बन जाती है।

मारवाड़ी सम्पन्न परिवार की यह युवती दुबली-पतली, कोमलांगी और गौरवर्ण के कारण आकर्षक थी। उसके व्यक्तित्व के सर्वाधिक आकर्षक अंग थे उसकी काली आंखें तथा ओठों पर सदा क्रीड़ा करती मुस्कान। विवाह के एक वर्ष के भीतर ही जब उसकी मांग का सिंदूर पुछ गया तो उसे मृत्यु पर्यन्त विधवा का संयम, साधना एवं कठोर परिश्रम का जीवन बिताना ही था और इस दृष्टि से वह किसी तपस्विनी से कम नहीं थी। प्राय: उपवास, निराहार और निरन्तर मिताहार से दुर्बल देह प्रात: से रात तक घर-गुहस्थी के काम में जुटी रहती थी। घर-आंगन बुहारना, कुएं से पानी खींचकर गृहस्थी के काम में के लिए पर्याप्त जल-भंडार सुरक्षित रखना, कपड़े धोना, स्नान करके पूजा-पाठ करना फिर चौका-बरतन, कूटना-पसीना, भोजन बनाना, ससुर की सेवा करना-सभी काम उस अकेली के दुर्बल कंधों पर आ पड़े थे। और वह ये सारे काम बड़े मनायोग से करती थी। विशेषता यह थी कि कठोर परिश्रम करने, दिन-भर के कठोर परिश्रम से क्लान्त होने तथा नाना प्रकार के प्रतिबन्धों के कारण मानसिक रूप से घुटन महसूस करते हुए भी वह सदा मुस्कराती रहती थी।

सतीत्व कर्त्तव्यनिष्ठा एवं त्याग का आदर्श सबिया का विधाता ने काला वर्ण देते हुए भी उसके के अंग-प्रत्यंग को ऐसे सांचे में ढाला था कि दूर से वह सुडौल अंगों वाली युवती पेरिस प्लास्टर की मूर्ति जान पड़ती थी। अपने साज-शृंगार के प्रति भी वह उदासीन नहीं थी अत: जब कभी वह अपने पुराने रंग धुले कपड़े और छोटे-मोटे गिलट के जेवरों सेशृंगार करती तो ऐसे लगती थी जैसे हमारे सामने वह मिट्टी की मूर्ति खड़ी है जिसके सारे कच्चे रंग धुल गये हों और जहाँ-तहाँ से केवल सुडौल रेखाओं में बंधी मिट्टी झांक रही हो। मां की ममता एवं पत्नी की पति-भक्ति एवं सेवा-भाव उसे संस्कार में मिला था। अत: जब पति उसे, उसकी दो संतानों और अन्धी बूढ़ी सास को छोड़ कर दूसरी मोहिनी के रूप-जाल में फंस विदेश भाग गया तो उसने पूरी ममता से अपनी संतान की

नोट

साज-संभाल की, बूढ़ी अन्धी सास की सेवा की और बहुत-कुछ जानते-समझते हुए भी पल भर को यह आशा न छोड़ी कि उसका पति एक दिन अवश्य लौट कर आयेगा।

इस संस्मरण में बिट्टो के व्यक्तित्व, स्वभाव, चरित्र के विषय में कम बताया गया है, उसके सम्बन्धियों-पति, माता-पिता, भाई-भाभी तथा ससुरालवालों के अनाचार, जघन्य व्यवहार, क्रूरता तथा अत्याचारों पर अधिक प्रकाश डाला गया है। कदाचित् लेखिका का उद्देश्य बिट्टो के पीड़ामय जीवन का करुण चित्र उपस्थित कर तत्कालीन समाज में व्याप्त कुरीतियों रुढ़ियों तथा अंधविश्वासों और उनके कारण नारी की दुर्दशा की करुण कथा कहना अधिक अभीष्ट था। अत: यहाँ उसके चारित्रिक गुणों का वर्णन कम है, उसकी दुर्दशा के चित्र अधिक करुण विगलित करनेवाले तथा मर्म को छेदनेवाले हैं।

स्त्री का शाश्वत और सनातन गुण है उसका नारीत्व। वह किसी भी वर्ग, जाति, सम्प्रदाय, सामाजिक स्तर की क्यों न हो वह सबसे पहले नारी है बाद में कुछ और-सद्गृहिणी साध्वी पतिव्रता पत्नी, माँ या फिर वेश्या। हो सकता है कि विषम परिस्थितियों में उसका यह मूल गुण कुछ समय के लिए राख में ढके अंगारे की तरह दब जाय, पर वह कभी मरता नहीं। नारी जीवन की सार्थकता भी दो बातों में है-पत्नीत्व एवं मातृत्व, जाया और जननी। इस रेखाचित्र की नायिका भी अपनी इस स्वाभाविक आकांक्षा की पूर्ति के लिए अपने नारीत्व को सार्थक करने के प्रयास में अपनी वेश्या मां से विद्रोह कर सद्गृहिणी बनने का प्रयास करती है। उसकी माँ वेश्या थी, अत: पिता का कुछ पता नहीं, उसकी कोई स्वतंत्र पहचान नहीं, उसके वंश-गोत्र का कुछ पता नहीं। सौभाग्य से उसे एक उदार हृदय, प्रगतिशील विचारों का सुधारक, साहसी, स्वाभिमानी एवं सच्चा प्रेमी युवक मिल भी जाता है। वह भी अपनी प्रेमिका के समान अपने परिवार से, मां-बाप से अपनी कुल-जाति से विद्रोह करता हे और इस प्रकार दोनों समाज द्वारा तिरस्कृत और लांछित जीवन बिताने का साहसी कदम उठाते हैं और जाति, समाज, कुल, परिवार से कहकर अपनी नई जीवन-यात्रा आरंभ करते हैं।

14.3 शब्दकोश

1. **विग्रह–** विभाग, टुकड़ा, यौगिक शब्दों अथवा पदों को अलग करना।
2. **वीतराग–** राग रहित, निस्पृह व्यक्ति
3. **पार्श्व भूमि–** बगल की भूमि, आस-पास की जमीन

14.4 अभ्यास-प्रश्न

1. रामा स्वामी भक्ति की प्रतिमूर्ति है। इस कथन के आधार पर रामा के चरित्र की विशेषताएँ बताइए।
2. विधवा नारी भाभी के चरित्र पर प्रकाश डालिए।
3. सती-साध्वी अभागी स्त्री के चरित्र का विश्लेषण कीजिए।

उत्तर: स्व-मूल्यांकन

1. (✓) 2. (×) 3. (✓) 4. (✓) 5. (×)

14.5 संदर्भ पुस्तकें

1. *अतीत के चलचित्र*–महादेवी वर्मा, लोकभारती प्रकाशन, दिल्ली।
2. *हिंदी के श्रेष्ठ रेखाचित्र*– चौथीराम यादव, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
3. *महादेवी*–दूधनाथ सिंह, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

नोट

इकाई 15: अतीत के चलचित्र: भाषा वैशिष्ट्य

अनुक्रमणिका

उद्देश्य

प्रस्तावना

15.1 अतीत के चलचित्र: भाषा वैशिष्ट्य

15.2 सारांश

15.3 शब्दकोश

15.4 अभ्यास-प्रश्न

15.5 संदर्भ पुस्तकें

उद्देश्य

विद्यार्थी इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् सक्षम होंगे–

- महादेवी वर्मा के रेखाचित्र अतीत के चलचित्र के भाषा वैशिष्ट्य को समझने में।

प्रस्तावना

महादेवी छायावाद-युग के प्रमुख चार स्तम्भों में से एक इस काव्य-धारा की विशिष्ट गद्य लेखिका हैं और उनकी गद्य रचनाएं- शृंखला की कड़ियां, स्मृति की रेखाएं, अतीत के चलचित्र इस युग की अक्षुण्ण निधि हैं। आचार्यों ने गद्य को कवि-कर्म की कसौटी कहा है। गद्यं कवीना निकषं वदन्ति। वह मूलत: कवि है जिसमें भावुकता, रसात्मकता और रागात्मक तत्त्व प्रधान होते हैं, गद्य में वैचारिकता अधिक होती है। महादेवी जी की विशेषता है कि उन्होंने अपनी गद्य रचनाओं में भाव और विचार का सम्यक निर्वाह किया है। गद्य लिखते समय वह चिन्तनरत् होकर आत्मग्लानि से भर जाती है और समस्याओं से आंदोलित हो उनका विवेचन, विश्लेषण कर कुछ सुझाव भी देती हैं। अत: उनकी गद्य-रचनाओं विशेषत: रेखाचित्रों तथा संस्मरणों में भाव और विचार बुद्धि और हृदय दोनों एक-साथ अनुस्यूत हैं। उनकी गद्य गरिमा की प्रशंसा करते हुए इलाचन्द्र जोशी लिखते हैं, "कवियित्री के इन चित्रों में स्थूल गद्य का चमत्कार और उसका परिमार्जन और सौन्दर्य प्रसाधन वे (आलोचक) देखें कि अपना अत्यन्त सरल और रोजमर्रा के प्रांजल गद्य से इस अद्‌भुत प्रतिभासम्पन्न और अपूर्व क्षमताशील जादूगरनी ने अपने प्राणों के वैधुनिक स्पन्दन द्वारा स्थूल गद्य को किस संजीवन-घोल में परिणत कर दिया है। यदि सूक्ष्म काव्यकला तत्व से ही अधिक सूक्ष्म और वायवीय कोई तत्व हो सकता है तो महादेवी का यह गद्य-चित्र उसी के ज्वलन्त, सजीव और सहज निदर्शन हैं।" वस्तुत: महादेवी एक कुशल शब्द-शिल्पी और समर्थ शैलीकार हैं।"

15.1 अतीत के चलचित्र: भाषा वैशिष्ट्य

आभिजात्य, सुशिक्षित परिवार में जन्मी एवं संस्कृत भाषा में एम.ए. करने वाली महादेवी की भाषा का परिनिष्ठित, सुसंस्कृत एवं परिमार्जित होना सहज स्वाभाविक है।

भाषा के सम्बन्ध में उनका स्पष्ट मत रहा है कि लेखक का ध्येय अपनी बात को सशक्त एवं प्रभावशाली ढंग से कहना होना चाहिए। अत: जो भी शब्द अधिक सशक्त एवं जोरदार जान पड़े, उसी का प्रयोग करना चाहिए।

नोट

भाषा के सम्बन्ध में उसे कोई पूर्वाग्रह या परहेज नहीं होना चाहिए। अत: वह सशक्त शब्द किसी भी भाषा या बोली का हो सकता है-अंग्रेजी का भी, अरबी-फारसी-उर्दू का भी, आंचलिक बोली का भी, गली मुहल्ले का भी। एक ही शर्त है वह भावोत्कर्ष अभिव्यक्ति एवं संप्रेषणीयता की दृष्टि से समर्थ हो। महादेवी का गद्य परिनिष्ठित गद्य है। उनकी गद्य-रचनाओं के विषय भी हल्के-फुल्के न होकर गंभीर हैं, उनमें भावना और विचारों का मणि-कांचन संयोग है अत: उसकी भाषा प्रधानत: संस्कृतनिष्ठ है, उन्होंने प्राय: तत्समबहुल भाषा का प्रयोग किया है, उसमें संस्कृत शब्दावली का प्राचुर्य है। गुरुगम्भीर शब्दावली ही उनके भावों और विचारों की अभिव्यक्ति के लिए अनुकूल है। परिष्कृत रुचि के साहित्यप्रेमी पाठकों को उसमें विशेष आनन्द मिलता है।

उन्होंने तत्सम शब्दावली के साथ विषय और प्रसंग को देखते हुए तद्भव शब्दों का भी प्रयोग किया है विशेषत: ग्रामीण परिवेश का चित्रण करते समय या अशिक्षित पात्रों की उक्तियों में, "सांप के पेट जैसी सफेद हथेली और पेड़ की टेढ़ी-मेढ़ी गांठदार टहनियों जेसी उंगलियों वाले हाथ की रेखा-रेखा हमारी जानी-बूझी थी।" ग्रामीण वातावरण का अंकन करते समय और पात्रों के सम्वादों में उन्होंने देशज तथा आंचलिक बोलियों के शब्दों का प्रयोग किया हैं देशज शब्द-युग्मों का प्रयोग तो बहुत ही सटीक और मधुर हो गया है–लेखा-जोखा, लिपे-पुते, टोने-टोटके आदि। जब महादेवी की मां रामा से घर बसाने की बात कहती हैं तो वह बुंदेलखंड का रहनेवाला किशोर कहता है, "बाई की बातें! मोय नासफिटे अपनन खौं का करते हैं, मोरे राजा हरे बने रहें-जेई अपने रामा की नैया पार लगा दैहें।" इसी प्रकार सबिया कहती है, "ना भइया, करा-धरा न होय, आपन बीहा बरा आदमी रहा¨ माता, आपन-आपन-भाग।" मेले में बालिका महादेवी को सावधान करते हुए रामा कहता है, "उंगरिया जिन छोड़ियो राजा भइया"। सबिया स्वामिनी से अपनी सपत्नी के लिए आशीर्वाद मांगते हुए बोलती है "छुटकी मां लागत है मालकिन"। अन्य आंचलिक शब्द हैं-मताई, नइयां, मेहरारू, होइके, जाव, सार, ठो, पिलवा, देय, बरे, सीधा गठियान आदि।

विदेशी शब्दों– अंग्रेजी, अरबी-फारसी, उर्दू शब्दों का भी प्रयोग मिल जाता है-सीजन, डिपार्टमेंट, जू, हेंकी, अपील, टाइफाइड, अस्पताल (अंग्रेजी), जाया, बेदखली, अर्जीनवीस, बड़े मियां (उर्दू)। विदेशी शब्दों का प्रयोग करते समय वह उनके वास्तविक उच्चारण का ध्यान रखती हैं। उनकी शब्द योजना सुंदर तथा भावपूर्ण है, उसके द्वारा वह लय और संगीत की सृष्टि करती हैं कठोर शब्दों को भी कोमल और मसृण बनकर उनमें माधुर्य भर देती हैं, कल्पना के मधुर स्पर्श से उनमें लालित्य का संचार कर देती हैं।

नोट्स प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण में कोमलकान्त, संस्कृतनिष्ठ पदावली का माधुर्य देखते ही बनता है। कहीं-कहीं उन्होंने प्रचलित शब्दों को अक्षम पा स्वयं भी नए शब्दों का निर्माण किया है जैसे–धृतराष्ट्रता।

महादेवी की भाषा सर्वत्र भावानुकूल है। उन्होंने प्रसंग और विषय को दृष्टि में रखकर शब्दों का प्रयोग किया है। हास्यरसपूर्ण प्रसंगों में यदि प्रत्येक शब्द क्रीड़ा करता दिखाई देता है जैसे– 'भक्तिन' की दिनचर्या और कर्मकाण्ड का वर्णन करते समय, तो व्यंग्यात्मक प्रसंगों में उनके वाक्य पाठक के मर्म को बींधते हैं-फिर भी यदि वह अपने गुरु कर्तव्य से च्युत होकर पत्नीत्व, मातृत्व आदि संबंधों को चुराती फिरे, तो समाज चुराई वस्तु पर इनका स्वत्व स्वीकार करके क्या अपना विधान ही मिथ्या कर दे?" संवेदना की सृष्टि करना जहां उन्हें अभीष्ट है वहां उनके शब्द अन्त: क्रन्दन करते हैं- "पलकों की कोर तक आये हुए आंसुओं को भी रोक लेने का उसे अभ्यास था। इसी से जिस वेग से उसका शरीर बेंत के समान कांप उठा था उससे मात्रा में कुछ अधिक संयम ने आंखों की सजल निस्तब्धता को पिघलने नहीं दिया।" चिन्तन की तह में डूबकर जब वह अपने गंभीर विचार व्यक्त करती हैं तो प्रत्येक शब्द अर्थगौरव से भर कर व्याख्येय हो उठता है। स्वेच्छाचार से उत्पन्न यह पवित्रता की साधना उस शूद्र की तपस्या के समान ही बेचारे समाज की वर्ण-व्यवस्था का नाश कर रही है, जिसका मस्तक काटने के लिए स्वयं मर्यादा पुरुषोत्तम दौड़ पड़े थे।" प्रकृति-चित्र अंकित करते समय उनकी भाषा में काव्य का माधुर्य एवं अलंकृति

नोट

आ गयी है- "फागुन की गुलाबी जाड़े की वह सुनहली सन्ध्या क्या भुलायी जा सकती है। सबेरे के पुलकपंखी वैतालिक एक लयवती उड़ान में अपने-अपने नीड़ों की ओर लौट रहे थे। विरल बादलों के अन्तराल में उन पर चलाये सूर्य के सोने के शब्दबेधी बाण उनकी उन्मत्त गति में ही उलझकर लक्ष्य-प्रकट हो रहे थे।"

अलंकारों के प्रयोग के संबंध में पाश्चात्य विद्वान लौंजाइनस का वक्तव्य बड़ा सारगर्भित है- "वह अलंकारों का प्रयोग तभी उचित व सार्थक मानते हैं जब वह अर्थ को उत्कर्ष प्रदान करे, लेखक के भाव वेग से उत्पन्न हुआ हो और पाठक चमत्कृत करने मात्र के लिए उसे आह्लादित करने के लिए प्रयुक्त हुआ हो। इसी से भाषा में उदात्त तत्त्व आता है जिसे वह काव्य का प्राण तत्व मानते हैं, महादेवी ने गद्य में जो अलंकारों का प्रयोग किया है, वह इस कसौटी पर पूरा खरा उतरता है। उन्होंने चमत्कृति के लिए अलंकारों का प्रयोग नहीं किया है भले ही कहीं-कहीं चमत्कृति आ गयी है। उनका अलंकार-प्रयोग सहज-स्वाभाविक है, आरोपित नहीं। अत: वे अर्थ-गौरव बढ़ाते हैं, उनमें कृत्रिमता नहीं है। उनके उपमान नए, मौलिक तथा उनकी सूक्ष्म-निरीक्षण शक्ति द्वारा खोजे गये हैं। कपड़े की शिकन जेसी चीनी फेरीवाले की नाक, सांप के पेट जैसी रामा की सफेद हथेली, पेड़ की टेढ़ी-मेढ़ी गांठदार टहनियों जैसी उंगलियों, खंजड़ी में ऊपर चढ़ी हुई झिल्ली के समान पतले चर्म से मढ़े दुबले बिन्दा के हाथ-पैर, पृथ्वी के उच्छ्वास के समान उठते हुए कच्चे घर, श्वेत कमल की पंखुड़ियों के समान लगने वाले पर्वत-ऐसे ही उपमान हैं। उन्होंने उपमानों का चयन इस प्रकार किया है कि रेखाएं सहृदय के मन को विरोधी भावना से भर देती हैं। सबिया की बनिया का यह चित्र देखिए- "सूखे शरीर में नये पत्ते की चंचलता न होकर पाले से खिल न सकने वाले बंधे किसलय कोरक का अवश हिलना-डुलना था।" उपमा के अतिरिक्त उन्होंने उत्प्रेक्षा, रूपक आदि साम्यमूलक अलंकारों का भी प्रयोग किया है। कहीं उनके रूपक सामान्य हैं-अपने उपदेश रूपी अमृत-वृक्ष में जब विषफल लगते देखा तो कहीं उन्होंने विराट रूपकों का आयोजन किया है-जीवन को वह ऐसा वृक्ष बताती हैं जो कहीं जड़ में अव्यक्त है, कहीं पत्रों में लहलहाता है, कहीं फूलों में सुन्दर है, कहीं फलों में उपयोगी है और कहीं बीज में सृजनशील है। ललित और विराट रूपकों की सृष्टि उनके गद्य को काव्य जेसा औदात्य प्रदान करती है।

महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने कहावतों और मुहावरों को भाषा की समृद्धि के लिए आवश्यक माना था– ध्वनि, अलंकार जिस दृष्टि से भी देखिए भाषा को समृद्ध बनाने में कहावतों-मुहावरों का सबसे बड़ा हाथ है। मुहावरों में शब्द की लक्षणा-शक्ति अपना कमाल दिखाती है। महादेवी ने अपनी सामान्यत: प्रांजल एवं प्रौढ़ भाषा में मुहावरों का प्रयोग कर भाषा को चपल, एवं चुटीला बना दिया है इनके प्रयोग से भाषा में संक्षिप्तता भी आ गयी है और प्रभाविष्णुता भी। कुछ उदाहरण देखिए– रामा की कोठरी में महाभारत के अंकुर जमना, अंगारों से आंचल का भर जाना, सूखी आंखों में बाढ़ आना, म्याऊँ की ठौर, छापा मारना, काला अक्षर भैंस बराबर, घुट-घुट कर मरना आदि लोकोक्तियां गागर में सागर भरने का काम करती हैं और उनमें जीवन का सत्य छिपा रहता है। अत: वे समझ में भी शीघ्र आती हैं और उनका प्रभाव भी खूब पड़ता है। ग्रामीण जनता का तो नीति-शास्त्र उनमें छिपा रहता है। सांसारिक व्यवहार पटुता एवं सामान्य बुद्धि तथा जीवन के अनुभवों का निचोड़ जितना उनमें मिलता है, अन्यत्र नहीं। महादेवी ने भाषा में सजीवता लाने के लिए लोकोक्तियों का प्रयोग भी किया है जैसे-मान न मान मैं तेरा मेहमान, तीरथ गए मुड़ाए सिद्ध, नौ दिन चले अढ़ाई कोस, बिन धरनी घर भूत का डेरा आदि।

कहीं-कहीं पाश्चात्य प्रयोग जैसे-"पूरा बसन्त और पतझड़ देख चुके होंगे, 'खुली पुस्तक' भी मिल जाते हैं। सूक्तियां उनके गद्य में मणियों की तरह चमक कर अपनी अनोखी आभा विकीर्ण करती हैं और इनमें जीवन का सनातन सत्य, गंभीर चिंतन तथा अनुभव में तपे हुए वाक्य मिलते हैं- "स्त्री जब किसी साधना को अपना स्वभाव और किसी सत्य को अपनी आत्मा बना लेती है तब पुरुष उसके लिए न महत्व का विषय रह जाता है, न भय का कारण।" वस्तुत: इस प्रकार की सूक्तियां आर्ष वाक्य होती हैं और पृथक् वाक्य की अपेक्षा रखती हैं। उनकी स्पष्ट व्याख्या करने के लिए शक्ति और समय दोनों की आवश्यकता होती है। कुछ अन्य उदाहरण देखिए– सौन्दर्य सनातन हे, सत्य शाशवत है, क्रान्ति स्वयं एक साधना है, युगों से पुरुष स्त्री को उसकी शक्ति के लिए नहीं, सहनशक्ति के लिए दण्ड देता आ रहा है।

नोट

टास्क महादेवी के रेखाचित्रों से कुछ देशज शब्दों के उदाहरण दीजिए।

महादेवी की वाक्य-योजना भावों के उतार-चढ़ाव के अनुरूप कहीं सरल-कुटिल है तो कहीं दीर्घ-लघु। कथन-वक्रता उनकी अपनी विशिष्टता है। विषय की गंभीरता, विचार तत्व की सघनता तथा अनुभूति की प्रगाढ़ता के कारण प्राय: उन्होंने तत्सम शब्दावली से गुंथे लम्बे-लम्बे वाक्यों का प्रयोग किया है-शैशव की स्मृतियों में एक विचित्रता है जब हमारी भाव प्रवणता गम्भीर और अशान्त होती है, तब अतीत की रेखाएं कुहरे में से स्पष्ट होती हुई वस्तुओं के समान अनायास ही स्पष्टतर होने लगती हैं।" लम्बे होते हुए भी उनका वाक्य-विन्यास सुलझा हुआ है, उनके वाक्य आकर्षक होने के साथ-साथ प्राय: सुबोध होते हैं। संक्षिप्त वाक्य-रचना की अपेक्षा दीर्घ वाक्य-रचना करते हुए भी वह अपने विषय को जटिल नहीं होने देतीं। अत: यह दोष न होकर गुण ही बन गया है। उनके लम्बे वाक्यों में भी गति है, प्रवाह है, संगीत है अत: वे काव्य का सा आनन्द देते हैं। एक ही भाव भिन्न-भिन्न परिधान ओढ़कर आता है तो पाठक विस्मय-विमुग्ध हो उठता है।

वाक्य-रचना की दृष्टि से उन्होंने मिश्र और संयुक्त दोनों प्रकार के वाक्यों का प्रयोग किया है, पर प्रवाह सर्वत्र है। मिश्र वाक्य का उदाहरण देखिए– परंतु भिखारी के सम्बंध में मेरे संस्कार कुछ ऐसी तर्कहीनता तक पहुंच चुके हैं जहां से अंध-विश्वासस की सीमा-रेखा दूर नहीं रह जाती।

इसी प्रकार संयुक्त वाक्य है- "बिंदा के अपराध तो मेरे लिए अज्ञात थे, पर पंडिताइन चाची के न्यायालय में मिलने वाले दण्ड के सब रूपों से मैं परिचित हो चुकी थी।" अलंकृत वाक्य-योजना उनके कवि-स्वभाव का परिचय देती है-

रामा के कुम्हलाए मुख पर ओस के बिन्दु जैसे आनन्द के आंसु ढुलक पड़े।

अथवा

वैशाख नये गायक के समान अपनी अग्निवीणा पर एक से एक लम्बा आलाप लेकर संसार को विस्मित कर देना चाहता था।

अथवा

मलय के झोंके के समान मुझे कण्टक-वन में खींच लाकर उन्होंने जो दो फूलों की धरोहर सौंपी थी उससे मुझे स्नेह की सुरभि ही मिली है।

विवेचनात्मक शैली का प्रयोग उन्होंने चिन्तन के क्षणों में किया है और इसमें संस्कृतनिष्ठ शब्दावली तथा छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग हुआ है-"वास्तव में जीवन सौन्दर्य की आत्मा है, पर वह सामंजस्य की रेखाओं में जितनी मूर्तिमत्ता पाता है, उतनी विषमता में नहीं जैसे-जैसे हम बाह्य रूपों की विविधता में उलझते जाते हैं। वैसे-वैसे उसके मूलगत जीवन को भूलते जाते हैं। बालक स्थूल विविधता से विशेष परिचित नहीं होता, इसी से वह केवल जीवन को पहचानता है। जहां जीवन में स्नेह सद्भाव की किरणें फूटती है। जान पड़ती हैं, वहां वह व्यक्ति विषम रेखाओं की उपेक्षा कर डालता है और जहाँ द्वेष, घृणा आदि के धूम से जीवन ढका रहता है, वहां वह बाह्य सामंजस्य को भी ग्रहण नहीं करता।"

क्या आप जानते हैं अधिकांश रेखाचित्रों के पात्रों को महादेवी ने अपने भाषायी कौशल के साथ बड़े सजीव ढंग से प्रस्तुत किया है।

"समाज की समस्याओं पर विचार करते हुए उन्होंने विश्लेषणात्मक शैली अपनायी है। इन स्थलों पर भी चिन्तन प्रधान है–समाज में स्त्री-मर्यादा का जो मूल्य निश्चित कर दिया है, केवल वही उसकी गुरुता का मानदण्ड नहीं। स्त्री की आत्मा में उनकी मर्यादा की जो सीमा अंकित रहती है, वह समाज के मूल्य से बहुत अधिक गुरु और

नोट

निश्चित हे, इसी से संसार-भर का समर्थन पाकर जीवन का सौदा करनेवाली नारी के हृदय में भी सतीत्व जीवित रह सकता है और समाज-भर के निषेध से फिरकर धर्म का व्यवसाय करनेवाली सती की सांसें भी तिलमिला करके असती के निर्माण में लगी रह सकती हैं।"

यथासंभव तटस्थ रहने की चेष्टा करते हुए भी विक्षोभ, अत्यधिक पीड़ा, करुणा, प्राकृतिक सौन्दर्य के प्रति आकर्षण के क्षणों में वह अपने भावों को छिपा नहीं पायी हैं अत: ऐसे स्थलों पर उनकी शैली आत्मव्यंजक हो गयी है-"पर्वतीय भूमि मेरी धात्री बन गयी है। पैदल ही कई सौ मील की यात्रा कर मैंने उसकी प्रशान्त सुषमा और प्रमुख जीवन को अनेक रूपों में देखा है परन्तु उस निस्तब्ध सौन्दर्य और नगर के कोलाहल से मैं अब तक कोई समझौता न कर सकी। अपनी धूल भरी धरती का अंक छोड़कर के मुझे उन्हीं तुषार धौल चरणों में विश्राम मिलता है, जिन्होंने साधना से धूल के विशाल दुर्ग बनाकर अपनी करुणा को हमारे लिए सुरक्षित रखा है।"

गम्भीर विषय पर गहराई से विचार करते समय वह प्रश्नों द्वारा विषय को कुरेदकर हमारे सामने लाती हैं तो प्रश्न उपस्थित करती चलती हैं और फिर स्वयं ही सही उत्तर खोज निकालने के लिए पाठक के मन को उद्वेलित करती हैं, उसे सोचने-विचारने के लिए बाध्य करती हैं। इससे विचारों में स्पष्टता आती है-"पर धीरे-धीरे वह जाड़ा आ रहा है, जब धरती के हृदय पर दु:ख-भार के समान तीन-तीन फुट ऊँची बर्फ जम जायगी, जब लोग अपने-अपने घरों में आग तापते हुए पुरानी कथाओं को नये ढंग से कहेंगे, जब सम्पन्न और निर्धन सब अपने संचित अन्न के भरोसे प्रकृति की तरल पर क्रूर क्रीड़ा का उपहास करेंगे, जब कुछ पशु नीचे के गर्म गांवों की ओर भेज दिये जायेंगे और कुछ सुखाई हुई घास देकर गर्म गोठों में सुरक्षित रखे जायेंगे। और तब विकलांग बूढ़ों, असमर्थ बालकों तथा आरक्षित पशुओं को लेकर लक्षमा क्या करेगी?"

स्व-मूल्यांकन

सही विकल्प चुनिए–

दिए गए वाक्य किन रेखाचित्रों से संबंधित हैं–

1. 'परोपकारियों का मार्ग न समुद्र रोक सकता है न पर्वत'–
   (क) अभागी स्त्री (ख) भाभी (ग) बिट्टो
2. 'विधाता भी गरीबों, दुखियों तथा सताए हुए के पीछे हाथ धोकर पड़ जाता है'–
   (क) सबिया (ख) बिट्टो (ग) अभागी स्त्री
3. "क्या मुझे आज भी समाज द्वारा मिले भलाई-बुराई के प्रमाण-पत्रों पर विश्वास है।"
   (क) अभागी स्त्री (ख) भाभी (ग) सबिया
4. "न भइया करा धरा न होय अपना बीहा-बरा आदमी रहा।"
   (क) अभागी स्त्री (ख) बिट्टो (ग) सबिया

महादेवी की भावात्मक शैली का प्रधान गुण है ओज। जहाँ-तहाँ उन्होंने गरीबों, उपेक्षितों, समाज द्वारा सताए गए लोगों विशेषत: नारी की करुण दशा का मार्मिक वर्णन और पुरुषों के अत्याचारों तथा समाज की रूढ़ियों के विरुद्ध आक्रोश व्यक्त किया है वहाँ उनकी वाणी में क्रान्ति और विद्रोह का स्वर तथा भाषा में ओज गुण आ गया है– "बर्बरो! तुमने हमारा नारीत्व, पत्नीत्व सब ले लिया, पर हम अपना मातृत्व किसी प्रकार न देंगी ··· तो इनकी समस्याएं तुरन्त सुलझ जावें। जो समाज इन्हें वीरता, साहस और त्याग भरे मातृत्व के साथ स्वीकार नही कर सकता, क्या वह इनकी कायरता और दैन्यभरी मूर्ति को ऊँचे सिंहासन पर प्रतिष्ठित कर पूजेगा? युगों से पुरुष स्त्री का उसकी शक्ति के लिए नहीं सहनशक्ति के लिए ही दण्ड देता आ रहा है।"

व्यंग्य करने की शक्ति भी महादेवी में कम नहीं है। वह ऐसा चुटीला, मर्मबोधी व्यंग्य करती हैं कि कबीर का स्मरण हो आता है और प्रतिपक्षी को धूल चाटने के सिवाय और कोई चारा नहीं रहता। समाज के विधान पर यह व्यंग्य देखिए- "वह पतित कही जानेवाली माँ की पुत्री है और बिना समाज के प्रवेशपत्र के ही साध्वी स्त्रियों के मंदिर

नोट

में प्रवेश करना चाहती थी। उसे पता नहीं कि समाज के पास वह जादू की छड़ी है जिसे छूकर वह जिस स्त्री को सती कह देती है, केवल वही सती होने का सौभाग्य प्राप्त कर सकती है। जिसे समाज में एक बार कुलवधुओं की पंक्ति से बाहर खड़ा कर दिया उसे जन्मजन्मान्तर तक अपनी सभी भावी पीढ़ियों के साथ बाहर खड़े रहने को ही जीवन का सबसे बड़ा वरदान समझना चाहिए और फिर समाज ने उन्हें क्या छोटा-मोटा काम दिया है? भगवान के विराट रूप के समान ही मनुष्य के विराट रूप की अर्चना का अधिकार उन्हीं को प्राप्त है।

अथवा

बिट्टो ने बहुत करुण-क्रन्दन के साथ विवाह का विरोध किया पर परोपकारियों का मार्ग न समुद्र रोक सकता है और न पर्वत।"

मिथकों तथा उद्धरणों का प्रयोग कर भी उन्होंने अपनी शैली को पांडित्यपूर्ण एवं अर्थगर्भित बनाया है। "स्प्रिंगदार विशाल पलंग को जानते थे जिस पर सोकर हम कच्छ-मत्स्यावतार जैसे लगते थे।" अथवा "मनु महाराज कह गये हैं कि उसे असत्य प्रमाणित कर कुम्भीपाक में विहार करने की इच्छा न हो, तो कहना ही पड़ेगा कि बिट्टो तीसरे विवाह की इच्छा को हृदय के किसी निभृत कोने में छिपाये हुए है।

महादेवी भावुक कवयित्री होने के साथ-साथ निपुण चित्रकार भी रही हैं। अत: उनके संस्मरणात्मक गद्य में व्यक्तियों, दृश्यों, स्थितियों एवं स्थानों के अनेक सजीव तथा भावप्रवण चित्र मिलते हैं। उनकी शब्द-योजना, उपमान तथा रेखाएं इतनी सजीव तथा सप्राण होती हैं कि वर्ण्य विषय मूर्त और साकार हो उठता है, प्रकृति-सम्बन्धी चित्रों में उनका कवि रूप तथा चित्रकार रूप एक साथ मुखर हो उठा है। यही बात रामा, विधवा मारवाड़िन, बिन्दा, अलोपी आदि के चरित्रों के विषय में कही जा सकती है– "छोटे गोल मुख की तुलना में कुछ अधिक चौड़ा लगनेवाला, पर काली रूखी लटों से सीमित ललाट, बचपन और प्रौढ़ता को एक साथ अपने भीतर बन्द कर लेने का प्रयत्न-सी करती हुई, लम्बी बरौनियों वाली भारी पलकें और उनकी छाया में डबडबाती हुई-सी आंखें, उस छोटे मुख के लिए भी कुछ छोटी सीधी नाक और मानो अपने ऊपर छपी हुई हंसी से विस्मित होकर कुछ खुले रहने वाले ओठ समय के प्रवाह से फीके भर हो सके हैं घुल नहीं सके।

अत: यह कहा जा सकता है कि उनके रेखाचित्र मात्र अभिधेय नहीं हैं, वे बहुरंगी चित्र हैं जो एक ओर वर्ण्य विषय को मूर्त बना देते हैं और दूसरी ओर पाठक के मन में तीखी अनुभूति उत्पन्न करते हैं। उनके रचना-कौशल से प्राकृतिक दुश्य, बाह्य जगत् के भौतिक पदार्थ, व्यक्ति और परिस्थितियां सभी सजीव और सरस बन गये हैं।

महादेवी का उक्ति-वैचित्र्य, कथन-भंगिमा और लक्षणा शक्ति का प्रयोग उनके गद्य को अभिराम बनाता हैं उक्ति-वैचित्र्य के कुछ उदाहरण हैं-"उसे अपराध का नहीं, अपराध के अभाव का भी दण्ड सहना पड़ता था।"

"स्त्री को शक्ति के लिए नहीं सहन शक्ति के लिए दण्ड देता रहा है।"

"हम पर रामा की ममता जितनी अथाह थी, उस पर हमारा अत्याचार भी उतना ही सीमाहीन था।"

कहीं-कहीं आलंकारिकता, रूपकात्मकता, और दुरूह विचारों के कारण उनकी गद्य रचनाएं सामान्य पाठक को क्लिष्ट लग सकती हैं पर कुल मिलाकर उनकी गद्य-गरिमा के सम्मुख नतमस्तक होना पड़ता है। भाव और विचार का सम्यक् निर्वाह, चित्रमय भाषा-शैली, उक्ति-वैचित्र्य, उपयुक्त शब्द चयन और लालित्यपूर्ण संगीतमय शब्द-योजना, उनकी रचनाओं को गद्य-काव्य के समक्ष बना देते हैं। उनके गद्य में स्पंदन है, हृदय को मथ देने की शक्ति है, सुकुमारता है, तरलता से, काव्यानुभूति हैं उनके संस्मरणों में कथा कीसी रोचकता है, रेखाचित्रकार की सी चित्रमयता है, कवि की भावुकता है; उनका गद्य प्रांजल और परिनिष्ठित है। इन्हीं सब गुणों को देखकर सूर्यप्रसाद दीक्षित ने लिखा है, "महादेवी की गद्य गरिमा ने हिन्दी के गद्य-युग को अपनी अनमोल वाग्विभूति से परिपूर्ण किया है।"

नोट

15.2 सारांश

आचार्यों ने गद्य को कवि-कर्म की कसौटी कहा है। गद्यं कवीना निकषं वदन्ति। वह मूलत: कवि है जिसमें भावुकता, रसात्मकता और रागात्मक तत्त्व प्रधान होते हैं, गद्य में वैचारिकता अधिक होती है। महादेवी जी की विशेषता है कि उन्होंने अपनी गद्य रचनाओं में भाव और विचार का सम्यक निर्वाह किया है। गद्य लिखते समय वह चिन्तनरत् होकर आत्मग्लानि से भर जाती है और समस्याओं से आंदोलित हो उनका विवेचन, विश्लेषण कर कुछ सुझाव भी देती हैं। अत: उनकी गद्य-रचनाओं विशेषत: रेखाचित्रों तथा संस्मरणों में भाव और विचार बुद्धि और हृदय दोनों एक-साथ अनुस्यूत हैं।

आभिजात्य, सुशिक्षित परिवार में जन्मी एवं संस्कृत भाषा में एम.ए. करने वाली महादेवी की भाषा का परिनिष्ठित, सुसंस्कृत एवं परिमार्जित होना सहज स्वाभाविक है।

भाषा के सम्बन्ध में उनका स्पष्ट मत रहा है कि लेखक का ध्येय अपनी बात को सशक्त एवं प्रभावशाली ढंग से कहना होना चाहिए। अत: जो भी शब्द अधिक सशक्त एवं जोरदार जान पड़े, उसी का प्रयोग करना चाहिए।

उन्होंने तत्सम शब्दावली के साथ विषय और प्रसंग को देखते हुए तद्भव शब्दों का भी प्रयोग किया है विशेषत: ग्रामीण परिवेश का चित्रण करते समय या अशिक्षित पात्रों की उक्तियों में, "सांप के पेट जैसी सफेद हथेली और पेड़ की टेढ़ी-मेढ़ी गांठदार टहनियों जेसी उंगलियों वाले हाथ की रेखा-रेखा हमारी जानी-बूझी थी।" ग्रामीण वातावरण का अंकन करते समय और पात्रों के सम्वादों में उन्होंने देशज तथा आंचलिक बोलियों के शब्दों का प्रयोग किया हैं देशज शब्द-युग्मों का प्रयोग तो बहुत ही सटीक और मधुर हो गया है—लेखा-जोखा, लिपे-पुते, टोने-टोटके आदि। महादेवी की भाषा सर्वत्र भावानुकूल है। उन्होंने प्रसंग और विषय को दृष्टि में रखकर शब्दों का प्रयोग किया है। संवेदना की सृष्टि करना जहां उन्हें अभीष्ट है वहां उनके शब्द अन्त: क्रन्दन करते हैं।

महादेवी की वाक्य-योजना भावों के उतार-चढ़ाव के अनुरूप कहीं सरल-कुटिल है तो कहीं दीर्घ-लघु। कथन-वक्रता उनकी अपनी विशिष्टता है। विषय की गंभीरता, विचार तत्व की सघनता तथा अनुभूति की प्रगाढ़ता के कारण प्राय: उन्होंने तत्सम शब्दावली से गुंथे लम्बे-लम्बे वाक्यों का प्रयोग किया है-शैशव की स्मृतियों में एक विचित्रता है जब हमारी भाव प्रवणता गम्भीर और अशान्त होती है, तब अतीत की रेखाएं कुहरे में से स्पष्ट होती हुई वस्तुओं के समान अनायास ही स्पष्टतर होने लगती हैं।" लम्बे होते हुए भी उनका वाक्य-विन्यास सुलझा हुआ है, उनके वाक्य आकर्षक होने को जटिल नहीं होने देतीं।

अत: यह कहा जा सकता है कि उनके रेखाचित्र मात्र अभिधेय नहीं हैं, वे बहुरंगी चित्र हैं जो एक ओर वर्ण्य विषय को मूर्त बना देते हैं और दूसरी ओर पाठक के मन में तीखी अनुभूति उत्पन्न करते हैं। उनके रचना-कौशल से प्राकृतिक दृश्य, बाह्य जगत् के भौतिक पदार्थ, व्यक्ति और परिस्थितियां सभी सजीव और सरस बन गये हैं।

15.3 शब्दकोश

1. **कोरक—** कली, फूल की कटोरी, कमल की नाल, मृणाल
2. **निभृत—** रखा हुआ, छिपा हुआ, गुप्त, अटल

15.4 अभ्यास-प्रश्न

1. महादेवी वर्मा के रेखाचित्रों के भाषा वैशिष्टय पर प्रकाश डालिए।
2. अतीत के चलचित्र में वर्णित पात्रों की भाषा का मूल्यांकन कीजिए।

उत्तर: स्व-मूल्यांकन *नोट*

1. (ग) 2. (क) 3. (क) 4. (ग)

15.5 संदर्भ पुस्तकें

1. *अतीत के चलचित्र*–महादेवी वर्मा, लोकभारती प्रकाशन, दिल्ली।
2. *हिंदी के श्रेष्ठ रेखाचित्र*– चौथीराम यादव, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
3. *महादेवी*–दूधनाथ सिंह, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

नोट

इकाई 16: अतीत के चलचित्र: प्रमुख रेखाचित्रों की तात्त्विक समीक्षा

अनुक्रमणिका

उद्देश्य

प्रस्तावना

16.1 भाभी

16.2 बिट्टो

16.3 अभागी स्त्री

16.4 सारांश

16.5 शब्दकोश

16.6 अभ्यास-प्रश्न

16.7 संदर्भ पुस्तकें

उद्देश्य

विद्यार्थी इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् सक्षम होंगे–

- महादेवी वर्मा के प्रमुख रेखाचित्रों– भाभी, बिट्टो एवं अभागी स्त्री की तात्त्विक समीक्षा से परिचित होंगे।

प्रस्तावना

शिल्प की दृष्टि से रेखाचित्र या स्मृति-चित्र का मूल्यांकन करते समय निम्नलिखित बातों पर ध्यान रखना आवश्यक है– 1. अन्विति या एकात्मकता, 2. चित्रमयता और संक्षिप्तता, 3. आत्मीयता या संवदेनशीलात 4. विश्वसनीयता या प्रामाणिकता 5. वर्ण्य पात्र या केंद्रीय पात्र के चरित्र को अंतरंग परिचय, 6. काव्यात्मक शैली।

कौतूहल वर्णन तथा विचार तत्त्व का समावेश होने पर रेखाचित्र का मूल्य और महत्त्व और बढ़ जाता है। यहाँ अतीत के चलचित्र में संकलित कुछ महत्त्वपूर्ण रेखाचित्रों की तात्त्विक समीक्षा प्रस्तुत है।

16.1 भाभी

'भाभी' नामक रेखाचित्र एक ऐसे मारवाड़ी परिवार की किशोरावस्था में ही अहिवात लुट जाने तथा सिंदूर पुछ जानेवाली विधवा की विषाद और पीड़ा भरे जीवन की करुण कहानी है जिसने आठ वर्ष की आयु बोली लेखिका को अपने स्नेह के बंधन में बांध उसकी भाभी बनने का सौभाग्य प्राप्त कर लिया था। साथ ही यह रचना तत्कालीन हिंदू विधवाओं के निरीह, असहाय, उपेक्षित एवं उत्पीड़ित जीवन का सच्चा इस्पाती दस्तावेज भी है। इस रेखाचित्र का मूल स्वर करुणा का है और करुणा की यह तरल स्रोतस्विनी रचना के आरंभ से अंत तक प्रवाहित होकर उसे एकसूत्रता तथा अन्विति प्रदान करती है। उसकी इस दयनीय स्थिति का संकेत मिलता है उसके आरंभिक परिचय में– "लंबी बरौनियों वाली भारी पलकें और उनकी छाया में डबडबाती आंखें .... हंसी से विस्मित होकर कुछ खुले रहने वाले ओठ, समय के प्रवाह से फीके भर हो सके थे, घुल नहीं सके।" और उपसंहार होता है तीज के दिन महादेवी की बालसुलभ ममता के कारण उसके सिर पर कशीदा कढ़ी ओढ़नी ओढ़ाने की घटना के साथ, "बहुत दिनों के बाद जब मैंने फिर उसे देखा, तब उस बचपन भरी आँखों में विषाद का गाढ़ा रंग चढ़ चुका था और ओठ

नोट

जिन पर किसी दिन हंसी छिपी-सी जान पड़ती थी, ऐसे कांपते थे, मानो भीतर का क्रंदन रोकने के प्रयास से थक गये हों। उस एक घटना से बालिका प्रौढ़ हो गयी थी और युवती वृद्धा।" इन दो घटनाओं के बीच जो कुछ घटनाएँ घटीं, जिस प्रकार का व्यवहार उस असहाय अभागी स्त्री के साथ किया गया वह इस करुणा-भरे चित्र की अनेक रेखाएं हैं जिनसे चित्र पूर्ण होता है। लोहे की प्राचीर जैसे दीवारों में बंद रखा जाना, पर्दे के छेद से बाहर देखने के प्रयत्न पर उलाहने-ताने सुनना, नगर में स्थित अपनी ससुराल से तीज-त्यौहारों पर आकर ननद का भाभी को जलती लकड़ी तथा लोहे के डंडे से मारना-पीटना, श्वसुर की डांट-फटकार, दिन-रात का हाड़-तोड़ परिश्रम और अंत में रंगों पर जान देने के कारण ओढ़नी सिर पर पड़ते ही बच्चों की तरह खिलखिला उठना और उस उन्मुक्त हास्य को सुनकर श्वसुर तथा ननद द्वारा उत्पीड़न-ये सब प्रसंग इस रचना को एकान्विति प्रदान करते हैं। लगता है रंग को और गाढ़ा करने के लिए ही तूलिका को बार-बार उसी स्थान पर फेरा जा रहा है। विकट भूत, पीड़ा भरा वर्तमान और अनेक आशंकाओं से भरा अज्ञात भविष्य मिलकर चित्र में एकात्मकता लाते हैं। समाधि जैसे घर में लोहे के प्राचीन से घिरे फूल के समान वह किशोरी बालिका बिना किसी संगी-साथी, बिना किसी प्रकार के आमोद-प्रमोद के वृद्धा होने की साधना करते-करते असमय ही वृद्ध हो गयी। एक निरीह, निरपराध कुसुमवती का समाज, परिवार और परिवेश के कारण आकस्मिक तुषारापात से अवसान हो गया।

यह करुण कहानी, करुणापूर्ण रेखाचित्र लेखिका की संवेदना पाकर, उनकी लेखनी की करुणार्द्रता से और अधिक मार्मिक तथा पाठक के हृदय को स्पर्श करने वाला बन गया है। चाहे बरसात में कीचड़-भरी गली में आठ वर्ष की लेखिका-बाला के फिसलने और भाभी द्वारा उसे आंगन में खींचकर उसके कपड़ों और अंगों को धोने-पोंछने के दृश्य थे, चाहे मिताहार और निराहार रहकर घर-गृहस्थी का सारा काम कोल्हू के बैल की तरह करने का विवरण हो, चाहे भाभी के ममताभरे हाथों द्वारा बालिका के बाल गूँथने तथा चोटी करने का दृश्य हो– सामान्य से सामान्य क्रिया कलाप भी गहन मानवीय संवेदना में डूबकर मार्मिक बन गये हैं। गहरी संवेदना से उकेरा गया चित्र है। तीज के दिन ओढ़नी सिर पर डालने के कारण भाभी के हर्ष के क्षणों तथा तुरंत बाद उसके उत्पीड़न का हर्षोल्लास और विशाद का ऐसा सम्मिलित संक्षिप्त चत्र अन्यत्र मिलना कठिन है– "जब दबे पाँव जाकर मैंने उस ओढ़नी को खोलकर उसके सिर पर डाल दिया, तो वह हड़बड़ा कर उठ बैठी। रंगों पर उसके प्राण जाते ही थे, .. आश्चर्य नहीं कि वह क्षण-भर को अपनी उस स्थिति को भूल गयी जिसमें ऐसे रंगीन वस्त्र वर्जित थे और नए खिलौने से प्रसन्न बालिका के समान एक बेसुधपन में उसे ओढ़, मेरी ठुड्डी पकड़कर खिलखिला पड़ी। .. और जब किसी का विस्मय-विजड़ित 'बींदनी' (बहू) सुनकर उसकी सुधि लौटी, तब हतबुद्धि से ससुर मानो गिरने से बचने के लिए चौखट का सहारा ले रहे थे और क्रोध से जलते अंगारे जैसी आँखों वाली, खुली तलवार सी कठोर ननद देहल से आगे पैर बढ़ा चुकी थी। ... क्रूरता का वैसा प्रदर्शन मैंने फिर कभी नहीं देखा।"

नोट्स रेखाचित्र किसी व्यक्ति विशेष का होता है और उसकी सफलता का रहस्य है उस पात्र के बहिरंग और अंतरंग का आत्मीयतापूर्ण चित्रांकन।

इस रेखाचित्र के केंद्रीय पात्र मारवाड़ी विधवा की बाह्य आकृति, वेशभूषा, कर्मठता, परिश्रमशीलता और रंगों के प्रति आकर्षण, बंदी अवस्था में बाहर की दुनिया को देखने की छटपटाहट और ललक का चित्रण तो किया ही गया है उसके माध्यम से हिंदू विधवा की मानसिकता का भी पूरा परिचय दिया गया है। लोहे की प्राचीरों जैसी दीवारों में घिरे रहकर अपना दम घोंट कर जीना, फटे टाट के पर्दे के छेदों से झांक कर देखना, कभी मिताहार करना तो कभी निराहार रहना, ननद और श्वसुर के व्यंग्य-वाण सहना, संगी-साथी की चाह होने के कारण आठ वर्ष की बालिका से स्नेह का नाता जोड़ना, उसकी गुड़ियों का संसार बसाकर मन बहलाना–ये सभी विधवा किशोरी की मानसिक संवदेना और मनोविज्ञान का परिचय देते हैं। साथ ही उन कठोर, विषम परिस्थितियों में भी मुस्कराते रहना उसके चरित्र के विशेष गुण हैं–

नोट

"काम चाहे जैसा कठिन रहा हो, शरीर चाहे कितना ही क्लांत रहा हो मैंने न कभी उसकी हंसी से आभासित भावमुद्रा में अंतर पड़ते देखा और न कभी काम रुकते देखा।"

महादेवी के रेखाचित्र-लेखन की विशेषता है संक्षिप्तता। उन्होंने पैंसिल-स्कैच की तरह आड़ी-तिरछी रेखाएँ (शब्दों के माध्यम से) खींचकर ही चित्र को संपूर्णता प्रदान की है। चाहे भाभी का बहिरंग चित्रण हो चाहे उसके चरित्र और व्यक्तित्व की आंतरिक विशेषताएं हों, सर्वत्र उन्होंने थोड़े में बहुत कुछ कह डाला है। उसके शरीर की दुर्बलता, उसकी विधवा की पोशाक, उसके बंदी तन और मन की छटपटाहट-सबको बड़ी बारीकी से उकेरा है और साथ ही उसको यह चित्र पूरे हिन्दू समाज और घर-परिवारों की विधवाओं की करुण दशा को मूर्त करता है– "काली रेखाओं में पड़े कान्तिहीन नखों से कुछ भारी जान पड़ने वाली पतली उंगलियों, हाथों का बोझ संभालने में भी असमर्थ-सी दुर्बल, रूखी पर गोरी भौंहें और मारवाड़ी लहंगे के भारी घेरे से थकित-से, एक सहज सुकुमारता का आभास देते हुए कुछ लंबी उंगलियों वाले दो छोटे-छोटे पैर, जिसकी एड़ियों में आंगन की मिट्टी की रेखा मटमैले महावर-सी लगती थी।" इस चित्र से महादेवी की चित्रमय शैली और सूक्ष्मनिरीक्षण-शक्ति का भी परिचय मिलता है जो उनके रेखाचित्रों को सजीव एवं सप्राण बनाते हैं।

'अतीत के चलचित्र' के सभी पात्र वे हैं जिनकी करुण कथा और व्यथा को उन्होंने स्वयं देखा था, जिसकी वह सहयोक्ता रही थीं। अत: रेखाचित्रों में विश्वसनीयता तथा प्रमाणिकता के गुण आना स्वाभाविक है। साथ ही उनकी सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति, सामान्य जन के बीच उठने-बैठने, उनकी सहायता करने के स्वभाव के कारण भी जो कुछ उन्होंने लिखा है, वह पूरी तरह सच्चा और विश्वसनीय है। चाहे सेठ की हवेली हो, चाहे विधवा के मन की रंगीन वस्त्रों के प्रति ललक और चाहे सूने जीवन में किसी साथी को पाने की आतुरता–सबका चित्रण बड़ी मनोवैज्ञानिकता से किया है। घर में काम-काज करने का यह दृश्य देखिये–

"खंडहर जैसे घर और लंबे-चौड़े आँगन को बैठ-बैठ कर बुहारना, आँगन के कुएं से अपने और ससुर के स्नान के लिए ठहर-ठहर कर पानी खींचना और धोबी के अभाव में मैले कपड़ों को काठ की मोगरी से पीटते हुए रुक-रुक कर साफ करना ... जलती लकड़ियों से प्रकाशित, दिन में भी अंधेरी रसोई की कोठरी में घुटते हुए धुएं में से रह-रहकर आता हुआ खांसी का स्वर ... शिथिल उंगलियों से छूटते हुए बर्तनों की झनझनाहट ...।"

रेखाचित्र की भाषा में सर्वत्र प्रवाह है, संगीत की लय है, काव्य की मसृणता और कल्पना है। उनके उपमान सर्वथा नए एवं मौलिक हैं।

सारांश यह कि केंद्रीय पात्र के चरित्र की अस्मिता, समाज में विधवा की दुर्दशा, परिवेश का अंकन, बिम्बात्मक शैली, आत्मीयता और संवदेनशीलता इन सबने मिलकर 'भाभी' को एक सफल रेखचित्र बना दिया है। वह एक ओर अपनी करुणा से पाठक के मन को द्रवित करता है तो दूसरी ओर आत्म-चिंतन और आत्म-मंथन की प्रेरणा भी देता है।

16.2 बिट्टो

बिट्टो' नामक रेखाचित्र का केंद्रीय पात्र है बाल विधवा-बिट्टो, जिसका पुनर्विवाह उसकी इच्छा के विरुद्ध एक कब्र में पैर लटकाये पचपन वर्ष के बूढ़े से कर दिया जाता है और लेखिका उसके माध्यम से ऐसी निरीह, असहाय, भोली, संसार के छल-कपट से अनभिज्ञ सामान्य नारियों की दुर्दशा का वर्णन कर समाज में अनमेल विवाह के विरुद्ध चेतना जाग्रत करना चाहती हैं। स्पष्ट है कि रेखाचित्र का समग्र केंद्रबिंदु विधवा बिट्टो और उसका पीड़ापूर्ण जीवन है।

रेखाचित्र का आरंभ लेखिका की नैनीताल यात्रा और वहाँ उसकी पुरानी सहेली के साथ आकस्मिक भेंट से होता है अत: पाठक को लग सकता है कि यह प्रसंग अनावश्यक है, भूमिका मात्र है और अन्विति को भंग करता है। परंतु ध्यान से देखें तो ऐसा नहीं है। ताकुला में हुई इसी भेंट के द्वारा तो लेखिका को अपने परिचित विधुर, उनके बिट्टो के साथ विधवा-विवाह की सूचना मिलती है और वही बिट्टो से परिचय कराती है और लेखिका को

नोट

बिट्टो के मुख से ही उसकी व्यथा-कथा सुनने का अवसर मिलता है। अत: यह भूमिका न तो अनावश्यक है और न शिल्प की दृष्टि से अन्विति में बाधक दोष ही है।

इस संक्षिप्त भूमिका के उपरांत बिट्टो से भेंट से लेकर रेखाचित्र के अंत तक रचना में नैरंतर्य है, एकसूत्रता है, अन्विति है। कहीं कोई व्याघात नहीं पहुँचता-न कोई पात्र, न कोई प्रसंग, न कोई घटना मूल विषय तथा मूल संवेदना से विच्छिन्न है। पहले लेखिका बिट्टो का परिचय देती है–दुर्बल, कृश, रोगी जैसी, थकी हुई सी, टसर की मटमैली साड़ी में लिपटी संकुचित मूर्ति जिसमें न रूप था, न स्वास्थ्य, न कोई उमंग शेष थी, न उल्लास।"

इस परिचय के बाद लेखिका निर्बाध गति से बिट्टो के जीवन में घटी घटनाओं और उसके अन्त:बाह्य चरित्र की एक-एक रेखा का उद्घाटन करती चलती है प्रत्येक शब्द, पद, वाक्य से बिट्टो की करुण मूर्ति सजीव तथा साकार होती चलती है–उसका बचपन, माता-पिता का स्नेह, बाल-विवाह, वैधव्य नैहर लौटने पर माता-पिता के जीवित रहने तक निरापद जीवन और तदुपरांत आपदाओं के पहाड़ टूटने की कहानी शुरू होकर उपसंहार की ओर बढ़ती है। ये सारे प्रसंग लेखिका ने एकाग्रचित्त होकर, पूरी एकात्मकता से चित्रित किये हैं अत: रचना में निरंतरता बनी रहती है, कहीं कोई विक्षेप नहीं आता और इस प्रकार रचना में अन्विति बनी रहती है, आरंभ की तरह उपसंहार भी नाटकीय है– "आज प्राय: चार वर्ष के बाद उसके संबंध में एक असाधारण समाचार मिला है। ... वृद्ध अंतिम घड़ियां गिन रहे हैं ... सुपुत्रों को वह तीसरी विमाता फूटी आंखों नहीं सुहाती। अत: अब बेचारी बिट्टो का भविष्य पहले से भी अधिक अंधकारमय है।" रेखाचित्र का अंत पाठक के मन में कौतूहल जगाता है, उसे जिज्ञासा होती है कि आखिर उस अभागिन का क्या हुआ होगा। यह असमंजस की स्थिति भी शिल्प-विधान की दृष्टि से एक गुण है।

क्या आप जानते हैं अतीत के चलचित्र में संकलित महादेवी वर्मा के रेखाचित्रों के पात्र स्वयं उनके देखे परखे स्वानुभूत हैं जो उन्हें विशेष बनाते हैं।

केंद्रीय पात्र के बहिरंग एवं अन्त:गुणों का उद्घाटन रेखाचित्र के शिल्प का दूसरा आवश्यक गुण है। अन्य रेखाचित्रों के समान बिट्टो के बाह्य रूपाकार, वेशभूषा एवं शारीरिक गठन का मूर्त्त चित्र यहाँ नहीं है, उसके बहिरंग के विषय में लेखिका मौन ही है, पर उसके अंतरंग का उद्घाटन उन्होंने बड़ी संवेदनशीलता एवं मार्मिकता से किया है। बिट्टो का भोलापन, संसार यहाँ तक कि परिवारवालों की कुटिलता, उनके छल-कपट, उनकी झूठी सहानुभूति के पीछे छिपे स्वार्थ का उसे तनिक भी ज्ञान नहीं है। माता-पिता का साया उठते ही उसे घर में ही अनेक कष्ट सहने पड़े। उसके विषय में महादेवी लिखती हैं, "उस एकमात्र ढाल के नष्ट होते ही उस पर ऐसे असंख्य प्रहारों की वर्षा होने लगी, जिनकी उपस्थिति का ज्ञान न होने के कारण ही बचाव के साधन भी उसे ज्ञात न थे।" पहले पति की मृत्यु के बाद वह साध्वी विधवा की तरह संयम और साधना का जीवन बिताती है-अब तक पति उसके निकट ऐसा ही था जैसे ईश्वर, जो हमारी इंद्रियों से परे रहकर भी हमारे हृदय की अचल श्रद्धा और अडिग विश्वास का आधार बना रहता है। भावुक उपासना के समान उसने बिना तर्क किये ही एक सुखमय साधना से अपने जीवन को घेर लिया था।" अपने भोलेपन के कारण ही उसमें आत्मसम्मान तथा अपने अधिकारों के प्रति चेतना थी अत: वह हीन-भावना से ग्रस्त न होकर माता-पिता के जीवित रहने तक नैहर में अधिकारपूर्वक रही। जिस घर में उसका जन्म और पालन हुआ है उसी में यदि रात-दिन काम करने अपने सहोदरों से उसे भोजन-वस्त्र मिल जाता है तो उसे कृतज्ञता के समुद्र में क्यों डूब जाना चाहिए . . . जयादाद जो उसके पिता की थी।" पर माता-पिता की मृत्यु के बाद उसकी जो दुर्दशा हुई, पुनर्विवाह का प्रस्ताव सुन जो उसकी प्रतिक्रिया हुई उससे उसकी निरीहता, विवशता एवं संवेदनशीलता का पता चलता है– जब भाभी ने उसे यह सुखद समाचार सुनाया, तब पहले तो यह सत्य उसकी बड़ी-बड़ी शून्य आँखों की दृष्टि को भेदकर हृदय तक पहुँच ही नहीं सका और जब अनेक प्रयत्न करने पर पहुँचा तो उसका परिणाम विपरीत ही हुआ। बिट्टो ने बहुत करुण क्रंदन के साथ विवाह का विरोध किया, पर परोपकारियों का मार्ग न समुद्र रोक सकता है और न पर्वत।"

नोट

रेखाचित्र का लेखक प्रत्येक वस्तु, व्यक्ति, दृश्य, स्थिति का वर्णन संवदेनशील शैली में करता है ताकि पाठक पर अभीष्ट प्रभाव पड़े, वह उस भाव में पूरी तरह डूब जाय जिस भाव की सृष्टि लेखक करता है। प्रस्तुत रेखाचित्र में बिट्टो के घर-गृहस्थी के भार से दबी शारीरिक क्षीणता, उसकी पीड़ा, उसकी विवशता, निरीहता एवं निराशा का वर्णन बड़ी संवेदनात्मक शैली में किया गया है। अत: संपूर्ण रेखाचित्र में करुणा और संवेदना अन्त:सलिला के समान प्रवाहित होती है। यह संवेदना उन चित्रों में भी दृष्टिगत होती है जहाँ करुणा का वर्णन है और वहाँ भी जहाँ वह आक्रोश और क्षोभ के रूप में विस्फोटक का रूप धारण करती है–

"मनु महाराज कह गये हैं और उसे असत्य प्रमाणित कर कुम्भीपात्र में विहार करने की इच्छा न हो तो यह कहना ही पड़ेगा कि बिट्टो तीसरे विवाह की इच्छा को हृदय के किसी निभृत कोने में छिपाये हुए है और उसके उद्धार के लिए निरंतर कटिबद्ध वृद्ध परोपकारियों की इस पुण्यभूमि में और विशेषकर इस जागृत युग में कमी नहीं हो सकती।"

रेखाचित्रकार से अपेक्षा की जाती है कि वह अपनी बात को सांकेतिक शैली में संक्षिप्त रूप में रखे। उसका प्रत्येक वाक्य या तो एक चित्र प्रस्तुत करे या सूक्ति की तरह अर्थगौरव से परिपूर्ण हो, उसमें ठूंस-ठूंस कर विचार दबाये गये हों और वे सुविज्ञ पाठक के ज्ञान चक्षुओं के सम्मुख एक-के-बाद एक पर्त की तरह उधेड़ कर उसे आंदोलित करें, चिंतन-मनन की प्रेरणा दें। महादेवी इस कला में निष्णात् हैं। प्रस्तुत उद्धरण इसका प्रमाण है– स्त्री जब किसी साधना को अपना स्वभाव और किसी सत्य को अपनी आत्मा बना लेती है, तब पुरुष उसके लिए न महत्त्व का विषय रह जाता है, न भय का कारण, इस सत्य को सत्य मान लेना पुरुष के लिए कभी संभव नहीं हो सका। अपनी पराजय को बलात् जय का नाम देने के लिए ही संभवत: वह अनेक विषम परिस्थितियों और संकीर्ण सामाजिक, धार्मिक बंधनों में उसे बांधने का प्रयास करता रहता है।"

कथन में वक्रता और व्यंग्य भी गद्य-रचना को मनोज्ञ और उसकी शैली को धारदार बनाता है। "वृद्ध जीवन के कम से कम 54 वसंत देख चुके होंगे-दो अर्द्धांगिनियाँ मानो उनके जीवन की द्रुत गति से पग न मिला सकने के कारण ही उनका संग छोड़ गयी हैं ... वानप्रस्थ आश्रम को भी कुछ सरस बनाये रखने के लिए वृद्ध महोदय की एक संगिनी ढूंढने की आवश्यकता जान पड़ी।" वस्तुत: बिट्टो के पारिवारिक जीवन और उसकी पीड़ा को अत्यंत संक्षिप्त और सांकेतिक शैली में व्यक्त किया गया है।

'अतीत के चलचित्र' के सभी रेखाचित्रों का संबंध उन व्यक्तियों से है जिन्हें लेखिका ने स्वयं देखा था, जिनका निकट से परिचय प्राप्त किया था अत: उन्होंने अपने अनुभवों और प्रत्यक्ष साक्षात्कार के आधार पर इनकी रचना की है। वे कल्पनाप्रसूत न होकर भोगे गये सत्य पर आधृत है। अत: उनकी प्रमाणिकता असंदिग्ध है। साथ ही जो भी चित्र प्रस्तुत किये गये हैं वे इस शैली में अंकित हैं कि लगता है पाठक के लिए वे पूरी तरह परिचित हैं, सामान्य जीवन में ऐसा होता ही है। नैनीताल में पुरानी सखी से भेंट, उसके मुख से वृद्ध सज्जन के तीसरे विवाह की सूचना मिलना एक सामान्य घटना है। बिट्टो की जीवन-कथा अनेक भेंटों में उसके मुख से सुने शब्दों को जोड़कर सूत्रबद्ध की गयी है। अत: पूरी तरह प्रमाणिक है निम्नलिखित स्थिति किसी भी उच्च मध्यवर्गीय परिवार में घटित हो सकती है अत: उस पर सहज ही विश्वास हो जाता है–

"वह तीन भाइयों में अकेली बहन होने के कारण विशेष दुलार में पलकर बड़ी हुई। विवाह उसके अबोधपन में ही हो गया और वैधव्य भी अनजाने आ पड़ा। न पहली स्थिति ने उसे उल्लास में बहाया था, न दूसरी स्थिति उसे निराशा में डूबा पायी। विवाह के साल ही पुत्र की मृत्यु हो जाने के कारण ससुरालवाले वधू का नाम लेना भी अशुभ मानने लगे और दुखी माता-पिता ने भी नवनीत की पुतली के समान संभाल कर पाली हुई कन्या को उस ज्वाला में झोंकना उचित न समझा। दुर्दैव के इस आघात को कुछ सह्य बनाने के लिए माता-पिता ने अपना समस्त स्नेह उड़ेल कर उसे किसी अभाव का बोध न होने दिया।" परिवार की जिस स्थिति का चित्रण यहाँ किया गया है, वह नितांत सत्य और स्वाभाविक है तथा पूरी तरह विश्वसनीय है।

इस प्रकार प्रस्तुत रेखाचित्र शिल्प-विधा की दृष्टि से पूर्ण सफल रचना है और इसकी विशेषता है कि वह पाठकों

को बिट्टो की कारुणिक दशा का साक्षात्कार कर उसे भाव विह्वल कर देता, उसके मन पर बिट्टो की करुण मूर्ति बहुत समय तक छायी रहती है।

नोट

टास्क समय के अंतराल को देखते हुए 'आभागी स्त्री' और आधुनिक युग की स्त्री के तुलनात्मक अंतर पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

16.3 अभागी स्त्री

'अभागी स्त्री' में एक ऐसी वेश्यापुत्री के संघर्ष की करुण कथा प्रस्तुत की गयी है जो अपनी माँ का आदेश ठुकरा कर, वेश्यावृत्ति नहीं अपनाती अपितु पत्नी और सद्गृहिणी बनने के स्वप्न को साकार करने का प्रयत्न करती है, सौभाग्य से पत्नी बनती भी है परंतु दैव के कोप से पति की अकाल मृत्यु के कारण जीवन-भर तिल-तिलकर वैधव्य की आग में जलती तो है पर एक बार जिस मार्ग पर चल पड़ती है उसे न तो त्यागती है, न पीछे मुड़कर देखती है और न पराजय स्वीकार करती है। वह अपने जीवन की लड़ाई आप अकेली लड़ती है और स्त्री जाति को स्वाभिमान एवं नारी-गरिमा का पाठ पढ़ाती है, उसकी कथा के माध्यम से लेखिका ने पुरुष वर्ग की कामुकता, रूढ़िग्रस्त मानसिकता और अत्याचारों का भी वर्णन कर उनके विरुद्ध आक्रोश व्यक्त किया है। इसकी प्रधान समस्या है वेश्या-पुत्रियों के पुनर्वास और उनकी सहज नारी-मनोभावना-पत्नी बनने की कामना को पूरा करने की समस्या। 'अतीत के चलचित्र' में संकलित रेखाचित्रों की तुलना में इस रेखाचित्र में एकात्मकता या अन्विति अधिक प्रगाढ़ है क्योंकि इसमें पात्र भी एक है और समस्या भी एक है– वेश्यापुत्री का भद्र सद्गृहिणी बनने की आकांक्षा और उसके मार्ग में आने वाली बाधाएँ उनके विरुद्ध संघर्ष और संघर्षों पर विजय। उसकी मनोव्यथा के विचित्र चित्र परस्पर गुंथे हुए हैं अत: आरंभ से अंत तक रचना में सूत्रबद्धता है। पति की रुग्णावस्था में काम की खोज में महादेवी से भेंट लेकर पति की मृत्यु, श्वसुर द्वारा तिरस्कृत होने के बाद स्वावलंबी बनने तक कथा सभी सूत्र कपड़े के ताने-बाने की तरह सुगठित है।

एक प्रगतिशील धनी युवक द्वारा अंगीकार किये जाने के बाद से उसके जीवन में संघर्ष आरंभ हो जाता है– ससुरालवाले रुष्ट हैं– "वे उसे घर ले जाने को राजी नहीं हैं और पति को अकेले जाना स्वीकार नहीं है।" संघर्ष के साथ उनके चरित्र के आंतरिक गुणों का उद्घाटन होता चलता है। यद्यपि वेश्यापुत्री का बहिरंग चित्र भी दिया गया है, "सफेद साड़ी के कुछ घनीले बैंजनी किनारे से घिरा। मुख सुडौल गौरा पर बहुत मुरझाया हुआ सा लगा। नाक के अग्रभाग की लाली हाल ही में पोंछे गये आंसुओं की सूचना दे रही थी– पलकों की कोरें भी शायद रोने से ही कुछ-कुछ सूज आयी थीं ... ओठ इतने सूख रहे थे कि उन्हें आर्द्र करने का प्रत्येक प्रयास अपनी एकरसता में भी एक नयी थकान का आभास देखा जाता था।" परंतु लेखिका की समग्र शक्ति उसके आंतरिक गुणों को उद्भासित करने में लगी है। उसकी विनम्रता, संकोच, विनय एवं स्वाभिमान की झलक पहली भेंट में ही मिलने लगती है– "एक सभीत स्त्री-कण्ठ ने रुक-रुक कर प्रश्न किया, 'क्या भीतर आ सकती हूँ?... 'आनेवाली के पैर बाहर एक बार ठिठके से रहे, पर क्षण भर ही।" स्वाभिमान उसमें कूट-कूट कर भरा है। वह काम चाहती है दान नहीं। जब उसे पता चलता है कि काम देने में असमर्थ महादेवी नकल कराने या पत्र लिखवाने का काम केवल अभिनय के रूप में करा रही हैं ताकि उसके स्वाभिमान को ठेस न पहुँचे, वह स्वयं संपूर्ण सद्भावना के साथ अपने को अलग कर लेती है। आवश्यकता पड़ने पर वह सहायता के लिए उनके पास आती भी है, सहायता ग्रहण भी करती है पर भरसक चेष्टा यही रहती है कि वह स्वावलंबी बने, उसे हाथ न फैलाना पड़े। अपने अंतिम पत्र में वह लिखती है, "वह अच्छी है, मुझे नहीं भूली है; पर और कष्ट नहीं देना चाहती, सिलाई बुनाई आदि के द्वारा उसे कुछ मिल ही जाता है; जब नहीं मिलेगा तब मुझसे मांगने में उसे संकोच न होगा।"

नोट

पत्र के इन शब्दों से उसकी विनम्रता, कृतज्ञता भाव, उपकार करनेवाले के प्रतिसद्भाव और स्वावलंबी बनने की मनोवृत्ति-सभी एक साथ स्पष्ट हो जाते हैं। उसकी तीव्र बुद्धि का पता तब चलता है जब कुछ दिन बाद ही वह नकल कराने और पत्र लिखवाने के काम को अभिनय मात्र समझकर स्वयं को उससे अलग कर लेती है। उसमें दुर्बलता भी है वह परिस्थितियों से उत्पन्न और विवशताजन्य है। पति की मृत्यु पर श्वसुर से अंतिम भेंट के समय वह गिड़गिड़ाती है, "घर में कई नौकर-चाकर हैं। मेरे लिए दो मुट्ठी आटा भारी न होगा। मैं भी आप सबकी सेवा करती हुई पड़ी रहूंगी।" यह क्षणिक दुर्बलता ही है क्योंकि श्वसुर का तिरस्कारपूर्ण व्यवहार देख उसका नारीत्व जागृत हो जाता है और वह अंत तक न तो अपनी मां के पास जाती है और न दुबारा ससुराल का नाम लेती है।

स्व-मूल्यांकन

सही विकल्प चुनकर रिक्त स्थान की पूर्ति करें–

1. भाभी नामक रेखाचित्र में भाभी ..... परिवार से ताल्लुक रखती है –
   (क) कायस्थ (ख) मारवाड़ी (ग) शूद्र
2. बिट्टो रेखाचित्र में महादेवी ने बिट्टो के अंत: गुणों का बड़ी संवेदनशीलता से चित्रण किया है जबकि उसके ... . पर लेखिका मौन है–
   (क) बहिरंग (ख) अंतरंग (ग) स्वानुभूत सत्य
3. अतीत के चलचित्र में संकलित सबसे छोटा रेखाचित्र है–
   (क) अभागी स्त्री (ख) रामा (ग) भाभी
4. अभागी स्त्री ..... से संबंध रखती है–
   (क) सामंती समाज (ख) शूद्र समाज (ग) वेश्या समाज

जहाँ तक संवेदनशीलता का संबंध है यह गुण रेखाचित्र में चित्रित स्थितियों में भी है और स्वयं लेखिका के व्यवहार, टिप्पणियों तथा प्रतिक्रियाओं में भी। जहाँ वेश्यापुत्री की करुण मूर्ति, श्वसुर द्वारा उसका तिरस्कार, रुग्ण पति की सेवा-उपचार के दृश्य हैं वे तो संवेदनापूर्ण हैं ही–यदि कोई काम न मिल सका तो वह स्वयं भूखी रहकर मरने से भी नहीं डरती, पर ... और उसका गला भर आया। पलकों की कोर तक आये हुए आंसुओं को भी रोक लेने का उसे अभ्यास था। इसी से जिस वेग से उसका शरीर बेंत के समान कांप उठा था उससे यात्रा में कुछ अधिक संयम ने आंखों की सजल निस्तब्धता को पिघलाने नहीं दिया।" लेखिका की आत्म-ग्लानि, आत्म-भर्त्सना में भी, उनके सद्व्यवहार से भी संवेदन टपकती है। काम न दे सकने की ग्लानि के कारण ही वह नकल कराने और पत्र लिखवाने का काम देती हैं, उस अभागिन के प्रति समाज के कठोर व्यवहार को देख उनका हृदय चीत्कार कर उठता है "पत्नीत्व की चोरी करनेवाली वह अबोध स्त्री अवश्य ही समाज के जटिल नीतिशास्त्र को समझने में असमर्थ रही ... किंतु इसे कौन अभागा मां-बहिन कहकर अपवित्र बनेगा? और वह जानना चाहती है अपने अपवित्र होने का कारण?" और रेखाचित्र के अंत में तो लेखिका की संवेदना बड़े तीव्र वेग से फूट पड़ती है, "और मैं अपने मन से प्रश्न कर रही हूँ, क्या तुझे आज भी अभिजात्य का गर्व है," क्या तुझे आज भी समाज द्वारा मिले भलाई-बुराई के प्रमाण-पत्रों पर विश्वास है?" उनकी इस संवेदनशीलता को पहचानकर तथा उससे आश्वस्त होकर वह वेश्यापुत्री उन्हें अंतिम पत्र लिखती है।

'अतीत के चलचित्र' का यह सबसे छोटा रेखाचित्र है अत: इसमें सांकेतिक शैली का प्रयोग स्पष्ट नजर आता है। पति की सदाशयता, ससुरालवालों की निष्ठुरता, स्वाभिमान एवं स्वावलंबन की पहचान करानेवाले प्रसंग, वेश्यापुत्री का अतीत, वर्तमान और भविष्य सभी संक्षिप्त संकेतों द्वारा प्रस्तुत किया गया है। कहीं कोई न लंबा-चौड़ा वर्णन है न ब्यौरेवार विवरण। वेश्यापुत्री के पति समाज की उपेक्षा, रूढ़िग्रस्त मानसिकता, कठोर व्यवहार आदि का सांकेतिक भाषा-शैली में सजीव चित्र प्रस्तुत किया गया है। चित्रमयता भी रेखाचित्र के स्थूल शारीरिक एवं परिस्थिति

नोट

संबंधी चित्रों में भी है और वेश्यापुत्री की अंतरंग व्यथा को उजागर करते समय भी लेखिका ने मूर्तिविधायिनी कल्पना एवं भाषा का प्रयोग किया है। समाज की रूढ़िग्रस्तता पर यह व्यंग्य देखिए–"उसे पता नहीं कि समाज के पास वह जादू की छड़ी है जिसे छूकर वह जिस स्त्री को सती कह देता है केवल वही सती होने का सौभाग्य प्राप्त कर सकती है। ... भगवान के विराट रूप के समान ही मनुष्य के विराट रूप की अर्चना का अधिकार इन्हीं को प्राप्त है, पर जब यह अपनी दुर्बुद्धि से अनुशासन भंग कर देती हैं, तब इनका अपराध अक्षम्य हो उठता है। इन्हें जानना ही चाहिए कि जिसने उँचे स्वर्ग की सृष्टि की है, उसी ने नीचे की पाताल की भी रचना की है। यदि पाताल के सब जीव-जंतु स्वर्ग की ओर दौड़ पड़ें तो सृष्टि एक दिन भी न चले।"

रेखाचित्र का विषय-वेश्यापुत्रियों के पुनर्वास की समस्या, घटनाएं–प्रगतिशील विचारों वाले युवक द्वारा वेश्या-पुत्री से विवाह, उसकी अकाल मृत्यु, उसके कारण आपदाओं का पहाड़ टूटना ससुरालवालों द्वारा तिरस्कार तथा स्वावलंबी बनने का प्रयास-सभी कुछ ऐसा है जो जीवन में होता है इनमें से कोई भी घटना न कल्पना-प्रसूत है और न असमान्य। फिर महादेवी ने तो अपने जीवन की एक स्वानुभूत घटना का चित्र आंका है, अत: अविश्वसनीयता का प्रश्न ही नहीं उठता। सारांश यह कि प्रमाणिकता तथा विश्वसनीयता की दृष्टि से भी यह रेखाचित्र की सफल रचना है।

यह सच है कि लेखिका ने इस रेखाचित्र में वस्तुओं, व्यक्तियों, स्थितियों के बाह्य, स्थूल वर्णन पर अधिक ध्यान नहीं दिया है। पर मुख्य पात्र की मानसिकता और अपनी प्रतिक्रियाओं के अंतरंग चित्रण में जिस मनोविज्ञान, सूक्ष्मता तथा सांकेतिक शैली से काम लिया है, उसे देखकर इसे एक अत्यंत सफल रेखाचित्र कहना उचित होगा।

16.4 सारांश

शिल्प की दृष्टि से रेखाचित्र या स्मृति-चित्र का मूल्यांकन करते समय निम्नलिखित बातों पर ध्यान रखना आवश्यक है– 1. अन्वितिय या एकातमकता, 2. चित्रमयता और संक्षिप्ति, 3. आत्मीयता या संवदेनशीलात 4. विश्वसनीयता या प्रामाणिकता 5. वर्ण्य पात्र या केंद्रीय पात्र के चरित्र को अंतरंग परिचय, 6. काव्यात्मक शैली। अतीत के चलचित्र में संकलित कुछ महत्त्वपूर्ण रेखाचित्रों में 'भाभी' नामक रेखाचित्र एक ऐसे मारवाड़ी परिवार की किशोरावस्था में ही अहिवात लुट जाने तथा सिंदूर पुछ जानेवाली विधवा की विषाद और पीड़ा भरे जीवन की करुण कहानी है जिसने आठ वर्ष की आयु बोली लेखिका को अपने स्नेह के बंधन में बांध उसकी भाभी बनने का सौभाग्य प्राप्त कर लिया था। साथ ही यह रचना तत्कालीन हिंदू विधवाओं के निरीह, असहाय, उपेक्षित एवं उत्पीड़ित जीवन का सच्चा इस्पाती दस्तावेज भी है। इस रेखाचित्र का मूल स्वर करुणा का है और करुणा की यह तरल स्रोतस्विनी रचना के आरंभ से अंत तक प्रवाहित होकर उसे एकसूत्रता तथा अन्विति प्रदान करती है।

दूसरे रेखाचित्र का केंद्रीय पात्र है बाल विधवा-बिट्टो, जिसका पुनर्विवाह उसकी इच्छा के विरुद्ध एक कब्र में पैर लटकाये पचपन वर्ष के बूढ़े से कर दिया जाता है और लेखिका उसके माध्यम से ऐसी निरीह, असहाय, भोली, संसार के छल-कपट से अनभिज्ञ सामान्य नारियों की दुर्दशा का वर्णन कर समाज में अनमेल विवाह के विरुद्ध चेतना जाग्रत करना चाहती हैं। स्पष्ट है कि रेखाचित्र का समग्र केंद्रबिंदु विधवा बिट्टो और उसका पीड़ापूर्ण जीवन है। रेखाचित्र में लेखिका निर्बाध गति से बिट्टो के जीवन में घटी घटनाओं और उसके अन्त:बाह्य चरित्र की एक-एक रेखा का उद्घाटन करती चलती है प्रत्येक शब्द, पद, वाक्य से बिट्टो की करुण मूर्ति सजीव तथा साकार होती चलती है–उसका बचपन, माता-पिता का स्नेह, बाल-विवाह, वैधव्य नैहर लौटने पर माता-पिता के जीवित रहने तक निरापद जीवन और तदुपरांत आपदाओं के पहाड़ टूटने की कहानी शुरू होकर उपसंहार की ओर बढ़ती है।

'अभागी स्त्री' में एक ऐसी वेश्यापुत्री के संघर्ष की करुण कथा प्रस्तुत की गयी है जो अपनी माँ का आदेश ठुकरा कर, वेश्यावृत्ति नहीं अपनाती अपितु पत्नी और सद्गृहिणी बनने के स्वप्न को साकार करने का प्रयत्न करती है, सौभाग्य से पत्नी बनती भी है परंतु दैव के कोप से पति की अकाल मृत्यु के कारण जीवन-भर तिल-तिलकर वैध व्य की आग में जलती तो है पर एक बार जिस मार्ग पर चल पड़ती है उसे न तो त्यागती है, न पीछे मुड़कर

नोट

देखती है और न पराजय स्वीकार करती है। वह अपने जीवन की लड़ाई आप अकेली लड़ती है और स्त्री जाति को स्वाभिमान एवं नारी-गरिमा का पाठ पढ़ाती है, उसकी कथा के माध्यम से लेखिका ने पुरुष वर्ग की कामुकता, रूढ़िग्रस्त मानसिकता और अत्याचारों का भी वर्णन कर उनके विरुद्ध आक्रोश व्यक्त किया है। इसकी प्रधान समस्या है वेश्या-पुत्रियों के पुनर्वास और उनकी सहज नारी-मनोभावना-पत्नी बनने की कामना को पूरा करने की समस्या।

16.5 शब्दकोश

1. **कोल्हू का बैल–** परिश्रम करने वाला, मुहावरे के रूप में प्रयोग किया जाता है।
2. **हतबुद्धि–** मूर्ख
3. **अहिवात्–** सुहाग
4. **सहयोक्ता–** साथ लगा हुआ, साथ जुड़ा हुआ
5. **सभीत–** डरा हुआ, भय के साथ

16.6 अभ्यास-प्रश्न

1. अतीत के चलचित्र में संगृहीत रेखाचित्र भाभी की तात्त्विक समीक्षा कीजिए।
2. महादेवी वर्मा के रेखाचित्र विट्टो की तात्त्विक समीक्षा कीजिए।
3. 'अभागी-स्त्री' रेखाचित्र की तात्त्विक समीक्षा प्रस्तुत कीजिए।

उत्तर: स्व-मूल्यांकन

1. (ख) 2. (क) 3. (क) 4. (✓)

16.7 संदर्भ पुस्तकें

1. *अतीत के चलचित्र*–महादेवी वर्मा, लोकभारती प्रकाशन, दिल्ली।
2. *हिंदी के श्रेष्ठ रेखाचित्र*– चौथीराम यादव, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।
3. *महादेवी*–दूधनाथ सिंह, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

नोट

इकाई 17: अंधायुग– कथासार एवं महत्त्वपूर्ण अंशों की सप्रसंग व्याख्या

अनुक्रमणिका

उद्देश्य

प्रस्तावना

17.1 अंधायुग– कथासार

17.2 अंधायुग– महत्त्वपूर्ण अंशों की सप्रसंग व्याख्या

17.3 शब्दकोश

17.4 अभ्यास-प्रश्न

17.5 संदर्भ पुस्तकें

उद्देश्य

विद्यार्थी इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् सक्षम होंगे–

- धर्मवीर भारती के गीति नाट्य 'अंधायुग' की कथावस्तु से परिचित होंगे।
- 'अंधायुग' नाटक के महत्त्वपूर्ण अंशों की व्याख्या करने में सक्षम होंगे।

प्रस्तावना

'अन्धा' युग की कथावस्तु महाभारत के अट्ठारहवें दिन के युद्ध और उसके परिणाम से सम्बद्ध है। यह कथावस्तु निम्नलिखित शीर्षकों तथा अंकों में विभाजित की गई है–

1. **स्थापना–** अन्धा युग
2. **पहला अंक–** कौरव नगरी
3. **दूसरा अंक–** पशु का उदय
4. **तीसरा अंक–** अश्वत्थामा का अर्द्ध सत्य
5. **अन्तराल–** पंख, पहिये और पट्टियां
6. **चौथा अंक–** गांधारी का शाप
7. **पांचवां अंक–** विजय, एक क्रमिक आत्महत्या
8. **समापन–** प्रभु की मृत्यु

17.1 अंधायुग– कथासार

स्थापना– स्थापना के अन्तर्गत नाटककार ने मंगलाचरण, उद्घोषणा और अपनी कृति के वर्ण्य-विषय का उल्लेख किया है। उद्घोषणा में उसने बताया है कि प्रस्तुत कृति का वर्ण्य-विषय विष्णु पुराण से लिया गया है, जिसमें भविष्यवाणी करते हुए लिखा है कि उस भविष्य में सब लोग तथा उनके धर्म-अर्थ ह्रासोन्मुख होंगे और धीरे-ध

नोट

ीरे सारी धरती का क्षय हो जायेगा। जिसकी सत्ता होगी, वही पूजनीय माना जाएगा, जिसका चेहरा नकली होगा उसे महत्त्व मिलेगा और राज-शक्तियां लोलुप होंगी, जिनसे पीड़ित होकर जनता गहन गुफाओं में छिपकर अपने दिन काटेगी।

प्रस्तुत कृति के वर्ण्य-विषय का उल्लेख करते हुए नाटककार ने लिखा है कि महाभारत-युद्ध के पश्चात् यह अन्धायुग अवतरित हुआ था जिसमें सारी स्थितियाँ, मनोवृत्तियाँ और आत्माएँ विकृत हो चुकी थीं और एक बहुत पतली डोरी मर्यादा की शेष रह गई थी, जिसे केवल कृष्ण ने सुलझाने का प्रयत्न किया था, क्योंकि शेष सभी लोग अन्धे थे, पथभ्रष्ट थे, आत्म-हत्यारे थे या विगलित थे। प्रस्तुत कृति में उन्हीं अन्ध-गुफाओं के वासियों की व्यथा कही गई है या यह कथा अन्धों के माध्यम से ज्योति की।

पहला अंक– इस अंक के प्रारंभ में कथा गायन में नाटककार ने इस अंक में वर्णित कथा की पृष्ठभूमि का उल्लेख किया है। उसने बताया है कि मर्यादा टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर चुकी थी जिसके लिए कौरव और पाण्डव ये दोनों पक्ष जिम्मेदार हैं। न जाने यह युद्ध कब समाप्त होगा जिसमें खून की भयंकर नदियां बह रही हैं। चाहे जिस पक्ष की जीत हो किन्तु हानि तो दोनों ही पक्षों की होगी। इस युग का सिंहासन अन्धों से शोभित था, जिनमें भय का अन्धापन था, ममता का अन्धापन था और अधिकारों का अन्धापन था। इसी अन्धेपन की विजय हुई और जो कुछ शुभ तथा कोमल था वह हार गया। महाभारत के युद्ध के अन्तिम दिन की सन्ध्या है। चारों ओर घोर उदासी छाई हुई है और कौरवों के महल का पहरा देते हुए दो बूढ़े प्रहरी घूम रहे हैं तथा आपस में बातें कर रहे हैं।

इन प्रहरियों की बातों का सारांश यह है कि हम कौरवों के उन महलों का पहरा दे रहे हैं, जिनमें पहले कभी रत्नजड़ित फर्शों पर कौरव-बहुएँ मन्थर गति से सुरक्षित पवन तरंगों की तरह चलती रहती थीं। किन्तु आज वह विधवा बनी हुई है, क्योंकि उनके पति सत्रह दिनों के लोह-हर्षक संग्राम में वीर गति को प्राप्त हो गये हैं। इन महलों में सूनापन है या उस बूढ़े और अन्धे राजा की संस्कृति है जो गलित अंगों वाली वैश्या की तरह अन्य प्रजाजनों को भी रोगी बनाती है और जिसने हमारी मेहनत को, हमारी आस्था को, हमारे साहस और श्रम को निरर्थक बना दिया है।

उसी समय उन दोनों प्रहरियों को उन गिद्धों के पंखों की ध्वनि सुनाई देती है जो भारी समूह में कुरुक्षेत्र की ओर जा रहे हैं। पहले प्रहरी को यह भयानक अपशकुन प्रतीत होता है। तभी विदुर आते हैं और प्रहरियों से यह कहते हुए कि वह इस अपशकुन की खबर धृतराष्ट्र तक पहुँचाएंगे, चले जाते हैं। विदुर ने धृतराष्ट्र के पास जाकर देखा कि वह बड़ी आतुरता से संजय की प्रतीक्षा कर रहे हैं जो अभी तक युद्ध का समाचार नहीं लाया था। विदुर ने धृतराष्ट्र से कहा कि मेरे जीवन में आज पहली बार आशंका व्याप्त हुई है। इस आशंका को जन्म देने वाली वह मर्यादा है जो तोड़ दी गई है। धृतराष्ट्र यह सुनकर अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए कहते हैं कि जन्मांध होने के कारण मैं तो उस वस्तुस्थिति को ग्रहण नहीं कर पाया था। किन्तु विदुर उसके कथन की उपेक्षा करके महाभारत के लिए उसे ही उत्तरदायी ठहराते हैं। यह सुनकर धृतराष्ट्र अपना अपराध कुछ सीमा तक स्वीकार कर लेते हैं। वहाँ पर उपस्थित गांधारी भी इस वार्तालाप में भाग लती है और कहती है कि मैंने दुर्योधन को बार-बार समझाया था कि जिधर धर्म होगा उधर ही विजय होगी, लेकिन वह मेरी बात नहीं माना।

इन तीनों में इसी प्रकार की बातें हो रही थी कि तभी एक वृद्ध-याचक वहां पर आ गया। इस वृद्ध-याचक ने युद्ध प्रारम्भ होने से पूर्व बताया था कि दुर्याधन की विजय होगी किन्तु उसकी भविष्यवाणी असत्य सिद्ध हो जाती है। इस असत्य भविष्यवाणी के दोष के लिए धृतराष्ट्र और विदुर उसकी भर्त्सना करते हैं। किन्तु गांधारी उसे एक अंजुल मुद्राएँ देकर विदा कर देती है ओर वह दुर्योधन को आशीर्वाद देता हुआ चला जाता है।

दूसरा अंक– जब संजय युद्ध का संदेश लेकर लौट रहा था तो वह अपना मार्ग भूल गया और इधर-उधर भटकने लगा। उसे अपने भटकने का इतना अधिक दु:ख नहीं था जितना दु:ख यह था कि वह युद्ध के भयंकर मर्मात्मक समाचार को धृतराष्ट्र और गांधारी से किस प्रकार कहेगा। तभी उसे कृतवर्मा ने पुकारा जो वहीं पास में सो रहा था और संजय के कारण जिसकी नींद टूट गयी थी। संजय अपनी मनोव्यथा को प्रकट करता हुआ कृतवर्मा से कहता

नोट

है कि उसकी समझ में नहीं आता कि वह किस प्रकार दुर्योधन की पराजय का संदेश धृतराष्ट्र और गांधारी से कहेगा। कृतवर्मा उसको धैर्य देते हैं और कहते हैं कि जो घटना घटित हो चुकी है उसे तो बताना ही होगा।

कृतवर्मा से आश्वासन पाकर संजय वहां से चला जाता है। उसी समय अश्वत्थामा को पुकारते हुए कृपाचार्य की आवाज उसे सुनाई देती है, जो अश्वत्थामा को ढूंढ रहा था। दुर्योधन की पराजय के बाद अश्वत्थामा अपने धनुष को तोड़कर वन में चला गया था और शोक भरे शब्दों में सोच रहा था कि अपने धनुष को तोड़कर वह शक्तिहीन हो गया है अत: अब किसके बल से वह अपने पिता के वध और अपने सम्बन्धियों की हत्या का बदला शत्रुओं से किस प्रकार लेगा। यह सोचकर अश्वत्थामा को अपने ऊपर अत्यधिक घृणा होती है और क्रोध भी आता है। उसके मन में प्रतिहिंसा की आग इतनी तेजी से भड़क उठती है कि वह कर्त्तव्य के भेद को एकदम भूल जाता है। तभी संजय उस मार्ग से गुजरता है और अश्वत्थामा उसे पकड़कर उसका गला दबोच देता है। यदि ठीक समय पर कृतवर्मा ओर कृपाचार्य ने आकर उसकी रक्षा न की होती तो अश्वत्थामा उसकी हत्या कर देता। वास्तव में अश्वत्थामा प्रतिहिंसा की भावना से इतना भर जाता है कि उसी मार्ग से लौटते हुए वृद्ध याचक का वध कर देता है। अश्वत्थामा की इस स्थिति को देखकर कृपाचार्य उसे सोने के लिए विवश कर देते हैं ताकि उसे विश्राम मिले और उसके मन पर पड़ा हुआ अज्ञान तथा प्रतिहिंसा का प्रभाव समाप्त हो जाये।

तीसरा अंक– संजय का रथ जब हस्तिनापुर नगर के द्वार पर पहुंचा तो रात ढल रही थी और चारों ओर इसी बात की चर्चा चल रही थी कि कौरवों की हारी हुई सेना कब वापस आएगी। संजय ने जब उन लोगों को युद्ध के समाचार सुनाने शुरू किए तो वे उन समाचारों को सुनने में इतने तल्लीन हुए कि सुनते-सुनते सुबह हो गई। दोपहर होते ही कौरव-सेना के टूटे हुए रथ इत्यादि और बचे हुए ब्राह्मण, स्त्रियाँ, चिकित्सक और बूढ़े युद्धक्षेत्र से लौटने लगे। धृतराष्ट्र प्रत्येक वस्तु को छू-छू कर देख रहे थे और अत्यन्त दु:खी हो रहे थे। विदुर उनके दु:ख को समझकर उन्हें सान्तावना देते हैं पर इससे धृतराष्ट्र के मन की व्यथा कम नहीं होती। थी एक लंगड़ा और गूंगा सैनिक घिसटता हुआ वहां पर आ जाता है और अपने संकेत से पानी मांगता है। विदुर के कहने पर प्रहरी उसको पानी पिलाता है और उसे ज्वर होने के कारण एक स्थान पर लिटा देता है।

पाण्डवों की सेना में धृतराष्ट्र का पुत्र युयुत्सु भी सम्मिलित हुआ था, क्योंकि वह दुर्योधन के पक्ष को असत्य का पक्ष ओर युधिष्ठिर के पक्ष को सत्य का पक्ष समझता था। जब उसने नगर में प्रवेश किया तो सारे नगरवासी उस दैत्याकार योद्धा को अस्त्रों से सज्जित देखकर डर गये। विदुर को जब युयुत्सु के आने का पता चला तो वह उसे ढूंढ़कर गांधारी के पास ले गया। युयुत्सु ने अपनी माता के चरण छुए पर गांधारी ने उससे जितनी बातें कीं वे सब चुभते हुए व्यंग्यों से भरी हुई थीं। माता के इस व्यवहार को देखकर युयुत्सु को अपने किए पर फिर से विचार करना पड़ता है और वह इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि पक्ष चाहे सत्य का हो या असत्य का, अन्तिम परिणति में दोनों ही जर्जर करने वाले हैं। तभी उस गूंगे तथा लंगड़े सैनिक के हांफने की आवाज आती है जो दम तोड़ने वाला था। युयुत्सु पानी लेकर उसके मुंह से लगाता है जब वह युयुत्सु को देखता है तो बिना पानी पिये गिरता-पड़ता भागने लगता है। बात यह थी कि वह सैनिक कौरवों की सेना का एक अश्वारोही था ओर युयुत्सु के अग्निवाणों से ही उसके घुटने झुलस गये थे। विदुर को युयुत्सु इस घटना को सुना ही रहा था कि अन्त:पुर से रोने की आवाज आई। पूछने पर पता चला कि द्वन्द्व-युद्ध में दुर्योधन के वध का समाचार देता है और बता है कि भीम ने अधर्म से उसका वध किया है। अत: वह भी से भी अपने राजा की हत्या का पूरा बदला लेगा। तभी उसे कृष्ण और बलराम की आवाज सुनाई देती है जो उस द्वन्द्व-युद्ध को देखकर आ रहे थे। बलराम कृष्ण से कह रहे थे कि पाण्डवों ने अधर्म किया है और इस अधर्म के कारण वह भी निश्चित रूप से मारे जाएँगे।

क्या आप जानते हैं

धृतराष्ट्र का पुत्र युयुत्सु अपने भाइयों (कौरवों) के अन्याय के कारण युद्ध में पाण्डवों के पक्ष का समर्थन कर रहा था। लेकिन अन्तत: युद्धोपरांत आत्मग्लानि और अपमान के कारण उसने आत्महत्या कर ली।

नोट

अश्वत्थामा बलराम के इन शब्दों को सुन लेता है और वह भी अधर्म के द्वारा पाण्डवों का नाश करने की योजना बनाता है। वह कृपाचार्य और कृतवर्मा को अपने साथ लेकर, दुर्योधन के पास जाकर सेनापति का पद ग्रहण करता है और फिर यह योजना बना लेता है कि जिस दिन भी उसे अवसर मिलेगा वह सोये हुए तथा निहत्थे पाण्डव-वीरों तथा उनके पुत्रों की हत्या कर देगा।

अन्तराल– इस शीर्षक के अन्तर्गत नाटककार ने वृद्ध याचक की प्रेतात्मा की शक्ति का परिचय दिया है। वह सबको वशीभूत कर लेती है, तभी उसे दूर से रथों के चलने की घंटियाँ सुनाई देती हैं। ये घंटियाँ कृष्ण का और अश्वत्थामा के रथों की हैं। कृष्ण माता गांधारी को को आश्वासन देकर हस्तिनापुर से लौट रहे थे और अश्वत्थामा पांडव-शिविरों में घुसकर चुपचाप पांडव-वीरों को मारकर अपना बदला लेने के लिए जा रहा था। वृद्ध याचक की प्रतात्मा उन दोनों रथों को भी अपने वश में करने का प्रयत्न करती है, पर वह सफल नहीं हो पाती है। दोनों रथ तीव्र गति से अपनी-अपनी दिशाओं की ओर निरंतर बढ़ते चले जाते हैं। जब अश्वत्थामा पांडव-शिविरों में घुसने लगता है तो शंकर उसका मार्ग रोककर खड़े हो जाते हैं।

चौथा अंक– अपने सामने द्वार पर शंकर को देखकर अश्वत्थामा कुछ क्षणों के लिए तो किंकर्तव्यविमूढ़-सा होकर खड़ा रह जाता है, क्योंकि शंकर को जीतना उसके वश की बात नहीं थी। अत: वह उन्हें प्रसन्न करने के लिए उनकी स्तुति करता है। आशुतोष शंकर उसकी स्तुति से शीघ्र ही प्रसन्न हो जाते हैं और अश्वत्थामा को वरदान देते हुए कहते है कि हे अश्वत्थामा! तुम निश्चय ही विजय प्राप्त करोगे, क्योंकि पांडवों के पुण्यों का अब क्षय हो चुका है। उन्होंने अधर्म का मार्ग अपनाकर अपनी मृत्यु के द्वार स्वयं खोल लिये हैं। यह वरदान तथा अपनी असि देकर शंकर तो अन्तर्धान हो जाते हैं ओर अश्वत्थामा पांडवों के शिविरों में घुस जाता है। सबसे पहले वह अपेन पिता के हत्यारे धृष्टद्युम्न के पास पहुंचता है जो गहरी नींद में सोया हुआ था। वह बिजली की तरह उस पर झपटता है और उसे शय्या से नीचे गिराकर अपने घुटनों में दाबकर बैठ जाता है और उसका दोनों आंखों को निकाल लेता है। धृष्टद्युम्न को अपार पीड़ा होती है। वह अश्वत्थामा से विनय करता है कि वह उसका शीघ्र वध कर दे, पर अश्वत्थामा उसे तड़फा-तड़फ कर मार डालता है। इस कोलाहल को सुनकर पांडव-वीर जाग पड़ते हैं और अपने प्राणों की रक्षा के लिए भागने लगते है तो अश्वत्थामा अपने जहरीले तीरों से उनका वध कर देता है। जो बच्चे, बूढ़े और नौकर अपनी जान बचाने के लिए शिविर से बाहर भागकर आये, उन्हें बाहर छिपे हुए कृपाचार्य और कृतवर्मा ने मार डाला। हाथी अपने बंधन तुड़ाकर भाग निकले, जिनके नीचे सोई हुई स्त्रियों कुचलकर मर गईं।

गांधारी इस घटना को सुनकर बहुत प्रसन्न होती है और विदुर से कहती है कि वह अपनी दिव्य दृष्टि से उसे अश्वत्थामा का दर्शन करा दे, क्योंकि उसे निश्चय है कि यदि कृष्ण वहां पहुच गया तो वह अश्वत्थामा को किसीभी प्रकार जीवित नहीं छोड़ेगा। विदुर गांधारी की आज्ञा का पालन करता है। पांडव-वीरों, स्त्रियों, बूढ़ों तथा बच्चों का निर्मम बध करके वे तीनों वीर वापिस लौट आते हैं। वे उस स्थान पर पहुँचते हैं जहाँ दिन में घायल होकर दुर्योध न पड़ा हुआ था। वे उसे ढूंढते हैं तो वह एक झाड़ी में पड़ा हुआ दिखाई देता है, जहाँ उसे जंगली जानवर खींचकर ले गये थे। दुर्योधन बहुत दुखी था। उसकी आंखों से आँसू बह रहे थे। कृपाचार्य दुर्योधन से कहते हैं कि आपका अश्वत्थामा आ गया है। यदि आप उसे हाथ उठा कर आशीर्वाद नहीं दे सकते तो एक बार उसपर दृष्टि डालकर ही उसे आशीर्वाद दे दीजिए, क्योंकि उसने पांडव-वीरों का नाश करके अपने पिता तथा आपकी मृत्यु का बदला ले लिया है। इस समाचर को सुनकर दुर्योधन बहुत प्रसन्न होता है और इसी प्रसन्नता के कारण उसकी मृत्यु हो जाती है।

अपने पुत्रों की मृत्यु के कारण गांधारी को बहुत दुख होता है। विदुर के कहने पर महाराज धृतराष्ट्र गांधारी तथा अन्य परिजन एंव भृत्यों को लेकर कुरुक्षेत्र में अपने पुत्रों का अन्तिम संस्कार करने के लिए चले जाते हैं। युयुत्सु को यह पछतावा होता है कि उसने अपने जिन भाइयों का स्वयं अपने ही हाथों से वध किया है, वे भला उसके तर्पण को क्यों स्वीकार करेंगे। फिर भी वह अपने माँ-बाप के साथ रणभूमि में चला जाता है। उनके साथ कौरव-नगरी के प्राय: सभी लोग हो लेते हैं और कौरव-नगरी एक प्रकार से निर्जन हो जाती है।

नोट

जब कृष्ण हस्तिनापुर से लौटते हैं और उन्हें आश्वत्थामा के क्रूर कार्य का पता चलता है तो वे अर्जुन को लेकर उसकी खोज में निकल पड़ते हैं। अर्जुन और अश्वत्थामा का भयंकर युद्ध होता है। अन्त में विवश होकर अश्वत्थामा ब्रह्मास्त्र का प्रयोग कर देता है। तब व्यास जी प्रकट होकर उसे समझाते हैं कि उसने ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करके अच्छा नहीं किया, क्योंकि यह अस्त्र तो सारी सृष्टि को नष्ट कर देगा, अत: वह उसे वापस ले ले। व्यास के बहुत अधिक आग्रह करने पर अश्वत्थामा यह स्वीकार कर लेता है कि इस अस्त्र को मैं वापस तो नहीं लूँगा। हाँ, इतना अवश्य कहता हूँ कि यह और किसी को नष्ट न करके उत्तरा के गर्भ पर गिरे, ताकि पांडवों का कुलनाश ही हो जाये।

संजय के द्वारा यह समाचार पाकर कि अश्वत्थामा का ब्रह्मास्त्र उत्तरा के गर्भ पर गिरा है, गांधारी को बहुत संतोष होता है। उसे आशा हो जाती है कि अब उत्तराधिकारी के अभाव में युधिष्ठिर अपना राजपाट उसके पुत्र युयुत्सु को ही सौंप देगा। विदुर उसकी इस आशा पर भी पानी फेर देता है। वह कहता है कि चाहे ब्रह्मास्त्र उत्तरा के गर्भ पर गिरे, पर इससे पांडवों का वंश निर्मूल नहीं होगा, क्योंकि श्रीकृष्ण उस शिशु को पुन: जीवित कर लेंगे। जब गांधारी संजय और विदुर के साथ आगे बढ़ती है तो उसे कोढ़ से गले हुए शरीर वाला अश्वत्थामा दिखाई देता है, जो कृष्ण के शाप के कारण कुष्टी हो गया था। उसकी दयनीय दशा देखकर गांधारी को बहुत क्रोध आता है और वह कृष्ण को शाप देती हुई कहती है कि तुमने जिस प्रकार मेरे वंश का नाश कराया है, उसी प्रकार एक दिन तुम्हारा वंश भी परस्पर लड़कर विनाश को प्राप्त होगा और तुम पशुओं की तरह एक साधारण व्याध के हाथों से मारे जाओगे। कृष्ण बिना किसी संकोच के गांधारी का यह शाप स्वीकार कर लेते हैं। तब गांधारी को बहुत दुख होता है। उसे अनुभव होता है, जैसे कृष्ण को शाप देकर उसने भयंकर भूल की है। वह कहती है कि कृष्ण! तुम पर मेरी अपार ममता है, पर अपने पुत्रों की मृत्यु से उत्पन्न शोक के कारण मैं इतनी विचलित हो गई थी कि तुम्हें शाप ही दे बैठी। यदि तुम मेरे शाप को स्वीकर न करते तो बहुत अच्छा रहता। कृष्ण दुखी गांधारी को सान्त्वना देते हैं।

जब से गांधारी ने कृष्ण को शाप दिया था और कृष्ण ने उसे स्वीकार किया था, तब से सृष्टि की दशा ही बदल गई थी। सितारों की ज्योति मंद पड़ गई, युग-युग की मर्यादा निष्प्राण हो गई, कवियों के वर्ण-छन्द श्रीहीन हो गये और समूचे युग का वातावरण इस प्रकार भयानक दिखाई देने लगा जैसे उस पर कोई कलुषित छाया निरंतर मंडरा रही हो।

पांचवाँ अंक– कुरुक्षेत्र में विजय प्राप्त करने से युधिष्ठिर को हस्तिनापुर का राज्य तो मिल गया, पर उनके मन को शांति न मिल सकी। उनके शेष चारों भाई–अर्जुन, भीम, नकुल और सहदेव–किसी-किसी दोष से ग्रस्त थे। अत: युधिष्ठिर रात-दिन चिन्ता में डूबे रहते थ। उन्हें लगता था जैसे आने वाला युग बहुत ही अंधकारपूर्ण एवं दुखों से भरा हुआ होगा। वे इसी चिन्ता में मग्न रहते थे कि इतना भाषण महायुद्ध जीतने के पश्चात् भी उन्हें जो कुछ मिला, वह सब कुछ भी नहीं है। एक दिन युधिष्ठिर इसी प्रकार की चिन्ताओं में डूबे हुए थे कि उन्हें समवेत अट्टहास सुनाई दिया, जिसे सुनकर उन्हें यह जानने में कठिनता नहीं हुई कि भीम ने फिर युयुत्सु का अपमान कर दिया हैं इस घटना के कारण वे मर्मान्तक पीड़ा से व्यथित हो उठे। तभी आकर कृपाचार्य ने भी भीम के इस दुर्व्यावहार की निन्दा की। युधिष्ठिर को और भी अधिक दुख हुआ, क्योंकि गांधारी और धृतराष्ट के बन में चले जाने कारण युयुत्सु उन्हीं के तो आश्रित रह गया था। कृपाचार्य के कहने पर जब युधिष्ठिर युयुत्सु को सांत्वना देने के लिए जाते हैं तो वे देखते हैं कि वह प्रहरी का भाला छीनकर भाग जाता है और अवसर पाते ही तुरन्त आत्महत्या कर लेता है। इससे युधिष्ठिर को बहुत अधिक दुख होता है। कृपाचार्य और विदुर भी आदि को उसकी आत्महत्या का कारण जानकर उनकी निन्दा करते हैं। एक दिन कृपाचार्य भी यह कहकर कि वह आत्मघात वाली युधिष्ठिर की संस्कृति में नहीं रह सकता, उसे छोड़कर चला जाता है।

जिस वन में धृतराष्ट्र, गांधारी और कुन्ती ने निवास-स्थान बनाया था, एक दिन उस बन में आग लग गई। उस बन में धृतराष्ट्र, गांधारी और कुन्ती तो जलकर भस्म हो जाते हैं तथा संजय के दोनों पैर बरगद के धधकते हुए वृक्ष के गिरने के कारण टूट जाते हैं। अपने वंश का इस प्रकार नाश होते देख युधिष्ठिर के मन में विरक्ति के

नोट

भाव इतने प्रबल हो जाते हैं कि वे हिमालय के शिखरों पर जाकर गलने की बात सोचने लगते हैं और अपनी इस इच्छा को विदुर को बता भी देते हैं।

समापन– इस शीर्षक के अन्तर्गत यदुवंशियों के परस्पर युद्ध और कृष्ण की मृत्यु का वर्णन किया गया है। अपने ही वंशधरों को युद्ध में मारने के पश्चात् श्रीकृष्ण प्रभास नामक वन-क्षेत्र के एक वृक्ष के नीचे चिन्ताकुल भाव से घुटनों पर पैर रखे हुए लेटे थे। उनका पैर हिरण के मुख की भाँति दिखाई पड़ रहा था, जिसे हिरण समझ कर एक व्याध ने उसका निशाना साधा। अश्वत्थामा भी कहीं से घूमता-घूमता उस ओर आ निकला और ताड़ के पत्तों में छिपकर भावी घटना को देखने के लिए खड़ा हो गया। संजय भी वहीं पर आ निकला। जब उसने दूर से किसी व्याध को कृष्ण के पैर का निशाना साधते देखा तो वह जल्दी-जल्दी उस व्याध की ओर घिसटने लगा, ताकि वहां पहुंचकर वह उसे वस्तुस्थिति बता सके। पर उसके पहुचने से पहले ही व्याध ने अपना बाण छोड़ दिया, जो कृष्ण के पैर में आकर लगा जिससे पीप भरा दुर्गन्धित नीला रक्त निकला। उस रक्त के निकलते ही अश्वत्थामा के सारे कष्ट दूर हो गये, उसके घावों की जलन बिलकुल शांत हो गई और उसे कृष्ण के प्रति आस्था का अनुभव हुआ। तभी कहीं दूर से उसे युयुत्सु की प्रेतात्मा की वाणी सुनाई दी, जो कृष्ण के प्रति आस्था होने के कारण अश्वत्थामा का मजाक कर रही थी। तभी कृष्ण को मारने वाला व्याध भी वहाँ आ गया। उसने अपना परिचय इस प्रकार दिया– मैं वही वृद्ध याचक हूँ, जिसका अश्वत्थामा ने वध किया था और जो वर्षों तक प्रेत-योनि में भटकता रहा। मेरी दयनीय दशा देखकर कृष्ण ने मुझसे कहा था कि तुम्हारा वध करके अश्वत्थामा ने जा पाप किया है उसका दण्ड वह स्वयं भोगेंगे और उनका मरण मुझे प्रेत योनि से मुक्त कर देगा। युयुत्सु यह आशंका प्रकट करता है कि चाहे जो हो, किन्तु प्रभु का मरण कायरता से पूर्ण है और ऐसे मरण से मानव के भविष्य की रक्षा नहीं हो सकती। अश्वत्थामा कहता है कि यद्यपि कृष्ण मेरा शत्रु था फिर भी उसके इस प्रकार के मरण ने मेरे मन में आस्था और श्रद्धा ही उत्पन्न की है। तब व्याध रूपी वृद्ध याचक ने बताया कि मरते समय प्रभु ने यह कहा था– 'ओ व्याध, यह मेरा मरण नहीं है, वरन् रूपांतर मात्र है। मैंने सबका दायित्व अपने ऊपर लिया था और अब उस दायित्व को सबको सौंप कर जा रहा हूँ। इस अन्धे युग में मेरा एक अंश निष्क्रिय रहेगा। किन्तु मेरा दायित्व स्थित रहेगा जिसके सहारे मनुष्य सभी परिस्थतियों का अतिक्रमण करके पिछले ध्वसों पर नूतनता का निर्माण करेगा।

नोट्स

कृष्ण की मृत्यु के बाद संसार में अन्धायुग अवतरित हुआ। सबके मन में दास-वृत्ति जगी, संशय और लज्जा का आविर्भाव हुआ। किन्तु हमारे सबके मन में एक तत्व बीज रूप में स्थित है जो नूतनता का सर्जन करता है और यही तत्व अर्ध सत्य से तथा ब्रह्मास्त्रों के भय से, अन्धे संशय, दासता और पराजय से मानव के भविष्य को हर समय बचाता रहेगा।

17.2 अंधा युग– महत्त्वपूर्ण अंशों की सप्रसंग व्याख्या

प्रथम अंक

(स्थापना)

उस भविष्य में .....कुण्ठित अन्तर की।

शब्दार्थ– ह्रासोन्मुख=पतन की ओर। **क्षय**=नाश। **लोलुप**=लालची। **पीड़ित होकर**=दुखी होकर। **गहन**=गहरी, अत्यधिक अंधेरे से भरी हुई। कुण्ठित अंतर की=कुण्ठाओं से भरे हुए हृदय की।

प्रसंग– नाटककार विष्णुपुराण के आधार पर कलियुग के रूप का वर्णन कर रहा है।

व्याख्या– कलियुग में कोई भी व्यक्ति धर्म और अर्थ के कार्यों के प्रति अपनी रुचि नहीं रखेगा, वरन् ये कार्य पतन की ओर होंगे अर्थात् इनका पतन हो जायेगा और कोई भी व्यक्ति ऐसा कार्य नहीं करेगा जो धर्म और अर्थ

नोट

से सम्बन्धित होगा। सारी धरती का धीरे-धीरे नाश हो जायगा। तब मनुष्य की वास्तविक महत्ता का कोई महत्त्व न रहेगा, बल्कि जिनके हाथों में सत्ता होगी, जिनके पास सम्पत्ति होगी और जिनके नकली चेहरे होंगे, अर्थात् जो केवल सज्जन होने का आडम्बर रचेंगे, उन्हीं व्यक्तियों की पूजा होगी। राज-शक्तियाँ लोभी होंगी, वे अपनी शक्ति को बनाये रखने के लिए उचित-अनुचित का ध्यान नहीं रखेंगी और ऐसी शक्तियों से दुखी होकर जनता गहरी गुफाओं में छिप-छिपकर दुख से अपना जीवन काटेगी, वे गहन गुफाएँ या तो सचमुच की होंगी या जनता के उस हृदय की जो कुंठाओं से भरा हुआ होगा।

विशेष– यही परिस्थितियां आधुनिककाल में भी दिखाई देती हैं।

युद्धोपरांत.....माध्यम से।

शब्दार्थ– युद्धोपरांत=महाभारत का युद्ध समाप्त हो जाने पर। **अंधायुग**=कलियुग। **अवतरित हुआ**=उतर आया, **विकृत**=अशुद्ध, दोषपूर्ण। **दोनों ही पक्षों में**=सत्य और असत्य से। **अनासक्त**=असक्तिहीन। **आत्महारा**=आत्महत्या करने वाले। **विगलित**=गले हुए। **अन्तर की**=हृदय की। **ज्योति**=प्रकाश, आशा।

प्रसंग– नाटककार 'अंधायुग' नामक नाटक के वर्ण्य-विषय का उल्लेख कर रहा है।

व्याख्या– महाभारत का युद्ध समाप्त हो जाने पर यह कलियुग इस पृथ्वी पर आया जिसके कारण सारी परिस्थितियाँ, मन की वृत्तियां और आत्माएँ दोषपूर्ण हो गईं। मर्यादा की केवल एक पतली-सी डोर शेष बची थी जो सत्य और असत्य दोनों ही पक्षों से उलझी हुई थी। केवल कृष्ण ही ऐसे साहसी थे जो उस उलझी हुई मर्यादा को सुलझा सकते थे, क्योंकि वे मानव-भविष्य के रक्षक और आसक्तिहीन थे। उनके अतिरिक्त और जितने भी व्यक्ति थे वे प्रायः अन्धे, पथभ्रष्ट, आत्महत्या करने वाले, गले हुए और अपने ही हृदय की अंधी गुफाओं के निवासी थे अर्थात् अपने अशुद्ध हृदय को ही प्रमाण मानकर कार्य करते थे और जिसे उनका हृदय उचित समझता था उसे ही वे उचित मानते थे। प्रस्तुत नाटक की कथा उन्हीं अंधों के माध्यम से प्रकाश और आशा की है।

भाव यह है–कवि ने प्रस्तुत नाटक में महाभारत के अन्तिम दिन की कथा का वर्णन किया है। इस कथा में कौरव-पक्ष की मर्यादाहीनता का विस्तार से वर्णन हुआ है। कौरव-वंशी अपने कर्त्तव्य को बिलकुल भूल गये थे। उन्हीं के कारण महाभारत का युद्ध हुआ जिसमें देश का समूचा वैभव स्वाहा हो गया और जिसके कारण कलियुग इस पृथ्वी पर आया। कलियुग के आने से मानव-भविष्य एकदम अनिश्चित और धूमिल बन गया। इसी कथा के माध्यम से नाटककार ने यह संदेश दिया है कि मनुष्य का भविष्य उसके कार्यों पर निर्भर है। यदि वह अपना और युग का सुन्दर भविष्य चाहता है तो उसे अच्छे कर्म करने चाहिए। अच्छे कार्यों में ही भगवान का निवास होता है।

टुकड़े-टुकड़े हो.....बीत गया।

शब्दार्थ– दोनों ही पक्षों ने=कौरव और पांडव दोनों ने ही। **रक्तपात**=वह युद्ध जिसमें खून बहा अर्थात् भयंकर युद्ध। अंधों से=मूर्खों से। **विवेक**=ज्ञान। **अंधापन**=मूर्खता।

प्रसंग– इन पंक्तियों में नाटककार ने महाभारत के युद्ध से हुए विनाश का संकेत दिया है।

व्याख्या– इस महाभात से देश और समाज की मर्यादा टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर गई है। मर्यादा के इस नाश में कौरव औरपांडव दोनों का ही बराबर हाथ है, दोनों ही इसके लिये उत्तरदायी हैं। यह सच है कि पांडव इसके लिए कम जिम्मेदार हैं और कौरव कुछ अधिक।

यह भयंकर युद्ध समाप्त हो चुका है, किंतु इसके द्वारा किया गया सर्वनाश अभी भी विद्यमान है। इस युद्ध की विलक्षणता यह रही है कि इसमें वस्तुतः विजय किसी को भी नहीं मिली है, क्योंकि दोनों पक्षों ने सभी कुछ इसमें स्वाहा कर दिया हैं। कहने का भाव यह है कि यद्यपि प्रकट रूप से पांडव इस युद्ध में विजयी हुए हैं तथापि उनकी विजय को भी विजय नहीं माना जा सकता, क्योंकि इस विजय को प्राप्त करने के लिए उन्हें जो कुछ खोना पड़ा है, उसके सामने यह विजय नगण्य है, वरन् इसे भी एक प्रकार से हार ही समझना चाहिए।

इस भयंकर युद्ध का कारण है दोनों पक्षों की मूर्खता। इस समय मूर्ख लोग ही सत्ताधारी थे और दोनों पक्षों में ज्ञान

नोट

का अभाव था। युद्ध को प्रारंभ करने से पूर्व किसी भी पक्ष में इतनी ज्ञान-शक्ति नहीं थी कि वह इसके भयंकर परिणामों को सोच लेता और युद्ध से विरत हो जाता। इसलिए इसमें मूर्खता की विजय रही, अर्थात् दोनों पक्षों ने ज्ञान से काम न लेकर सारे कार्य मूर्खतापूर्ण ही किये।

इस युद्ध में विजय मिली भय के अन्धेपन को, ममता के अन्धेपन को और अधिकारों के अन्धेपन को तथा पराजय मिली उस तत्व को, जो सुन्दर था, कल्याणकारी था और बहुत अधिक कोमल था। कहने का भाव यह है कि इस युद्ध कारण थी दोनों पक्षों की मूर्खता जिसके कारण वे सभी पदार्थ स्वाहा हो गये जो देश और समाज को शोभा-सम्पन्न बना सकते थे, इसका कल्याण कर सकते थे। इस प्रकार इस युद्ध के साथ-साथ ही द्वापर भी बीत गया, अर्थात् द्वापर में जो सामाजिक मर्यादाएं थीं, सुख थे, वे सब समाप्त हो गये।

यह महायुद्ध.....प्रहरी।

शब्दार्थ– प्रहरी=पहरेदार।

प्रसंग– इन पंक्तियों में नाटककार ने महाभारत के बाद की विषादपूर्ण स्थिति का चित्रण किया है।

व्याख्या– महाभारत के अन्तिम दिन–अठारहवें दिन–का सायंकाल था। युद्ध से उत्पन्न विषाद और सर्वनाश के कारण चारों ओर गहरी उदासी छाई हुई थी। कौरवों के महलों की वह गली, जो कभी चहल-पहल से भरी रहती थी, अब बिल्कुल सुनसान बनी हुई थी और केवल दो बूढ़े पहरेदार ही उस गली में घूम रहे थे।

विशेष– (1) 'कौरव के महलों का सूना गलियारा' से यह अर्थ है कि महाभारत से पूर्व इन गलियों और इन महलों में काफी चहल-पहल रहती थी, किन्तु महाभारत में सभी कौरव वीर गति को प्राप्त हो गये, इसलिए ये सभी महल सूने पड़े हुए हैं।

(2) 'केवल दो बूढ़े प्रहरी' से तात्पर्य यह है कि सभी युवक महाभातर में मारे गये, केवल वे बूढ़े लोग ही बच रहे जो युद्ध में नहीं जा सकते थे।

थके हुए ..... गलियारे में।

शब्दार्थ– सरल है।

प्रसंग– महाभातर के अन्तिम दिन सायंकाल को कौरव के सूने महलों का पहरा देते हुए पहला पहरेदार दूसरे से कह रहा है।

व्याख्या– महाभारत के कारण देश का जो सर्वनाश हुआ है, उसे देखकर हमारा मन इतना दुखी हो गया है कि हम शक्तिहीनता और थकान का अनुभव कर रहे हैं, फिर भी हम इन सूने गलियारों में घूम-घूम कर पहरा दे रहे हैं। कहने का भाव यह है कि यद्यपि इन गलियारों का सूनापन ही हमारी थकान का कारण है, तथापि हम इन्हीं गलियारों में घूम-घूम कर पहरा देने के लिए विवश हैं। इससे अधिक भाग्य की विडम्बना हमारे लिए और क्या हो सकती है?

सूने गलियारे में ..... वे विधवा हैं।

शब्दार्थ– रत्न-जटित=रत्नों से जड़े हए। **मन्थर**=धीमी। **सुरभित**=सुगन्ध से पूर्ण। **पवन तरंगों सी**=हवा के झोंकों के समान।

प्रसंग– महाभारत के अंतिम दिन सायंकाल को कौरवों के सूने महलों का पहरा देते हुए दूसरा पहरेदार पहले पहरेदार से कह रहा है–

व्याख्या– तुम ठीक ही कह रहे हो कि ये सूने गलियारे हमें अपने सूनेपन से शक्तिहीन बना रहे हैं, हमारे मन को बोझिल कर रहे हैं। यह हमारे भाग्य की ही विडम्बना है कि आज हमें उन्हीं सूने गलियारों में पहरा देना पड़ रहा है जिनके इन रत्नों से जड़े हुए फर्शों पर कभी कौरव-वधुएँ मस्ती के साथ धीमी-धीमी गति से उसी प्रकार इठलाती हुई चलती थीं जिस प्रकार सुगन्धि से युक्त पवन के झोंके चलते हैं। कहने का भाव यह है कि इन महलों में कभी बहुत अधिक चहल-पहल रहा करती थी और इनमें रहने वाली कौरव-वधुएं यौवन की मस्ती में, ऐश्वर्य

नोट

के मद में और शृंगार -प्रसाधन में सदैव लीन बनी रहती थीं। किन्तु आज, वे कौरव-वधुएँ विधवा बनी हुई हैं, जिनके कारण महलों का सारा वातावरण उदास और सूना बन गया है।

विशेष– (1) 'रत्न-जड़ित फर्शों' से कौरव-कुल का ऐश्वर्य व्यक्त होता है।

(2) 'मंथर-मंथर गति' से कौरव-वधुओं के उन्मादपूर्ण यौवन का बोध होता है।

(3) 'सुरभित पवन तरंगों सी' से कौरव-वधुओं के शृंगार-प्रसाधन और चंचलता का ज्ञान होता है।

(4) 'आज वे विधवा हैं' इस वाक्य से वक्ता का अपार दु:ख साकार हो उठा है।

(5) 'मन्थर-मन्थर' में पुनरुक्ति-प्रकाश शब्दालंकार है।

(6) 'सुरभित पवन तरंगों-सी' में उपमा अर्थालंकार।

थके हुए हैं ..... नहीं थे यहाँ।

शब्दार्थ– बाहुबल=भुजाओं की शक्ति। **लोमहर्षक**=भयानक। **रक्षणीय**=जिसकी रक्षा की जाए।

प्रसंग– महाभारत के अन्तिम दिन के संध्याकाल में युद्ध की भयानकता की ओर संकेत करता हुआ पहला पहरेदार दूसरे से कह रहा है।

व्याख्या– तुम सत्य कहते हो कि हम थके हुए हैं, किन्तु हमारी थकान का कारण यह नहीं है कि हमने भी युद्ध में जाकर अपनी भुजाओं की शक्ति दिखाई है, अर्थात् हमने युद्ध में जाकर शत्रु से संग्राम नहीं किया है, इसलिए हमारी यह थकान युद्धजन्य नहीं है, क्योंकि जब से यह भयंकर युद्ध चल रहा है, तभी से–सत्रह दिनों से–हम इन महलों का ही पहरा दे रहे हैं। यही कारण है कि हमारे ये भाले, हमारी ये ढालें बेकार ही पड़ी रहीं, इनका कोई उपयोग न हो सका, जिसके कारण से अस्त्र-शस्त्र हमारे अंगों का ही बोझा बने रहे, अर्थात् हम व्यर्थ ही इनका बोझ ढोते रहे। हमें इन अस्त्र-शस्त्रों को चलाने का अवसर न मिल सका, क्योंकि हमें उस वस्तु की रक्षा करने के लिए नियुक्त किया, जो यहाँ थी ही नहीं।

रक्षणीय कुछ भी .....सत्रह दिन।

शब्दार्थ– रक्षणीय=जिसकी रक्षा की जाए अथवा जो रक्षा करने योग्य हो। एक बूढ़े और अंधे की=धृतराष्ट्र। **गलित अंग**=गले हुए शरीर।

प्रसंग– जब पहला पहरेदार यह कहता है कि हमें ऐसी वस्तु की रक्षा के लिए नियुक्त किया गया है, जिसकी कोई सत्ता नहीं है। इस बात को सुनकर दूसरा पहरेदार व्यंग्यपूर्वक कहता है–

व्याख्या– यह तुम गलत कहते हो कि हमें उस स्थान पर नियुक्त किया गया है, जहाँ रक्षणीय कुछ भी नहीं है। वस्तुत: हमें उस बूढ़े और अन्धे धृतराष्ट्र की संस्कृति की रक्षा करने के लिए नियुक्त किया गया था जिसकी सन्तानों ने– कौरवों ने–महायुद्ध घोषित किया और जिस धृतराष्ट्र की मूर्खता के कारण देश की मर्यादा उसी तरह प्रजा के लोगों को रोगी बनाती रही जिस प्रकार गले हुए शरीर वाली वेश्या प्रजाजनों को रोगी बना देती है। कहने का भाव यह है कि जिस प्रकार किसी गले हुए अंग वाली वेश्या के साथ समागम करके लोग रोगी बनते चले जाते हैं, उसी प्रकार धृतराष्ट्र और उसकी सन्तानों ने जब मर्यादा को विकृत कर दिया तो वह निरन्तर लोगों को पथ भ्रष्ट करके युद्ध के लिए प्रेरित करती रही। हमें उसी रोगी मर्यादा की रक्षा के लिए ही तो नियुक्त किया गया है।

विशेष– (1) 'रमणीय युद्ध भी नहीं था यहाँ' में काकुवक्रोक्ति शब्दालंकार।

(2) 'गलित अंग वेश्या-सी'में उपमा अलंकार।

जिसने अब हमको .....अर्थ नहीं था।

शब्दार्थ– आस्था=विश्वास। **श्रम**=परिश्रम; मेहनत। **अस्तित्व**=विद्यमानता, रहना।

प्रसंग– पहला पहरेदार दूसरे पहरेदार से कह रहा है कि धृतराष्ट्र और उसके पुत्र कौरवों ने जिस मानव-संस्कृति तथा मर्यादा को विकृत कर दिया था उसी ने हमारे अस्तित्व को भी अर्थहीन बना डाला है।

नोट

व्याख्या– यह वही तो विकृत संस्कृति तथा मर्यादा है जिसने हम सभी को थका डाला है। हमने जो भी परिश्रम किया, वह निरर्थक ही सिद्ध हुआ। वस्तुत: हमारी आस्था, हमारे साहस, हमारे परिश्रम और हमारे अस्तित्व का कुछ अर्थ ही नहीं था,। कहने का भाव यह है कि धृतराष्ट्र तथा उसके पुत्रों ने मानव-संस्कृति और मानव-मर्यादा को इतना दूषित एवं विकृत कर दिया था कि उसमें मानव और उसके कार्यों का कोई महत्त्व ही नहीं रह गया था।

अर्थ नहीं था.....हुए हैं हम।

शब्दार्थ– चुके हुए हैं=नष्ट हो गये हैं।

प्रसंग– महाभारत के अन्तिम दिन की सन्ध्या को कौरवों के सूने महलों पर पहरा देते हुए दो प्रहरी युद्ध द्वारा हुए सर्वनाश की और विशेषत: मानव-मर्यादा तथा संस्कृति की चर्चा कर रहे हैं। जब पहले प्रहरी ने यह बतलाया कि धृतराष्ट्र और उसके पुत्रों ने मानव-संस्कृति तथा मर्यादा को इतना दूषित बना दिया था कि उसमें मानव और उसके कार्यों का कोई अर्थ ही नहीं रह गया था तो दूसरा प्रहरी उसकी इस बात का समर्थन करता हुआ कह रहा है–

व्याख्या– तुम ठीक कह रहे हो। वास्तव में धृतराष्ट्र और उसके पुत्रों ने मानव-संस्कृति और मर्यादा को इतना दूषित बना दिया था कि उसमें मानव और उसके कार्यों का कोई महत्व ही नहीं रह गया था। यही देख लो, हम ही इस सूने गलियारे में, जिसमें स्थित जीवन निरर्थक बन गया है, जिसमें रहने वाली कौरव-वधुओं के जीवन में अब कोई सार नहीं रह गया है, हम थक कर ही चकनाचूर नहीं हुए, वरन् लगभग नष्ट भी हो गये हैं। कहने का भाव यह है कि महाभारत ने मानव-जीवन को निरर्थक और मानव-शक्ति को दुर्बल बना दिया है।

सुनते हो..... भयावह?

प्रसंग– कौरवों के सूने महलों पर जब दो प्रहरी पहरा देते हुए महाभारत के द्वारा नष्ट की हुई मानव-संस्कृति तथा मर्यादा की चर्चा कर रहे थे, तभी उन्हें एक भयंकर ध्वनि सुनाई दी। इस भयंकर ध्वनि को सुनकर पहला प्रहरी दूसरे से कहता है।

व्याख्या– क्या तुम्हें भी यह भयंकर ध्वनि सुनाई दे रही है? यदि दे रही है तो बताओ कि यह ध्वनि किसकी है और कहां से आ रही है? वास्तव में यह ध्वनि बड़ी ही भयंकर है।

सहसा अँधियारा.....कुछ।

शब्दार्थ– सहसा=अचानक।

प्रसंग– महाभारत के अन्तिम दिन के सायंकाल में कौरवों के सूने महलों पर पहरा देते हुए दो प्रहरी यह चर्चा कर रहे थे कि मानव-संस्कृति और मर्यादा का नाश धृतराष्ट्र तथा उसके पुत्रों की अज्ञानता के कारण ही हुआ, तभी उन्हें एक भयंकर ध्वनि सुनाई दी और प्रकाश भी धूमिल प्रतीत हुआ।

यह सब देखकर दूसरा प्रहरी पहले प्रहरी से पूछ रहा है–

व्याख्या– अचानक यह अन्धकार क्यों हो गया? देखो तो, इस गहन अन्धकार में मुझे तो कुछ दिखाई नहीं पड़ रहा है। क्या तुम्हें कुछ दीख रहा है?

विशेष– महाभारत में असंख्य योद्धा वीरगति को प्राप्त हुए थे, जिन्हें खाने के लिए सैकड़ों गिद्ध आकाश में मंडरा गये थे। उन्हीं के कारण आकाश में गहन अन्धकार छा गया था।

अन्धे राजा को .....बादल है।

शब्दार्थ– अन्धे राजा की=(1) अन्धे राजा धृतराष्ट्र की, (2) विवेकहीन राजा की।

प्रसंग– महाभारत में वीरगति को प्राप्त हुए वीरों के शवों को खाने के लिए आकाश में असंख्य गिद्धों की पंक्तियां मंडरा गईं, जिनके कारण घोर अन्धकार छा गया। दूसरे प्रहरी ने जब पहले प्रहरी से पूछा कि क्या इस अन्धकार में तुम्हें कुछ दिखाई दे रहा है तो पहला प्रहरी उत्तर देता है।

व्याख्या– हम अन्धे राजा धृतराष्ट्र की प्रजा हैं, अत: जब हमारा राजा ही अन्धा है तो हम फिर किस प्रकार देख

नोट

सकते हैं, क्योंकि जैसा राजा होता है, वैसी ही प्रजा भी होती है अथवा हम उस राजा की प्रजा हैं जो विवेकहीन है। प्रकाश (ज्ञान) और अन्धकार (अज्ञान) का ज्ञान उसे ही रहता है जो विवेकशील है। जब हमारा राजा ही अपनी विवेक-बुद्धि रहित हो गया है, उसे ही उचित-अनुचित का ज्ञान नहीं रहा है तो हम ज्ञान और अज्ञान में, उचित और अनुचित में किस प्रकार भेद कर सकते हैं? शायद ये बादल आकाश में घिर आये हैं जिन्होंने सूर्य को अपनी कालिमा में छिपा लिया है और उन्हीं के कारण भूतल पर अन्धकार छा गया है।

विशेष– (1) 'अन्धे' शब्द का श्लिष्ट प्रयोग है।

(2) 'कहाँ तक देखे' में मार्मिक व्यंग्य है।

बादल नहीं है .....पाँखें खोले।

शब्दार्थ– पाँखें खोले=पंखों को खोलकर, पंख फैलाकर।

प्रसंग– महाभारत में वीरगति को प्राप्त हुए सैनिकों के शवों को खाने के लिए जब गिद्धों की विशाल पंक्ति आकाश में मंडरा गई और उसके कारण भूतल पर अन्धकार छाय गया तो दूसरे प्रहरी के पूछने पर पहले प्रहरी ने बताया कि शायद आकाश में बादल मंडरा गये हैं जिनके कारण पृथ्वी पर अन्धकार छा गया है तो दूसरा प्रहरी उत्तर देता है।

व्याख्या– तुम गलत समझ रहे हो कि आकाश में बादल छा जाने के कारण भूतल परअन्धकार छा गया है। वस्तुत: ये बादल नहीं, वरन् वे गिद्ध हैं जो लाखों-करोड़ों की संख्या में अपने पंखों को फैलाकर आकाश में उड़ रहे है।

विशेष– गिद्धों का वर्णन वातावरण को अधिक भयानक और वर्ण्य-विषय को अधिक मर्मस्पर्शी बना रहा है।

लो, सारी कौरव नगरी .....घेर लिया।

प्रसंग– महाभारत में वीरगति को प्राप्त हुए वीरों के शवों को खाने के लिए जब गिद्ध अपार संख्या में आकाश में उड़ने लगे तो पहला प्रहरी दूसरे प्रहरी से कह रहा है।

व्याख्या–यह देख लो, सारी कौरव-नगरी का आसमान गिद्धों ने घेर लिया है।, अर्थात् सारी कौरव-नगरी के ऊपर उड़ते हुए गिद्ध ही गिद्ध दिखाई दे रहे हैं।

विशेष–'लो' शब्द का प्रयोग हृदयगत विषाद और आश्चर्य को पूर्णतया व्यक्त करने में सफल है।

द्वितीय अंक
(पशु का उदय)

संजय तटस्थ द्रष्टा.....कंटक-पथ पर।

शब्दार्थ– तटस्थ द्रष्टा=पक्षपात-रहित। **शिल्पी**=निर्माता, बनाने वाला। **असमंजस**=संशय। **दायित्व गहन**=भारी जिम्मेदारी। **श्रोता**=सुनने वाले। **कंटक-पथ पर**=कांटों से घिरे हुए मार्ग पर।

प्रसंग– नाटककार संजय की महत्ता और उसके भटकने का वर्णन कर रहा है।

व्याख्या– जो संजय पक्षपात-रहित है, शब्दों का निर्माता है अथवा शब्दों का बड़ा ही कुशलता से सारपूर्ण प्रयोग करने वाला है, वह भी संशय के वन में भटक गया है, अर्थात् उसके मन में भी यह संशय उत्पन्न हो गया है कि वह दुर्योधन की पराजय का संदेश धृतराष्ट्र और गांधारी को किन शब्दों में दे? उसकी बड़ी जिम्मेदारी है, भाषा सदैव अपूर्ण होती है, उसके श्रोता भी अन्धे हैं, अर्थात् आसानी से किसी भी भाव को ग्रहण करने में असमर्थ हैं, फिर भी संजय ही केवल ऐसा व्यक्ति है जो उनको सत्य समाचार देने में समर्थ है। ऐसा संजय भी मोहक रात में घिरकर न जाने किस काँटों से घिरे हुए मार्ग पर भटक कया है।

कहने का भाव यह है कि जब विपत्ति आती है तो अच्छे-अच्छे बुद्धिमानों की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। इसीलिए तो सर्वगुणसंपन्न संजय भी अपने मार्ग में भटक गया है।

नोट

भटक गया हूँ.....अनुभूति के।

शब्दार्थ– कंटक-वन=कांटों से भरा हुआ वन। **लज्जाजनक**=लज्जा पैदा करने वाली। **प्रकृति**=रूप। **वाहक**=ले जाने वाले, प्रकट करने वाले। **नूतन अनुभूति**=नवीन विचार।

प्रसंग– अपने मार्ग से भटका हुआ संजय सोच रहा है।

व्याख्या– न जाने मैं काँटों से भरे हुए किस वन में भटक रहा हूँ? मुझे पता भी नहीं चल रहा है कि यह हस्तिनापुर कितनी दूर है, वहाँ मैं कैसे पहुंचूँगा और यदि किसी प्रकार से पहुँच भी गया तो धृतराष्ट्र और गांधारी से जाकर क्या कहूँगा। इस लज्जा उत्पन्न करने वाली हार के बाद भी मैं क्यों जीवित बचा हुआ हूँ, अन्यथा मुझे तो मर जाना चाहिए था। आज कौरवों की जो हृदयस्पर्शी हार हुई है, उसे कहने के लिए मैं अपने-आपको किसी भी प्रकार समर्थ नहीं पा रहा हूँ। यद्यपि आज भी मेरे पास शब्दों की कमी नहीं है। आज तक जो-कुछ भी युद्ध में हुआ है, मैंने ही धृतराष्ट्र और गांधारी को बताया है, लेकिन आज की अन्तिम पराजय देखकर मुझे जो अनुभव हुआ है, उससे ऐसा प्रतीत होता है कि इसने सत्य का रूप ही बदल दिया है। जो शब्द अब तक युद्ध के सभी संदेशों को सफलता से देते रहे हैं, वे ही आज इस नवीन विचार को किस प्रकार प्रकट कर सकेंगे, यह समझ में नहीं आ रहा है। कहने का भाव यह है कि आज मैं युद्ध का संदेश देने में स्वयं को असमर्थ-सा अनुभव कर रहा हूँ।

जीवित हूँ.....अनुभूति से।

शब्दार्थ– भूलुंठित=पृथ्वी पर लेटे हुए। **कवंध**=बिना सिर का शरीर, धड़। **अवध्य** = जिसका वध नहीं किया जा सकता। **विप्लव**=गदर, क्रांति। **मृणाल**=कमल-तंतु। **चरम त्रास**=अत्यन्त भय। **अनुभूतियों को**=भावों को। **विकृत**=अशुद्ध, टूटी-फूटी।

प्रसंग– संजय कृतवर्मा से कह रहे हैं।

व्याख्या– कृतवर्मा जब संजय को देखकर आश्चर्य से कहते हैं कि तुम अब तक जीवित हो? क्या पांडव-योद्धाओं ने तुम्हें जीवित छोड़ दिया? तो संजय उत्तर देते हैं कि हाँ, मैं अभी तक जीवित हूँ। आज जब कोसों तक फैली हुई पृथ्वी को अर्जुन ने पृथ्वी पर पड़े हुए कौरव-वीरों के धड़ों से पाट दिया था; अर्थात् अर्जुन ने असंख्य कौरव-वीरों को स्वर्गलोक पहुंचा दिया था और कौरवों का एक भी वीर शेष नहीं रह गया था तो सात्यकि ने मेरा भी वध करने के लिए अपना हथियार उठाया था। अच्छा ही होता, यदि वह मेरा वध कर देता और में भी आज जीवित न बचता, किन्तु मुझे तो व्यास जी ने वरदान दे दिया था कि मैं अवध्य हूँ; अर्थात् मेरा वध नहीं किया जा सकता, वस्तुत: व्यास जी का यह वरदान न होकर मेरे लिए एक प्रकार से शाप ही है क्योंकि उनहोंने बिना सोचे-विचारे मुझसे कह दिया था कि हे संजय! तु हार एक संकट में, युद्ध में, महानाश में, प्रयल में और क्रांति में सत्य को कहने के लिए सदैव जीवित बचे रहोगे। किन्तु आज मैं कुरुक्षेत्र का संदेश धृतराष्ट्र और गांधारी से कहने में स्वयं को असमर्थ-सा पा रहा हूँ, क्योंकि सात्यकि के उठे हुए अस्त्र के चमकदार लोहे के ठंडे स्पर्श से अपनी मृत्यु को अपने इतने अधिक निकट देखना मेरे लिए यह पहला अनुभव है– बिल्कुल ही नया अनुभव है। इस अनुभव से मुझे ऐसा प्रतीतहो रहा है कि जैसे किसी बाण की तेज नोक किसी कोमल कमल-तंतु को ऊपर से नीचे तक चीर जाये, उसी प्रकार मानो उस समय के बेहद गहरे अत्यंत दुख देने वाले क्षणों में कोई मेरे सारे भावों को चीर गया है; अर्थात् मेरी अभिव्यक्ति-शक्ति को कुंठित कर गया है। ऐसी दशा में अपनी टूटी-फूटी शक्ति से मैं कुरुक्षेत्र में देखे हुए सम्पूर्ण सत्य को धृतराष्ट्र और गांधारी से कहने में स्वयं को असमर्थ अनुभव कर रहा हूँ।

विशेष– (1) 'हाय' शब्द के प्रयोग से संजय के मन ही व्यथा साकार हो उठती है।

(2) 'जैसे तेज.....चीर गया' में उदाहरण अलंकार।

धैर्य धरो.....दुर्योधन की।

शब्दार्थ– दोनों को=धृतराष्ट्र और गांधारी को। **पराजय**=हार।

प्रसंग– जब संजय कृतवर्मा से यह कहते हैं कि वह आज के कुरुक्षेत्र के सत्य को धृतराष्ट्र और गांधारी से कहने

नोट

में स्वयं को असमर्थ-सा अनुभव कर रहा है तो कृतवर्मा उसे धैर्य देते हुए कहते हैं।

व्याख्या– हे संजय! धैर्य धारण करो, क्योंकि तुम्हें ही धृतराष्ट्र और गांधारी दोनें के पास जाकर उन्हें दुर्योधन की हार का संदेश देना है। कहने का भाव यह है कि तुम्हारे बिना दुर्योधन की पराजय का सन्देश धृतराष्ट्र और गांधारी को और कोई नहीं सुना सकता। अत: तुम्हें धैर्य धारण करके उनके पास जाना है और उन्हें युद्ध भूमि का सन्देश सुनाना है।

कैसे बतलाऊँगा.....कैसे कहूंगा!

शब्दार्थ– अधिपति=स्वामी। **रक्तसने**=खून से सनु हुए। **अश्रु**=आँसू।

प्रसंग– जब कृतवर्मा संजय से कहते हैं कि आप धैर्य धारण करके धृतराष्ट्र और गांधारी के पास जाय और उन्हें आज के युद्ध का समाचार दें तो सत्य कृतवर्मा से कहते हैं।

व्याख्या– हे कृतवर्मा! आज के युद्ध में जो मार्मिक दृश्य मैंने देखे हैं,उनका मैं किस प्रकार धृतराष्ट्र और गांधारी से वर्णन कर सकता हूँ। वह दुर्योधन, जो सम्राटों का भी स्वामी था, खाली हाथ, नंगे पाँव, खून से सने हुए तथा फटे हुए वस्त्रों को पहने निहत्था अपने टूटे हुए रथ के पास खड़ा था। मुझे देखकर उसकी आंखों में आंसू छलछला आये और न जाने क्या सोचकर उसने अपने सिर झुका लिया। तुम्हीं बताओ, दुर्योधन की इस दयनीय दशा को मैं किस प्रकार धृतराष्ट्र और गांधारी से जाकर कहूँगा।

भला गया.....रहा आज।

प्रसंग– संजय के चले जाने के पश्चात् कृतवर्मा विदुर की भविष्यवाणी को याद करके दुखी हो रहे हैं।

व्याख्या– लो, संजय भी आज के युद्ध का हृदयविदारक सत्य कहने को धृतराष्ट्र और गांधारी के पास चला गया। विदुर ने ठीक ही कहा था कि सारे देश का नाश करने वाला महाभारत अवश्य होगा, और वह आज हो भी गया। विदुर की भविष्यवाणी बिल्कुल ठीक निकली। सारा दंश इस अट्ठारह दिन के महाभारत में स्वाह हो गया।

जीवित है.....चला गया।

शब्दार्थ– नतमस्तक होकर=मस्तक झुकाकर। **आर्तनाद**=दुख भरा शब्द।

प्रसंग– कृपाचार्य को देखकर जब कृतवर्मा आश्चर्य से यह पूछता है कि क्या अश्वत्थामा भी जीवित है तो कृपाचार्य उत्तर देते हैं।

व्याख्या– इस अट्ठारह दिन के महाभारत में सभी कौरव-वीर नष्ट हो गये हैं। आज हम केवल तीन वीर ही जीवित बचे हैं–मैं, तुम और अश्वत्थामा। रणक्षेत्र में रथ से उतर कर जब राजा दुर्योधन ने अपना माथा नीचा करके अपनी हार स्वीकार की थी, तभी अश्वत्थामा ने दुखी होकर अपना धनुष मोड़कर तोड़ दिया था और दुख भरा शब्द करके चिल्लाता हुआ वन की ओर चला गया था।

यह मेरा धनुष.....अभी तक मैं।

शब्दार्थ– प्रत्यंचा=डोरी। दीन=दुखी। **भयावह**=भयानक। **प्रतिशोध**=बदला। **निर्मम**=क्रूर। **आस्था**=विश्वास। **अपराजेय**=जिसे कोई हरा न सके। **भ्रूणहत्या**=गर्भ में ही शिशु का वध करने को भ्रूणहत्या कहते हैं, प्रारम्भ में ही क्रूर हत्या। **कुंजर**=हाथी। **बर्बर**=भयानक।

प्रसंग– अपने टूटे हुए धनुष की ओर देखकर अश्वत्थामा कहता है कि यह वही मेरा धनुष है जिसकी डोरी स्वयं गुरु द्रोणाचार्य ने अपने हाथों से चढ़ाई थी और आज जब मैंने दुर्योधन को शस्त्रहीन, दुखी और आँखों में आँसू भरे हुए देखा तो मैंने स्वयं ही अपने हाथों से अपने इसी धनुष को मरोड़कर तोड़ दिया। यह धनुष टूटा होने पर भी इसी प्रकार भयंकर दिखाई देता है, जिस प्रकार कोई कुचला हुए साँप, किन्तु जिस प्रकार आजकल मेरा मन शक्तिहीन हो गया है, उसी प्रकार मेरा यह धनुष भी दुर्बल बन गया है, इसमें भी कोई शक्ति नहीं रह गई है। मुझे अब यही चिंता रह गई है कि इस धनुष के टूट जाने पर अब किससे मैं अपने पिता की क्रूर हत्या का बदला लूँगा।

नोट

इस वन में–भयानक वन में–आकर भी मैं यह नहीं भूल पा रहा हूँ कि जब गुरु द्रोणाचार्य ने युधिष्ठिर के मुँह से यह सुना था कि 'अश्वत्थामा मारा गया' तो उसने पुत्र-शोक के कारण किस प्रकार अपने हथियारों को रणभूमि में फेंक दिया था, क्योंकि उन्हें युधिष्ठिर की वाणी में और उसके सत्य में अटल विश्वास था। उस समय पिता को निहत्था देखकर पापी धृष्टद्युम्न ने अपने अस्त्रों से उन्हें खंड-खंड कर डाला था। मैं इस बात को नहीं भूल पाता हूँ कि मेरे पिता किसी से भी पराजित होने वाले नहीं थे, किन्तु युधिष्ठिर के आधे सत्य ने ही उनका वध कर डाला।

जिस दिन मेरे पिता का इस प्रकार धोखे से वध हुआ था, उसी दिन से मेरा स्वभाव बहुत क्रूर हो गया है। वास्तविकता तो यह है कि युधिष्ठिर के उस आधे सत्य ने ही मेरे उन भावों की निर्मम हत्या कर दी है जो शुभ थे और कोमल थे, अर्थात् पहले तो मेरे स्वभाव में अवश्व कुछ कोमल तथा शुभ भाव विद्यमान थे, किन्तु जिस दिन से मेरे पिता का धोखे से वध हुआ है, उस दिन से उन भावों को त्यागकर मैं बहुत ही क्रूर बन गया हूँ। वे स्वयं को धर्मराज समझते थे और फिर भी झूठ बोलते हुए कहने लगे कि 'अश्वत्थामा मारा गया, नर या हाथी।' इस प्रकार उन्होंने पिता को धोखा देने के लिए मानव को पशु से पृथक् नहीं किया, अर्थात् स्पष्ट रूप से यह नहीं बताया कि अश्वत्थामा नाम का हाथी मारा गया है, मनुष्य नहीं। उस दिन से मैं मनुष्य रही रह गया हूँ, अर्थात् मेरा मनुष्यों का स्वभाव नहीं रहा है। आज मैं केवल पशु रह गया हूँ– वह पशु जो अत्यन्त भयानक है और जिसमें सोचने-विचारने की शक्ति बिल्कुल भी नहीं है। अपनी इस पराजय को देखकर मैं भी एक अन्धी गुफा में भटक गया हूँ, अपना कर्तव्य भूल गया हूँ। हे दुर्योधन, मुनी! हे द्रोण सुनो! मैं तुम्हारा अश्वत्थामा–अभी तक उसी प्रकार शेष हूँ, जीवित हूँ, जिस प्रकार रोगी-मुर्दे के मुँह में गंदा कफ और बासी थूक शेष रहता है, अर्थात् मेरा जीवित रहना बहुत ही घृणास्पद है।

विशेष– (1) 'यह मेरा धनुष है, धनुष अश्वत्थामा का' कहने से धनुष की विशेषता व्यक्त होती है। इसका व्यंग्यार्थ यह है कि जिस धनुष में शत्रु को मारने की अपार शक्ति थी और जिस धनुष को केवल अश्वत्थामा जैसा वीर ही धारण कर सकता था, वह धनुष।

(2) 'कुचले हुए साँप-सा भयावह' में उपमा अलंकार।

(3) 'धर्मराज होकर बोले वे' में 'धर्मराज' का लाक्षणिक प्रयोग है।

इसका अर्थ है कि वह महाझूठा था, उसे धर्मराज बनने का कोई अधिकार ही नहीं था।

(4) 'मैं यह तुम्हारा अश्वत्थामा, कायर अश्वत्थामा' में अश्वत्थामा की मानसिक ग्लानि की पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है।

(5) कहते हैं कि भीष्म के पश्चात् जब गुरु द्रोणाचार्य कौरव-सेना के सेनापति बने तो उन्होंने निर्ममता से पांडव-सेना का संहार करना शुरू कर दिया। इससे कृष्ण को चिंता हुई कि शीघ्र ही इनका वध न किया गया तो पांडवों की पराजय निश्चित है। साथ ही, वे यह भी जानते थे कि जब तक द्रोणाचार्य के हाथ में हथियार है, तब तक इन्हें कोई परास्त नहीं कर सकता। फलतः कृष्ण ने एक योजना बनाई, जिसके अनुसार भीम ने अश्वत्थामा नामक हाथी को मारा और युधिष्ठिर के मुँह से यह घोषणा करवाई गई कि 'अश्वत्थामा हतः नरों व कुंजरो वा'। द्रोणाचार्य 'कुंजर' शब्द को न सुन सके और अपने पुत्र अश्वत्थामा का वध जानकर उन्होंने पुत्र शोक के कारण अपने अस्त्र-शस्त्र फेंक दिये। अवसर पाकर धृष्टद्युम्न ने उनका वध कर दिया। उपर्युक्त पंक्तियों में अश्वत्थामा इसी घटना का स्मरण करके प्रायश्चित कर रहा है और प्रतिशोध की आग में जल रहा है।

आत्मघात कर लूँ.....नहीं होगी।

शब्दार्थ– आत्मघात=आत्महत्या। **नपुंसक अस्तित्व**=कायर जीवन। **नरकाग्नि**=नरक की आग। **यातना**=कष्ट

प्रसंग– वन में अकेला बैठा हुआ अश्वत्थामा प्रायश्चित कर रहा है–

व्याख्या– अच्छा तो यही रहेगा कि अपने इस कायर जीवन से छुटकारा पाने के लिए आत्महत्या ही कर लूँ, तब शायद ऐसे जीवन से छुटकारा पा लेने के बाद ही अपनी इस यातना से छुटकारा मिल जाय जो नरक की दहकती आग से भी भयंकर और अधिक कष्ट देने वाली है।

नोट

विशेष– अश्वत्थामा की मानसिक द्विविधा और ग्लानि का मार्मिक चित्रण है।

किन्तु नहीं.....अस्तित्व का।

शब्दार्थ– अस्तित्व का=जीवन का।

प्रसंग– अपने पिता के वध की घटना का स्मरण करके अश्वत्थामा पहले तो आत्मग्लानि के कारण आत्महत्या करने की सोचता है किन्तु बाद में प्रतिशोध की भावना अपने पर उसके मन का पशु जाग जाता है और वह सोचने लगता है।

व्याख्या– नहीं, मुझे आत्महत्या नहीं करनी चाहिए, वरन एक अन्धे और भयानक पशु के समान स्वभाव लेकर मुझे जीवित ही रहना चाहिए। अत: युधिष्ठिर ने मेरे विषय में जो कुछ कहा था, उनकी वाणी सत्य हो। मेरी इस पसली के नीचे दो पंजे उग आएँ और मेरी पुतलियों में वह शक्ति आ जाय कि ये जिसे भी पायें, उसे ही बिना दाँतों के चबा जाय। इस प्रकार मेरे जीविन का अंतिम अर्थ–समूचा उद्देश्य –ही दूसरो का सकारण और अकारण वध करना बन जाय।

विशेष– प्रतिशोध की भावना के कारण अश्वत्थामा इतना व्याकुल है कि उसे उचितानुचित का कोई विचार नहीं रह गया है। वह तो अपने जीवन का उद्देश्य ही दूसरों का वध करना मान बैठा है। यह हृदय-परिवर्तन की दिशा नितांत मनोवैज्ञानिक है।

आता है कोई .....के पीछे।

शब्दार्थ– सरल है।

प्रसंग– निराश होकर जब अश्वत्थामा वन में चला जाता है तो संजय को आते हुए देखकर वह सोचता है।

व्याख्या– यह कोई व्यक्ति आ रहा है। शायद पांडवों की ओर का कोई योद्धा हो। फिर उसे अकेला और निहत्था देखकर अश्वत्थामा प्रसन्न होकर कहता है–बड़ी प्रसन्नता की बात है कि यह योद्धा अकेला है और निहत्था भी। इसलिए इसका वध करने के लिए मैं इस पर छिपकर पीछे से वार करूंगा और हत्या करने के लिए लालायित अपने हाथों से इसका वध कर डालूँगा, इसकी गर्दन मरोड़ दूँगा, जिन हाथों से मैंने अपने धनुष को मरोड़कर फेंक दिया है। इसलिए मुझे अब इस झाड़ी के पीछे छिप जाना चाहिए।

फिर भी रहूँगा.....आह।

शब्दार्थ– शेष=जीवित। **कटु**=बुरा लगने वाला।

प्रसंग– महाभारत के अन्तिम दिन के युद्ध का समाचार लेकर संजय हस्तिनापुर जा रहे हैं। वे सोच रहे हैं कि यद्यपि आज का समाचार बहुत ही दुख और करुणा से भरा हुआ है, फिर भी मैं धृतराष्ट्र और गांधारी को सत्य बातें ही बताऊँगा।

व्याख्या– यद्यपि आज के युद्ध का समाचार देना कोई आसान काम नहीं है, क्योंकि वह इतना दुखपूर्ण और मर्मान्तक है कि मुझे तो ऐसा लग रहा है कि उसे सुनाने से पूर्व सम्भवत: मेरे ही प्राण निकल जाय। पर ऐसा नहीं होगा। यह सत्य है कि आज की घटनाओं का वर्णन कटुतम सत्य से भरा हुआ है, अर्थात् वे घटनाएँ इतनी दुखपूर्ण हैं कि उन्हें सब-सच कहना सरल कार्य नहीं है, फिर भी चाहे आज का सत्य कितना ही कटुमय क्यों न हो, मैं अवश्य उसे धृतराष्ट्र और गांधारी को ज्यों-का-त्यों सुनाऊँगा और उनके दुख को अपनी पूरी शक्ति से सहन करके मैं जीवित रहूँगा और निस्सन्देह मैं जीवित रहूँगा। केवल सत्य कहना ही तो मेरे जीवन का अन्तिम उद्देश्य है।

विशेष– संजय की मानसिक द्विविधा का सफल चित्रण है।

इसी तरह .....रहो हतो।

शब्दार्थ– अश्वत्थामा हतो हत:=अश्वत्थामा मारा गया।

प्रसंग– झाड़ी में चुपचाप पीछे से निकल कर अश्वत्थमा हस्तिनापुर जाते हए धोखे से संजय का गला दबा देता है और कहता है–

नोट

व्याख्या– जिस तरह इस समय वध के लिए लालायित मेरे हाथों ने इस व्यक्ति का गला दबा लिया है उसी प्रकार मेरे ये हाथ युधिष्ठिर का वह गला भी दबायेंगे जिनसे यह वाक्य निकला था कि 'अश्वत्थामा मारा गया'।

अश्वत्थामा सोच रहा है कि युधिष्ठिर ने झूठ बोलकर ही उसके पिता का वध कराया, अत: वह अपने पिता की हत्या का बदला अवश्य लेगा और एक दिन युधिष्ठिर का भी गला दबाकर उसे मार डालेगा।

कृतवर्मा.....तटस्थ है।

शब्दार्थ– तटस्थ=जो न शत्रु है, न मित्र।

प्रसंग– जब संजय की हत्या करने के लिए अश्वत्थामा उसका गला दबा लेता है तो उसे छुड़ाने के लिए कृपाचार्य कृतवर्मा से कहता है–

व्याख्या– हे कृतवर्मा! अश्वत्थामा को पीठ की ओर से कस कर पकड़ लो, ताकि यह संजय का वध न कर सके और संजय इसके हाथ से छूट जाय। यह सच है कि इस समय अश्वत्थामा प्रतिशोध लेने के लिए पागल हो रहा है, लेकिन वध तो शत्रु का ही उचित है न कि संजय का, जिसका वध न तो उचित ही है और न जिसे शत्रु-पक्ष का व्यक्ति माना जा सकता है। फिर अश्वत्थामा को सम्बोधित करते हुए कहता है कि अश्वत्थामा! तुम भी संजय का वध करके वह कार्य कर रहे हो, जो वीरों को नहीं करना चाहिए। इससे तुम्हारी वीरता को कलंक ही लगेगा।

तटस्थ.....वह शत्र है।

प्रसंग– जब प्रतिशोध की आग में जलता हुआ अश्वत्थामा संजय का गला दबोचने के लिए उद्यत हो जाता है और कृतवर्मा संजय को छुड़ाने के लिए अश्वत्थामा को पीछे से पकड़कर उसे यह बताता है कि संजय तो तटस्थ होने के कारण अवध्य व्यक्ति का वध करना वीरों के लिए उचित नहीं होता तो अश्वत्थामा उत्तर देता है–

व्याख्या– हे मामा! तुम यह ठीक कहते हो कि किसी तटस्थ व्यक्ति का वध करना वीरों को शोभा नहीं देता, पर न तो मैं संजय को ही तटस्थ मानता हूँ और न मैं स्वयं को ही योद्धा समझता हूँ। मैं मनुष्य नहीं, बल्कि एक भयानक और हिंसक पशु हूँ, इसीलिए यह तटस्थ शब्द मेरे लिए अर्थहीन है, अर्थात् मैं शत्रु, मित्र और तटस्थ में कोई भेद नहीं कर सकता। वस्तुत: मैं तो प्रतिशोध की आग में जलता हुआ एक पशु हूँ, जिसे कर्तव्य और अकर्तव्य का कुछ भी ज्ञान नहीं है। इसीलिए मेरी यह घोषणा सुन लो– मैं उन सभी मनुष्यों को अपना शत्रु मानता हूँ जो मेरे पक्ष में नहीं है। इस दृष्टि से, यदि मैं संजय का वध करता हूँ तो कोई अनुचित कार्य नहीं है।

मत छोड़ो.....अश्वत्थामा।

शब्दार्थ– अन्धों से=धृतराष्ट्र और गांधारी से। **मर्मान्तक**=हृदय को बेधने वाली

प्रसंग– जब संजय की हत्या के लिए तत्पर अश्वत्थामा उसे छोड़ देता है तो संजय प्रायश्चित तथा ग्लानि के स्वर में कहता है–

व्याख्या– हे अश्वत्थामा! मुझे जीवित छोड़ना उचित नहीं है। मैं तुमसे प्रार्थना करता हूँ कि मेरा वध कर दो और मुझे किसी भी प्रकार जीवित न छोड़ो, क्योंकि आज महाभारत में मैंने जा दारुण दृश्य देखा है, उससे मुझे हृदय को बेधने वाली पीड़ा हो रही है। वास्तविकता तो यह है कि उस दृश्य का वर्णन करने की अपेक्षा मैं मर जाना ही श्रेष्ठ समझता हूँ, क्योंकि उसका वर्णन करने में मुझे जो पीड़ा होगी, मरने में उससे कम ही पीड़ा होगी। अत: मैं मर जाना ही उचित समझता हूँ और प्रार्थना करता हूँ कि तु तुरन्त मेरा वध कर दो, ताकि मैं उस दुविधा और पीड़ा से छुटकारा पा जाऊँ, जिसका मैं जीवित रहकर अनुभव कर रहा हूँ।

मैं क्या करुँ..... मैं क्या करूँ?

शब्दार्थ– मातुल=मामा, (कृपाचार्य)। **मनग्रंथि**=मन की गांठ।

प्रसंग– जब पीड़ा और प्रायश्चित की आग में जलता हुआ संजय अश्वत्थामा से अपने वध की प्रार्थना करता है तो अश्वत्थामा और भी अधिक किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो जाता है और अपने मामा कृपाचार्य से कहता है–

नोट

व्याख्या– हे मामा! मैं इस समय बिल्कुल किंकर्तव्य-विमूढ़ हो गया हूँ और मेरी समझ में नहीं आ रहा है कि मैं क्या करूँ? तुम्हीं मेरा मार्ग-प्रदर्शन करो और बताओ कि मुझे क्या करना चाहिए। इस समय मैं अपने कर्त्तव्य से इतना विमुख गया हूँ कि किसी का वध करना मेरे लिए नीति नहीं रह गई है, वरन् वह मेरे मन की गाँठ बन गई है, अर्थात् किसी का वध करते समय मुझे आज कारण या औचित्य खोजने की आवश्यकता नहीं है, वरन् किसी का भी अकारण वध कर वे मुझे एक प्रकार का संतोष और आनन्द मिलता हे, किसी का वध करना मेरा स्वभाव बन गया है। मैं हर समय इस खोज में लगा रहता हूँ कि चाहे मुझे जो मिले, मैं उसी का वध करके अपनी हिंसक वृत्ति को शान्त करूँ। इसी से आप अनुमान लगा सकते हैं कि मैं कितना पथ-भ्रष्ट हो गया हूँ। अत: आप ही बतायें कि इस समय मुझे क्या करना चाहिए।

तीसरा अंक
(अश्वत्थामा का अर्द्धसत्य)

संजय का रथ.....आते-आते।

शब्दार्थ– गहनव्यथा=भारी दुख। **श्रीहत**=शोभाहीन।

प्रसंग– नाटककार की उक्ति है।

व्यख्या– संजय का रथ जब नगर के द्वारा पर पहुंचा तब रात ढल रही थी और इस बात की चर्चा चारों ओर चल रही थी कि कौरवों की हारी हुई। सेना कब रणक्षेत्र से नगर को लौटेगी।

संजय नगर-निवासियों को युद्ध के समाचार सुनाने लगे जिन्हें सुनते-सुनते सुबह हो गई। युद्ध के समाचार सुनकर और उनसे भारी दु:ख प्रापत करके गांधारी इतनी दुखी थी कि वह पत्थर की मूर्ति बनी हुई थी। उसका मुख शोभाहीन हो गया था और चेहरे पर जीवित मनुष्य के कोई चिह्न दिखाई नहीं देते थे।

दोपहर होते-होते सारे नगर में हलचल मच गई जब युद्धक्षेत्र से टूटे रथ, टूटे छकड़ों पर लादकर, ब्राह्मण, स्त्रियाँ, वैद्य, विधवाएँ, बौने, बूढ़े, घायल और जर्जर व्यक्ति लौटकर नगर में आने लगे।

कौरवों की जो सेना रंग-बिरंगी ध्वजा को फहराती हुई, धरती को रौंदती हुई, आकाश को हिलाती हुई इस नगर से अट्ठारह दिन पहले गई थी, आज नगर को लौटते-लौटते उसका यह रूप हो गया था अर्थात् यह सेना गई तो थी बड़ी उमंग लेकर और लौट रही थी पराजित तथा नष्ट-भ्रष्ट होकर।

देख नहीं. ..... हत्या है।

शब्दार्थ– अंग-भंग=कटे हुए अंगों वाले।

प्रसंग– जब विदुर धृतराष्ट्र को नष्ट-भ्रष्ट सेना के पास ले जाते हैं तो वे सभी वस्तुओं को छूकर देखते हैं और कहते हैं–

व्याख्या– यह सही है कि अन्धा होने के कारण मैं किसी वस्तु को देख नहीं सकता, फिर भी मैंने अंग कटे हुए सैनिकों को छू-छूकर देखने की कोशिश की है, अर्थात् छूकर यथार्थ स्थिति को जानने का प्रयत्न किया हैं जब मैं किसी हाथ कटे हुए सैनिक को छूकर देखता हूँ तो मुझे ऐसा अनुभव होता है जैसे वह मेरे सिंहासन का हत्था हो।

कोई खास बात .....अवसर पाया है।

प्रसंग– नष्ट-भंष्ट हुई कौरव-सेना को छू-छूकर देखने के कारण जब महाराज धृतराष्ट्र बहुत दुखी होकर कुछ सोचने लगते हैं और विदुर पूछते हैं कि आप क्या सोच रहे हैं, तो वे उत्तर देते हैं–

व्याख्या– हे विदुर! मैं कोई खास बात नहीं सोच रहा हूँ। मैं सिर्फ सही सोच रहा हूँ कि जिस युद्ध का वर्णन आज तक मैं केवल संजय से सुनता हुआ ही आ रहा था, उसी युद्ध को आज अपने ही हाथों से छू-छूकर देखने का अवसर मुझे मिला है।

कहने का भाव यह है कि हे संजय युद्ध के जिस महानाश का वर्णन किया करते थे, आज वही महानाश मेरे सम्मुख खड़ा हुआ है।

नोट

उनका आँखों में .....साढ़ी पर।

शब्दार्थ– जड़वत्=निर्जीव।

प्रसंग– कौरवों का नाश सुनकर महारानी गांधारी को बहुत दुख हुआ। उसी दुख का वर्णन विदुर धृतराष्ट्र से कर रहे हैं–

व्याख्या–कौरवों का नाश सुनकर माता गांधारी की तो विचित्र दशा बन गई है। उनकी आँखों में न तो आंसू हैं, न क्रोध है और न शोक है। वे निर्जीव पत्थर की मूर्ति बनी हुई सीढ़ियों पर बैठी हैं।

जाता हूँ.....लाये आज।

प्रसंग– जब विदुर धृतराष्ट्र से यह प्रार्थना करते हैं कि वे जाकर माता गांधारी को आश्वासन दें तो धृतराष्ट्र उत्तर देते हैं–

व्याख्या– जाता हूँ। लेकिन अभी तो संजय की युद्धक्षेत्र से लोटकर यहाँ नहीं आये। न जाने आज के भीम और दुर्योधन के अन्तिम द्वन्द्व-युद्ध का क्या समाचार लेकर आये, अर्थात् संजय के न लौटने के कारण अभी तक तो यह भी पता नहीं चल पाया है कि आज भीम और दुर्योधन में जो द्वन्द्व-युद्ध हुआ था, उसका क्या परिणाम रहा? उन दोनों में कौन जीता और कौन हारा?

अपनी हारी .....लूटेगा।

शब्दार्थ– विपक्षी=शत्रु पक्ष का। **सज्जित**=सजा हुआ। **दैत्याकार**=राक्षस के आकार वाला।

प्रसंग– रणक्षेत्र से लौटकर जब युयुत्सु हस्तिनापुर में प्रवेश करता है तो उसे देखकर सारे नगर में भय छा जाता है। पहला प्रहरी उसी का परिचय विदुर को दे रहा है–

व्याख्या– पूरे नगर में इसलिए आतंक छा गया है कि अपनी पराजित और घायल सेना के साथ-साथ पशु-पक्ष का एक योद्धा भी यहाँ चला आया है जो अस्त्रों से सजा हुआ है, राक्षस के समान विशाल आकार वाला है, वीर है। इस नगर के निवासी कह रहे हैं कि वह योद्धा इस नगर को लूटेगा।

छिः यह हब .....राजकक्ष की।

शब्दार्थ– मिथ्या=झूठ। **राजकक्ष**=राजभवन।

प्रसंग– युयुत्सु का परचिय देता हुआ पहला प्रहरी कहता है कि वह अस्त्रों से सज्जित शत्रु-पक्ष का योद्धा है और इस नगरी को लूटने के लिए आया है तो विदुर उत्तर देते हैं–

व्याख्या– तुम्हारा यह कहना और समझना झूठ है। तुम राजभवन की रक्षा करो, मैं स्वयं जाकर उस योद्धा को देखूँगा, अर्थात् स्वयं जाकर इस बात का पता लगाऊँगा कि वह योद्धा कौन है।

मायावी है .....सोये बच्चों को।

शब्दार्थ– मायावी=माया करने वाला। **गृद्ध**=गिद्ध।

शब्दार्थ– पहला प्रहरी दूसरे प्रहरी से युयुत्सु का परिचय दे रहा है–

प्रसंग– हाँ, उस योद्धा को मैंने अपनी आंखों से देखा हैं वह माया करने वाला है और इसी कारण वह नित नये-नये रूप धारण करता है। जब वह नगर की ओर आ रहा था तो उसे देखकर रक्षकों ने नगर का द्वार बन्द कर दिया था, ताकि वह नगर में प्रवेश न कर सके, परन्तु वह एक गिद्ध का रूप धारण करके और द्वार के ऊपर से उड़कर नगर में आ गया और छत पर सोये हुए बच्चों का खाने लगा।

डरने में .....बुझे माले से।

शब्दार्थ– यातना=दुःख।

प्रसंग–युद्ध क्षेत्र से लौटकर जब युयुत्सु हस्तिनापुर में आता है तो उसे देखकर सारे नगरवासी डर जाते हैं। तब युयुत्सु स्वयं सोचता है–

नोट

व्याख्या– डर में इतनी यातना नहीं होती, जितनी वह वस्तु बनने में होती है जिससे सब डरते हैं यही कारण है कि यद्यपि नगर के समस्त निवासी मुझे देख-देखकर डर रहे हैं, तथापि मुझे अत्यन्त दुख हो रहा है। मैं आज भी वैसा ही हूँ जैसा युद्ध क्षेत्र में जाने से पूर्व अट्ठारह दिन पहले था, ये महल मेरे पिता धृतराष्ट्र और माता गांधारी के हैं, फिर भी मुझे शंका हो रही है कि यहां पर मेरा स्वागत न होकर संभवत: मेरा वध हो जाय।

मेरा अपराध .....कौरव वंश से।

प्रसंग– जब युद्धक्षेत्र से लौटकर युयुत्सु नगर में प्रवेश करता है तो उसे देखकर नगर के समस्त निवासी डर जाते हैं और भय से इधर-उधर भागने लगते हैं। यह स्थिति देखकर युयुत्सु सोचता है–

व्यख्या– इस नगर में मेरे कारण जो हलचल मची है उसके लिए मेरा अपराध केवल इतना है कि मैं सत्य पर दृढ़ रहा और असत्य का पथ ग्रहण नहीं किया। द्रोणाचार्य, भीष्म पितामह जैसे सबके सब महारथी यद्यपि दुर्योधन के विरुद्ध न जा सके, तथापि मैंने स्पष्ट कह दिया था कि मैं कौरव-सेना में सम्मिलित होकर असत्य का पक्ष ग्रहण नहीं करूँगा। यह ठीक है कि मैं भी कौरव हूँ और मुझे अपने भाइयों के हित के लिए पांडवों के विरुद्ध ही युद्ध करना चाहिए था, पर सत्य कौरव-वंश से भी बड़ा है, इसीलिए मैंने कौरवों का साथ न देकर पांडवों का साथ दिया था। मेरा अपराध केवल यही है, जिसके कारण आज सारे नगरवासी मेरा अपमान कर रहे हैं।

मैं भी .....माथा होता।

शब्दार्थ– उच्छृंखलता=अन्याय। **घृणा**=नफरत।

प्रसंग– जब रणक्षेत्र से लौटकर युयुत्सु हस्तिनापुर में आया तो उसे अनुभव हुआ कि नगर-निवासी उसका अपमान कर रहे हैं। इस अपमान से दुखी होकर वह सोच रहा है–

व्याख्या– यदि मैं भी दुर्योधन द्वारा किये गये सभी अत्याचारों को सहन कर लेता और पांडवों से शत्रुता मानकर कौरवों का पक्ष लेकर युद्ध करता तो मुझे अपने ही परिवार से इतनी नफरत न मिलती, जितनी आज मिल रही है। तब मैं चाहे युद्ध से पराजित होकर ही लौटता, फिर भी मेरी माता गांधारी वात्सल्य-भाव से प्रेरित होकर मुझे गोद में भरने के लिए अपनी बाँहें फैलाये आतुर खड़ी मिलती।

ढूँढ़ रहा हूँ ..... भूल जाय।

प्रसंग– युयुत्सु को देखकर विदुर कहते हैं–

व्याख्या– हे युयुत्सु! मैं तुमको बहुत देर से ढूंढ रहा हूँ। हे वत्स! तुमने अच्छा ही किया जो वापस चले आये। प्रहरी! तुम जाओ और जाकर माता गांधारी को यह सूचना दो कि युयुत्सु आ गया है। हे युयुत्सु! तुम भी अपनी माता से शीघ्र मिलो। पुत्रों की मृत्यु के कारण दुखी गांधारी शायद तुम्हें देखकर अपने दुख को भूल जाय।

ऐसा मत कहो.....गर्वोन्नत है।

शब्दार्थ– कलुषित=अन्याय से भरी हुई! **गर्वोन्नत**=गर्व के कारण ऊपर उठा हुआ।

प्रसंग– जब विदुर यह कहते हैं कि हे युयुत्सु! तुम शीघ्र जाकर माता गांधारी से मिलो। तुम्हें पाकर शायद वे अपना पुत्र-वियोग का दुख भूल जाये तो युयुत्सु उत्तर देता हे कि दुख भूलना तो बहुत बड़ी बात है मुझे तो ऐसा लगता है कि वे मेरा मुँह देखना भी पसन्द न करेंगी। यह सुनकर विदुर कहते हैं–

व्याख्या– हे युयुत्सु! तुम्हारा यह सोचना एकदम गलत और निराधार है। माता गांधारी तुम्हें देखकर अवश्य ही प्रसन्न होगी, क्योंकि अन्याय से भरी हुई कौरवों की कथा में तुम्हीं तो केवल ऐसे हो जिसने अन्याय का विरोध किया है और जिसके कारण तुम्हारा मस्तष्क गर्व से ऊँचा उठा हुआ है।

भाव यह है क तुम गांधारी के लिए सर्वश्रेष्ठ पुत्र हो। अन्य पुत्र तो अन्यायी थे और सदा अन्याय का समर्थन करते थे, किन्तु तुमने सत्य और न्याय का पक्ष लेकर अपने सौ भाइयों का भी विरोध किया है। इसलिए तुम्हें पाकर माता गांधारी अवश्य प्रसन्न होंगी।

नोट

इसीलिए देखकर .....गृद्धवत्।

शब्दार्थ– पट=द्वार। **शिशुभक्षी**=बच्चों को खाने वाला। **दैत्याकार**=राक्षस के समान विशाल शरीर वाला। **गिलवत**=गिद्ध की तरह।

प्रसंग– जब विदुर युयुत्सु से यह कहते हैं कि माता गांधारी के पुत्रों में तुम्ही तो सर्वश्रेष्ठ पुत्र हो, क्योंकि तुमने भाइयों का विरोध करके भी सत्य और न्याय का पक्ष लिया है तो युयुत्सु व्यंग्य से कहता है–

व्याख्या– चूँकि मैंने न्याय का पक्ष लिया है, इसलिए मुझे आता देखकर नागरिकों ने नगर के द्वार बन्द कर लिए थे और इसीलिए तो सभी ने कहा था कि मैं मायावी हूँ, बच्चों को खाने वाल हूँ, राक्षस के समान विशाल आकार वाला हूँ और गिद्ध की तरह हूँ।

युयुत्सु के कहने का भाव यह है कि मैंने न्याय का जो पक्ष लिया है, यदि उसके औचित्य को लोग समझते तो मेरा इस प्रकार का अनादर न किया जाता जिस प्रकार किया गया है।

इस पर विषाद .....निर्धारित करते हैं।

शब्दार्थ– विषाद=दुख। **परिपाटी**=परम्परा। **निर्धारित करते हैं**=निश्चित करते हैं, बनाते हैं।

प्रसंग– हस्तिनापुर के नागरिकों द्वारा आदर से क्षुब्ध होकर जब युयुत्सु उसका वर्णन विदुर से करता है तो विदुर कहते हैं–

व्याख्या– यह सच है कि तुने जिस न्याय-पक्ष को अपनाया है, हस्तिनापुर के नागरिकों ने उसके औचित्य को नहीं जाना है, इसीलिए उन्होंने तुम्हारा अनादर किया है। पर हे युयुत्सु! तुम्हें उनके व्यवहार से दुखी नहीं होना चाहिए, क्योंकि अज्ञानी, भय में डूबे और साधारण लोगों से उन लोगों को सदा अपमानपूर्ण व्यवहार ही मिला करता है जो एक निश्चित परम्परा से अलग अपने मार्ग को स्वयं निश्चित करते हैं।

भाव यह है कि जो लोग परम्परा को तोड़कर चलते हैं, उन्हें परम्परा चाहने वाले लोगों से सदा अपमान ही मिला करता है।

बेटा भुजाएँ ये.....इसीलिये।

शब्दार्थ– पराक्रम=वीरता। **बंधुजनों का**=भाइयों का। **श्रीहत-सा**=उजड़ा-सा

प्रसंग– गाँधारी जब युयुत्सु से मिलने आती है, तो व्यंग्यपूर्ण शब्दों में अपना क्रोध व्यक्त कहती हुई करती है–

व्याख्या– बेटा युयुत्सु! तुम्हारी यह वीरता-भरी भुजाएँ अपने भाइयों का वध करते-करते थकीं तो नहीं? पांडवों के शिविरों के वैभव में रहने के बाद तुम्हें अपना यह नगर तो उजड़ा-सा दिखाई देता होगा? युयुत्सु कोई उत्तर नहीं देता और चुप खड़ा रहता है तो गांधारी पूछती है कि तुम चुप क्यों हो? और फिर विदुर को सम्बोधित करते हुए कहती है कि सम्भवत: थका होगा क्योंकि युद्ध से लौट रहा है, इसलिए राजभवन में ले जाकर फूलों की शैया पर लिटाओ। इसे फूलों की ही शय्या देनी उचित हे, क्योंकि यह कोई पराजित दुर्योधन तो है नहीं, जो सरोवर के कीचड़ में जाकर सोये। इस पर भी जब युयुत्सु चुप रहता है तो गांधारी पुन: विदुर को सम्बोधित करती हुई कहती है। कि विदुर! यह चुप क्यों है? क्या यह मुझसे इसलिए नहीं बोलता कि मैं। इसके शत्रुओं की माँ हूँ।

लेकिन .....जर्जर हो जाते हैं।

प्रसंग– जब गांधारी युयुत्सु पर तीखे व्यंग्य-बाण बरसा कर चली जाती है तो युयुत्सु बहुत दुखी होता है और विदुर से कहता है कि यदि मैं दुर्योधन के साथ ही लगा रहता और सत्य-पथ को ग्रहण न करता तो अच्छा ही होता। यह सुनकर विदुर कहते हैं–

व्याख्या– सम्भव है, दुर्योधन का अन्याय से भरा पथ प्रहण करने के बाद तुम्हें इस प्रकार अपमानित न होना पड़ता, पर यह समस्य का कोई हल नहीं था। यदि तुम असत्य से समझौता कर लेते, असत्य से भरे दुर्योधन के पक्ष को स्वीकार कर लेते तो तु अन्दर से बिल्कुल खोखले हो जाते, तुम्हारी आत्मा मर जाती और तुम जीवित रहते हुए भी जीवित न रहते। अत: तुमने जो कुछ किया है, वह बिल्कुल ठीक और उचित है।

नोट

अब यह .....क्या मिला?

शब्दार्थ– कटुता=कडुवापन। **प्रजाओं की**=प्रजा के लोगों की। **अन्तिम परिणति में**=अन्त में जाकर।

प्रसंग– जब विदुर युयुत्सु से कहते हैं कि सत्य का पक्ष ग्रहण करके तुमने अच्छा ही किया, भले ही माता गांधारी तथा प्रजा के लोगों से तुम्हें तिरस्कार मिल रहा है। यदि तुम असत्य का पक्ष ग्रहण कर लेते तो तुम्हारी आत्मा मर जाती और तुम अन्दर से जर्जर हो जाते। इस बात को सुनकर युयुत्सु कहता है–

व्याख्या– तुम कहते हो कि यदि मैं असत्य का पक्ष लेता तो अन्दर से जर्जर हो जाता तो क्या माँ की कटुता और प्रजाजनों की घृणा मुझको अन्दर से बल देगी? अर्थात् ये भी तो मुझे अन्दर से जर्जर करने वाली स्थितियां हैं। वास्तविकता तो यह है कि पक्ष चाहे सत्य का हो या असत्य का, अन्त में जाकर दोनों ही जर्जर करते हैं। इसलिए, हे विदुर! मैं समझता हूँ कि सत्य का पक्ष ग्रहण करने पर भी मुझको कुछ नहीं मिला।

यह तो .....कटुताओं को।

प्रसंग– गूँगे सैनिक को पानी देने के लिए विदुर युयुत्सु से कह रहे हैं–

व्याख्या– हे युयुत्सु! यह जल लो और इसे गूँगे सैनिक को पिला दो, ताकि वह तुम्हें स्नेह दे सके और तुम भी उसके बदले में उसे स्नेह दे सको। जीवन की सार्थकता यही है कि स्वयं जीवन की विपत्तियों की सहन करते हुए भी दूसरों को जीवन दो।

मैं ही अपराधी.....घृणा का पात्र हूँ।

शब्दार्थ– अश्वारोही=घुड़सवार। **करुणा**=दया। **परिणति**=स्थिति। **मातृवंचित**=माता से अलग।

प्रसंग– जब युयुत्सु गूँगे सैनिक को पानी पिलाने लगता है तो वह उसे देखते ही बिना पानी पिये डर के मारे चिल्लाकर भागने लगता है। समीप खड़ा हुआ प्रहरी यह देखकर आश्चर्यचकित रह जाता है। तब युयुत्सु उसे बताता है–

व्याख्या– यह गूँगा सैनिक मुझसे डरकर इसलिए भाग रहा है कि इसके जीवन को नष्ट करने का अपराध मुझसे ही हुआ है। यह सैनिक कौरव-सेना का एक घुड़सवार था। मेरे ही अग्निवाणों से इसके घुटने झुलसे हैं। मैंने स्वयं जिसका जीवन नष्ट किया है, वह भला मेरी दया को अब किस प्रकार स्वीकार कर सकता है। मेरी तो अब यह स्थिति हो गई है कि यदि मैं दूसरों को प्रेम दूँ, तो वे उसे स्वीकार नहीं करते। महाभारत प्रारम्भ होने से पूर्व व्यास जी ने बताया था कि जिधर कृष्ण होंगे, विजय भी उसी पक्ष की होगी। यह कृष्ण की कैसी विचित्र विजय है, जिसमें मेरा रूप एक वधिक का बन गया है जिसके कारण मैं अपनी माता गांधारी से भी अलग हो गया हूँ और सब लोग मुझे घृणा करने लगे हैं।

आज इस पराजय .....तुम हो प्रभु?

शब्दार्थ– पराजय की बेला में=हार के समय में।

प्रसंग– महाभारत युद्ध के कारण समाज में जो अस्त-व्यस्तता फैली, उसे देखकर दुखी होकर विदुर कह रहे हैं–

व्याख्या– आज इस हार के समय में न जाने क्या झूठा पड़ गया? और कहाँ पड़ गया, अर्थात् न जाने क्या अनुचित बात हो गई है कि समाज में चारों ओर अस्त-व्यस्तता दिखाई देती है। ऐसा प्रतीत होता है कि सब-के-सब अपनी धुरी से उतर आये हैं, अर्थात् मार्ग-भ्रष्ट हो गये हैं। इस धुरी से एक-एक करके सारे पहिये उतर आये हैं, अर्थात् किसी भी व्यक्ति को अपने कर्तव्य का ज्ञान नहीं रहा है। विदुर सोचते हैं कि क्या वह उसी प्रभु कृष्ण के कारण हुआ है जिसे वे अपना आराध्य देव मानते हैं। भाव यह है कि महाभारत के कारण समाज में जो अस्त-व्यस्तता फैली है, सब लोग अपने-अपने कर्तव्यों को भूल गये हैं, क्या इस सबकी जिम्मेदारी भगवान कृष्ण पर ही है?

नोट

चौथा अंक

(गांधारी का शाप)

वे शंकर थे .....नव।

शब्दार्थ– रौद्रवेषधारी=भयानक वेश धारण किये हुए। **विराट**=महान। **प्रलयंकर**=प्रलय करने वाले। **प्रलय-मेघ-गर्जन-स्वर**=प्रलय काल में गर्जन करते हुए बादलों का भयानक स्वर। **प्राप्त**=पाश। **नाराच**=वाण।

प्रसंग– जब सोते हुए पांडवों तथा उनके सैनिकों का वध करने के लिए अश्वत्थामा उनके शिविर में घुसा तो शंकर उसका मार्ग रोककर खड़े हो गये और चुनौती दी कि वह जब तक उन्हें परास्त नहीं कर देगा, तब तक वह पाँडवों के शिविर में प्रवेश न कर सकेगा। युद्ध की चुनौती स्वीकार करके अश्वत्थामा ने शंकर के साथ युद्ध करना प्रारम्भ कर दिया, पर वह अपनी पूरी शक्ति लगाकर भी उन्हें टस-से-मस न कर सका। तब विवश होकर वह युद्ध छोड़कर उनकी प्रार्थना करने लगा।

व्याख्या– पांडव-शिविर में घुमते समय अश्वत्थामा का मार्ग रोककर जो खड़े हुए थे, वे शंकर थे, जो भयानक वेश धारण करने वाले, महान तथा प्रलय करके सृष्टि का संहार करने वाला है।

वे अपनी भुजाओं पर असंख्य विषैले सांपों को बाँधे हुए थे। उनके रोम-रोम से महाप्रलय की-सी भयंकरता प्रकट हो रही थी। ऐसे वेश को धारण किये हुए वे शंकर ही थे, जो पांडवों के शिविर द्वार पर अश्वत्थामा को दिखाई दिये थे।

प्रलय के समय जिस भयानक स्वर में मेघ गरजते हैं, उसी भयानक स्वर में वे अश्वत्थामा से कहने लगे कि पहले मुझे युद्ध में परास्त करो, तभी अन्दर जा सकते हो। प्रवेश करने से पूर्व अश्वत्थामा ने उनसे युद्ध करना आरम्भ किया। यद्यपि अश्वत्थामा के अस्त्र दिव्य थे और उन्हें सहन करने की शक्ति किसी में भी नहीं थी, अश्वत्थामा ने क्रोधित होकर बाण, शक्ति, पाश, नाराच गदा आदि जितने भी अस्त्र-शस्त्र छोड़े, वे सभी शिव के रोम में समा गये। अपना कोई चारा न देखकर अश्वत्थामा ने अपनी पराजय स्वीकार कर ली और तब वह युद्ध छोड़कर उनकी वन्दना करने लगा।

जटा कटाह.....प्रतिक्षण मम।

शब्दार्थ– विलोल=चंचल। **वीचि**=लहर। **मूर्धनि**=मस्तक पर **रति**=प्रेम।

प्रसंग– अश्वत्थामा शिव की प्रार्थना कर रहा है।

व्याख्या– हे शंकर! आपके सिर पर जटाओं का समूह निर्झरी के समान इठला रहा है। मस्तक पर चंचल लहरें लता के समान शोभायमान हैं। ललाट पर धारण किया हुआ चंद्रमा आग के समान देदीप्यमान है। हे चंद्रशेखर! आप प्रतिक्षण मुझ पर प्रेम बनाये रहें अर्थात् आपकी कृपा मुझे सदैव मिलती रहे।

वे आशुतोष.....खोते।

शब्दार्थ– आशुतोष=शीघ्र प्रसन्न होने वाले। **क्षय**=नष्ट। **कृष्णा-प्रेम-वश**=द्रौपदी के प्रेम के कारण।

प्रसंग– अश्वत्थामा की प्रार्थना से शीघ्र ही प्रसन्न होकर शंकर कह रहे हैं।

व्याख्या– शंकर शीघ्र ही प्रसन्न होने वाले हैं, अत: वे अश्वत्थामा की प्रार्थना से प्रसन्न होकर उसे आशीर्वाद देने के लिए हाथ ऊपर उठाकर बोले- 'हे अश्वत्थामा! निश्चय ही तुम्हारी विजय होगी, क्योंकि अब पांडवों के पुण्य नष्ट हो चुके हैं। मैं अब तक द्रौपदी के प्रेम के कारण ही इनकी रक्षा करता था, उसी के प्रेम के वशीभूत होकर इन्हें विजय दिलाता था और इनमें नवीन बल भरता था। लेकिन इन्होंने अधर्म से द्रोणाचार्य आदि का वध करके अपनी मृत्यु के द्वार स्वयं ही खोल लिए हैं। भाव यह है कि पांडवों ने जब से अधर्म का आश्रय लेकर द्रोण आदि का वध किया है, तभी से इनके पुण्य नष्ट होने प्रारम्भ हो गये हैं और अब मैं इनकी रक्षा करने तथा इनमें नवीन बल भरने से विमुख हो गया हूँ। अत: इन परिस्थितियों में निश्चय ही तुम्हारी विजय होगी।

शंकर की .....लोहू उबल पड़ा।

नोट

प्रसंग– अश्वत्थामा द्वारा धृष्टद्युम्न के वध का वर्णन संजय गांधारी किसे कर रहे हैं–

व्याख्या– तब प्रसन्न होकर शंकर ने अपनी दैवी तलवार अश्वत्थामा को दे दी। वह उसे लेकर वहाँ जा पहुंचा, जहाँ उसके पिता का हत्यारा धृष्टद्युम्न सो रहा था। वह उसके सिरहाने गया। बिजली की तरह उस पर झपटा, उसे उसकी शैय्या से नीचे खींच लिया, अपने घुटनों से दबा लिया और अपने पंजों से उसका गला दबोच लिया। उसकी दोनों आँखें अपने गड्ढों से इस प्रकार निकल आई जैसे कच्चे आमों की गुठली उछल आई हों और आँखों के खाली गड्ढों से काला-काला लोहू उबल पड़ा।

बड़े कष्ट से .....मर्मस्थल।

शब्दार्थ– नरपशु=दुष्टात्मा। **निःशस्त्र**=निहत्था।

प्रसंग– संजय गांधारी से धृष्टद्युम्न के वध का वर्णन कर रहे हैं–

व्याख्या– जब अश्वत्थामा ने उसकी दोनों आँखें फोड़ दीं और जोरों से उसका गला दबा लिया तो बड़े कष्ट से जोड़-जोड़कर उसने ये शब्द कहे कि यदि मेरा वध ही करना है तो अस्त्रों से कर दो। इस प्रकार तड़पा-तड़पा कर मारना उचित नहीं है। इस पर अश्वत्थामा ने उत्तर दिया कि तुम अस्त्रों से मारने के योग्य नहीं हो, तुम तो दृष्टात्मा हो तुमने निहत्थे मेरे पिता द्रोणाचार्य की हत्या की है। यह उसी हत्या का बदला है। यह कहर अश्वत्थामा ने अपने पैरों से उस पर इतनी चोटें मारीं कि उसके सभी मर्म-स्थल चूर-चूर हो गये।

कोलाहल सुन.....समा गया।

प्रसंग– पांडव-शिविर में पहुँचकर अश्वत्थामा ने किस प्रकार बदला लिया, इसका वर्णन संजय गांधारी से कर रहे हैं।

व्याख्या– जब अश्वत्थामा ने धृष्टद्युम्न का वध किया तो उस समय के कोलाहल को सुनकर योद्धा अस्त-व्यस्त होकर जागे और आँखें मलते हुए बाहर आये। लेकिन अश्वत्थामा ने अपने जहरीले तीरों की वर्षा करके तुरन्त ही उन्हें मृत्यु के घाट उतार दिया। शतानीक को जब कुछ न मिला तो वह रथ का पहिया लेकर ही अश्वत्थामा पर वार करने के लिए दौड़ा, लेकिन अश्वत्थामा ने अपने वाणों से उसके दोनों घुटने काट दिये। इस प्रकार पांडवों के अनेक योद्धाओं का वध करके अश्वत्थामा शिखंडी के पास पहुंचा। उसने सोये हुए शिखंडी के बीचोबीच एक ऐसा बाण मारा जो उसके मस्तक तथा उसकी चन्दन की शैय्या को बेधता हुआ पृथ्वी में समा गया।

संजय नहीं .....लगा दी आग।

शब्दार्थ– जघन्य=घृणापूर्ण, निंदनीय।

प्रसंग– अश्वत्थामा ने किस प्रकार अपने दोनों साथियों–कृपाचार्य और कृतवर्मा–को लेकर पांडवों के शिविर को ध्वंस किया, इस घटना का वर्णन विदुर गांधारी से कर रहे हैं–

व्याख्या– उस घटना का वर्णन संजय क्या करेगा, मैं ही सुनाता हूँ। वह बदला लेने का कार्य बहुत ही निंदनीय एवं अधर्म से युक्त था। अश्वत्थामा पांडव-शिविर के अन्दर सोये वीरों का वध कर रहा था और कृपाचार्य तथा कृतवर्मा बाहर खड़े हुए थे। जितने बच्चे, बूढ़े, नौकर शिविरों से डरकर बाहर आये, उनको कृतवर्मा ने अपने बाणों से छेद दिया। डरे हुए हाथी चिंघाड़ कर शिविरों को चीरते हुए भागे। उसके भागने से जो स्त्री जहां पर सोई हुई थी, वह वहीं पर कुचल गईं। उसी समय अवसर देखकर कृपाचार्य और कृवतर्मा दोनों ने पांडवों के शिविरों में आग लगा दी।

काश कि मैं .....तब अश्वत्थामा।

प्रसंग– जब संजय और विदुर ने वह घटना सुनाई जिसमें अश्वत्थामा ने पांडव-शिविर में घुसकर पांडव-सैनिकों का वध किया था, तो गांधारी कहती है–

व्याख्या– पांडव-वीरों को मौत के घाट उतारता हुआ अश्वत्थामा उस समय निश्चिय ही किसी प्रकार की ज्योति से घिरा हुआ होगा। क्या ही अच्छा होता कि मैं उस ज्योति को अपनी आँखों से देख पाती।

नोट

धुआँ, लपट.....भुजमूलों में।

शब्दार्थ– रक्त=खून। **मज्जा**=चर्बी। **मुण्ड**=कटे हुए सिर। **कबंध**=धड़। **विचरण करता था**=घूमता था। **सिंहनाद करता हुआ**=जोरों से चिल्लाता हुआ। **नररक्त**=आदमी का खून। **भुजमूलों में**=बाहुओं में।

प्रसंग– पांडव-शिविर में जाकर अश्वत्थामा ने किस प्रकार युद्ध किया, इसका वर्णन संजय गाँधारी से कर रहे हैं–

व्याख्या– धुआँ, लपट, लोथ, घायल घोड़े, टूटे रथ, घायल अथवा मृत सैनिकों के खून, पेट, चर्बी, कटे हुए सिर, टूटे हुए धड़ और टूटी हुई पसलियों में अश्वत्थामा जोरों से चिल्लाता हुआ घूम रहा था। आदमियों के खून से सनी हुई तलवार उसके हाथों में इस प्रकार चिपक गई थी, जैसे वह उसका भुजाओं में ही उगी हुई हो।

ठहरो संजय.....अश्वत्थामा को।

प्रसंग– जब संजय गांधारी से अश्वत्थामा के उस युद्ध का वर्णन कर रहा था जो उसने पांडवों के शिविर में जाकर किया था तो गांधारी संजय से कहती है–

व्याख्या– हे संजय! कुछ देर के लिए अपनी कथा को बंद करो और मुझे अपनी दिव्य-दृष्टि से एक बार अश्वत्थामा को दिखला दो, ताकि उसका युद्ध और उसका वीर-रूप देखकर मुझे भी संतोष तथा आनन्द मिल जाएं।

माता! व्यास ने .....छिन जाय!

शब्दार्थ– अवधि=समय। **सामर्थ्य**=शक्ति।

प्रसंग– संजय गांधारी से कह रहे हैं–

व्याख्या– हे माता! तुम जिस दिव्य दृष्टि से पांडव शिविर में युद्ध करते हुए अश्वत्थामा को देखना चाहती हो, वह दिव्य दृष्टि मुझे व्यास जी ने केवल उतने समय तक के लिए दी थी, जितने समय तक महाभारत का युद्ध चलता रहेगा। अब महाभारत का युद्ध तो समाप्त हु चुका है पर न जाने यह शक्ति अब मुझसे कब छिन जाय। इसलिए जब तक यह शक्ति है, तब तक इसका उपयोग किया ही जाना चाहिए। भाव यह है कि मैं अपनी दिव्यदृष्टि से अभी तुम्हें उस अश्वत्थामा को दिखलाता हूँ जो पांडवों के शिविर में भयंकर और कुरूप बनकर युद्ध कर रहा है।

इसीलिए कहती हूँ.....एक बार।

प्रसंग– गाँधारी संजय से कह रही है–

व्याख्या– यद्यपि अश्वत्थामा ने पांडव-शिविर में जाकर उनके सैनिकों तथा शिविरों का नाश कर दिया है, तथापि यह निश्चित है कि उसके इस अपराध के लिए अन्यायी कृष्ण उसे जीवित नहीं छोड़ेगा। मैं समझती हूँ कि अश्वत्थामा अब कुछ ही घंटों का मेहमान है, इसीलिए मैं एक बार उसे जी भर कर देख लेना चाहती हूँ।

मैं प्रयास .....अश्वत्थामा के।

शब्दार्थ– प्रयास=कोशिश। **समवेत होकर**=इकट्ठा होकर।

प्रसंग– जब गांधारी पांडव-शिविर में युद्ध करते हुए अश्वत्थामा को देखने की इच्छा प्रकट करती है तो संजय उससे कहते हैं–

व्याख्या– हे माता! मैं प्रयत्न करता हूँ, जो पांडव-शिविर में भयानक युद्ध कर रहा है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि मेरे सारे पुण्यों का बल इकट्ठा होकर अपनी शक्ति से आपको दिव्यदृष्टि देकर अश्वत्थामा को अवश्य दिखा देगा।

महाराज .....योद्ध।

शब्दार्थ– ध्वस्त=नष्ट।

प्रसंग– कृपाचार्य मरणासन्न दुर्योधन को अपना विजय का संदेश सुना रहा है।

नोट

व्याख्या– हे महाराज दुर्योधन! सेनापति अश्वत्थामा ने जो पूरे पांडव-शिविर को नष्ट कर दिया है और उनके सभी योद्धाओं से युद्ध में मार डाला है, इसलिए अब उनके पास एक भी येद्धा जीवित नहीं बचा है।

नहीं स्वामी.....कहें।

प्रसंग– अश्वत्थामा मरणासन्न दुर्योधन से कह रहा है–

व्याख्या– नहीं, स्वामी नहीं। अभी भी मैं आपसे आशीर्वाद पाने का अधिकारी नहीं हूँ। यह सच है कि धृष्टद्युम्न का वध करके मैंने अपने पिता द्रोणाचार्य की हत्या का बदला ले लिया है, किन्तु आपका बदला तो मैं अभी तक भी नहीं ले पाया हूँ। अभी भी उत्तरा का गर्भ सुरक्षित है, जो कुछ ही महीनों पश्चात् पांडवों का उत्तराधिकारी जन्म लेगा। किन्तु, हे स्वामी! मैं आपके सामने प्रण करता हूँ कि मैं इस कार्य को भी अवश्य पूरा करूँगा। सूर्यलोक में जब आप गुरु द्रोणाचार्य से मिलें तो उनसे यह अवश्य कह दें कि आपके पुत्र ने आपकी हतया का बदला ले लिया है, इसलिए आप अब शांति धारण करें।)

टास्क महाभारत में विजय प्राप्त करने के पश्चात् युधिष्ठिर के पश्चाताप पर टिप्पणी कीजिए।

किसका चीत्कार.....रक्षा करें।

प्रसंग– दुर्योधन की मृत्यु से दु:खी होकर जब गांधारी चीत्कार करती हुई मूर्छित हो जाती है तो अश्वत्थामा उन्हें सान्त्वना देता हुआ प्रतिज्ञा करता है–

व्याख्या– माता गांधारी के चीत्कार को सुनकर अश्वत्थामा कहता है कि हे माता! धैर्य धरो। जैसे कृष्ण ने तुम्हारी कोख पुत्र हीन कर दी है अर्थात् तुम्हारे सारे पुत्रों को मरवा दिया है, उसी प्रकार मैं उत्तरा को पुत्रहीन बना कर ही छोड़ूंगा। कृष्ण अपनी योग-माया से चाहे उसकी कितनी ही रक्षा करें, पर मैं उसके गर्भ को गिराकर ही रहूंगा।

व्यास क्यों.....रहेगी सदा।

शब्दार्थ– समाहित होने को=मिल जाने को।

प्रसंग– संजय को दिव्य दृष्टि केवल युद्धकाल के अन्त तक मिली थी। इसी पर प्रायश्चित करते हुए वे कह रहे हैं–

व्याख्या– हे व्यास! तुमने इस थोड़े-से समय के लिए ही मुझे यह दिव्यदृष्टि क्यों दी थी? आज जब तुने यह दिव्य-दृष्टि छीन ली है तो मुझे अत्यधिक दु:ख हो रहा है। अब तक मैं सीमित दृश्य-जगत से बाहर भी देख सकता था, किन्तु अब मैं इस सीमित जगत को ही देख पाऊँगा। इससे मुझे कभी भी संतोष न मिल सकेगा और मैं असन्तोषपूर्ण जीवन से सदा दु:खी रहूंगा। मेरी आत्मा इस सीमित दृश्य जगत की सीमाओं को तोड़कर अनन्त में मिल जाने के लिए सदैव व्याकुल और आतुर बनी रहेगी।

जिसने किया हो .....तर्पण करूँगा।

शब्दार्थ– तर्पण=मृत व्यक्ति के लिए जो तिल पानी में बहाए जाते हैं, उसे तर्पण करना कहते हैं। **बन्धु**=भाई। **परिजन**=परिवार के लोग।

प्रसंग– जब विदुर गांधारी आदि से युद्धक्षेत्र में जाकर तर्पण करने का प्रस्ताव करते हैं तो युयुत्सु सोचता है–

व्याख्या– जस व्यक्ति ने स्वयं ही उनका वध किया हो, फिर भला वह उनका तर्पण कैसे कर सकता है और यदि वह तर्पण कर भी दे तो वे उसे कभी स्वीकार नहीं करेंगी? यद्यपि वे मेरे भाई हैं, मेरे परिवार के लोग हैं कहने का भाव यह है कि जब मैंने स्वयं ही युद्धक्षेत्र में अपने भाइयों और अपने परिवार के लोगों का वध किया है, तो उनका तर्पण करना मेरे लिए केवल एक हास्यास्पद घटना ही है। किन्तु हे कृष्ण! सुनो, मेरी समझ में नहीं आता

नोट

कि मैं किस मुंह से उनका तर्पण करूँ? अर्थात् तुम्हीं बताओं कि इस विकट समस्या से मैं किस प्रकार सुलझ सकता हूँ, क्योंकि मैंने ही रणक्षेत्र में उनका वध किया है और अब मैं ही उनका तर्पण करूँगा।

पाँचवां अंक विजय:
एक क्रमिक आत्महत्या

दिन हफ्ते.....तिमिर घन में।

शब्दार्थ– अभिषेक=राजतिलक। **संपन्न**=पूर्ण। **विश्वास-ध्वस्त**=जिनका श्विास नष्ट हो गया है अर्थात् अविश्वासी। **सूत्रधार**=संचालक। **शाप-ग्रस्त**=जिन्हें शाप लगा हुआ हो। **पुण्यहत**=पुण्यों से रहित। **बुद्धि से मन्द**=मूर्ख। **प्रकृति**=स्वभाव। **अर्धविकसित**=आधे खिले हुए अर्थात् अपरिपक्व। **भावी**=आने वाले। **विकृत**=कुरूप, दोषपूर्ण। **देहावसान**=मृत्यु। **निष्फल**=व्यर्थ। **निस्तब्ध**=खामोश। **घन**=बादल।

प्रसंग– महाभारत के पश्चात् यद्यपि युधिष्ठिर का राजतिलक तो हो गया, तथापि अपने भाइयों के व्यवहारों एवं अन्य अनेक कारणों से वे अत्यन्त चिंतित रहने लगे। इन्हीं बातों का वर्णन नाटककार ने इस पंक्तियों में किया है।

व्याख्या– दिन हफ्तों में, हफ्ते महीनों में और महीने वर्षों में बदलते गये। इस प्रकार कई बरस बीत गये। ब्रह्मास्त्रों से झुलसी हुई धरती फिर से हरी भरी हो गई, युधिष्ठिर का राजतिलक भी हो गया, फिर भी कौरव-नगरी अपनी खोई हुई शोभा को प्राप्त न कर सकी। यद्यपि सारे पांडव विजयी थे लेकिन सुन्दर भविष्य के प्रति सभी के मन में अविश्वास भरा हुआ था। उनके कर्मों के संचालक स्वयं प्रभु (कृष्ण) थे, पर वे भी गांधारी के दिये हुए शाप से ग्रस्त थे। इस अनिश्चितता तथा अविश्वास के वातावरण में पांडवों का राज्य प्रारम्भ हुआ, जो पुण्यों से रहित था और अस्त-व्यस्त था। भीम मूर्ख था और उसके स्वभाव में अभिमान कूट-कूट कर भरा हुआ था, अर्जुन समय से पहले ही वृद्ध होने लगा था, नकुल अज्ञानी था और सहदेव अपने बचपन से ही अपरिपक्व था। इस भाइयों में केवल युधिष्ठिर ही ऐसे व्यक्ति थे, जिनके माथे पर सदैव चिन्ता की रेखाएं खिंची रहती थीं, जिसे दोषपूर्ण भविष्य के सपने अपने भार से बोझिल बनाये रहते थे। भाव यह है कि केवल युधिष्ठिर ही भविष्य के बारे में सोचा करते थे और अपने तथा युग के भविष्य को अन्धकारमय जानकर रात-दिन चिन्ता में डूबे रहते थे।

केवल युधिष्ठिर ही इस बात की चिंता किया करते थे कि श्री कृष्ण की मृत्यु हो जाने पर क्या होगा अर्थात् जिन्हें श्रीकृष्ण की मृत्यु का ध्यान सदैव चिन्तित बनाये रखता था। वे यह भी सोचा करते थे कि जिस युग को हमने रण में बोया है, जब वह अंकुर देगा तो उससे सारे ज्ञान-विज्ञान समाप्त हो जायेंगे? अर्थात् महाभारत में सृष्टि का समूचा सुन्दर पक्ष समाप्त हो चुका था, अत: आगे आने वाला भविष्य निश्चय ही अज्ञान से भरा हुआ था, जिसे सोच-सोचकर युधिष्ठिर रात-दिन चिन्ता में डूबे रहते थे।

वे सीढ़ियों पर बैठे हुए, घुटनों पर अपन सिर रखे हुए, अक्सर ऐसी ही चिन्ताओं में डूबे रहते थे, पर उनका कोई समाधान नहीं खोज पाते थे और अपनी सूनी-सूनी आँखों से बाहर फैले हुए बादल के शांत अन्धकार को देखा करते थे अर्थात् अपनी चिन्ताओं का कोई हल न मिलने के कारण युधिष्ठिर रात-दिन चिन्तित और खोये-खोये रहते थे।

ऐसे भयानक.....या जर्जर हैं।

शब्दार्थ– अर्द्धसत्य=आधा सत्य, युधिष्ठिर ने 'अश्वत्थामा हतो नरो वा कुंजरो वा' से द्रोणाचार्य को धोखे में डालकर उनका वध करवाया था यद्यपि वे जानते थे कि अश्वत्थामा, द्रोणाचार्य का पुत्र, नहीं मारा गया। यह बात उनकी आधी सच्ची, (क्योंकि भीम ने अश्वत्थामा नामक हाथी को मार दिया था) और आधी झूठी थी। **रक्तपात**=खून का बहना। **यातना**=दुख। **जड़**=महामूर्ख। **दुर्विनीति**=धृष्ट। **अमंगल**=नाश। **निर्निमेष**=खुली हुई आंखों से एकटक।

प्रसंग– युधिष्ठिर चिन्ताग्रस्त होकर प्रायश्चित कर रहे हैं–

व्याख्या– महाभारत जैसे भयानक युद्ध को आधी सच्ची बात कहकर खून बहाकर, हिंसा से जीत कर अपने को बिलकुल हारा हुआ अनुभव करना भी एक दुख है। भाव यह है कि यद्यपि मैं महाभारत में विजयी हुआ हूँ किन्तु

नोट

इस विजय को प्राप्त करने के लिए जो झूठ बोलने पड़े हैं, जिस प्रकार खून की नदियाँ बहानी पड़ी हैं, जिस तरह के हिंसक कार्य करने पड़े हैं, उन्हें सोचकर तो मन को इतना अधिक दुख होता है कि अपनी यह विजय भी एक प्रकार की कटु पराजय-सी हो लगने लगती है।

जिस परिवर के लोगों के लिए यह भयंकर युद्ध लड़ा गया, अब पता चला है कि वे सब अज्ञानी हैं, महामूर्ख हैं, धृष्ट हैं, या जर्जर हैं। यह देखकर भी बड़ा दुख होता है कि मेरे परिवार के व्यक्ति भी इस योग्य नहीं हैं कि वे सुख का कारण बन सकें, वरन् वे तो अपने अनुचित व्यवहार से दुख देने वाले ही हैं। यह भी दुख का एक कारण है।

यह जानकर भी अत्यन्त दुख होता है कि मेरा प्रजा के सभी लोग दुर्योधन के अन्यायपूर्ण तथा दूषित शासन के ढाँचे में ढले हुए हैं, इसलिए उनमें सत्य आदि सद्भाव नहीं है।

और जब मैं खिड़की से बाहर फैले हुए गहरे अन्धकार की ओर देखता हूँ तो मेरे मन में अनायास ही शंका जग जाती है। कि आने वाला युग निश्चय ही विनाशकारी होगा। अतः आने वाले युग की कल्पना से ही मन अत्यधिक भयभीत हो उठता है और उसमें अपार दुख समा जाता है।

इन विपरीत और दुखदायी परिस्थतियों में भी जीवित रहना, राजा बनकर माथे पर बहुमूल्य मणि धारण करना, उस अश्वत्थामा के जीवन के समान दुखपूर्ण है जो मणि छिन जाने पर तथा शाप के कारण शरीर से खून, पीप, स्वेद आदि बहते रहने पर भी जीवित है।

हे भाई दुर्योधन! तुम बहुत ही भाग्यशाली थे, जो इन विषम परिस्थतियों के जन्म लेने से पूर्व ही इस लोक से चले गये। इसके विपरीति, मैं कितना हतभागा हूँ कि इन परिस्थितियों को देखने के लिये जीवित बचा हूँ। मैं किसको बताऊं कि इस गहन अन्धकार में एकटक विनाश से भरे हुए भावी युग को देखना कितना दुखदायी है, क्योंकि मेरे सारे परिवार के लोग अज्ञानी हैं, महामूर्ख हैं, धृष्ट हैं या जर्जर हैं।

यह है मेरा.....विनोदों में।

शब्दार्थ– ह्रासोन्मुख=पतन की ओर जाता हुआ। **तन्मय हैं**=डूबे हुए हैं, पूरी तरह से आन्न्द ले रहे हैं। **अमानुषिक**=दुष्टता से भरे हुए।

प्रसंग– जब चिन्ताग्रस्त होकर युधिष्ठिर भावी युग के विषय में सोच रहे थे तभी नेपथ्य से उन्हें गर्जन सुनाई दिया। उस गर्जन को सुनते ही उन्होंने यह जान लिया कि भीम ने फिर किसी का अपमान किया है और मेरे परिवार के लोग उसे विनोद का कारण मानकर अट्टहास कर रहे हैं। इस घटना से दुखी होकर वे स्वयं ही कहते हैं1

व्याख्या– यह मेरा पतन की ओर जाता हुआ कुटुम्ब है, जो कुछ ही वर्षों में बाहर घिरे हुए अन्धकार का ग्रास बन जायेगा, अर्थात् इसके अनुचित कार्य तथा व्यवहार शीघ्र ही इसके विनाश का कारण बन जायेंगे, इसमें कोई सन्देह नहीं है। पर यह अपने इस दुखपूर्ण भविष्य को भूलकर भीम के दुष्टता-भरे विनोदों से पूरी तरह आनन्द ले रहा है।

पिछले कई.....शापग्रस्त हुए।

शब्दार्थ– आस्था=श्रद्धा। **शापग्रस्त**=शाप से युक्त।

प्रसंग– विदुर युधिष्ठिर को युयुत्सु के गूंगे होने का कारण बता रहे हैं–

व्याख्या– युयुत्सु के गूंगे होने का कारण यह है कि वह चूंकि आपके पक्ष में लड़ा था, इसलिए पिछले कई वर्षों से उसे अपने परिवार वालों तथा प्रजा के लोगों से निरन्तर घृणा मिलती रही है और जिस कृष्ण के प्रति उसके मन में गहरी श्रद्ध थी, उन्हें भी गांधारी ने शाप दे दिया है और वे भी शाप से ग्रस्त हो गये हैं। इन परिस्थितियों ने युयुत्सु को इतना गम्भीर आघात पहुँचाया है कि उसकी बोलने की शक्ति ही नष्ट हो गई।

नोट

स्व-मूल्यांकन

सही विकल्प चुनिए–

1. महाभारत के युद्ध में कृष्ण किसके साथ हैं?
   (क) कौरव के साथ (ख) पाण्डव के साथ (ग) अर्जुन के साथ
2. गांधारी पुत्र युयुत्सु युद्ध में किसका समर्थन करता है।
   (क) कृष्ण का (ख) पाण्डव का (ग) कौरव का
3. 'उत्तरा' किसी पत्नी थी?
   (क) युधिष्ठिर की (ख) कृष्ण की (ग) अर्जुन की
4. अंधे धृतराष्ट्र और गांधारी को युद्ध की कथा कौन सुनाता है?
   (क) संजय (ख) कृतवर्मा (ग) कृपाचार्य

आश्रित था .....जाती रही।

शब्दार्थ– कटूक्तियों से=कड़वी-कड़वी बातों से। **मर्माहित होकर**=अत्यन्त दुखी होकर।

प्रसंग– कृपाचार्य युधिष्ठिर को युयुत्सु के गूँगे होने का कारण बता रहे हैं–

व्याख्या– युयुत्सु आपके ही आश्रित था, लेकिन जब भीम की कड़वी-कड़वी बातों से अत्यन्त दुखी होकर धृष्तराष्ट्र और गांधारी वन को चले गये तो उस दिन से उसे इतना दुख हुआ कि उसके बोलने की शक्ति बिलकुल ही जाती रही और वह पूरी तरह से गूँगा बन गया।

भोगी है .....अश्वत्थामा ने।

शब्दार्थ– यातना=विषम पीड़ा।

प्रसंग– जब विदुर और कृपाचार्य के द्वारा युधिष्ठिर को यह पता चलता है कि भीम युयुत्सु को बहुत सताता है, तो युधिष्ठिर दुखी होकर कहते हैं–

व्याख्या– वह अपने भाइयों के विरुद्ध जाकर महाभारत में पांडव-पक्ष की ओर से लड़ा, इसके लिए उसे अनेक प्रकार की विषम पीड़ाएँ सहनी पड़ीं, क्योंकि अपने ही बंधुजनों के विरुद्ध जीवन का दाँव लगा देना, अन्त में विश्वास का टूट जाना, अर्थात् यह अनुभव करना कि उसने जो भी किया है, गलत ही किया है, इस कारण लांछन पाना स्वयं में एक अत्यन्त विषम वेदना है, जिसको युयुत्सु निरन्तर सहन करता और भोगता आया है इस पर यह तो वह भी नहीं कर सका, जो नरपशु अश्वत्थामा ने किया, अर्थात् अश्वत्थामा ने अपना प्रतिशोध लेने के लिए ध ोखे से हमारे शिविरों पर आक्रमण कर दिया था और अनेक सोते हुए वीरों को मौत के घाट उतार दिया, पर यह युयुत्सु तो वह भी नहीं कर सका अर्थात् पाँडवों की ओर से निरन्तर भर्त्सना और अपमान मिलने पर भी यह उन्हीं का बना रहा, अश्वत्थामा की भांति इसने उनके साथ धोखा और विश्वासघात नहीं किया।

इस पर भी .....मानव का।

शब्दार्थ– मूढ़=महामूर्ख। **दुर्विनीत**=धृष्ट। **अहंग्रस्त**=अहंकारी। **आत्मघात**=आत्महत्या।

प्रसंग– निरन्तर घृणा और अपमान से तंग आकर युयुत्सु आत्महत्या कर लेता है। इस सूचना को सुनकर कृपाचार्य दुखी होकर कहते हैं–

व्याख्या– निरन्तर घृणा और अपमान से तंग आकर यद्यपि युयुत्सु ने आत्महत्या कर ली है, इस पर भी युधिष्ठिर के वे सब भाई जो अज्ञानी हैं, महामूर्ख हैं, धृष्ट हैं और अहंकारी हैं, उसकी मृत्यु पर शोक प्रकट न करके उस पर हँसते हैं। इन महलों की भूमि पर युयुत्सु ने अपने खून से जो भविष्यवाणी लिख दी है, युधिष्ठिर के भाई आज भी उसे नहीं समझ रहे हैं अर्थात् युयुत्सु की आत्महत्या निश्चित रूप से पांडवों के नाश की भविष्यवाणी है, पर

नोट

अज्ञानी पांडव इस सत्य को समझ नहीं रहे हैं और उसकी मृत्यु पर शोक करने वे बजाय हंस रहे हैं।

यह आत्महत्या निश्चित रूप से इस पूरी संस्कृति में ध्वनित होगी, अर्थात् पूरी संस्कृति पर इस आत्महत्या का गहरा प्रभाव पड़ेगा। दर्शनशास्त्रों, कलाओं, धर्मशास्त्रों और शासन-व्यवस्था में मानव अपना अंतिम लक्ष्य केवल आत्महत्या को ही समझेगा और निरन्तर आत्महत्या की परिपाटी चल जायेगी।

कृपाचार्य के कहने का भाव यह है–युयुत्सु सदा से ही सत्य का पक्षपाती रहा था। इसीलिए तो उसने अपने भाइयों का साथ छोड़कर युधिष्ठिर के पक्ष को सत्य माना था। महाभारत के पश्चात् उसे अपने परिजनों से तो धृणा मिली ही, पांडवों ने भी उसका निरन्तर अपमान किया। इसीलिए उसे आत्महत्या करने के लिए विवश होना पड़ा। यदि युयुत्सु जैसा सच्चा मानव और मानवीय सद्गुणों से ओतप्रोत आत्महत्या के लिए विवश हो जाता है तो फिर इस पृथ्वी पर मानव-संस्कृति का महत्त्व ही कुछ नहीं रह जाता। युयुत्सु की आत्महत्या निश्चित रूप से आने वाले युग के विनाशकारी रूप की ओर संकेत करती है, जिसमें पांडव भी विनष्ट हो जायेंगे, पर सांसारिक वैभव में डूबे हुए तथा विजय के उल्लास में पागल पांडव अभी भी इस सत्य को नहीं जान पा रहे हैं।

मुक्ति मिल.....बनकर प्रेत।

शब्दार्थ– बंधुघाती=बंधु की हत्या करने वाला। **आत्मघाती**=आत्महत्या करने वाला।

प्रसंग– युयुत्सु की आत्महत्या की सूचना पाकर विदुर दुखी होकर कृपाचार्य से कहते हैं।

व्याख्या– आत्महत्या करके युयुत्सु ने अच्छा नहीं किया, क्योंकि जो अपने भाई की हत्या करने वाला है जो माता, प्रियजन, बालक या स्त्री की हत करने वाला है, इन सभी को कभी-न-कभी मुक्ति मिल ही जाती है, किन्तु जो आत्महत्या करता है, वह प्रेत बनकर सदा-सदा के लिए अँधियारे में भटकता फिरा करता है, उसे कभी भी मुक्ति नहीं मिलती।

भाव यह है कि आत्महत्या सब पापों से अधिक भयानक पाप है। आत्महत्या करने वाले को कभी मुक्ति नहीं मिला करती। वह सदा ही दुखों को सहन करता हुआ प्रेत-योनि में पड़कर भटकता फिरा करता है। इसलिए युयुत्सु ने यह उचित नहीं किया जो आत्महत्या कर ली।

परिणति यही थी .....रोगों-सा।

शब्दार्थ– परिणति=अंजाम, संभाव्य। **नपुंसक**=कायरता से परिपूर्ण। **ह्रासोन्मुख**=पतन की ओर ले जाने वाली। **प्रवृत्ति**=आदत। **घातक**=भयानक।

प्रसंग– जब विदुर यह कहते हैं कि आत्महत्या करके युयुत्सु ने अच्छा नहीं किया, क्योंकि आत्महत्या सब पापों से भयंकर हैं। तो कृपाचार्य उत्तर देते हैं–

व्याख्या– हे विदुर! बेचारे युयुत्सु की आत्महत्या के उपरान्त मैं सहसा युधिष्ठिर के ऊँचे-महलों से विनाश की पगध्वनि सुन रहा हूँ अर्थात् आज मुझे अचानक यह विश्वास हो गया है कि पांडवों का नाश भी शीघ्र ही होने वाला है। अब तक यहां रहकर मैं परीक्षित को अस्त्रों की शिक्षा देता रहा हूँ, किन्तु आज मेरे मन में आ रहा है कि जितनी जल्दी हो सके, मैं हस्तिनापुर को छोड़ दूँ, क्योंकि यहाँ पर लोगों की आत्महत्या करने की आदत बढ़ती ही जा रही है। यह आदत कायरता से परिपूर्ण तथा पतन की ओर ले जाने वाली है और जिस तरह भयंकर रोग एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में आ जाता है। मुझे डर है कि कहीं यह आदत मुझे भी न पकड़ ले और मैं भी आत्महत्या न कर लूँ। इसलिए मैं जल्दी-से-जल्दी हस्तिनापुर छोड़ देना चाहता हूँ।

राज्य में युधिष्ठिर के .....युयुत्सु का।

शब्दार्थ– विप्र=ब्राह्मण। **निर्वासन**=राज्य से बाहर चले जाना।

प्रसंग– जग कृपाचार्य विदुर से कहते हैं कि हस्तिनापुर में बढ़ती हुई आत्महत्या की प्रवृत्ति को देखकर वे शीघ्र ही यहाँ से चले जाना चाहते हैं तो विदुर दुख भरे स्वर में कहते हैं–

नोट

व्याख्या– यदि युधिष्ठिर के राज्य में इसी प्रकार आत्महत्याएँ होंगी, ब्राह्मण इस राज्य को छोड़कर बाहर चले जायेंगे तो फिर यहाँ शांति किसी भी प्रकार से न रह सकेगी। हे प्रभु! यह कैसी शांति है जो आपने दी है? अर्थात् आपने तो कहा था कि महाभारत के पश्चात् सम्पूर्ण राज्य में शांति छा जायेगी, पर इसके विपरीत, यहाँ तो सर्वत्र अशांति ही छाई हुई है, जो निरन्तर बढ़ती जा रही है। बन में धृतराष्ट्र जब युयुत्सु की मृत्यु का समाचार सुनेंगे तो न जाने उनकी क्या दशा होगी, क्योंकि उनके पुत्रों में यही तो एकमात्र जीवित बचा था।

संजय अब सब .....अग्निमाला-सा

शब्दार्थ– ज्योतिवृत्त=प्रकाश-समूह। **अग्निमाला-सा**=अग्नि की माला के समान।

प्रसंग– वन में जब धृतराष्ट्र आग में घिर जाते हैं और संजय उन्हें बचाने का प्रयत्न करता है तो वे कहते हैं–

व्याख्या– हे संजय! मुझे इस आग से बचाने के सारे प्रयत्न अब व्यर्थ है, क्योंकि यह भाग इतनी बढ़ चुकी है कि इससे बचा नहीं जा सकता। इसलिए मुझे यहीं छोड़ दो। जीवन-भर अन्धा होने के कारण मैं अन्धेपन के अंधियारे में भटकता रहा हूँ, विवेकशून्य होने के कारण प्रपंचों में फँसा रहा हूँ। यह अग्नि नहीं है, बल्कि ज्योति का, ज्ञान का, समूह है। इस ज्ञान-समूह को देखकर भी मैं आज तक सत्य को ग्रहण नहीं कर सका,पुत्रों की मोह-ममता में फंसकर सत्यासत्य का निर्णय नहीं कर सका, पर अब मैंने दृढ़ निश्चय कर लिया है कि अग्नि की माला के समान अपनी बूढ़ी हड्डियों पर आज सत्य को ग्रहण करूँगा।

धृतराष्ट्र का कहने का भाव यह है–मैं अंधा ही नहीं था, वरन् विवेकशून्य भी था। इसलिए मैं अपने पुत्रों की मोह-ममता में फंसकर सत्य और असत्य का निर्णय नहीं कर सका और जीवन-भर असत्य को ही बढ़ावा देता रहा। पर अब मेरे जीवन का अन्तिम समय है। अतः चाहता हूँ कि इन क्षणों में तो अपनी बलि देकर सत्य का पक्ष ग्रहण कर लूं, क्योंकि असत्य का पक्ष ग्रहण करने वाले की यही दशा होनी चाहिए, उसे आग में तड़प-तड़प कर मरना चाहिए।

संजय तुम जाओ.....मैं ही हूँ।

शब्दार्थ– गृहकलह=घरेलू लड़ाई। **शतधा**=सैकड़ों खंडों में होकर, भिन्न-भिन्न रूप में। **समिधा**=लकड़ी, जो यज्ञ में जलाई जाती है।

प्रसंग– वन में आग लग जाने पर जब संजय गांधारी को बचाने का प्रयत्न करते हैं तो गांधारी कहती है–

व्याख्या– हे संजय! तुम हमें बचाने का प्रयत्न मत करो, बल्कि वापस हस्तिनापुर चले जाओ। ये जो भी उपद्रव दिखाई दे रहे हैं, वास्तव में उपद्रव नहीं है, वरन् श्रीकृष्ण को दिया गया मेरा ही शाप है। यही शाप अग्नि, आत्महत्या, अधर्म, घरेलू लड़ाई आदि भिन्न-भिन्न रूप धारण करके नगरों और वनों में बिखर गया है। हे संजय 'श्रीकृष्ण से कहना कि मैंने उन्हें जो शाप दिया था उसमें सबसे पहले मैं ही भस्म हो रही हूँ अर्थात् अपने किये का मैं सहर्ष फल भोग रही हूँ।

यों गये.....खोते जाते।

शब्दार्थ– यों=इस प्रकार, क्रमिक आत्महत्या आदि। **शासन**=राज्य। **घन तप में**=गहरे अन्धकार में।

प्रसंग– पांडव-शासन के विषय में नाटककार की उक्ति है–

व्याख्या– इसी प्रकार जिसमें क्रमिक आत्महत्या आदि नीचे कर्मों की रात-दिन घटनाएँ घटित होती रहती थीं, पांडव-राज्य के दिन बीतते गये। इन घटनाओं के कारण अशांत युधिष्ठिर और अधिक अशांत होते जा रहे थे। महाभारत की विजय का खोखलापन आये दिन स्पष्ट रूप से निखरता जा रहा था और सभी लोगों के विश्वास गहरे अन्धकार में खोते जा रहे थे, अर्थात् सभी व्यक्ति अपने-अपने और युग के भविष्य के प्रति अधिक अविश्वासी तथा शंकालु बनते जा रहे थे।

विदुर.....शिखरों पर।

नोट

शब्दार्थ– दावाग्नि=बन की आग। **आत्मघात**=आत्महत्या। **अवसान**=मृत्यु। **प्रभु**=श्रीकृष्ण। **शिखरों पर**=चोटियों पर।

प्रसंग– युधिष्ठिर अपने मन की ग्लानि तथा शोक को विदुर से कह रहे हैं।

व्याख्या– हे विदुर? अब मैं जीकर क्या करूँगा। माता कुन्ती, गांधारी और महाराज धृतराष्ट्र तो वन की आग में जलकर भस्म हो गये हैं। तर्पण करने के बाद फिर युयुत्सु के घाव खुल गये हैं अर्थात् युयुत्सु की आत्महत्या और उसके साथ किये गये अत्याचार रह-रहकर मेरे मन को कचोटते रहते हैं। इतने दिनों बाद युयुत्सु की आत्महत्या का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देने लगा है, अर्थात् जिस राज्य में युयुत्सु जैसा महापुरुष आत्महत्या के लिए विवश हो जाय, उस राज्य में निश्चय ही अमंगल होगा, वह राज्य कभी पनप नहीं सकता और आज मैं देख भी यही रहा हूँ। मेरे जीवन की सबसे बड़ी निष्फलता तो यही है कि मैं युयुत्सु के प्राणों को नहीं बचा सका। अब शीघ्र ही भगवान् कृष्ण की मृत्यु होने वाली है। मन कहता है कि उनको मृत्यु से पूर्व ही मैं स्वयं को नष्ट कर दूँ, अपना जीवन समाप्त कर दूँ, क्योंकि महाप्रभु कृष्ण की मृत्यु को देखने की शक्ति मुझ में नहीं है। अत: मुझे हिमालय की चोटियों पर जाकर गल जाने दो।

महाराज वह थी.....आत्मघात है।

शब्दार्थ– आत्मघात=आत्महत्या। **शिखरों की**=चोटियों की। **परिहार**=दूर करना।

प्रसंग– शोक और आत्मग्लानि से भरे हुए युधिष्ठिर जब स्वयं को हिमालय की चोटियों पर जाकर गलाने की इच्छा व्यक्त करते हैं तो उन्हें समझाते हुए विदुर कहते हैं–

व्याख्या– महाराज! हिमालय की चोटियों पर जाकर गल जाना भी आत्महत्या ही है। आत्महत्या जैसा पाप आप जैसे धर्मात्मा तथा धर्मावतार को नहीं करना चाहिए। फिर पर्वत की चोटियों की ऊँचाई कर्मों की नीचता को दूर नहीं कर सकती, अर्थात् आपके गल जाने से राज्य में जो अशान्ति फैली हुई है, वह तो शान्त नहीं होगी, वरन् इसके विपरीत और अधिक बढ़ जायेगी। अत: आपका शिखरों पर जाकर गलने का विचार करना नितांत अनुचित कार्य है और यह भी आत्महत्या जैसा पाप ही है।

और विजय.....मेरे आगे।

शब्दार्थ– फलभूत होने वाला=फल देने वाला, कार्य-रूप में आने वाला। **आत्मघात**=आत्महत्या।

प्रसंग– जब विदुर युधिष्ठिर को बताते है। कि पर्वतों की ऊँची चोटियों पर जाकर गल जाना भी आत्महत्या-जैसा पापपूर्ण एवं नीच कार्य है तो युधिष्ठिर उत्तर देते हैं–

व्याख्या– और जिस विजय को हमने प्राप्त किया है यह भी तो एक नीच कार्य ही सिद्ध हुआ है, यह भी तो एक लम्बा और धीरे-धीरे तथा तिल-तिलकर आत्महत्या के रूप में ही बदलने वाला कार्य है, अर्थात् यह विजय भी तो आत्महत्या के समान ही पापपूर्ण एवं नीचकार्य सिद्ध हुई है। सिवाय इसके कि मैं हिमालय पर्वत की ऊँची-चोटियों पर चढ़कर गल जाऊँ, मेरे सामने और कोई मार्ग शेष नहीं रह गया है।

17.3 शब्दकोश

1. **किंकर्तव्यविमूढ़–** भौंचक्का होना, दुविधा भरी स्थिति
2. **समवेत–** एकत्र, संचित, मिलाया हुआ, संबंद्ध
3. **व्याध–** बहेलिया, शिकारी

नोट

17.4 अभ्यास-प्रश्न

1. अंधायुग गीति नाट्य का कथासार अपने शब्दों में लिखिए।
2. युद्धोपरांत युधिष्ठिर के पश्चाताप के निहितार्थ स्पष्ट कीजिए।

उत्तर: स्व-मूल्यांकन

1. (ख) 2. (ख) 3. (ग) 4. (क)

17.5 संदर्भ पुस्तकें

1. *धर्मवीर भारती की साहित्य साधना*– सम्पादक: पुष्पा भारती, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली।
2. *हिंदी नाट्य काव्य:* पुनर्मूल्यांकन–हुकमचंद राजपाल, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली।
3. *अंधायुग*– धर्मवीर भारती, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली।

नोट

इकाई 18: धर्मवीर भारती–व्यक्तित्व एवं कृतित्व, अंधायुग की काव्यगत विशेषताएँ

अनुक्रमणिका

उद्देश्य
प्रस्तावना
18.1 व्यक्तित्व एवं कृतित्व
18.2 अंधायुग की काव्यगत विशेषताएँ
18.2.1 भावपक्ष
18.2.2 कलापक्ष
18.3 सारांश
18.4 शब्दकोश
18.5 अभ्यास-प्रश्न
18.6 संदर्भ पुस्तकें

उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी सक्षम होंगे–

- धर्मवीर भारती की काव्यगत विशेषताओं को समझने में।

प्रस्तावना

भारती के कवि मन पर अचेतन रूप से किशोर कल्पना का काफी प्रभाव पड़ा। जब उनकी चेतना ने पंख पसारे तब छायावाद का बोलबाला था भारती ने सबसे पहले सरलतम भाषा में रंग-विरंगी चित्रात्मकता से समन्वित साहसपूर्ण उन्मूक्त रूपोपासना औ उद्दाम यौवन के सर्वथा मांसल गीत रचे। आगे चलकर उनकी चेतना के नए क्षितिज खुलते जाते हैं।

18.1 व्यक्तित्व एवं कृतित्व

धर्मवीर भारती का जन्म सन् 1926 ई. में इलाहाबाद में हुआ। इन्होंने हिंदी में एम.ए. करने के पश्चात् डॉक्टरेट की उपाधि भी प्राप्त की। प्रारंभ में ये इलाहाबाद विश्वविद्यालय में हिंदी के प्राध्यापक रहे। सन् 1987 तक 'धर्मयुग' के संपादक रहे। कवि के साथ-साथ ये विशिष्ट कथाकार एवं समीक्षक भी थे। 'भारती' की काव्योपलब्धियाँ वास्तव में उनकी परवर्ती कृतियों–अंधा युग, कनुप्रिया और सात गीत वर्ष में दिखाई पड़ती हैं। आरंभ की कविताएँ बहुत कुछ कैशोर भावुकता से युक्त हैं। 'भारतीय' में आदिम गंध की तड़प और लोक-जीवन की रूमानी छवि की पकड़ है। इसलिए इनकी कविताएँ मूलत: गीतात्मक हैं। इनकी कविताओं में लोक परिवेश की मस्ती और उल्लास के स्थान पर उदासी और सूनापन ही अधिक उभरता है–

नोट

घास के रास्तें उस बंसवर से
इक पीली-सी चिड़िया
उसका कुछ अच्छा-सा नाम है
मुझे पुकारे ताना मारे
भर आएँ आँखड़ियां
उन्मन यह फागुन की राय है।

– (ठण्डा लोहा)

'भारती' के काव्य की एक बहुत बड़ी विशेषता है– उसकी मूर्त्तता और पारदर्शिता, जो उनके परवर्ती गंभीर और चिंतन-संवलित काव्यों में भी लक्षित होती है। सात गीत वर्ष की कविताओं में कवि की रूमानी भावुकता ने यथार्थ की गहराई पा ली है। बहुत-सी कविताएँ यहाँ भी प्रेम मूलक हैं, किंतु यहाँ प्रेम के बहुत सूक्ष्म संक्रांत अनुभवों को उभारा गया है। इसमें कुछ व्यंग्यात्मक कविताएं भी हैं जो किसी सांस्कृतिक, सामाजिक या राजनीतिक विसंगतियों पर हल्का-हल्का आघात करती हैं। मूल्यों संबंधी प्रश्न भी उभारे गए हैं। किंतु मानव संवेदन की आँच में।

धर्मवरी भारती का महत्त्वपूर्ण प्रबंधकाव्य कनुप्रिया राधा के प्रेम-संवेदन के माध्यम से जीवन को समझाने का एक सफल प्रयत्न है। 'कनुप्रिया' पूर्णमान्य रूप में नहीं, एक नये अर्थ में प्रबन्धकाव्य है। इसमें कृष्ण के साथ बीते राधा के तन्मय क्षणों की विभिन्न स्थितियों को रूप देना ही कवि को अभिप्रेत है, कोई कथा कहना नहीं। राधा को आशंका नहीं होती; यहाँ तक कि जब कृष्ण सेनानायक, महाराज और दुनिया की नजरों में महान बन गये हैं तो भी राधा अपने सत्य को झुठलानी नहीं। उसे जिये हुए सत्य के अतिरिक्त ऐसा कोई सत्य नहीं दीखता जो उसके अपने लिए सार्थक हो।

यह एक ऐसा प्रबन्धकाव्य है जो आधुनिक शिल्प और भाव-बोध दोनों को आत्मसात् कर सका है। 'कनुप्रिया' की भी मूल संवेदना प्रेम है, किन्तु इस संवेदना को उसकी गहराइयों में उभारते हुए भी कवि मूल्यों से उसे असम्पृक्त नहीं कर सका है। कृष्ण का युद्ध सत्य है या राधा के साथ उनके तन्मयता में बीते प्रेम-क्षण? शायद प्रेम के क्षण ही सत्य हैं, क्योंकि वे दुविधाहीन मन की संकल्पनात्मक अनुभूति हैं और युद्ध दुविधा की उपज, अनजिये सत्य का आभास। 'कनुप्रिया' अपनी संवेदनात्मक गहराई और शिल्प की ताज़गी के कारण एक विशिष्ट उपलब्धि है।

क्या आप जानते हैं धर्मवीर भारती ने अपने महत्त्वपूर्ण प्रबंध काव्य 'कनुप्रिया' में राधा-कृष्ण के अनन्य प्रेम की तन्मयता एवं प्रेम-संवेदन के माध्यम से जीवन को समझाने का एक सफल प्रयत्न है।

18.2 अंधायुग की काव्यगत विशेषताएँ

भाव और कला काव्य का सम्पूर्ण रूप है। यदि भाव को काव्य की आत्मा माना जाय तो कला उसका शरीर है। जिस प्रकार किसी भी आत्मा की सत्ता के लिए शरीर का होना अनिवार्य है और शरीर की सजीवता के लिए आत्मा की सत्ता परम आवश्यक है, उसी प्रकार किसी भी काव्य की सफलता, उसका काव्यत्व, भाव और कला दोनों के समुचित सामंजस्य में ही निहित होता है। अत: 'अन्धा युग' के काव्य-सौन्दर्य की समीक्षा करने के लिए इसके भावपक्ष और कलापक्ष दोनों का विश्लेषण करना आवश्यक है।

18.2.1 भावपक्ष

काव्य के प्रतिपाद्य को भावपक्ष कहा जाता है। 'अन्धा युग' का प्रतिपाद्य महाभारत के अट्ठारहवें दिन की वह घटना है जब कौरवों की सेना पूर्णतया विध्वंस हो चुकी थी और उसके केवल तीन वीर ही शेष रह गये थे–

नोट

कृपाचार्य, कृतवर्मा और अश्वत्थामा। केवल अटठारह दिनों में अट्ठारह अक्षोहिणी सेना का नष्ट हो जाना किसी भी देश के लिए सबसे भीषण अभिशाप है।

अंधायुग नाटक का प्रारम्भ बड़े ही मार्मिक ढंग से, प्रतिपाद्य के अनुसार, उसे अधिक मार्मिक एवं हृदयविदारक संस्पर्श देकर होता है। प्रथम अंक में, सबसे पहले कौरव-नगरी के सूनेपन का चित्रण किया गया है जिसका कारण है वह भयानक युद्ध जिसमें मर्यादा की हत्या हुई और दोनों ही पक्षों को–चाहे वह सत्य पर आधारित था या असत्य पर–भयंकर हानि हुई। वस्तुतः यह युद्ध कौरव और पाण्डवों का युद्ध न होकर केवल अज्ञानता का युद्ध था जिससे विवेक पराजित हुआ और अज्ञान विजयी बना–

टुकड़े टुकड़े हो बिखर चुकी मर्यादा
उसको दोनों ही पक्षों ने तोड़ा है
पाण्डव ने कुछ कम कौरव ने कुछ ज्यादा
यह रक्तपात अब कब समाप्त होना है
क्या अजब युद्ध है नहीं किसी की भी जय
दोनों पक्षों को खोना ही खोना है
अंधों से शोभित था युग का सिंहासन
दोनों ही पक्षों में विवेक ही हारा
दोनों ही पक्षों में जीता अंधापन।'

महाभारत के युद्ध का कर्णधार एवं सर्व वैभव-सम्पन्न राजा दुर्योधन है। यह इतिहास प्रसिद्ध है कि वह इस युद्ध में पराजित हुआ था। युद्ध के प्रति विरक्ति उत्पन्न करने के लिए यह आवश्यक है कि कौरव-वंश और दुर्योधन के कारुणिक चित्र प्रस्तुत किये जाएं। नाटककार ने ऐसा ही किया है। कौरव-वंश के पतन और नाश का वर्णन करते समय नाटककार ने कौरव-नगरी का ध्वंस, कौरव-बधुओं का वैधव्य तथा राजा धृतराष्ट्र और गांधारी की मनोव्यथा का चित्रण किया है। कौरव-नगरी, जो कभी पूर्ण वैभव-सम्पन्न थी, बिल्कुल उजड़ गई हे। उसके महल और गलियारे नितान्त सूने और भयावह बन गये हैं, जिन पर गिद्धों की पंक्तियां मंडराने लगी हैं। ये गलियारे इतने सूने है कि प्रहरी भी इनसे पहरा देते-देते अपने जीवन की आस्था, साहस, श्रम और स्वयं अपने अस्तित्व को ही निरर्थक समझ बैठे हैं–

'जिसने अब हमको थका डाला है
मेहनत हमारी निरर्थक थी
आस्था का,
साहस का,
श्रम का,
अस्तित्व का हमारे
कुछ अर्थ नहीं था
कुछ भी अर्थ नहीं था।'

इन गलियों का सूना और भयावह होना भी स्वाभाविक ही है, क्योंकि इनमें बने महलों में रहने वाली अब कौरव-बधुओं का वह वैभव भी तो नहीं रह गया है। वे आज विधवा हैं–

'सूने गलियारे में
जिसके इन रत्न-जटित फर्शों पर
कौरव-बधुएं

नोट

मंथर-मंथर गति से
सुरभित पवन तरंगों सी चलती थीं
आज वे विधवा हैं!'

यद्यपि यह कहा जा सकता है कि महाभारत के युद्ध के यहाँ अनेक कारण थे, उनमें एक कारण था धृतराष्ट्र और गांधारी की अपने पुत्रों के प्रति अपार ममता। इसी ममता के वशीभूत होकर वे अपने पुत्रों की दुर्नीतियों को सहन ही नहीं करते रहे, वरन् उनका समर्थन भी करते रहे। यदि वे उनका समर्थन न करते तो सम्भव था कि समूचे विश्व को ध्वस्त करने वाला यह भीषण युद्ध टल जाता। अपने पुत्रों को युद्ध की ज्वाला में स्वाहा करके ही धृतराष्ट्र को वास्तविकता का भान हुआ। अपनी गलतियों का प्रायश्चित करते हुए वे विदुर से कहते हैं–

'आज मुझे भान हुआ
मेरी वैयक्तिक सीमाओं के बाहर भी
सत्य हुआ करता है
आज मुझे भान हुआ।
सहसा यह उगा कोई बांध टूट गया है
कोटि-कोटि योजन तक दहाड़ता हुआ समुद्र
मेरे वैयक्तिक अनुमानित सीमित जग को
लहरों की विषमय जिह्वाओं से निगलता हुआ
मेरे अन्तर्मन में पैठ गया
सब कुछ बह गया
मेरे अपने वैयक्तिक मूल्य
मेरी निश्चित किंतु ज्ञानहीन आस्थाएं।'

गांधारी महाभारत का सारा उत्तरदायित्व कृष्ण के सिर पर थोपती है और उसी को बार-बार दोष देती हैं। पर उसके इस आक्रोश में भी युद्ध के प्रति वितृष्णा का भाव ही झलकता है। वह विदुर से कहती–

'सत्रह दिन के अन्दर
मेरे सब पुत्र एक-एक कर मारे गए
अपने इन हाथों से
मैंने उन फूलों सी वधुओं की कलाइयों से
चूड़ियां उतारी हैं
अपने इस आंचल से
सेंदुर की रेखाएं पोंछी हैं।'

दुर्योधन समूचे महाभारत का कर्णधार है। वह सर्वाधिक वैभव और प्रभुत्व-सम्पन्न राजा है। उसकी युद्ध में पराजित होकर जो दुर्गति हुई है, उसका नाटककार ने अनेक स्थलों पर बड़ा ही मार्मिक चित्रण किया है। संजय ने महाभारत के रणक्षेत्र में दुर्योधन की जो दशा देखी है, उसे वह किस प्रकार धृतराष्ट्र और गांधारी से कह सकेगा, यही चिंता उसे बार-बार झकझोर रही है–

'कैसे बताऊंगा?
वह जो सम्राटों का अधिपति था
खाली हाथ

नोट

नंगे पांव
रक्त सने
फटे हुए वस्त्रों में
टूटे रथ के समीप
खड़ा था निहत्था ही;
अश्रु भरे नेत्रों से
उसने मुझे देखा
और माथा झुका लिया
कैसे कहूंगा
मैं जाकर उन दोनों से
कैसे कहूंगा?'

दुर्योधन के विगत अपार वैभव की पृष्ठभूमि में यदि उसकी उपर्युक्त दशा का चिन्तन किया जाय तो पाषाण हृदय भी पिघल जायेगा और सभी के मन में युद्ध के प्रति विरक्ति का भाव जागृत होगा। इसी प्रकार–

'मैंने अभी देखा दुर्योधन को
जिसके मस्तक पर
मणिजटित राजछत्रों की छाया थी
आज उसी मस्तक पर
गंदले पानी की
एक चादर है।'

युद्ध में पराजित होकर अपने प्राण बचाने के लिए दुर्योधन एक सरोवर में जा छिपा था। वहीं अश्वत्थामा ने उससे भेंट की। उपर्युक्त वर्णन अश्वत्थामा ही कर रहा है। दुर्योधन की यह दशा युद्ध की भयावहता का साकार चित्र उपस्थित करती है और उसके प्रति मन में घृणा उत्पन्न करती है। दुर्योधन से सम्बद्ध एक घटना और है: कृपाचार्य रणक्षेत्र में घायल पड़े हुए दुर्योधन को देखकर आया है। वह एकदम असहाय होकर पड़ा है और हिंसक पशु-पक्षी उसका मांस खाने के लिये लालायित होकर ताक लगा रहे हैं। कृतवर्मा और अश्वत्थामा से कृपाचार्य उसी हृदयविदारक दृश्य का वर्णन कर रहा है–

देख नहीं सका मैं
और देर तक वह भयानक दृश्य।
कोटर से झांक रहे थे
दो खूंखार गिद्ध!
इस झाड़ी से उस झाड़ी में थे
घूम रहे
गीदड़ और भेड़िये
जीभें निकाले
लोलुप नेत्रों से
देखते हुए अपलक
राजा दुर्योधन को।'

नोट

द्वंद्वयुद्ध में भीम से पराजित दुर्योधन की जिस दशा का वर्णन अश्वत्थामा कृपाचार्य और कृतवर्मा से करता है, वह भी इसी प्रकार हृदय को हिला देने वाला है–

'कैसे अधर्मयुक्त बार से
दुर्योधन को नीचे गिरा दिया भीम ने
टूटी जांघों, टूटी कोहनी, टूटी गर्दन वाले
दुर्योधन के माथे पर रखकर पांव'
पूरा बोझ डाले हुए भीम ने
बाँहें फैलाकर पशुवत घोर नाद किया
कैसे दुर्योधन की दोनों कनपटियों पर
दो दो नसें सहसा फूलीं और फूट गयीं
कैसे होंठ खिंच आये
टूटी हुई जांघों में एक बार हरकत हुई
आंखें खोल
दुर्योधन ने देखा
अपनी प्रजाओं को।'

कितना मर्मान्तक वर्णन है यह! जो दुर्योधन इतना शक्ति और वैभव-सम्पन्न था, जिसके स्वर्णिम स्वप्नों की कोई सीमा न थी, उसका इतना दुखपूर्ण अन्त! इस अन्त को देख या सुनकर कौन ऐसा अज्ञानी व्यक्ति होगा जो युद्ध की ओर अग्रसर होगा, उससे विमुख न होगा।

नोट्स अंधायुग में नाटककार ने अपने भावों को अत्यन्त सफल एवं प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति प्रदान की है। इस दिशा में वह अपने लक्ष्य में पूर्ण रूप से सफल हुआ है।

18.2.2 कलापक्ष

भावपक्ष चाहे जितना समृद्ध हो, यदि उसको व्यक्त करने वाला कलापक्ष दुर्बल है तो उसकी समृद्धि का कोई प्रभाव पाठकों अथवा श्रोताओं पर नहीं पड़ता। कलापक्ष के अन्तर्गत भाषा, गुण, अलंकार आदि आते हैं। जहाँ तक प्रस्तुत नाटक का सम्बन्ध है, वह सर्वत्र भावानुकूल और प्रसाद गुण से सम्पन्न है। कहीं भी इसमें दुरुहता दृष्टिगोचर नहीं होती। सरलतम शब्दावली में भावों की पूर्णाभिव्यक्ति इस नाटक की भाषा की प्रमुखतम विशेषता है। यथा–

डरने में
उतनी यातना नहीं है
जितने वह होने में जिससे
सबके सब केवल भय खाते हों।
वैसा ही मैं हूँ आज
ये हैं महल
मेरे पिता, मेरी माता के
लेकिन कौन जाने

नोट

यहां स्वागत हो
मेरा
एक जहर बुझे भाले से।'

इन पंक्तियों में युयुत्सु के मन के अन्तर्द्वन्द्व को बड़ी ही सफलता से और सरलतम शब्दावली में व्यक्त कर दिया गया है। और–

'मैं संजय हूँ
जो कर्मलोक से बहिष्कृत है
मैं दो बड़े पहियों के बीच लगा हुआ
एक छोटा निरर्थक शोभा चक्र हूँ
जो बड़े पहियों के साथ घूमता है
पर रथ को आगे नहीं बढ़ाता
और न धरती ही छू पाता है!
और जिसके जीवन का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह है
कि वह धुरी से उतर भी नहीं सकता।'

इन पंक्तियों में संजय का वैविध्यपूर्ण व्यक्तित्व और उसकी उलझनें साकार हो उठी हैं।

टास्क 'अंधायुग' के नामकरण की सार्थकता समझाइए।

ध्वनि-रूपक में शब्दों और ध्वनियों के द्वारा विधान करना आवश्यक होता है। दृश्य-विधान का तात्पर्य है शब्दों और ध्वनियों का ऐसा प्रयोग करना कि श्रोता की आंखों के सामने सुनकर ही सहजरूप से वर्ण्य-दृश्य साकार हो उठे। प्रस्तुत नाटक की भाषा में यह विशेषता सर्वत्र परिलक्षित होती है। यथा–

'प्रहरी 1–सुनते हो
कैसी यह ध्वनि यह
भयावह?
प्रहरी 2– सहसा अंधियारा क्यों होने लगा
देखो तो
दीख रहा है कुछ
प्रहरी 1– अंधे राजा की प्रजा कहां तक देखे?
दीख नहीं पड़ता कुछ
हां, शायद बादल है
प्रहरी 2– बादल नहीं है
ये गिद्ध हैं
लाखों करोड़ों
पांखें खोले

नोट

प्रहरी 1– लो
सारी कौरव–नगरी
का आसमान
गिद्धों ने घेर लिया
प्रहरी 2– झुक जाओ
झुक जाओ
ढालों के नीचे
छिप जाओ
नरभक्षी हैं
ये गिद्ध भूखे हैं।
प्रहरी 1– लो ये मुड़ गए
कुरुक्षेत्र की दिशा में
प्रहरी 2– मौत जैसे
ऊपर से निकल गई।'

कौरव के सूने महलों का जब दो प्रहरी पहरा दे रहे थे, तभी गिद्धों का एक समूह आता है जो कौरव–नगरी पर मंडरा कर युद्धक्षेत्र की ओर मुड़ जाता है। गिद्धों के आने की ध्वनि से लेकर उनका रणक्षेत्र की ओर मुड़ जाने तक का वर्णन नाटककार ने इस प्रकार किया है कि उनकी प्रत्येक गति का चित्र सुनकर ही सामने आता जाता है। साथ ही उन गिद्धों की भयानकता का भी बोध हो जाता है। इसी प्रकार–

'वह था प्रभास वन-क्षेत्र, महासागर तट पर
नभचुम्बी लहरें रह-रह खाती थीं पछाड़
था घुला समुद्री फेन समीर झकोरों में
बह चली हवा, वह खड़-खड़ खड़ कर उठे ताड़
थी वनतुलसा की गंध वहां, था पावन छायामय पीपल
जिसके नीचे धरती पर बैठे थे प्रभु शांत, मौन, निश्चल
लगता था कुछ-कुछ थका हुआ वह नील मेघ-सा तन साँवल
माला के सबसे बड़े कमल में बची एक पंखुरी केवल
पीपल के दो चंचल पातों की छायाएं
रह-रह उनके कंचन माथे पर खिलती थीं
वे पलकें दोनों तन्द्रालस थीं अधखुल थीं
जो नीलकमल की पंखुरियों-सी खिलती थीं।'

अपने वंश का नाश करके जब कृष्ण प्रभास–वन में जाकर चिन्ता और प्रायश्चित के भार से दब कर बैठे, यह उस समय का वर्णन है। इस वर्णन में वहाँ की प्रकृति, उसमें बैठे कृष्ण और कृष्ण की चिन्ता के सारे भाव साकार हो उठे हैं।

नोट

स्व-मूल्यांकन

रिक्त स्थान की पूर्ति करें–

1. 'भारती के महत्त्वपूर्ण प्रबंधकाव्य कनुप्रिया में ..... के प्रेम का वर्णन है।
2. अंधायुग नाटक महाभारत के ..... दिन की घटना पर आधारित है।
3. अंधायुग के माध्यम से कवि ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि महाभारत कौरव-पांडव का यु न होकर केवल ..... का युद्ध था। जिसमें विवेक पराजित हुआ।
4. अंधायुग ..... शैली में लिखा गया है।

व्यंग्यात्मकता भी भाषा की महान शक्ति होती है। इससे भावों में अधिक प्रभावशीलता आती है। इस नाटककार की भाषा में यह शक्ति भी प्रचुरता से मिलती है। युयुत्सु युधिष्ठिर की ओर से लड़ाई में लड़कर तथा विजय होकर अपनी माता गांधारी के पास पहुंचता है तो गांधारी कितनी व्यंग्यपूर्ण भाषा में उससे बातें करती है, निम्नलिखित पंक्तियों से स्पष्ट है–

'बेटा
भुजाएं ये तुम्हारी
पराक्रम भरी
थकी तो नहीं
अपने बंधुजनों का
वध करते-करते?
पांडव के शिविरों के वैभव के बाद
तुम्हें अपना नगर तो
श्रीहत-सा लगता होगा?
चुप क्यों हो?
थका हुआ होगा यह
विदुर इसे फूलों की शय्या दो
कोई पराजित दुर्योधन नहीं है यह
सोये जो जाकर
सरोवर की
कीचड़ में।'

इस नाटक की भाषा में अलंकारों का भी समुचित विधान है। अलंकार केवल भाषा के सौन्दर्य-प्रसाधन के लिए नहीं होते, वरन् भावों की श्रीवृद्धि भी करते हैं। यही अलंकारों का समुचित प्रयोग है। प्रस्तुत नाटक के रचयिता ने सायास अलंकारों का प्रयोग कहीं भी नहीं किया है। भाषा और भावों की स्वाभाविकता के कारण जहाँ अलंकार स्वयमेव आ गये हैं, वहीं उन्हें स्थान मिला है। यथा–

'कौरव-वधुएँ
मंथर-मंथर गति से
सुरभित पवन-तरंगों सी चलती थीं।'

में कौरव-वधुएँ उपमेय, पवन-तरंग उपमान, 'सी' वाचक शब्द और 'चलती थीं' साधारण धर्म है। अत: उपमा अलंकार है। इस अलंकार के द्वारा यहाँ कौरव-वधुओं का समूचा वैभव, विलास एवं अल्हड़ यौवन साकार हो उठा है। और–

नोट

'संस्कृति थी यह एक बूढ़े और अंधे की
जिसकी सन्तानों ने
महायुद्ध घोषित किए,
जिसके अंधेपन में मर्यादा
गलित अंग वैश्या-सी
प्रजाजनों को भी रोगी बनाती फिरी।'

में उपमा का बहुत ही सार्थक एवं भावपूर्ण प्रयोग है। और–

'वह संजय भी
इस मोह-निशा से घिरकर
है भटक रहा
जाने किस कंटक पथ पर।'

में रूपक अलंकार का भावपूर्ण प्रयोग है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत कृति में भावपक्ष और कलापक्ष दोनों का ही समुचित रूप से सामंजस्य हुआ है। दोनों ही समान रूप से समृद्ध हैं। अत: कहा जा सकता है कि काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से यह कृति पूर्ण रूप से सफल है।

18.3 सारांश

धर्मवीर भारती का जन्म सन् 1926 ई. में इलाहाबाद में हुआ। इन्होंने हिंदी में एम.ए. करने के पश्चात् डॉक्टरेट की उपाधि भी प्राप्त की। प्रारंभ में ये इलाहाबाद विश्वविद्यालय में हिंदी के प्राध्यापक रहे। सन् 1987 तक 'ध र्मयुग' के संपादक रहे। कवि के साथ-साथ ये विशिष्ट कथाकार एवं समीक्षक भी थे। 'भारती' की काव्योपलब्धि याँ वास्तव में उनकी परवर्ती कृतियों–अंधा युग, कनुप्रिया और सात गीत वर्ष में दिखाई पड़ती हैं।

'भारती' के काव्य की एक बहुत बड़ी विशेषता है– उसकी मूर्त्तता और पारदर्शिता, जो उनके परवर्ती गंभीर और चिंतन-संवलित काव्यों में भी लक्षित होती है।

धर्मवरी भारती का महत्त्वपूर्ण प्रबंधकाव्य कनुप्रिया राधा के प्रेम-संवेदन के माध्यम से जीवन को समझाने का एक सफल प्रयत्न है। 'कनुप्रिया' पूर्णमान्य रूप में नहीं, एक नये अर्थ में प्रबन्धकाव्य है। इसमें कृष्ण के साथ बीते राधा के तन्मय क्षणों की विभिन्न स्थितियों को रूप देना ही कवि को अभिप्रेत है, कोई कथा कहना नहीं। राधा को आशंका नहीं होती; यहाँ तक कि जब कृष्ण सेनानायक, महाराज और दुनिया की नजरों में महान बन गये हैं तो भी राधा अपने सत्य को झुठलानी नहीं। उसे जिये हुए सत्य के अतिरिक्त ऐसा कोई सत्य नहीं दीखता जो उसके अपने लिए सार्थक हो।

अंधायुग नाटक का प्रारम्भ बड़े ही मार्मिक ढंग से, प्रतिपाद्य के अनुसार, उसे अधिक मार्मिक एवं हृदयविदारक संस्पर्श देकर होता है। प्रथम अंक में, सबसे पहले कौरव-नगरी के सूनेपन का चित्रण किया गया है जिसका कारण है वह भयानक युद्ध जिसमें मर्यादा की हत्या हुई और दोनों ही पक्षों को–चाहे वह सत्य पर आधारित था या असत्य पर–भयंकर हानि हुई। वस्तुत: यह युद्ध कौरव और पाण्डवों का युद्ध न होकर केवल अज्ञानता का युद्ध था जिससे विवेक पराजित हुआ और अज्ञान विजयी बना।

अंधायुग में नाटककार ने अपने भावों को अत्यन्त सफल एवं प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति प्रदान की है। इस दिशा में वह अपने लक्ष्य में पूर्ण रूप से सफल हुआ है।

नोट

कलापक्ष के अन्तर्गत भाषा, गुण, अलंकार आदि आते हैं। जहाँ तक प्रस्तुत नाटक का सम्बन्ध है, वह सर्वत्र भावानुकूल और प्रसाद गुण से सम्पन्न है। कहीं भी इसमें दुरुहता दृष्टिगोचर नहीं होती। सरलतम शब्दावली में भावों की पूर्णाभिव्यक्ति इस नाटक की भाषा की प्रमुखतम विशेषता है।

व्यंग्यात्मकता भी भाषा की महान शक्ति होती है। इससे भावों में अधिक प्रभावशीलता आती है। इस नाटककार की भाषा में यह शक्ति भी प्रचुरता से मिलती है।

इस नाटक की भाषा में अलंकारों का भी समुचित विधान है। अलंकार केवल भाषा के सौन्दर्य-प्रसाधन के लिए नहीं होते, वरन् भावों की श्रीवृद्धि भी करते हैं। यही अलंकारों का समुचित प्रयोग है। प्रस्तुत नाटक के रचयिता ने सायास अलंकारों का प्रयोग कहीं भी नहीं किया है। भाषा और भावों की स्वाभाविकता के कारण जहाँ अलंकार स्वयमेव आ गये हैं, वहीं उन्हें स्थान मिला है।

अंधायुग में भावपक्ष और कलापक्ष दोनों का ही समुचित रूप से सामंजस्य हुआ है। दोनों ही समान रूप से समृद्ध हैं। अत: कहा जा सकता है कि काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से यह कृति पूर्ण रूप से सफल है।

18.4 शब्दकोश

1. **मर्मांतक–** मर्मभेदी
2. **संवलित–** संकलन किया हुआ, घिरा हुआ, युक्त
3. **दुरूह–** कठिन

18.5 अभ्यास-प्रश्न

1. धर्मवीरभारती की काव्य कला का मूल्यांकन कीजिए।
2. धर्मवीरभारती के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डालिए।

उत्तर: स्व-मूल्यांकन

1. राधा-कृष्ण 2. अट्गरहवाँ 3. अज्ञानता 4. गीति-नाट्य

18.6 संदर्भ पुस्तकें

पुस्तकें

1. *धर्मवीर भारती की साहित्य साधना–* सम्पादक: पुष्पा भारती, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली।
2. *हिंदी नाट्य काव्य:* पुनर्मूल्यांकन–हुकमचंद राजपाल, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली।
3. *अंधायुग–* धर्मवीर भारती, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली।

नोट

इकाई 19: अंधायुग– प्रमुख पात्रों का चरित्र-चित्रण

अनुक्रमणिका

उद्देश्य

प्रस्तावना

19.1 अंधायुग– प्रमुख पात्रों का चरित्र-चित्रण

19.1.1 अश्वत्थामा

19.1.2 युधिष्ठिर

19.1.3 धृतराष्ट्र

19.1.4 कृष्ण

19.1.5 गांधारी

19.2 सारांश

19.3 शब्दकोश

19.4 अभ्यास-प्रश्न

19.5 संदर्भ पुस्तकें

उद्देश्य

विद्यार्थी इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् सक्षम होंगे–

- अंधायुग नाटक के प्रमुख पात्रों से परिचित होंगे।

प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में धर्मवीर भारती के गीतिनाट्य 'अंधायुग' के प्रमुख पात्रों का चरित्र-चित्रण दिया जा रहा है।

19.1 अंधायुग– प्रमुख पात्रों का चरित्र-चित्रण

19.1.1 अश्वत्थामा

अश्वत्थामा गुरु द्रोण के एकमात्र पुत्र हैं और दुर्योधन के सबसे अधिक विश्वासपात्र मित्र। जब महाभारत में दुर्योध न पराजित हो जाता है तो इन्हें इतना दुख होता है कि ये अपने धनुष को तोड़ कर वन की ओर भाग जाते हैं। इन्हें इस बात का बहुत अधिक दु:ख है कि ये अपने मित्र की सहायता करके उसे विजेता न बना सके। अपनी मानसिक स्थिति का वर्णन स्वयं इन्होंने ही इन शब्दों में किया है–

यह मेरा धनुष है
धनुष अश्वत्थामा का
जिसकी प्रत्यंचा खुद द्रोण ने चढ़ाई थी
आज जब मैंने

नोट

दुर्योधन को देखा
निःशस्त्र, दीन
आंखों में आंसू भरे
मैंने मरोड़ दिया
अपने इस धनुष को।

अश्वत्थामा को इस बात पर बहुत आक्रोश है कि उसके पिता का धोखे से वध किया गया और सत्यवादी बने हुए युधिष्ठिर ने भी उनके वध के लिए झूठ बोला। इसलिए वह मानता है कि युधिष्ठिर सत्यवादी नहीं वरन् पाखण्डी है और इस भावना ने उसके मन पर इतना प्रबल आघात किया कि उसका सारा मनुष्यत्व ही समाप्त हो गया। वह अपने मानसिक परिवर्तन को इन शब्दों में स्वीकार करता है कि–

"उस दिन से
मेरे अन्दर भी
जो शुभ था, कोमलतम था
उसकी भ्रूण हत्या
युधिष्ठिर के
अर्द्ध सत्य ने कर दी
धर्मराज होकर वे बोले
"नर या कुंजरु"
मानव को पशु से
उन्होंने पृथक नहीं किया
उस दिन से मैं हूँ
पशु मात्र, अन्ध बर्बर पशु"

प्रतिशोध की अग्नि में अश्वत्थामा इतनी भयानकता से जलता है कि वह कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य को बिल्कुल ही भूल जाता है। उसे केवल दूसरे की हत्या करना ही अपना कर्त्तव्य दिखाई देता है चाहे उसका कोई कारण हो या न हो। वह कृपाचार्य से स्पष्ट रूप से कह देता है कि उसकी मानसिक स्थिति इतनी असंतुलित हो गई है कि वध उसके लिए नीति न रहकर मनोग्रन्थि बन गया है–

"मैं क्या करूँ?
मातुल,
मैं क्या करूं?
वध मेरे लिए नहीं रही नीति
वह हैं अब मेरे लिए मनोग्रंथि"

अश्वत्थामा युधिष्ठिर के झूठ से इतना चिढ़ गया है कि उसे किसी का तनिक-सा झूठ भी सहन नहीं होता। इसीलिए वह वृद्ध याचक का गला दबा देता है। वृद्ध याचक का दोष इतना ही था कि उसने दुर्योधन की विजय की जो भविष्यवाणी की थी वह असत्य सिद्ध हुई। प्रतिशोध की भावना के कारण अश्वत्थामा प्रायः विक्षिप्त-सा हो जाता है। उसे अहर्निश यही चिंता रहती है कि वह किस प्रकार से पाण्डवों से प्रतिशोध ले। एक दिन बलराम और कृष्ण की बातों को सुनकर वह यह निश्चय कर लेता है कि वह रात को पाण्डव-शिविरों पर धोखे से आक्रमण करेगा और पाण्डव-वंश को निर्मूल कर देगा। अपनी इस योजना के प्रति वह दृढ़ प्रतिज्ञ हो जाता है कि जब कृतवर्मा उसे उस लज्जाजनक और अधर्मयुक्त कार्य के लिए फटकारता है तो वह उसी से युद्ध करने के लिए तैयार हो जाता है। वह किसी का भी उपदेश सुनना पसन्द नहीं करता। उसे केवल अपने पिता और अपने मित्र दुर्योधन के वध का प्रतिशोध ही दिखाई पड़ता है। वह जानता है कि इस दुनिया में विजयी वही होता है, जो अधर्म का आश्रय

नोट

लेता है। फिर वही क्यों धर्म के पीछे पड़ा रहे–

"सुनते हो पिता
मैं इस प्रतिहिंसा में
बिल्कुल अकेला हूँ
तुमको मारा धृष्टद्युम्न ने अधर्म से
भीम ने दुर्योधन को मारा अधर्म से
दुनिया की सारी मर्यादा बुद्धि
केवल इस निपट अनाथ अश्वत्थामा पर ही
लादी जाती है।"

अश्वत्थामा को जब दुर्योधन अपना सेनापति नियुक्त करता है तो वह अश्वत्थामा से कहता है कि जब तक वह पाण्डवों से बदला लेकर उसका समाचार उसे न सुना देगा तब तक वह जीवित रहेगा। अश्वत्थामा को अपने मित्र के ये शब्द बार-बार याद आते हैं और इन्हें पूर्ण करने के लिए वह कृपाचार्य और कृतवर्मा द्वारा विरोध किये जाने पर भी अकेला ही पाण्डव-शिविर पर आक्रमण कर देता है। इसके वीर-रूप का वर्णन संजय ने इन शब्दों में किया है–

"धुआं, लपट, लोथें, घायल घोड़े, टूटे रथ
रक्त, मेद, मज्जा, मुंड,
खंडित कबंधों में
टूटी पसलियों में
विचरण करता था अश्वत्थामा
सिंहनाद करता हुआ
नर-रक्त से वह तलवार उसके हाथों में
चिपक गई थी ऐसे
जैसे वह उगी हो
उसी के भुजमूलों में।"

कहने का तात्पर्य यह है कि प्रेम और वीरता ये दो भाव अश्वत्थामा के चरित्र के मुख्य अंग है। वह दुर्योधन तथा अपने पिता से प्रेम करता है और इन्हीं की मृत्यु का प्रतिशोध लेने के लिए वह उचित तथा अनुचित का भी ख्याल नहीं करता, जिसके लिए उसे कृष्ण के शाप की अथाह एवं निरंतर वेदना सहन करनी पड़ती है। वह वीर है और इसी कारण युद्ध में कहीं भी तथा किसी से भी जूझने की क्षमता रखता है।

19.1.2 युधिष्ठिर

युधिष्ठिर के चरित्र का अंकन भी ऐतिहासिक परम्पराओं के अनुरूप ही हुआ है। ये पाण्डवों में सबसे बड़े हैं, पर अपना अधिकार छिन जाने पर भी ये शान्त हैं। कृष्ण के कहने पर, बल्कि बहुत आग्रह करने पर इन्होंने महाभारत में केवल एक ही बार झूठ बोला था, जिससे अश्वत्थामा को बहुत चिढ़ है, क्योंकि वही झूठ तो उसके पिता की मृत्यु का कारण बनी थी और जिसके कारण उसे युधिष्ठिर से घृणा है। इसी घृणा के कारण उसका जीवन ही बदल गया है जिसको अश्वत्थामा ने अनेक स्थानों पर स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है–

अर्द्ध सत्य से ही
युधिष्ठिर ने उनका
वध कर डाला।
उस दिन से
मेरे अन्दर भी

नोट

जो शुभ था, कोमलतम था
उसकी भ्रूण हत्या
युधिष्ठिर के अर्द्ध सत्य ने कर दी।
\+ + +
मैं क्या करूँगा
हाय मैं क्या करूँगा?
वर्तमान में जिसके
मैं हूँ और मेरी प्रतिहिंसा है।!
एक अर्द्ध सत्य ने युधिष्ठिर के
मेरे भविष्य की आत्महत्या कर डाली है।'

युधिष्ठिर को अश्वत्थामा की इस घृणा का पता हो या न हो, पर इतना निश्चित है कि महाभारत के भीषण युद्ध ने उनकी आत्मा को झकझोर ही दिया है। वे विजेता होकर भी प्रसन्न नहीं है। उन्हें लगता है कि युद्ध ने उनके जीवन की आंतरिक शांति को बिल्कुल छीन लिया है और वे मानव न रहकर एक हिंसक पशुमात्र रह गये हैं जो अपने भोग के लिए निर्मम से निर्मम हत्या करने में भी नहीं हिचकिचाता। महाभारत का युद्ध जैसे ही समाप्त होता है, युधिष्ठिर के मन की अशान्ति वैसे ही पनप उठती है। वे सोचते हैं कि महाभारत जैसा भयानक महायुद्ध जीत कर भी वे पराजित ही हुए हैं जिसके कारण उन्हें भीषण यातना भोगनी पड़ रही है–

'ऐसे भयानक युद्ध को
अर्द्ध सत्य, रक्तपात, हिंसा से जीतकर
अपने को बिल्कुल हारा हुआ अनुभव करना
यह भी यातना ही है।'

युद्ध में विजय प्राप्त करने के पश्चात् युधिष्ठिर के अन्य भाई बड़े घमंडी और दुर्विनीत बन गये हैं। भीम तो आठों पहर युयुत्सु का ही अपमान करके आनन्द प्राप्त करता रहता है। यह भी युधिष्ठिर के दुख का कारण है। वे सोचते हैं कि अपने जिन परिवार वालों के लिए उन्होंने इतना भयंकर युद्ध लड़ा, वे सब-के-सब या तो दुर्विनीत हैं या जर्जर हैं, इससे अधिक दुख का कारण और क्या हो सकता है–

'जिनके लिए युद्ध किया है
उनको यह माना कि वे सब कुटुम्बी अज्ञानी हैं,
जड़ हैं, दुर्विनीत हैं, या जर्जर हैं।'

युधिष्ठिर मानते हैं कि सिंहासन प्राप्त करने के लिए जो युद्ध किये जाते हैं, वस्तुतः वे मनुष्य के मनुष्यत्व के द्योतक नहीं, वरन् उसके पशुत्व को ही प्रगट करते हैं, उसके अन्धेपन की परम्परा की घोषणा करते हैं–

'सिंहासन प्राप्त हुआ है जो
यह मान कि उसके पीछे अंधेपन की
अटल परम्परा है।'

इन्हीं बातों को सोचकर युधिष्ठिर का मन संसार से विरक्त हो जाता है, राज्य का सुख-भोग उन्हें विष के समान कटु और घातक प्रतीत होता है। महाराज धृतराष्ट्र कुन्ती तथा गांधारी के दाह के बाद तो इनकी यह विरक्ति इतनी बढ़ जाती है कि हिमालय पर गल जाने के अतिरिक्त इन्हें और कोई रास्ता ही नहीं सूझता–

'नहीं! नहीं!
जाने दो
मुझको गल जाने दो हिमालय के शिखरों पर।'

नोट

उनके इस निश्चय को सुनकर जब विदुर यह कहते हैं कि ऐसा कार्य तो आत्मघात ही कहलायेगा, जो बड़ा भारी पाप है, तो युधिष्ठिर अपनी समूची वितृष्णा को इन शब्दों में उडेल देने हैं–

'और विजय क्या है?
एक लम्बा और धीमा
और तिल-तिलकर फलीभूत
होने वाला आत्मघात
और पथ कोई भी शेष
नहीं है अब मेरे आगे।'

कहने का भाव यह है कि युधिष्ठिर के चरित्र का केवल एक ही अंग इस नाटक में प्रकट हो सका है और वह है युद्ध के प्रति घृणा का भाव। एक धर्मराज के मन में ऐसी घृणा होनी स्वाभाविक भी है।

टास्क युधिष्ठिर के 'अर्धसत्य' पर टिप्पणी कीजिए।

19.1.3 धृतराष्ट्र

धृतराष्ट्र अन्धे हैं, पर अपने पुत्रों के प्रति अपार ममता से इनका हृदय ओतप्रोत है। इस ममता में ये इतने डूबे हुए हैं कि उचित-अनुचित का ध्यान न करके सदा दुर्योधन के कार्यों को, चाहे वे कितने ही अनुचित हों, बढ़ावा देते रहते हैं। इन्हें कभी यह अनुभव नहीं हुआ कि इनकी यह अन्धी ममता एक दिन उनके ही सर्वनाश का कारण बनेगी। जब महाभारत के अट्ठारहवें दिन इनके सभी पुत्र मारे जाते हैं तो इनके मन में पहली बार आशंका उत्पन्न होती है जिसका वर्णन ये विदुर से करते हैं–

'विदुर!
जीवन में प्रथम बार
आज मुझे आशंका व्यापी है।'

विदुर का यह सोचना भी ठीक है कि यदि यह आशंका जो अन्य जनों को वर्षों से झकझोकर रही थी, इन्हें पहले हो जाती तो संभवत: महाभारत का युद्ध ही न होता–

'आशंका!
आपको जो व्यापी है आज
वह वर्षों पहले हिला गई थी सबको।'

इसमें संदेह नहीं है कि धृतराष्ट्र अपने पुत्रों को अपार प्रेम करते थे और इसीलिए उत्तरा के गर्भनाश की सूचना सुनकर इन्हें सुख ही हुआ था, जिसे इन्होंने अपने एकमात्र जीवित पुत्र युयुत्सु से इस प्रकार व्यक्त किया था–

'वत्स तुम मेरी आयु लेकर भी
जीवित रहो
अश्वत्थामा का ब्रह्मास्त्र
यदि गिरा है उत्तरा पर,
तो कौन जाने एक दिन युधिष्ठिर
सब राजपाट तुमको ही सौंप दें।'

पर इन्हें अपनी गलती मानने में भी हिचक नहीं होती। महाभारत के अन्तिम दिन ही वे समझ पाते हैं कि इनके पुत्रों का नाश इनकी ही अदूर-दर्शिता के कारण हुआ। अपनी गलती को विदुर के सामने स्वीकार करते हुए ये कहते हैं–

नोट

'पर वह संसार
स्वतः मेरे अंधेपन से उपजा था।
मैंने अपने ही वैयक्तिक संवेदन से जो जोता था
केवल उतना ही था मेरे लिए वस्तु-जगत
इन्द्रजाल की माया–सृष्टि के समान
घने गहरे अंधियारे में
एक काले बिन्दु से
मेरे मन ने सारे भाव किये थे विकसित
मेरी सब वृत्तियाँ उसी से परिचालित थीं।'

\+ + +

शांत रहो,
शांत रहो,
गांधारी शांत रहो।
दोष किसी को मत दो
अंधा था मैं.....।

एक बात और, यद्यपि अपने पुत्रों की मृत्यु का इन्हें भी उतना ही दुख है जितना गांधारी को हे, तथापि इनके स्वभाव में अपेक्षाकृत अधिक धैर्य एवं गम्भीरता है। गांधारी बात-बात पर क्रुद्ध हो उठती है, पर धृतराष्ट्र का रोष कहीं भी प्रकट नहीं होता। ये अपने दुख से ज्वालामुखी की भाँति अन्दर-ही-अन्दर धधकते रहते हैं और अवसर मिलने पर इस जीवन से मुक्ति पाने को सहर्ष तत्पर हो जाते हैं–

'संजय
अब सब प्रयत्न व्यर्थ हैं!
छोड़ दो तुम मुझे यहीं,
जीवन भर मैं
अंधेपन के अंधियारे में भटका हूँ
अग्नि है नहीं, यह है ज्योति-वृत्त
देखकर नहीं यह सत्य ग्रहण कर सका तो आज
मैं अपनी वृद्ध अस्थियों पर
सत्य धारण करूँगा।
अग्निमाला-सा।'

कहने का तात्पर्य यह है कि धृतराष्ट्र के चरित्र मं यद्यपि वे दुर्बलताएँ विद्यमान हैं जो एक ममता-भरे बाप में होती हैं तथापि ये निस्संकोच उसके दुष्परिणामों को भी ग्रहण करते हैं यही इनके चरित्र की महानता है।

19.1.4 श्रीकृष्ण

भारतीय संस्कृति में कृष्ण का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है, इसलिए इनके अनेक रूपों का चित्रण भारतीय संस्कृति में हुआ है। पर इनके तीन रूप मुख्य हैं– भगवान्, योगिराज और राजनीतिज्ञ। भगवान् के रूप में इनका चित्रण वैष्णव-भक्ति के अन्तर्गत हुआ है। इनका यह रूप इतना अधिक ग्राह्य हुआ है कि भारत में भक्ति की जितनी भी धाराएं चली हैं, कृष्ण-भक्ति की धारा उनमें सबसे अधिक विशाल रही है। इनके विशुद्ध योगिराज-रूप का अपेक्षाकृत कम ही चित्रण हुआ है। राजनीतिज्ञ का पूर्ण रूप महाभारत में देखने को मिलता है। अपने समय की सारी राजनीति को ये अपनी उंगलियों पर कठपुतली की तरह नचाते दिखाई देते हैं। यही कारण है कि ये महाभारत के कर्णधार माने जाते हैं।

नोट

नोट्स महाभारत युद्ध की संपूर्ण राजनीति श्रीकृष्ण के इर्द-गिर्द नाचती दिखाई पड़ती है किन्तु भागवान के रूप में वैष्णव-भक्ति के रूप कृष्ण का चित्रण विशाल भारतीय जनता के हृदय में अधिक ग्राह्य है।

महाभारत में पांडव को विजय दिलाने के लिए इन्होंने क्या कुछ राजनीतिक दाँव-पेचों का सहारा नहीं लिया। यह तो सर्वविदित है कि अर्जुन प्रारम्भ में ही युद्ध से विरत हो गया था। उसे युद्ध में प्रवृत्त करने के लिए इन्होंने उसे कर्मयोग का उपदेश दिया। फिर भी इन्हें अर्जुन के ऊपर पूरा विश्वास नहीं हुआ। फलतः अर्जुन को कहीं दूर ले जाकर कौरवों को अवसर दिया कि वे इसके एकमात्र पुत्र अभिमन्यु का वध कर सकें। अपने पुत्र के वध के कारण अर्जुन के हृदय में प्रतिहिंसा और प्रतिशोध की भयंकर ज्वाला जल उठी। रणक्षेत्र में भीष्म, द्रोण, कर्ण, दुर्योधन आदि वीरों का अन्त कृष्ण की ही सूझबूझ के कारण हुआ।

प्रस्तुत नाटक में कृष्ण के दो रूप हैं– राजनीतिज्ञ और भगवान। राजनीतिज्ञ के कारण ये समूचे महाभारत के संचालक माने जाते हैं। इसीलिए अपने पुत्रों के नाश का दोष गांधारी बार-बार कृष्ण को ही देती है–

'इसमें संदेह है
और किसी का मत हो
मुझको है।
'अर्पित कर दो मुझको मनोबुद्धि'
उसने कहा है यह
जिसने पितामह के वाणों से
आहत हो
अपनी सारी ही
मनोबद्धि खो दी थी?
उसने कहा है यह,
जिसने मर्यादा को तोड़ा है बार-बार।'

महाभारत के युद्ध में कौरवों की पराजय के लिए कौरववंशी या उनके पक्ष वाले कृष्ण को ही श्रेय देते हैं। यदि कृष्ण पांडव-पक्ष में न होते तो पांडवों की कभी भी विजय नहीं हो सकती थी। कृष्ण ने ही विखं के माध्यम से भीष्म का वध कराया, युधिष्ठिर से झूठ बुलवाकर द्रोणाचार्य का वध कराया, कर्ण के कवच-कुण्डल मांगकर उसका वध कराया और भीम को अधर्मयुक्त वार का संकेत देकर दुर्योधन का वध कराया। कृष्ण जानते थे कि शत्रु का नाश करने के लिए राजनीति में सभी-कुछ करना उचित है। कृष्ण की इन कूटनीति भरी चालों से गांधारी इतनी खिन्न और आक्रोशमयी हो जाती है कि उसे धर्म, नीति, मर्यादा आदि सभी आडम्बरमात्र प्रतीत होती हैं–

'मैंने यह बाहर का वस्तु जगत अच्छी तरह जाना था
धर्म, नीति, मर्यादा यह सब है केवल आडम्बर मात्र,
मैंने यह बार-बार देखा था।'

विदुर के मन में आद्योपांत कृष्ण का भगवान-रूप ही व्याप्त रहता है। जब भी गांधारी आवेश में कृष्ण के लिए अनुचित शब्दों का प्रयोग करती है तो विदुर उसके लिए अपने प्रभु से क्षमा-याचना करते हैं। कृष्ण की भर्त्सना करती हुई जब गांधारी विदुर से कहती है कि जिसको तुम प्रभु कहते हो, वह वंचक है, क्योंकि अपने हित के लिए जब भी उसने चाहा मर्यादा के मानदण्ड ही बदल दिये, तो बिदुर का भक्त-हृदय अपने प्रभु से विनती करता है–

'यह कटु निराशा की
उद्धत अनास्था है!

नोट

क्षमा करो प्रभु!
यह कटु अनास्था भी अपने
चरणों में स्वीकार करो!
आस्था तुम लेते हो
लेगा अनास्था कौन?
क्षमा करो प्रभु
पुत्रशोक से जर्जर माता है गांधारी।'

यह बात नहीं कि गांधारी कृष्ण के भगवान-रूप से अपरिचित है। वह इसे भली प्रकार जानती है, किन्तु अपने पुत्रों की मृत्यु का मूल कारण कृष्ण को मानकर ही उनके प्रति रोष तथा आक्रोश से भरी हुई है। इसीलिए कृष्ण को शाप देती हुई कहती है–

'प्रभु हो या परात्पर हो
कुछ भी हो
सारा तुम्हारा वंश
इसी तरह पागल कुत्तों की तरह
एक दूसरे को परस्पर फाड़ खायगा
तुम खुद उनका विनाश करके कई वर्षों बाद
किसी घने जंगल में
साधारण व्याध के हाथों मारे जाओगे।'

भारतीय दर्शन के अनुसार, सभी कार्यों का कर्त्ता और उनका फल-भोक्ता केवल भगवान होता है। मनुष्य तो केवल माध्यम है। वह न तो कर्त्ता है और न भोक्ता। कृष्ण के भगवान-रूप का इस रूप में अनेक स्थानों पर उल्लेख प्रस्तुत कृति में किया गया है। यथा–

'माता!
प्रभु हूँ या परात्पर
पर पुत्र हूँ तुम्हारा तुम माता हो!
मैंन` अर्जुन से कहा
सारे तुम्हारे कर्मों का पाप-पुण्य, योगक्षेम में
वहन करूंगा अपने कन्धों पर
अट्ठारह दिनों के इस भीषण संग्राम में
कोई नहीं केवल मैं ही मरा हूँ करोड़ों बार
जितनी बार जो भी सैनिक धराशायी हुआ
कोई नहीं था
वह मैं ही था
गिरता या घायल होकर जो रणभूमि में।
अश्वत्थामा के अंगों से
रक्त, पीप, स्वेद बनकर बहूंगा
मैं ही युग-युगांतर तक
जीवन हूँ मैं
तो मृत्यु भी तो मैं ही हूँ मां!'

इस प्रकार हम देखते हैं कि कृष्ण का चरित्र-चित्रण भारतीय संस्कृति की परम्परा के अनुरूप ही हुआ है।

नोट

स्व-मूल्यांकन

सही विकल्प चुनिए–

1. युधिष्ठिर का अर्धसत्य किसकी मृत्यु से संबंधित है–
   (क) द्रोणाचार्य के पुत्र से (ख) अश्वत्थामा हाथी से (ग) अभिमन्यु से
2. महाभारत का युद्ध कितने दिन तक लड़ा गया।
   (क) चौदह दिन (ख) इक्कीस दिन (ग) अट्ठारह दिन
3. युयुत्सु किसका पुत्र है?
   (क) अर्जुन का (ख) गांधारी का (ग) द्रोणाचार्य का
4. गांधारी का शाप किससे संबंधित है–
   (क) कृष्ण से (ख) अर्जुन से (ग) युधिष्ठिर से

19.1.5 गांधारी

गांधारी वह अभागी माँ है, जिसके सौ पुत्र केवल अट्ठारह दिनों में ही उससे सदा के लिए बिछुड़ गये। इसलिए इसमें आक्रोश और परम्पराओं के प्रति घृणा का आ जाना स्वाभाविक ही है। यह हर बात पर इतनी अधिक उत्तेजित हो उठती है कि धृतराष्ट्र या विदुर को बार-बार इससे शान्त रहने का आग्रह करना पड़ता है। अपने पुत्रों के प्रति इन्हें अपार ममता है, इसलिए अनुचित और उचित का ध्यान भी इन्हें नहीं रहता। इनके एक पुत्र युयुत्सु ने युधि ष्ठिर के पक्ष को सत्य का पक्ष जानकर उसका साथ दिया था। जब वह विजयी होकर अपनी माँ गांधारी के पास आता है तो गांधारी उसको प्रेम से पुचकारती नहीं, बल्कि व्यंग्य-वाणों से आहत करती है–

'बेटा,
भुजाएँ ये तुम्हारी
पराक्रम भरी
थकी तो नहीं
अपने बंधुजनों का
बध करते-करते?
पांडव के शिविरों के वैभव के बाद
तुम्हें अपना नगर तो
श्रीहत-सा लगता होगा?
चुप क्यों हो?
थका हुआ होगा यह
विदुर इसे फूलों की शय्या दो
कोई पराजित दुर्योधन नहीं है यह
सोये जो जाकर
सरोवर की कीचड़ में।'

इन शब्दों में गांधारी का जो आक्रोश है, उसके पीछे उसके पुत्रों की अपार ममता छिपी हुई है।

शत्रुओं के प्रति गांधारी में दया का लेशमात्र भी भाव नहीं रह गया है। जब अश्वत्थामा पाण्डवों के शिविर में घुसकर सोते हुए धृष्टद्युम्न को पकड़ कर शय्या से नीचे डाल देता है और उसे दबा कर उसकी जीते-जी दोनों आँखें निकाल लेता है, तो गांधारी को दया नहीं आती, बल्कि वह इस घटना का वर्णन सुनकर अश्वत्थामा की ही प्रशंसा करती है–

नोट

'अंधा कर दिया उसको पहले ही
कितना दयालु है अश्वत्थामा।।

इसकी निर्दयता विदुर को कहना ही पड़ता है कि हे गांधारी! तुम्हारा हृदय पत्थर बन गया है, जो रासी मर्मान्तक घटनाओं को सुनकर भी नहीं पिघलता। पर गांधारी को इस बात की तनिक भी चिंता नहीं है। वह विदुर को झिड़कती हुई कहती है–

'पत्थर की खानों से मणियां निकलती हैं
बाधा मत डालो विदुर
संजय फिर .....।'

इस तरह हम देखते हैं कि गांधारी का हृदय बिलकुल ही पत्थर बना हुआ ह। वह अपने पुत्रों का प्रतिशोध लेने के लिए भयंकर-से भयंकर घटना का सामना करने के लिए तैयार है। सारे नाटक में एक स्थल ही ऐसा है जहाँ गांधारी नारी-हृदय की कोमलता लेकर रोने लगती है। वह क्रुद्ध होकर कृष्ण को शाप दे देती है और जब कृष्ण उस शाप को स्वीकार कर लेते हैं, तो गांधारी रोती हुई कहती है–

'कोई नहीं मैं अपने
सौ पुत्रों के लिए
लेकिन कृष्ण तुम पर
मेरी ममता अगाध है।
कर देते शाप यह मेरा तुम अस्वीकार
तो क्या मुझे दुख होता।
मैं थी निराश, मैं कटु थी,
पुत्रहीना थी।

क्या आप जानते हैं

महाभारत में गांधारी के चरित्र की ओर बिल्कुल भी ध्यान नहीं दिया गया है। वहाँ यह पूर्णतया उपेक्षित है, किन्तु प्रस्तुत नाटक के रचयिता ने इसके चरित्र को नारी-स्वभाव की स्वाभाविकता प्रदान की है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'अंधायुग' के पात्रों का चरित्र भारतीय संस्कृति की परम्पराओं के अनुरूप होते हुए भी अपनी विशेषता तथा मौलिकता लिए हुए है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से इस कृति की यही महत्ता है।

19.2 सारांश

अश्वत्थामा गुरु द्रोण के एकमात्र पुत्र हैं और दुर्योधन के सबसे अधिक विश्वासपात्र मित्र। जब महाभारत में दुर्योध न पराजित हो जाता है तो इन्हें इतना दुख होता है कि ये अपने धनुष को तोड़ कर वन की ओर भाग जाते हैं। इन्हें इस बात का बहुत अधिक दु:ख है कि ये अपने मित्र की सहायता करके उसे विजेता न बना सके।

अश्वत्थामा को इस बात पर बहुत आक्रोश है कि उसके पिता का धोखे से वध किया गया और सत्यवादी बने हुए युधिष्ठिर ने भी उनके वध के लिए झूठ बोला। इसलिए वह मानता है कि युधिष्ठिर सत्यवादी नहीं वरन् पाखण्डी है और इस भावना ने उसके मन पर इतना प्रबल आघात किया कि उसका सारा मनुष्यत्व ही समाप्त हो गया।

युधिष्ठिर के चरित्र का अंकन भी ऐतिहासिक परम्पराओं के अनुरूप ही हुआ है। ये पाण्डवों में सबसे बड़े हैं, पर अपना अधिकार छिन जाने पर भी ये शान्त हैं। कृष्ण के कहने पर, बल्कि बहुत आग्रह करने पर इन्होंने महाभारत में केवल एक ही बार झूठ बोला था, जिससे अश्वत्थामा को बहुत चिढ़ है, क्योंकि वही झूठ तो उसके पिता की

नोट

मृत्यु का कारण बनी थी और जिसके कारण उसे युधिष्ठिर से घृणा है। युधिष्ठिर को अश्वत्थामा की इस घृणा का पता हो या न हो, पर इतना निश्चित है कि महाभारत के भीषण युद्ध ने उनकी आत्मा को झकझोर ही दिया है। वे विजेता होकर भी प्रसन्न नहीं है। युधिष्ठिर मानते हैं कि सिंहासन प्राप्त करने के लिए जो युद्ध किये जाते हैं, वस्तुत: वे मनुष्य के मनुष्यत्व के द्योतक नहीं, वरन् उसके पशुत्व को ही प्रगट करते हैं, धृतराष्ट्र अन्धे हैं, पर अपने पुत्रों के प्रति अपार ममता से इनका हृदय ओतप्रोत है। इस ममता में ये इतने डूबे हुए हैं कि उचित-अनुचित का ध्यान न करके सदा दुर्योधन के कार्यों को, चाहे वे कितने ही अनुचित हों, बढ़ावा देते रहते हैं। इन्हें कभी यह अनुभव नहीं हुआ कि इनकी यह अन्धी ममता एक दिन उनके ही सर्वनाश का कारण बनेगी। जब महाभारत के अट्ठारहवें दिन इनके सभी पुत्र मारे जाते हैं तो इनके मन में पहली बार आशंका उत्पन्न होती है कि इनके पुत्रों का नाश इनकी ही अदूर-दर्शिता के कारण हुआ।

कहने का तात्पर्य यह है कि धृतराष्ट्र के चरित्र मं यद्यपि वे दुर्बलताएँ विद्यमान हैं जो एक ममता-भरे बाप में होती हैं तथापि ये निस्संकोच उसके दुष्परिणामों को भी ग्रहण करते हैं यही इनके चरित्र की महानता है।

भारतीय संस्कृति में कृष्ण का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है, इसलिए इनके अनेक रूपों का चित्रण भारतीय संस्कृति में हुआ है। महाभारत में पांडव को विजय दिलाने के लिए इन्होंने क्या कुछ राजनीतिक दाँव-पेचों का सहारा नहीं लिया। यह तो सर्वविदित है कि अर्जुन प्रारम्भ में ही युद्ध से विरत हो गया था। उसे युद्ध में प्रवृत्त करने के लिए इन्होंने उसे कर्मयोग का उपदेश दिया। गांधारी वह अभागी माँ है, जिसके सौ पुत्र केवल अट्ठारह दिनों में ही उससे सदा के लिए बिछुड़ गये। इसलिए इसमें आक्रोश और परम्पराओं के प्रति घृणा का आ जाना स्वाभाविक ही है। इनके एक पुत्र युयुत्सु ने युधिष्ठिर के पक्ष को सत्य का पक्ष जानकर उसका साथ दिया था। जब वह विजयी होकर अपनी माँ गांधारी के पास आता है तो गांधारी उसको प्रेम से पुचकारती नहीं, बल्कि व्यंग्य-वाणों से आहत करती है।

शत्रुओं के प्रति गांधारी में दया का लेशमात्र भी भाव नहीं रह गया है। जब अश्वत्थामा पाण्डवों के शिविर में घुसकर सोते हुए धृष्टद्युम्न को पकड़ कर शय्या से नीचे डाल देता है और उसे दबा कर उसकी जीते-जी दोनों आँखें निकाल लेता है, तो गांधारी को दया नहीं आती, बल्कि वह इस घटना का वर्णन सुनकर अश्वत्थामा की ही प्रशंसा करती है। इस तरह हम देखते हैं कि गांधारी का हृदय बिलकुल ही पत्थर बना हुआ ह। वह अपने पुत्रों का प्रतिशोध लेने के लिए भयंकर-से भयंकर घटना का सामना करने के लिए तैयार है।

19.3 शब्दकोश

1. **दुर्विनीत–** उद्दंड, अविनीत
2. **अहर्निश–** रात-दिन
3. **आद्योपांत–** आदि से अंत तक

19.4 अभ्यास-प्रश्न

1. युधिष्ठिर के अर्धसत्य के कारण अश्वत्थामा का हृदय परिवर्तन मनुष्यता के लिए घातक सिद्ध होता है। इस आधार पर अश्वत्थामा के चरित्र की व्याख्या कीजिए।
2. अंधायुग के युधिष्ठिर का चरित्रांकन ऐतिहासिक परंपराओं के अनुरूप हुआ है। समझाइए।
3. महाभारत के युद्ध के संदर्भ में कृष्ण के राजनीतिज्ञ रूप का चरित्रांकन कीजिए।

उत्तर: स्व-मूल्यांकन *नोट*

1. (ख) 2. (ग) 3. (ख) 4. (क)

19.5 संदर्भ पुस्तकें

1. *धर्मवीर भारती की साहित्य साधना*– सम्पादक: पुष्पा भारती, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली।
2. *हिंदी नाट्य काव्य: पुनर्मूल्यांकन*–हुकमचंद राजपाल, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली।
3. *अंधायुग*– धर्मवीर भारती, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली।

नोट

इकाई 20: अंधायुग–अभिनेयता एवं रंगमंचीयता

अनुक्रमणिका

उद्देश्य

प्रस्तावना

20.1 अंधायुग–अभिनेयता एवं रंगमंचीयता

20.2 सारांश

20.3 शब्दकोश

20.4 अभ्यास–प्रश्न

20.5 संदर्भ पुस्तकें

उद्देश्य

विद्यार्थी इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् सक्षम होंगे–

- अंधायुग की अभिनेयता एवं रंगमंचीयता से परिचित होंगे।

प्रस्तावना

दृश्य-काव्य, रूपक और फिर नाटक कही जानेवाली साहित्य/कला-विधा का नियमन और निर्धारण करनेवाले नियमों को नाट्य-सिद्धान्त कहा जाता है। चिन्तन और विश्लेषण पर आधारित रचना के विधि-निषधों के सिद्धान्तों का यह शास्त्र सृजनात्मक साहित्य के लिए बुनियाद का काम करता है और उसकी शक्ति एवं मर्यादा का निर्धारण भी करता है। इस सन्दर्भ में यह एक महत्त्वपूर्ण सत्य है कि महान् कृतियाँ इन सिद्धान्तों को मानती भी हैं और इनका अतिक्रमण भी करती हैं। नाट्य-कृति और नाट्य-सिद्धान्त में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध होता है। नाट्याचार्य अथवा नाट्य-चिन्तक का काम मूलत: बुद्धि एवं तर्कशीलता पर निर्भर करता है, जबकि नाटककार का कार्य मूलत: उसकी अन्तश्चेतना के स्फुरण, प्रतिभा के विस्फोट, रागात्मकता एवं कल्पनाशीलता पर आधारित होता है। इसलिए आरम्भ से ही सिद्धान्तकार और रचनाकार के दो-अलग-अलग वर्ग रहे हैं।

परन्तु आधुनिक काल में पाश्चात्य नाटकों एवं नाट्य-चिन्तकों के व्यापक प्रभाव के बाद भारतीय और विशेष रूप से हिन्दी में यह वर्ग-विभाजन बना नहीं रह सका। भारतीय और पाश्चात्य नाट्य-सिद्धान्तों के संयोग से जिस नयी रंग-चेतना का विकास हुआ, उसका कोई गम्भीर एवं मौलिक शास्त्रकार हमारे यहाँ अभी तक नहीं हुआ। अधिक-से-अधिक, आनन्द और रस पर आधारित भारतीय शास्त्र तथा संघर्ष और विरेचन पर आधारित पश्चिमी-शास्त्र के अनुवादक, व्याख्याकार या विवेचक-विश्लेषण विद्वान् ही सामने आये। हिन्दी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, जयशंकर प्रसाद, लक्ष्मीनारायण मिश्र, जगदीशचन्द्र माथुर, लक्ष्मीनारायण लाल और मोहन राकेश जैसे नाटककारों ने, अपनी-अपनी व्यक्तिगत रुचि, आवश्यकता और मान्यताओं के आधार पर, नाट्य-रचना सम्बन्धी अपने विचारों एवं मानदण्डों पर कुछ छोटे-बड़े लेख लिखे या अपने नाटकों की भूमिकाओं में उनका उल्लेख किया।

नाटककारों की भेंटवार्ताओं और कभी-कभी उनके नाटकों के संवादों में परोक्ष रूप से उनके विचारों के दर्शन हमें हो जाते हैं। उनके इन संकेतों या उल्लेखों के आधार पर ही हम प्राय: उनके नाट्यदर्शों, विचारों, सिद्धान्तों और मानदण्डों की चर्चा करते हैं।

20.1 अंधायुग–अभिनेयता एवं रंगमंचीयता

नोट

कथावस्तु के सम्बन्ध में धर्मवीर भारती के विचार प्राचीन भारतीय पद्धति के अनुरूप हैं। वह उसे 'प्रख्यात' और 'उत्पाद्य' के रूप में ही देखते हैं। 'स्थापना' (मंगलाचरण) और 'समापन' में भी वह पुरानी परम्परा को ही अपनाते हैं और अंक विभाजन की दृष्टि से भी वह कुछ नया करने के पक्ष में नहीं हैं। परन्तु ज़रूरत के मुताबिक संरचना में 'अन्तराल' की योजना करने से भी वह हिचकते नहीं हैं। 'स्वगत' और 'सूच्य' को सहजता से स्वीकार करते हैं तो हत्या, युद्ध इत्यादि जैसे दृश्यों के 'निषेध' को उसी सहजता से अस्वीकार भी कर देते हैं। एकांकी में पश्चिमी संकलन-त्रय की मर्यादा ज़रूरी समझते हैं तो 'अन्धायुग' जैसे पूर्ण-कालिक नाटक के लिए उसे छोड़ भी देते हैं। दृश्य या अंक परिवर्तन के लिए भारतीय लोक-नाट्य-परम्परा से कथा-गायन की युक्ति ले लेते हैं तो स्थितियों और घटनाओं पर कमेण्ट करने के लिए ग्रीक कोरस की पद्धति पर प्रहरियों की परिकल्पना करने से भी हिचकिचाते नहीं हैं। स्पष्ट है कि कथावस्तु और सरंचना की दृष्टि से भारती समन्वयवादी हैं।

नोट्स नाटक के संदर्भ में धर्मवीर भारती कथ्य के अनुरूप ही वस्तु-संरचना का स्वरूप निर्धारित करने के पक्ष में हैं और सन्धियों-कार्यावस्थाओं की प्रचीन रूढ़ियों को नहीं मानते।

नेता या चरित्र के विषय में भारती ने स्पष्टत: कहीं कुछ नहीं कहा है। लेकिन अंधायुग के विश्लेषण से स्पष्ट है कि वह इस सन्दर्भ में वर्गीकृत पात्रों की शास्त्रीयता का बन्धन स्वीकार नहीं करते। आधुनिक मनोविश्लेषण और व्यक्ति-वैचित्र्य पर उनका विश्वास अधिक है। चरित्र को रचनाकार के चंगुल में फँसे रहने और उसकी इच्छा या पूर्व-योजना के अनुरूप विकसित करने के सिद्धान्त को भारती नहीं मानते। वह चरित्र के स्वतन्त्र-विकास पर बल देते हैं। उन्हीं के शब्दों में, "एक बार नहीं अनेक बार ऐसा हुआ है। पात्र के बारे में पूरे नोट्स बना लीजिए, यहाँ तक कि घटनाक्रम और संवादों की विस्तृत रूपरेखा भी सोच लीजिए, लेकिन जहाँ लिखते-लिखते पात्र अपने व्यक्तित्व को उपलब्ध कर ले गया, वहीं वह आपके हाथ में नहीं रहता। फिर उसका चरित्र-विकास अपने आन्तरिक क्रम के अनुसार होता है और आपका बनाया तथा का काग़ज़ पर लिखा हुआ सारा ढाँचा नाकाफ़ी साबित होने लगता है।" यही कारण है कि 'अन्धायुग' में नाटककार की मूल परिकल्पना और इच्छा के विरुद्ध गान्धारी की ज़िम्मेदारी अश्वत्थामा सँभाल लेता है और केन्द्रीय भूमिका में अनजाने-अनचाहे कृष्ण उतर आते हैं। चरित्रांकन की यह प्रक्रिया आधुनिक पश्चिमी रचना-दृष्टि से प्रभावित है।

नाटक/रंगकर्म के उद्देश्य के बारे में भारती एकदम स्पष्ट और निर्भ्रान्त हैं। ग्रीक क्लासिक दुखान्त नाटकों का विवेचन करते हुए अरस्तु तथा अन्य पश्चिमी नाट्य-चिन्तकों ने विरेचन के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इसके अनुसार नाटक के चरित्रों का उत्थान-पतन और हर्ष-विषाद देखकर, प्रेक्षक के चेतन मन में जो अपना दु:ख, निराशा, असन्तोष, पीड़ा, अवसाद और अवचेतन मन में दमित कामनाजन्य कुण्ठा-भाव जमा रहता है, वह बह जाता है। उसके रेचन से मन स्वस्थ और स्थिर हो जाता है। समय और परिस्थितियाँ बदलीं तो मूल्य और मानदण्ड भी बदल गये। इब्सन, चेखव और स्ट्रीण्डबर्ग ने नये प्रयाग किये। दूसरे महायुद्ध के बाद ज्याँ पाल सार्त्र, आल्वेयर कामू, बैकेट और आयनेस्को इत्यादि ने मानवीय अस्तित्व के संकट और जीवन एवं जगत् की तर्कहीन व्यवस्था के बेतुकेपन को और भी गहराई से देखा, भोगा और अपने नाटकों में व्यक्त किया। लेकिन भारतीय चिन्तन की भूमि और दिशा इससे एकदम भिन्न रही। भरतमुनि ने अपने नाट्य-शास्त्र में रस-सिद्धान्त की स्थापना की। स्थायी भावों, आलम्बन और उद्दीपन के सहारे उद्भूत होनेवाली रसनिष्पत्ति का गहरा, गम्भीर और व्यापक विवेचन किया गया। रससिद्धान्त के अनेक परवर्ती आधुनिक काव्यशास्त्रियों की तरह भारती भी विरेचन और रस को परस्पर विरोधी न मानकर सहयोगी सिद्धान्त मानते हैं। उन्हीं के शब्दों में, "सतही तौर पर दोनों में अन्तर लगता है, पर वास्तविकता यह है कि रेचन के सिद्धान्त को भी रसनिष्पत्ति की पूर्व प्रक्रिया के रूप में समाहित कर लिया गया है। भारतीय

नोट

नाट्य-चिन्तन सामान्य सहज मानवीय संवेदनों को नकारता नहीं, स्वीकारता है, लेकिन वह वहीं थम नहीं जाता। वह उन्हें रसानुभूति के स्तर तक ले जाता है। यह देश तो अपने ढंग का अनूठा रहा है चिन्तन-मनन के क्षेत्र में। यहाँ से वह और गहरे उतरता है और रस से मिलनेवाले आनन्द को ब्रह्मानन्द सहोदर बताता है। यहाँ तक कि ब्रह्म की अनेक व्याख्याओं में एक व्याख्या वह करता है कि 'रसो वै सः' यानी ब्रह्म साक्षात् रस है। रस को दिव्यता के स्तर पर ले जाना या दिव्य को रस के स्तर पर ले जाना यह भारत की समृद्ध दर्शन-परम्परा में ही सम्भव है। और कहाँ मिलेगी यह गहराई? इस बात को मैं रेखांकित इसलिए कर रहा हूँ कि आप समस्त संसार की नाट्य-पद्धातियों में से जो चाहे लें, लेकिन आप जिस उदात्त परम्परा के उत्तराधिकारी हैं, उसे भी भूलें नहीं। यह हज़ारों साल से सामूहिक भारतीय अवचेतन में बसी हुई है और अनजाने ही अत्याधुनिक भारतीय मन भी इससे कहीं न कहीं जुड़ ही जाता है।" भारती की यह सोच न तो पूर्णतः मौलिक है और न ही नयी। फिर भी, वह जिस आस्था और विश्वास के साथ इसे स्वीकार करते हैं, वह नये नाटककारों में कम ही देखने को मिलती है। भारती ने इसे केवल परम्परा से प्राप्त ही नहीं किया, अपने भीतर कहीं बहुत गहरे में आत्मसात भी किया है। 'अन्ध ायुग' के अन्त में अकस्मात् आ जानेवाले भागवत के रंग के पीछे केवल भारती का आस्तिक मन ही नहीं, रसवादी यह नाट्य-चिन्तन भी है।

इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के आक्रमण और दृश्यत्व के भीषण प्रभाव से आक्रान्त महज 'प्रदर्शन बनकर रह गये समकालीन हिन्दी रंगकर्म के सन्दर्भ भारती की नाट्य-भाषा सम्बन्धी चिन्तन बहुत मूल्यवान है। मूलतः कवि नाटककार धर्मवीर भारती मानते हैं कि ऐतिहासिक दृष्टि से, "भाषा को संस्कार तब मिलता है जब वह काव्य-भाषा के रूप में भली-भाँति प्रयुक्त हो ले ताकि हर शब्द को समुचित अर्थ विकास मिल जाए। खड़ी बोली को पूर्ण परिष्कार नहीं मिल पाया था। अतः प्रारम्भ में गम्भीर विचारवाले शब्द बहुधा अपनी क्षमता से अधिक बोझ लादे हुए, लड़खड़ाते, हाँफते हुए लगते थे। (मसलन लक्ष्मीनारायण मिश्र की भाषा में)। या वे गद्य में प्रयोग होने पर भी कविता की छायावादी 'फैन्सी-ड्रेस' सज्जा का आभास देते थे–कुछ खोये-खोये, रहस्य में डूबे-डूबे, वर्तमान से असंगत से। दूसरी ओर, जहाँ केवल गद्यात्मकता थी, वहाँ भी एक निष्प्राणता थी, क्योंकि नाटक अन्ततोगत्वा कविता की सबसे निकटतम विधा है।"

क्या आप जानते हैं धर्मवीर भारती हिंदी साहित्य में प्रकाशित मील का पत्थर 'दूसरा सप्तक' के कवि हैं।

भारती मानते हैं कि नयी कविता के व्यापक आन्दोलन ने भाषा को मुक्ति दी है। उसे एक ऐसी बोलचाल की भाषा का रूप दिया है, "जो सहज होते हुए भी छिछली नहीं है और काव्यात्मक होते हुए भी सज्जित, अलंकृत, बनी-ठनी नहीं।" ऐसी ही जीवन्त नाट्य-भाषा को मोहन राकेश ने 'जीने की भाषा' कहा है। भारती का विश्वास है कि, "अब यह वह भाषा है जो हमारे नाट्य-लेखन को, संवादों की वह प्रामाणिक जीवन्तता दे सकती है, जिसके लिए पिरान्देलों ने कहा था कि हमारे शब्द न कठिन हैं न आसान, वे बस ऐसे हैं जिनका उपयोग अनिवार्य है, जिनके अलावा अन्य शब्द उस स्थिति में उस भाव को व्यक्त नहीं कर सकते।"

दृश्य के जादू के सामने शब्द की मन्त्र-शक्ति किसी भी दृष्टि से किसी भी स्तर पर कमज़ोर नहीं है। ज़रूरत इस बात की है कि हम उसकी बेपनाह ताक़त को पहचानें और उसका सही तौर पर इस्तेमाल करें। भारती पुकारकर कहते हैं, "शब्द की शक्ति को पहचानिए और उसके सुर से अपना सुर मिलाने का पूरा प्रयास कीजिए।...शब्द की आन्तरिक सामर्थ्य, शब्दों के गुंजन की आन्तरिक लय, उन्हें बोलने में स्वर का उतार-चढ़ाव, शब्दों की अर्थमय गूँज, एक सम्पन्न नाटक का सबसे बड़ा सम्बल होता है।"

अपनी बात को सिद्ध करने के लिए भारती रीतिकालीन कवि बिहारी के दो दोहों का उदाहरण देते हैं:

नोट

"बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय
सौंह करै, भौंहनि हँसे, दैन कहे नट जाय।"

कृष्ण से बात करने की लालच में राधा बाँसुरी छुपा देती है, पूछने पर कसम खाती है 'मुझे नहीं मालूम तुम्हारी सौंह' पर भौंहों में हँसती हैं, लौटाने का वायदा करती है, फिर वायदे से मुकर जाती है। सिर्फ़ एक पंक्ति में पूरे चार नाटकीय ऐक्शन और वह भी अत्यन्त तीव्र गति से। कसम खाने और भौंहों में हँसने के बीच का तनाव-उलझन, मज़ाक़, छेड़छाड़ विडम्बना–सब एक-साथ कितनी बड़ी चुनौती है, इन दो पंक्तियों को अभिनीत करना। और दूसरे दोहे में:

"कहत, नटत, रीझत, खिजत, खिलत, मिलत, लजियात
भरे भौंन में करत हैं नैननु ही सों बात।"

यहाँ बिना एक भी बाहरी कार्यव्यापार के विविध भावों की कितनी सशक्त, मितव्ययी और रोचक अभिव्यक्ति हुई है–और वह भी सिर्फ़ आँखों ही आँखों में। 'यहाँ नज़रें ही शब्द बन गयी हैं। शब्दा होठों से आँखों की पुतलियों से बोल रहे हैं।' नृत्याभिनय की हदें छूता हुआ यह कठिन मूकाभिनय कितना नाटकीय और अभिव्यक्तिक्षम है। इसी को शायद सात्त्विक आत्माभिनय कहा जा सकता है, जो कठिन अभ्यास और रियाज़ के बाद ही सम्भव है। अभिनेताओं को परामर्श देते हुए भारती कहते हैं–"तो बन्धुओं, आपको इस शब्द के सुर को पकड़ना है। बोले गये शब्द का सुर भी, और न बोले गये शब्द का भी–और कभी-कभी बोले गये शदों के बीच एक मौन का अन्तराल छूट जाता है, वह भी बहुत कुछ अभिव्यक्त करता है, उसे भी आपको आत्मसात् करना होगा।" इस अर्थगर्भी नाटकीय मौन का सार्थक प्रयोग हमारे आधुनिक अनेक नाटककारों ने बड़ी कुशलता और सफलता से किया है। परन्तु मनोशारीरिक रंगमंच, लोकधर्मी रंग-रूढ़ियों के प्रयोग और अतिमुखर राजनीतिक रंगमंच के प्रभाव के कारण शब्द की वास्तविक शक्ति और मौन की विस्फोटक ताक़त प्राय: प्रस्तुतियों में उपेक्षित छूट जाती है। आकर्षक दृश्य-रचना के मोह में भाषा-शब्द से उभरते बिम्बों की और अक्सर ध्यान ही नहीं दिया जाता। संवाद-प्रस्तुति अधि कांश प्रदर्शनों का सबसे कमज़ोर एवं गौण पक्ष होकर रह जाती है। भारती का यह कथन भावी रंगकर्म के विकास का सही दिशा-निर्देश देता है कि, "शब्द के इस तिलिस्म की कुंजी आप एक बार हासिल कर लें तो आपके रंगकर्म की समृद्धि अपरम्पार हो उठेगी।"

श्रेष्ठ नाटक के संवाद लच्छेदार भाषा, मुहावरे, अनुप्रास और श्लेष जोड़कर दर्शकों की क्षणिक वाहवाही लूटने के लिए नहीं होते। खेल-तमाशों के 'डायलाग' लेखक तो वास्तव में अपना खोखलापन छिपाने के लिए ही इस प्रकार के शब्दाडम्बर का जादू महज खड़ा करते हैं। सच्चा संवाद तो किसी गहरे नाट्यानुभव या सूक्ष्म स्थिति को प्रस्तुत करता है और वास्तविक अभिनेता का दायित्व अपनी कल्पनाशक्ति और अभिनय-प्रतिभा से उस अनुभव एवं स्थिति को दर्शकों के सामने मूर्तिमान कर देना है।

अभिनेता कुली मात्र नहीं होता जो आलेख से शब्दों को उठाए, स्मृति में ढोए और मंच पर दर्शकों के सामने ले जाकर पटक दे। वह भी एक रचनाकार है। उसके कठिन रहस्यमय काम को विश्लेषित करते हुए भारती कहते हैं कि उसे "एक ओर तो कठिनाइयों का सामना करने के लिए अपने आत्मबल को प्रदीप्त करना है ओर दूसरी और अपने अहम् को पूर्णत: मिटा देना होगा ताकि आप उस पात्र को जी सकें। जिसकी भूमिका में आप अभिनय कर रहे हैं। जितनी बार जितने पात्रों का आप अभिनय करेंगे उतनी बार आप अपने अन्दर मरेंगे। फिर पुनर्जन्म उस पात्र के रूप में जो नाटककार ने रचा है। और इस बार-बार के मरण और पुनर्जन्म के बीच अपने रंगकर्मी की अस्मिता और उसके व्यक्तित्व को अक्षुण्ण बनाये रखना है–यानी अपना आपा मिटाना भी है और उसे बनाये रखना भी है।" अभिनेता को इन तीन समानान्तर परस्पर टकरानेवाली प्रक्रियाओं से गुज़रना पड़ता है। अपने आपा या अहंकार को मिटाना, दूसरे पात्र के चरित्र में डूबना और अपनी छाप बनाये रखकर पात्र के रूप में उस अनुभव/संवेदना को दर्शकों तक पहुँचाना, जो नाटककार, का अभिप्रेत है। यही कारण है कि भारती अभिनय-कला को 'एक कठोर तपस्या' और 'ब्रह्म-प्राप्ति की साधना' से कम नहीं मानते। ऐसे अभिनय और अभिनेता के उदाहरण के रूप में वह इब्राहिम अल्काज़ी और 'वेटिंग फॉर गोदो' में किये गये उनके यादगार अभिनय का ज़िक्र करते हैं,

नोट

जिसमें अभिनेता ने अपने ही नहीं बल्कि दर्शकों के व्यक्तित्व को भी अभिनीत चरित्र में विलीन कर नाटककार द्वारा रचित नाट्य-स्थिति को मंच पर मूर्तिमान कर दिया था। हमारे शास्त्रकारों ने शायद तादात्मयजन्य इसी स्थिति को साधारणीकरण की संज्ञा दी है।

हमारे समकालीन रंगकर्म में निर्देशक की भूमिका केन्द्रीय महत्त्व की है। वही नाटककार की शाब्दिक-रचना को मंच की दृश्य-भाषा में अनूदित करता है, पुर्नरचना करता है और अन्विति एवं समग्र-प्रभाव की दृष्टि से रंग-कला के सभी तत्त्वों को सही अनुपात एवं रूपाकार में सँजोता है। इसकी महत् एवं बहुमुखी ज़िम्मेदारी का उल्लेख करते हुए भारती कहते हैं कि, "निर्देशक की साधना तो और भी जटिल है। उसे तो पहले सारे पात्रों को अपने अन्दर जीना पड़ता है, फिर सारे अभिनेताओं को अपनी-अपनी भूमिका का सही निर्वाह करने के लिए प्रेरित और प्रशिक्षित करना पड़ता है। हर अभिनेता की अपनी-अपनी सीमाएँ और सम्भावनाएँ होती हैं, उन्हें सहानुभूति से समझना होता है–फिर उन सबके अभिनय में सामंजस्य बनाना होता है। नाटक के घटनाक्रम के अनुसार हर पात्र के अभिनय का उतार-चढ़ाव देखना पड़ता है, और फिर इस पूरी प्रक्रिया को इस तरह संचालित करना पड़ता है कि नाटक अपने चरम बिन्दू तक पहुँच सके, अपने मूल कथ्य को प्रेक्षक तक सही ढंग से पहुँचाकर उनमें भी वही संवेदना जगा सके। इसे सम्प्रेषण मात्र नहीं कह सकते–क्योंकि यह मात्र कम्युनिकेशन नहीं है, यह कम्युनियन है। नाटक की समाप्ति तक प्रेक्षक भी नाटक में सहभागी हो जाता है। रंगकर्म का ही एक नया आयाम बन जाता है।" रंगकर्म की सामूहिक प्रक्रिया में प्रेक्षक की यह सक्रिय सहभागिता ही कम्युनिकेशन को कम्युनियन बनाती है और इसी कारण से हमारे प्राचीन शास्त्रकारों ने रंगकर्म को 'चाक्षुष-यज्ञ' की संज्ञा दी है।

स्पष्ट है कि दर्शक रंगकर्म का अनिवार्य और अपरिहार्य घटक है। उसके बिना रंगकर्म की कल्पना ही नहीं की जा सकती। विशिष्ट अर्थ में सहृदय, संवेदनशील और समष्तिक जागरूक प्रेक्षकों की बात तो जाने दें हिन्दी भाषा क्षेत्रों में सामान्य खेल-तमाशे का आम दर्शक भी प्रायः नहीं है। भारती के शब्दों में, "भारत के कुछ क्षेत्रों को छोड़ दें तो बाक़ी क्षेत्रों में नाटक खेलने, देखने, नाटकों को बारीक़ी से समझने और नाटकों में सचमुच रस लेने के हमारे पुराने संस्कार सदियों से लुप्त हो चुके हैं और नये संस्कार जगाने के साधनों की कमी तो है ही, दर्शकों की मानसिकता भी निर्जीव जैसी हो चुकी है। उन्हें सस्ता, सतही, सुविधाजनक मनोरंजन मात्र चाहिए–सिर्फ़ दिलबस्तगी के लिए। पहले व्यावसायिक फ़िल्मों ने हिंसा, अंग-प्रदर्शन और ऊलजुलूल गीतों और कथानकों ने दर्शकों की रुचि को बिगाड़ा, फिर टी.वी. के कुछ चैनलों ने हमारी भाषा को भ्रष्ट करना शुरू किया और एक अपसंस्कृति के कीटाणु वातावरण में फैलाने शुरू किये।" यही वह कारण और बिन्दू है जहाँ से भारती पैसाकमाऊ व्यावसायिक रंगमंच का भी विरोध करने लगते हैं। सस्ते मनोरंजनवाले कलाहीन प्रदर्शनों से, चाहे वे कितने भी लोकप्रिय क्यों न हों, भारती विक्षुब्ध हो उठते हैं। यही कारण है कि तमिल में देवता की तरह पूजित शिवाजी गणेशन और मुम्बई के पद्मसी आदि के पारसी थियेटर जैसे तड़क-भड़कपूर्ण सस्ते और सतही किन्तु ख़ूब लोकप्रिय रंगमंच की खिल्ली उड़ाते हैं। इतना ही नहीं, अपनी अनेक ख़ूबियों के बावजूद, एक व्यक्ति-केन्द्रित पृथ्वीराज कपूर के आत्म-प्रदर्शनात्मक अर्द्ध-व्यावसायिक 'पृथ्वी थियेटर' को भी वह स्वीकार नहीं कर पाते। और बड़े आश्वस्त-भाव से साहसपूर्वक कहते हैं कि, "वैसे रंगमंच और उनसे सम्बद्ध नाट्य-लेखन हिन्दी में नहीं है, यह हमारा दुर्भाग्य नहीं, सौभाग्य है। हम एक स्वस्थ शुरुआत तो कर सकते हैं।"

टास्क धर्मवीर भारती की अन्य महत्त्वपूर्ण रचनाओं का परिचय दीजिए।

नाटक को दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत करने और प्रभावशाली प्रदर्शन बनाने में मंच-शिल्प की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। वही नाटक के चरित्रों और प्रसंगों को विश्वसनीय देश, काल और परिवेश प्रदान करता है, प्रामाणिकता देता है। दृश्य-बन्ध से लेकर 'वस्त्र-विन्यास, रूप-सज्जा, अस्त्र-शस्त्र, संगीत और छायालोक इत्यादि सब-कुछ इसके

नोट

अन्तर्गत आ जाता है। भारती 'मंचशिल्प में निपुणता' को रंगकर्मी के लिए अत्यन्त आवश्यक मानते हैं। वह इसे सिर्फ़ अभ्यास मात्र से सीखी जा सकनेवाली कारीग़री ही नहीं, अपितु रंगकर्मी की वास्तविक विद्या मानते हैं जो उसे 'अपने अन्दर के आत्मघाती अहंकार से, कमज़ोर बनानेवाली निराशा से, जानकारियों की कमी से, अज्ञान से और अकर्मण्य बनानेवाली अनिश्चय से' विमुक्त करती है। वह रंगकर्म को अत्यन्त गम्भीर एवं अर्थवान् कर्म मानते हुए आजीविका का साधन बनाने के विरुद्ध हैं। वास्तव में यह एक विवादास्पद विषय है। अपने मंचशिल्प एवं रंगकर्म के प्रति 'अहैतुकी श्रद्धा' आज एक बेतुकी और अव्यावहारिक अपेक्षा है। कोरा आदर्शवाद है। रंगकर्म का पेशेवर (प्रोफ़ेशनल) प्रशिक्षण पाकर वह उसे पेशा नहीं बनाएगा तो पेट कैसे भरेगा? हाँ, इतनी उम्मीद शायद उससे की जा सकती है कि वह दर्शकों की रुचि का परिष्कार करनेवाला गम्भीर, अर्थपूर्ण प्रोफ़ेशनल थियेटर ही करे।

परिधान और रूप-सज्जा या अन्य रंग-निर्देशों के मामले में भारती प्रसाद के काफ़ी निकट पड़ते हैं। वह इन विषयों में या तो कुछ भी नहीं कहते या हल्के संकेत-भर देकर इस क्षेत्र को निर्देशक और प्रबुद्ध-प्रवीण पार्श्वकर्मियों की समझ एवं कल्पनाशीलता के लिए खुला छोड़ देने में विश्वास रखते हैं। 'अन्धायुग' के निर्देश में पर्दोंवाली प्रोसेमियम की मंच-सज्जा का विधान करने के बावजूद अन्त में वह यह कहना भी ज़रूरी समझते हैं कि, "मंच-विधान को थोड़ा बदलकर यह खुले मंचवाले लोक-नाट्य को प्रतीकात्मक भी बना सकते हैं।" नाटककार के लिए भी भारती को लगता है कि पर्दोंवाला पारसी ही नहीं बल्कि यथार्थ-प्रकृतिवाला वस्तुधर्मी रंगमंच भी अब अनावश्यक और अप्रासंगिक हो गया है। उनके अनुसार, "लोक-नाट्यों से लेकर आधुनिकतम सांकेतिक मंच-विधान तक एक बड़ा विशाल क्षेत्र है। उसमें से हम क्या लें, क्या नहीं, इसका कोई बँधा हुआ निर्देश नहीं हो सकता। यह तो सदा एक प्रथम कोटि के प्रतिभाशाली लेखक की अन्तर्दृष्टि और प्रयोग-क्षमता पर निर्भर होता है।" प्रस्तुति-शैली या नाट्य-शैली के सम्बन्ध में भी डॉ. भारती के विचार काफ़ी उदार और सन्तुलित हैं। उनके अनुसार, "कुछ ने अपने को केवल लोक-नाट्य शैली से ही आबद्ध कर लिया। कुछ ने तथाकथित यर्थाथवादी या जनवादी स्कूल को ही मान्यता दी। कुछ किसी और दायरे में बँध गये। आप जहाँ से जो अच्छा मिले, आपके नाट्यकर्म को नये आयाम या नया विकास दे, उसे खुले मन से स्वीकार करें पर किसी एक वाद या शैली में बाँधकर अपने को सीमित न कर दें। जो नाटक आप करने जा रहे उसमें नाटककार जो कह रहा है, उसी को प्रमुखता दें और उसी के अनुरूप नाट्य-शैली की परिकल्पना करें।" भारती के इस स्वस्थ, सन्तुलित और सम्यक् दृष्टिकोण का ही परिणाम है कि 'अन्धायुग' को इतनी अलग-अलग शैलियों और अद्‌भुत रंग-रूपों में प्रस्तुत किया जा सका।

स्व-मूल्यांकन

सही विकल्प चुनिए–

1. अंधायुग रचना एक .....।
   (क) नाटक है (ख) गीति नाटक है (ग) प्रबंध काव्य है
2. भारतीय नाट्य शास्त्र रस से मिलने वाले आनंद को ..... ।
   (क) ब्रह्मनंद सहोदर बताता है (ख)आनंद का मूल बताता है
   (ग) दुखांतक बताता है
3. अंधायुग में केन्द्रीय भूमिका ..... ।
   (क) अर्जुन की थी (ख) श्रीकृष्ण की थी (ग) अश्त्थधामा की थी
4. नई कविता के भाषा वैशिष्टयम को मोहन राकेश ने .....।
   (क) उपयुक्त भाषा कहा है
   (ख) जीने की भाषा कहा है।
   (ग) समय की भाषा कहा है

नोट

अभिनेता और निर्देशक को समुचित महत्त्व देने के बावजूद भारती नाटककार का रंगमंच की अवधारणा में ही विश्वास करते हैं। वह नाट्यालेख को ही मूल आधारभूमि मानते हैं जिस पर रंगकर्मी प्रदर्शन का महल खड़ा करता है। भारती समानधर्मा निर्देशक और अभिनेता के सुझावों का आदर करते हैं। उसे कुछ हद तक स्वतन्त्रता देने के भी शायद पक्ष में हैं। वह स्वीकार करते हैं कि, "निस्सन्देह नाटक एक सहकारी कला है, लेकिन वह सहकारिता उसी लेखक और पारिचालक में सम्भव हो पाती है जहाँ बुद्धि और प्रतिभा, सुरुचि और कला-संस्कार की पूँजी समान हों।" नाटककार और निर्देशक के आपसी सम्बन्धों की दृष्टि से निश्चय ही यह एक कठिन किन्तु ज़रूरी शर्त है। दोनों का यह मिलन रचनात्मकता के समान धरातल पर ही सम्भव हो सकता है।

आज के रंगकर्म में परम्परा और प्रयोग का प्रश्न अत्यन्त संवेदनशील और गम्भीर प्रश्न है। इस सन्दर्भ में भारती की दृष्टि बिल्कुल स्पष्ट और साफ़ है। वह कहते हैं, "परम्परा बोझ नहीं बननी चाहिए और प्रयोग फ़ैशन नहीं बनना चाहिए। प्रयोग के लिए प्रयोग करना आपको लक्ष्य से भटका सकता है। लेकिन जहाँ प्रयोग नाटक के मूल कथ्य को उभारता हो वहाँ प्रयोग श्रेयस्कर भी हो सकता है। अपने रंग-विवेक की कसौटी पर कसकर ही अपना निर्णय कीजिए।" परम्परा ज़रूरी है लेकिन अतीत को बोझ की तरह ढोना ग़लत है। क्योंकि हमें जीना और रंगकर्म तो वर्तमान में ही करना है। इसलिए आवश्यक है कि हम परम्परा की धरोहर के सार्थक और जीवन्त तत्त्वों को ग्रहण करें और अपने आज के रंगकर्म में उनका रचनात्मक प्रयोग करके नये रंगमंच को समृद्ध बनाएँ।

आज के दिग्भ्रमित जीवन, मीडिया के आक्रमण और अप-संस्कृति के घटाटोप अँधियारे के बीच रंगकर्म के वर्तमान और भविष्य को लेकर जहाँ आशा की कोई किरण दिखाई नहीं दे रही, तब वे ऐतिहासिक साक्ष्य और अपने तर्कसंगत विवेचन से हमें यह कहकर निराश होने से बचा लेते हैं कि, "जब किसी देश या जाति की चेतना संक्रान्ति काल से गुज़रती होती है, विचारधाराओं, मूल्यों या परम्पराओं की टकाराहटें तीखी होती हैं, तब नाट्य-चेतना का एक नवोन्मेष होता है—चाहे वह हूणों से आक्रान्त कालिदास का भारत हो, चाहे पूर्व से प्रथम बार भरपूर टकराता हुआ शेक्सपियर का इंग्लैण्ड हो, चाहे युद्धोत्तर विघटन से ग्रस्त सार्त्र का फ्रांस हो।" इसलिए तमाम विपरीत परिस्थितियों के बावजूद इस बात की प्रबल सम्भावना है कि निकट भविष्य में मौलिक तथा नवीन भारतीय नाट्य-दृष्टि तथा सार्थक और आधुनिक रंग-सृष्टि का आविर्भाव निश्चय ही होगा।

20.2 सारांश

भारतीय और पाश्चात्य नाट्य-सिद्धान्तों के संयोग से जिस नयी रंग-चेतना का विकास हुआ, उसका कोई गम्भीर एवं मौलिक शास्त्रकार हमारे यहाँ अभी तक नहीं हुआ। अधिक-से-अधिक, आनन्द और रस पर आधारित भारतीय शास्त्र तथा संघर्ष और विरेचन पर आधारित पश्चिमी-शास्त्र के अनुवादक, व्याख्याकार या विवेचक-विश्लेषण विद्वान् ही सामने आये। हिन्दी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, जयशंकर प्रसाद, लक्ष्मीनारायण मिश्र, जगदीशचन्द्र माथुर, लक्ष्मीनारायण लाल और मोहन राकेश जैसे नाटककारों ने, अपनी-अपनी व्यक्तिगत रुचि, आवश्यकता और मान्यताओं के आधार पर, नाट्य-रचना सम्बन्धी अपने विचारों एवं मानदण्डों पर कुछ छोटे-बड़े लेख लिखे या अपने नाटकों की भूमिकाओं में उनका उल्लेख किया।

धर्मवीर भारती के विचार प्राचीन भारतीय पद्धति के अनुरूप हैं। वह उसे 'प्रख्यात' और 'उत्पाद्य' के रूप में ही देखते हैं। 'स्थापना' (मंगलाचरण) और 'समापन' में भी वह पुरानी परम्परा को ही अपनाते हैं और अंक विभाजन की दृष्टि से भी वह कुछ नया करने के पक्ष में नहीं हैं। परन्तु ज़रूरत के मुताबिक संरचना में 'अन्तराल' की योजना करने से भी वह हिचकते नहीं हैं। 'स्वगत' और 'सूच्य' को सहजता से स्वीकार करते हैं तो हत्या, युद्ध इत्यादि जैसे दृश्यों के 'निषेध' को उसी सहजता से अस्वीकार भी कर देते हैं। एकांकी में पश्चिमी संकलन-त्रय की मर्यादा ज़रूरी समझते हैं तो 'अन्धायुग' जैसे पूर्ण-कालिक नाटक के लिए उसे छोड़ भी देते हैं। दृश्य या अंक परिवर्तन के लिए भारतीय लोक-नाट्य-परम्परा से कथा-गायन की युक्ति ले लेते हैं तो स्थितियों और घटनाओं पर कमेण्ट करने के लिए ग्रीक कोरस की पद्धति पर प्रहरियों की परिकल्पना करने से भी हिचकिचाते नहीं हैं। स्पष्ट है कि कथावस्तु और सरंचना की दृष्टि से भारती समन्वयवादी हैं।

नोट

हिन्दी रंगकर्म के सन्दर्भ भारती की नाट्य-भाषा सम्बन्धी चिन्तन बहुत मूल्यवान है। मूलत: कवि नाटककार धर्मवीर भारती मानते हैं कि ऐतिहासिक दृष्टि से, "भाषा को संस्कार तब मिलता है जब वह काव्य-भाषा के रूप में भली-भाँति प्रयुक्त हो ले ताकि हर शब्द को समुचित अर्थ विकास मिल जाए। खड़ी बोली को पूर्ण परिष्कार नहीं मिल पाया था। अत: प्रारम्भ में गम्भीर विचारवाले शब्द बहुधा अपनी क्षमता से अधिक बोझ लादे हुए, लड़खड़ाते, हाँफते हुए लगते थे। (मसलन लक्ष्मीनारायण मिश्र की भाषा में)। या वे गद्य में प्रयोग होने पर भी कविता की छायावादी 'फैन्सी-ड्रेस' सज्जा का आभास देते थे–कुछ खोये-खोये, रहस्य में डूबे-डूबे, वर्तमान से असंगत से। दूसरी ओर, जहाँ केवल गद्यात्मकता थी, वहाँ भी एक निष्प्राणता थी, क्योंकि नाटक अन्ततोगत्वा कविता की सबसे निकटतम विधा है।"

प्रस्तुति-शैली या नाट्य-शैली के सम्बन्ध में भी डॉ. भारती के विचार काफ़ी उदार और सन्तुलित हैं। उनके अनुसार, "कुछ ने अपने को केवल लोक-नाट्य शैली से ही आबद्ध कर लिया। कुछ ने तथाकथित यर्थाथवादी या जनवादी स्कूल को ही मान्यता दी। कुछ किसी और दायरे में बँध गये। आप जहाँ से जो अच्छा मिले, आपके नाट्यकर्म को नये आयाम या नया विकास दे, उसे खुले मन से स्वीकार करें पर किसी एक वाद या शैली में बाँधकर अपने को सीमित न कर दें। जो नाटक आप करने जा रहे उसमें नाटककार जो कह रहा है, उसी को प्रमुखता दें और उसी के अनुरूप नाट्य-शैली की परिकल्पना करें।" भारती के इस स्वस्थ, सन्तुलित और सम्यक् दृष्टिकोण का ही परिणाम है कि 'अन्धायुग' को इतनी अलग-अलग शैलियों और अद्‌भुत रंग-रूपों में प्रस्तुत किया जा सका।

20.3 शब्दकोश

1. **रेचन–** दस्त लगना, जुलाब
2. **रियाज–** अभ्यास
3. **अंततोगत्वा–** अंतत:
4. **परिष्कार–** अच्छी तरह से साफ करने की क्रिया

20.4 अभ्यास-प्रश्न

1. धर्मवीर भारती के गीति नाट्य अंधायुग की रंगमंचीय संभावनाओं पर विचार कीजिए।
2. धर्मवीर भारती की रंग दृष्टि की विवेचना कीजिए।

उत्तर: स्व-मूल्यांकन

1. (ख) 2. (क) 3. (ग) 4. (ख)

20.5 संदर्भ पुस्तकें

पुस्तकें

1. *धर्मवीर भारती की साहित्य साधना–* सम्पादक: पुष्पा भारती, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली।
2. *हिंदी नाट्य काव्य: पुनर्मूल्यांकन–*हुकमचंद राजपाल, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली।
3. *अंधायुग–* धर्मवीर भारती, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली।

नोट

इकाई 21: अपने-अपने अजनबी– कथासार एवं महत्त्वपूर्ण अंशों की सप्रसंग व्याख्या

अनुक्रमणिका

उद्देश्य

प्रस्तावना

21.1 अपने-अपने अजनबी– कथासार

21.2 अपने-अपने अजनबी– सप्रसंग व्याख्या

21.3 शब्दकोश

21.4 अभ्यास-प्रश्न

21.5 संदर्भ पुस्तकें

उद्देश्य

विद्यार्थी इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् सक्षम होंगे–

- अज्ञेय के उपन्यास अपने-अपने अजनबी की कथावस्तु से परिचित होंगे।
- अपने-अपने अजनबी के महत्त्वपूर्ण अंशों की व्याख्या करने में सक्षम होंगे।

प्रस्तावना

अज्ञेय केवल काव्य के क्षेत्र में ही नहीं, वरन् गद्य के क्षेत्र में भी अपने अद्वितीय एवं मोलिक रूप में ही अभिव्यक्त हुए हैं। इन्होंने अभी तक तीन उपन्यासों की रचना की है–'शेखर: एक जीवनी' (दो भाग), 'नदी के द्वीप', और 'अपने-अपने अजनबी'। ये तीनों उपन्यास ही अपनी मौलिकता तथा नवीनता के लिए प्रसिद्ध हैं, बल्कि इन्होंने हिन्दी उपन्यास के क्षेत्र में कथा और शैली के नूतन आयामों का सफलता तथा कुशलता से उद्घाटन किया है। यदि 'शेखर: एक जीवनी' में व्यक्तित्व और स्वातंत्र्य की खोज है, यदि 'नदी के द्वीप' में एकदम अछूते एवं विशिष्ट प्रणय का अंकन है तो 'अपने-अपने अजनबी' में मृत्यु से साक्षात्कार का प्रभुविष्णु चित्रण है।

21.1 अपने-अपने अजनबी– कथासार

जिस प्रकार मृत्यु से साक्षात्कार करते समय न तो व्यक्तित्व की गरिमा तथा विशालता का ही बोध रहता है, और न जीवन की व्यापकता का ही प्रबोध शेष रहता है, वरन् ये दोनों सिमटकर बहुत ही संकुचित हो जाते हैं, उसी प्रकार 'अपने-अपने अजनबी' का कथानक भी संकुचित, व्यापकता से हीन भावों के वैविध्य से रहित और केवल मृत्यु के ही इर्द-गिर्द घूमने वाला कथानक है। यह कथानक तीन वर्गों में विभक्त किया गया है–योके और सेल्मा, सेल्मा और योके।

नोट

योके और सेल्मा: इस शीर्षक के अंतर्गत योके और सेल्मा के अवश साथ-साथ रहने का, उनकी विविध अनुभूतियों का और अन्त में सेल्मा की मृत्यु का सहज, मार्मिक एवं मनोवैज्ञानिक वर्णन किया गया है।

योके नवयुवती है। वह अपने मित्र पॉल सॉरेन के साथ घूमने आती है कि अचानक बर्फ का पर्वत गिर पड़ता है। पॉल सॉरेन तो न जाने कहां चला जाता है, किन्तु योके दौड़कर समीपस्थ ही एक छोटे-से घर में घुस जाती है। बर्फ इतनी तेजी से लगातार गिरती है कि वह घर भी बर्फ का एक ढूह बनकर रह जाता है और योके तथा उस घर की मालकिन सेल्मा दोनों उसमें बन्दी हो जाती हैं। दोनों एक-दूसरे से नितान्त अपरिचित हैं, दोनों एक-दूसरे के लिए बिल्कुल अजनबी हैं, किन्तु उन दोनों की नियति यह है कि न चाहते हुए भी दोनों को उसी छोटे-से घर में, एक-दूसरे के साथ रहना है। श्रीमती सेल्मा एकेलोफ तो ऐसी दुर्घटनाओं की अभ्यस्त हैं, उसने अपने जीवन में ऐसी अनेक भयावह घटनाओं को देखा और भोगा है, किन्तु योके के लिए यह दुर्घटना जीवन का पहला भयावह अनुभव है। इसलिए सेल्मा योके से पूछती है–हम लोग बर्फ के नीचे दब गए हैं। अब न जाने कितने दिन यों ही कैद रहना पड़ेगा। मैं तो पहले भी एक-आध जाड़ा यों काट चुकी हूँ, लेकिन तुम.....

योके अपनी निडरता से सेल्मा अपनी निडरता से सेल्मा को आश्वस्त करती है। वह बताती है कि इससे पहले भी वह आल्प्स में बर्फानी चट्टानों की चढ़ाइयां चढ़ती रहती हैं, एक बार हिम नदी मे फिसलकर गिर भी चुकी हैं। उसके हाथ-पैर टूटते बचे थे। ऐसी भयानक दुर्घटना को भोगकर भी वह फिर इसीलिए बर्फ की सैर करने के लिए आई है, क्योंकि ऐसी दुर्घटनाओं को झेलने के लिए वह शारीरिक और मानसिक रूप से तैयार है।

सेल्मा योके के इस कथन से आश्वस्त तो हो ही जाती है, साथ ही वह खतरे के महत्त्व का भी बखान कर देती है–'खतरे के आकर्षण में बहुत कुछ सह लिया जाता है–डर भी।'

योके और सेल्मा दोनों एक-दूसरे के लिए अपरिचित भी हैं और अजनबी भी, किन्तु नियति उन्हें शारीरिक रूप से भी इतने निकट ला देती है कि दोनों को एक-दूसरे की ही सुरक्षा की चिन्ता हो जाती है–योके को सेल्मा की और सेल्मा को योके की। फिर वे यह देखकर कि उनके भंडार में जाड़ों-भर के लिए खाद्य सामग्री है, निश्चिन्त हो जाती है।

फिर दोनों बैठकर आपस में बातें करने लगती हैं। सेल्मा क्रिसमस की चर्चा चलाती है जो अभी काफी दूर है, किन्तु सेल्मा अपनी वृद्धावस्था के कारण, जीवन के विकट संघर्षों में टूटन के कारण और अपनी आसन्न मृत्यु का आभास होने के कारण समय की दूरी से ऊपर उठ गई है। उसके लिए हर वस्तु, हर पर्व और हर उत्सव आसन्न हां अपनी इसी मनोदशा के कारण वह योके से कहती है–'योके, तुम्हारी अभी उमर ही ऐसी है न! सभी कुछ बड़ी दूर लगता है। मुझसे पूछो न, क्रिसमस कोई ऐसी दूर नहीं है, मेरे लिए ही–' वह अपना वाक्य अधूरा ही छोड़ देती है। यही उसकी मानसिक अवस्थिति की नियति है, यही उसके जीवन का वह हलाहल है जो उसे बार-बार पीना पड़ता है।

उसका यह अधूरा वाक्य योके को पूरी तरह झकझोर देता है। वह सिहर उठती है और सोचती है कि 'क्या सचमुच आण्टी सेल्मा का यही अनुमान है कि वे दोनों अब बचेंगी नहीं–यही बर्फ से ढका हुआ काठ का बंगला उनकी कब्र बन जायेगा? बल्कि कब्र बन क्या जायेगा, कब्र तो बनी बनाई तैयार है, और उन्हीं को मरना बाकी है। कब तो समय से ही बन गयी है–उन्हें ही मरने में देर हो गयी है–इस काल-विपर्यय के लिए निश्चय ही विधि को दोष नहीं दिया जा सकता।'

योके को सेल्मा के बारे में इतना पता चल गया है कि व गड़रियों की मां है– दो लड़के अब भी गड़रिये हैं, एक लकड़हारा हो गया है; तीनों नीचे गये हुए हैं और जाड़ो के बाद ही लौटकर आयेंगे। यह तो उनका हर साल का क्रम है–जाड़ों में रेवड़ लेकर नीचे चले जाते हैं और वसन्त में फिर आ जाते हैं। यों तो सेल्मा को भी उनके ही साथ चले जाना चाहिए था, लेकिन न जाने क्यों वह इस वर्ष यहीं रह गयी है। जेसे ही सेल्मा के विषय में योके को यह पता चलता है तो वह उसके न जाने पर अनेक आयामों से सोचती है, और अनुमान

नोट

लगा लेती है कि निश्चय ही यह बुढ़िया कंजूस और शक्की तबीयत की होगी, और उसको सामान से भरा हुआ घर खाली छोड़कर जाना न रुचा होगा। और तब बूढ़ों के प्रति अपना सम्पूर्ण आक्रोश, सम्पूर्ण वितृष्णा और सम्पूर्ण तिरस्कार-भावना संजोकर योके मन ही मन कह उठती है–'और बूढ़ों को चिन्ता किस बात की–यह ही जगह बैठे-बैठे पगुराते रहते हैं। अतीत की स्मृतियां कुरेदकर जुगाली करते हैं और फिर निगल लेते हैं।'

योके और सेल्मा इस बात से पूर्णत: आश्वस्त हैं कि उनके पास जाड़े-भर के लिए आवश्यक सामान है, और योके को यह भी विश्वास है कि उसका प्रेमी पॉल एक-न-एक दिन उसे खोज ही लेगा। कहीं योके इस स्थिति से भयभीत न हो रही हो, इस आशंका से उसे आश्वस्त करती हुई सेल्मा कहती है–'खतरे की काई बात नहीं है, योके! वैसे खतरा तुम्हारे लिए कोई चीज नहीं है। तुम तो तरह-तरह के खतरनाक खेल खेलती रही हो। लेकिन एक बात है। खतरे में डर के दो चेहरे होते हैं, जिनमे से एक को दुस्साहस कहते हैं; कई लोग इसी एक चेहरे को देखते हुए बड़े-बड़े काम कर बैठते हैं, और कहीं के कहीं पहुंच जाते हैं लेकिन धीरज में डर का एक ही चेहरा होता है, और उसे देखे बिना काम नहीं चलता। उसे पहचान लेना ही अच्छा है। तब उतना अकेला नहीं रहता निरे अजनबी डर के साथ कैद होकर कैसे रहा जा सकता है?'

इसके पश्चात्, उपन्यासकार ने कथानक का विस्तार डायरी-शैली में किया है। योके प्रतिदिन अपनी डायरी में प्रतिदिन घटित होने वाली प्रमुख घटनाओं को अंकित करती है। इन घटनाओं से पता चलता है कि सेल्मा का स्वास्थ्य दिन-प्रतिदिन गिरता जा रहा है, और योके के मन में सेल्मा के प्रति दिन-प्रतिदिन घृणा और आक्रोश का भाव बढ़ता जा रहा है। उसके चेहरे के भावों को देखकर योके कभी-कभी तो इतनी आक्रोशित हो उठती है कि कुछ तोड़-फोड़ करने के लिए उतावली हो जाती है। उस बन्द बंगले में बन्दी होकर और दुनिया से कटकर योके की भावनाएं इतनी अन्तर्मुखी हो गई हैं कि उनसे गम्भीर दार्शनिकता निसृत होने लगती है। 16 दिसम्बर को उसने अपनी डायरी में लिखा –'एक अन्तहीन, परिवर्तनहीन धुंधली रोशनी, जो न दिन की है, न रात की है, न सन्ध्या के किसी क्षण की ही है–एक अपार्थिव रोशली जो कि शायद रोशनी भी नहीं है; इतना ही कि उसे अन्धकार नहीं कहा जा सकता। हमेशा सुनती आयी हूँ कि कब्र में बड़ा अंधेरा होता है, लेकिन यहां उसकी भी असम्पूर्णता और विविधता है। शायद यही वास्तव में मृत्यु का विशेष रूप है, जो मनुष्य के लिए चुना गया है, जिसमें कि विवेक है, अच्छे-बुरे का शोध है। यह उसमें न होता तो उसका मरना सम्पूर्ण हो सकता। यह हमारे युगों से संचे हुए नीति-बोध की सजा है कि हमारा मरना भी अधूरा ही हो सकता है–मरकर भी कुछ हिसाब बाकी रह जाता है।'

क्या आप जानते हैं

अज्ञेय ने अपने-अपने अजनबी में अस्तीत्ववादी दर्शन के सूत्रों को कथा रूप में प्रस्तुत करने अद्वितीय प्रयास किया है।

इस मृत्यु बोध के कारण योके को ईश्वर की प्रति निष्ठुरता और अनास्था की भी अनुभूति होती है, और अपनी अवशता का भी बोध होता है–'एक धुंधली रोशनी–एक ठिठका हुआ निसंग जीवन। मानो घड़ी ही जीवन चलाती है, मानो एक छोटी-सी मशीन ने जिसकी चाबी तक हमारे हाथ में है, ईश्वर की जगह ले ली है। और हम हैं कि हमारे इतना भी वश नहीं है कि उस यन्त्र को चाबी न दें, घड़ी को रुक जाने दें, ईश्वर का स्थान हड़पने के लिए यन्त्र के प्रति विद्रोह कर दें, अपने को स्वतंत्र घोषित कर दें।'

योके सोचती है कि जीवन का प्रवाह क्षणों की तरंगों पर निरन्तर प्रवाहमान हो रहा है, अन्तहीन क्षणों की लम्बी शृंखला के साथ-साथ बंधकर चलता हुआ वह चुकता जा रहा है–'घड़ी' के रुक जाने से समय तो नहीं रुक जायेगा, और रुक भी जायेगा तो यहां पर क्या अंतर होने वाला है, घड़ी के चलने पर भी तो यहां समय जड़ीभूत है! एक ही अन्तहीन लम्बे शिथिल क्षण में मैं जी रही हूं–जीती ही जा रही हूँ–और वह क्षण जरा भी नहीं बदलता, टस से मस नहीं होता है। क्या अपने सारे विकास के बावजूद हम मनुष्य भी निरे पौधे नहीं हैं जो

नोट

बेबस सूरज की ओर उगते हैं।' और तब योके को अपने अस्तित्व की समूची निरर्थकता की अनुभूति झकझोर देती है–'लेकिन मैं जहां हूँ, क्या सूर्य वहां सचमुच नहीं है? क्या काल वहां सचमुच नहीं है? क्या दावे से ऐसा न कह सकना ही मेरी यहाँ की समस्या नहीं है? मैं मानो एक काल-निरपेक्ष क्षण में टंगी हुई हूं–वह क्षण काल की लड़ी में से टूटकर कहीं छिटक गया है, और इस तरह अन्तहीन हो गया है–अन्तहीन और अर्थहीन।'

शाम को सेल्मा और योके ताश खेलने के लिए बैठती हैं। खेलते-खेलते सेल्मा को झपकी आ जाती है। योके को उसका चेहरा पढ़ने का अवसर मिलता है जिससे उसे सेल्मा अनेक सहयोगी और विरोधी भावों का पुंज तथा रहस्यमयी दिखाई देती है। दूसरे दिन भी सेल्मा एकाएक आंखें बन्द कर लेती है। योके को लगता है सेल्मा की वृद्धावस्था दिन-ब-दिन उस पर हावी होती चली आ रही है और उसका चेहरा सफेद पड़ता जा रहा है।

सेल्मा के व्यवहार ने और उसके साथ रहने की विवशता ने योके को गम्भीर रूप से अन्तर्मूखी बना दिया है। 21 दिसम्बर को अपनी डायरी में वह 'समय' का दार्शनिक और गम्भीर विवेचन करती हुई लिखती है–'हम समय की बात करते हैं जो कि एक प्रवाह है। किसका प्रवाह है? क्षण का। लेकिन क्षण क्या है! यह जानने का मेरे पास कोई उपाय नहीं है। एक ढंग है घड़ी के टिक्-टिक् से नापने का, उस टिक्-टिक् के और भी खंड किए जा सकते हें और माना जा सकता है कि वैसा छोटे से छोटा खंड क्षण है। विज्ञान के तरीके दूसरे भी हैं–जिन्हें गणित से सिद्ध किया जा सकता है कि समय का छोटे से छोटा अविभाज्य अंश कितना होता है, और उस अंश को भी क्षण कहा जा सकता है।

लेकिन ऐसा विज्ञान और ऐसी जानकारी किसि काम की? हमारे लिए समय सबसे पहले अनुभव है–जो अनुभूत नहीं है वह सब नहीं हैं सूर्य की गति समय नहीं है, बल्कि उस गति के रहते क्रमशः जो कुछ होता है उसका होते रहना ही समय की माप है। और अनुभव की भाषा में क्षण क्या है? समय मात्र अनुभव है, इतिहास है। इस संदर्भ में 'क्षण' वही है जिसमें अनुभव तो है, लेकिन जिसका इतिहास नहीं है, जिसका भूत-भविष्य कुछ नहीं है, जो शुद्ध वर्तमान है, इतिहास से परे, स्मृति के संदर्भ से अदूषित, संसार से मुक्त। अगर ऐसा नहीं है, तो वह क्षण नहीं है, क्योंकि वह काल का कितना ही छोटा खंड क्यों न हो, उसमें मेरा जीना काल-सापेक्ष जीना है, ऐतिहासिक जीना है। वह बिन्दु नहीं है, रेखा परम्परा है, और क्षण परम्परा मुक्त होना चाहिए।'

योके को सेल्मा के साथ-साथ रहते एक पखवाड़ा हो जाता है, जिससे दोनों एक-दूसरे के स्वभाव से काफी परिचित हो गई हैं। उस वातावरण में रहते-रहते योके बार-बार किसी न किसी बहाने से मृत्यु की चर्चा की अभ्यस्त हो गई है, क्योंकि अन्त में सभी को मरना होता है।

क्रिसमस की रात आ गई। दोनों ही मौन हैं, कोई किसी का अभिनन्दन नहीं कर रही है, सम्पूर्ण वातावरण में एक भयावह सन्नाटा छाया हुआ है। अजनबी-से रहकर उन दोनों ने खाना खाया और, फिर दोनों साथ-साथ बैठकर आग तापने लगती हैं। अचानक योके सेल्मा से प्रश्न कर बैठती है–'आण्टी! आपको ताश से भविष्य पढ़ना आता है?' सेल्मा इस प्रश्न से अन्दर-अन्दर तो हिल उठती है, किन्तु मुस्कराकर उत्तर देती है–'मेरा भविष्य! वह पढ़ना क्या आसान काम है!' यह उत्तर सेल्मा के मन में निहित अगाध वेदना को, असीम आशंकाओ को और भविष्य के प्रति उसकी गहन अवहेलना को जैसे शब्दो के इस छोटे-से कलेवर से ही व्यक्त कर देती है। और अन्त में सेल्मा अपनी आसन्न मृत्यु की सूचना योके को दे ही देती है–'मैं बुरा नहीं मानती, योके! तुम्हारा वैसा चाहना ही स्वाभविक है। मैं भी चाहती कि मर जाऊं, पर मेरे चाहने की तो अब जरूरत नहीं है। मैं जानती हूँ कि बहुत दिन बाकी नहीं हैं।'

इस घटना के बाद योके को यह अनुभव होने लगता है कि उसके और सेल्मा के बीच अवश्य कोई तीसरा और है, सम्भवतः वह देव शिशु है। और तभी योके को पॉल का स्मरण हो आता है जो कहीं क्रिसमस मना रहा होगा, अपने खुले गले से गा रहा होगा, और योके का स्मरण कर रहा होगा। इस कल्पना से योके का सम्पूर्ण व्यक्तित्व सिहर उठता है और उसे वह कारागार-सी कोठरी विषैली घुटन से भरी हुई अनुभव होने लगती है।

सेल्मा दिन-ब-दिन मृत्यु के निकटतर होती जा रही थी। मृत्यु से प्राणी तभी तक डरता है, जब तक वह उससे

नोट

छुटकारा पाने के लिए आशान्वित होता है, किन्तु जब उसकी यह आशा पूर्णतया खंडित हो जाती है, तो फिर वह उल्लसित होकर मृत्यु का स्वागत करने के लिए तत्पर हो जाता है। सेल्मा की भी यही स्थिति हो गई है। इसीलिए एक रात को वह नींद न आने के कारण धीरे-धीरे गा रही थी–'गुनगुनाहट से कुछ ही ऊंचे स्वर से–देव-शिशु के आविर्भाव की खुशी का एक गान। यह बदली हुई परिस्थिति योके को अप्रत्याशित लगी। वह सोचती है–अवतरण अगर हुआ तो मृत्यु का और वह मृत्यु ऐसी नहीं है कि गाने से उसका स्वागत किया जाये! वह मेरे कन्धों पर सवार होकर मेरा गला घोंट रही है। कैसा बेपनाह है वह पंजा जो छोड़ेगा नहीं, लेकिन किसकी उंगलियों की छाप भी नहीं पड़ेगी। मैंने कल्पना की, मेरे हाथ बुढ़िया के गले पर हैं और उसे घोंट रहे हैं–बेपनाह हाथ–नहीं जानती कि उनकी पकड़ भी ऐसी है या नहीं कि कोई छाप न छोड़, लेकिन बुढ़िया के गले की रक्तहीन पारदर्शी त्वचा तो पहले ही ऐसी है कि उस पर कोई छाप न पड़ेगी।' इस परिस्थिति में योके सारी रात न सो सकी और बुढ़िया के कराह-मिश्रित गीत को सुनती रही।

क्रिसमस के दिन सेल्मा योके से पहले ही उठ गई। उसने रसोई में जाकर अपने हाथों से कहवा बनाया। थोड़ा-सा स्वयं पिया और शेष योके के लिए रख दिया नाश्ता करते समय योके ने जान लिया कि सेल्मा ने कुछ भी नहीं खाया है, उसके अत्यधिक आग्रह करने पर भी वह कुछ न खा सकी। सेल्मा ने योके से कहा कि मैं ऐसी कल्पना कर रही हूं कि बाहर खूब खिली हुई धूप है–बड़ी बिखरी स्निग्ध धूप, जिसकी घाम में बदन दार्शनिक की भांति अन्तर्मुखी होकर कहती है–'जो हमारे भीतर नहीं है, वह हम बाहर कैसे दे सकते हैं–कैसे देना चाह सकते? खुली, निखरी हुई, स्निग्ध, हंसती धूप–मैं बाहर उसकी कल्पना करती हूं तो वह मेरे भीतर भी खिल आती है, और मैं सोच सकती हूं कि मैं उसे औरों को दे सकती हूँ नही तो–कितना ठंडा अंधेरा होता है उसके भीतर, जिसे मरना है और सिवा मरने के और कुछ नहीं करना है।'

सेल्मा की आसन्न मृत्यु का बोध करके और उसकी कभी दार्शनिक और कभी चिड़चिड़ाहट-भरी बातों को सुन-सुनकर योके ऊब जाती है। वह परिस्थिति योके के लिए इतनी अधिक असह्य हो जाती है कि वह सेल्मा की मृत्यु की आतुरता से प्रतीक्षा करने लगती है। यद्यपि वह जानती है कि सेल्मा के मन में किसी के प्रति भी विराध-भाव नहीं है–न योके के प्रति, न उसमें हिंस्र भावों के प्रति और न अपनी ही मृत्यु के प्रति। सेल्मा की बीमारी निन्तर बढ़ती जाती है और उसकी मृत्यु-बेला समीपतर आती जाती है।, इसे योके भी जानती है और स्वयं सेल्मा भी यह विषैला वातावरण योके को इतना दमघोंटू अनुभव होने लगता है कि वह कुछ भी अनुचित करने के लिए तत्पर हो जाती है। उसका आक्रोश बार-बार इन भवों के साथ फूट-फूट पड़ता है–'उसके सामने ही नहीं, अपने सामने खड़ी होकर अपने को मारूं, छोटी कैंची उठाकर अपने गालों में चुभा लूं, कि नहेरने से अपने माथे, नाक-कान ठोड़ी पर घाव कर लूं–कि पानी का जग उठाकर आईने पर पटककर उसके और आईने के भी टुकड़े-टुकड़े कर दूं! आईने के भी और उसमें झांकते हुए अपने प्रतिरूप के भी जो इतनी बेहयाई से मुझे ताकता है, और मेरी सब अराजक जिज्ञासाएं वापस मेरे मुंह पर मारता है।'

सेल्मा का व्यवहार दिन-प्रतिदिन परिवर्तित होता जाता है। कभी तो वह योके के प्रति अत्यन्त दयालु बन जाती है, और कभी अत्यधिक चिड़चिड़ी हो जाती है। योके को उसका यह व्यवहहार न तो अप्रिय और न प्रिय! उसका अनुमान है–'तो बुढ़िया का कवच भी नीरन्ध्र नहीं है, कहीं उसमें भी टूट है–कहीं-न-कहीं वह भी मृत्यु से डरेगी और रिरियाकर कहेगी कि नहीं, मैं मरना नहीं चाहती! एक प्रबल, दुर्दमनीय उल्लास, एक विजय का गर्व मेरे भीतर उमड़ आया।' वस्तुतः समय की गति स्वयं अपनी इच्छा से चलती है, उसे न तो रोका जा सकता है और न आगे-पीछे धकेला जा सकता है। मानव की नियति यही है कि जो काम उसे करने हैं, उन्हें वह करता चले, जब तक उसे जीना है, तब तक जीता चले, बस!

टास्क योके के अनास्थावादी विचारों पर टिप्पणी कीजिए।

नोट

सेल्मा बलात् ईश्वर में विश्वास जमा लेना चाहती है, क्योंकि जीवन के अन्तिम दिनों या क्षणों में मानव-मन की यही परिणित होती है। अपनी इस मानसिक स्थिति को वह योके से इन शब्दों में स्पष्ट कह देती है–'हां, योके! तुम नहीं जानतीं कि जिसे माला की मणि तक नहीं पहुंचना है, उसके लिए एक-एक मनके का रूप कितना दिव्य होता है।' सेल्मा इतनी दुर्बल हो जाती है कि उसका चलना-फिरना भी मुश्किल हो गया है। वह अपने ही कमरे में अधिकतर अपनी कुर्सी पर ही बैठी रहती है। उसकी यह स्थिति योके को ऐसी प्रतीत होती है कि जैसे सेल्मा है ही नहीं, जैसे उस बर्फ की गुफा में योके अकेली ही है–बिल्कुल अकेली। फिर भी किसी-न-किसी स्तर पर योके सेल्मा से अनुशासित है। यह कैसी विडम्बना है कि जो जीवित नहीं हैं वे उन पर इतना कड़ा शासन करते हैं जो जीवन से छटपटा रहे हैं। मानव की यह परतंत्रता, स्वयं वरण न कर सकने की अयोग्यता मानव की अपरिहार्य किन्तु सबसे अधिक मर्मान्तक नियति है। इसी तथ्य का उद्घाटन करती हुई सेल्मा योके से कहती है–'मेरी बीमारी की बात बार-बार दोहराने की जरूरत नहीं है–मैं जानती हूं कि मै बीमार हूं। मैं क्या जान बूझकर हूई हूं, या कि तुम्हें सताने के लिए बीमार हूई हूं? और स्वतन्त्रता–कौन स्वतंत्र है? कौन चुन सकता है कि वह कैसे रहेगा, या नहीं रहेगा? मैं क्या स्वतंत्र हूं कि बीमार न रहूं– या कि अब बीमार हूं तो क्या इतनी भी स्वतंत्र हूं कि मर जाऊं? मैंने चाहा था कि अन्तिम दिनों में कोई मेरे पास न हो। लेकिन वह भी क्या मैं चुन सकी?'

मन का एक स्वभाव तो यह है कि दूसरों को दुखी देखकर होता है, और एक यह भी है कि दूसरों की पीड़ा में आनन्दित होता है, सन्तोष प्राप्त करता है यद्यपि यह स्वभाव कमीनापन है परन्तु इस प्रकार के स्वभाव की सत्ता को नकारा नहीं जा सकता। 'हां इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यह स्वभाव परिस्थितियों की देन होता है–उन परिस्थितियों को जिन्हें मन अवश होकर स्वीकार करता है, अथवा जिनमे रहने के लिए विवश होता है। अपनी इस अवशता और विवशता का उल्लेख करती हुई योके कहती है–'क्यों उसे (सेल्मा को) तकलीफ होते देखकर मुझे सन्तोष होता है? लेकिन तकलीफ तो शायद उसे बराबर रहती है–क्योंकि उसे तकलीफ से टूटते हुए देखकर मुझे तसल्ली होती है? कितना कमीना है यह सन्तोष, जो दूसरों को हारते और टूटते हुए देखकर होता है–क्या यह एक अत्यन्त विकृत ढंग की जिजीविषा नहीं है?

अब सेल्मा इतनी दुर्बल हो गई थी कि उसके शरीरावयवों ने भी उसके आदेश मानने में कोताही शुरू कर दी थी। अपनी इस असमर्थता पर उसे अत्यधिक क्रोध आता है। परन्तु विवशता से ही छटपटाकर रह जाती है। जैसे-जैसे वह मृत्यु के सन्निकट आती जाती है, ईश्वर के प्रति उसके मन में जिज्ञासा और अनास्था के भाव उठते-गिरते हैं। एक दिन वह योके से ही प्रश्न कर बैठती है–'योके, तुम ईश्वर को मानती हो? योके की असमर्थता जानकर वह स्वयं ही इस प्रश्न का उत्तर देती है–'यों तो मैं भी नहीं कह सकती कि मैं जानती हूं, कि मैं सचमुच मानती हूं। लेकिन कभी जब यह बात सोचती हूं कि मैं मरने वाली हूं, और तब मुझे ध्यान आजा है कि तुम यहां उपस्थित हो–जब मैं अपने से अलग एक सजीव उपस्थिति के रूप में तुम्हारी बात सोचती हूं–तब मुझे एकाएक निश्चित रूप से लगता है कि ईश्वर है–कि सजीव उपस्थिति का नाम ईश्वर है–कोई भी उपस्थिति ईश्वर है। क्योंकि नहीं तो उपस्थिति हो ही कैसे सकती है?'

एक रात को सहसा योके ने भूकम्प के द्वारा जाना कि बर्फ का पर्वत ढह गया है और प्रात:काल उसने देखा कि वास्तव में कमरे के प्रकाश का रंग कुछ बदल गया है। किन्तु सेल्मा का चेहरा अब काफी बूढ़ा दिखाई देने लगा है। उसके चेहरे की सभी रेखाएं अधिक स्पष्ट और गहरी और निर्मम हो गयी थीं, और उनके माध्यम से जीवन जो भी नि:संग और निष्करुण और संदेश देना चाहता था, वह और भी विशद और असन्दिग्ध हो उठा था।' एक दिन योके ने अचानक उससे पूछा कि वह कौन-सी शक्ति है जो उसे सहारा देकर निर्भीक बनाये हुए है, तो वह गम्भीरता से उत्तर देती है–'मुझे किसका सहारा है, मैं नहीं जानती हूं, यह भी किस मुंह से कह सकती हूं? शायद मृत्यु का ही सहारा है। वह है बिलकुल पास है, सामने खड़ी है–लगता है कि हाथ बढ़ा कर उसे छू सकती हूं? और यह कहने में और इसमें क्या फर्क है कि हाथ बढ़ाकर उसका सहारा ले सकती हूं? ईश्वर ... ईश्वर का नाम ले लेना तो बड़ा आसान है, लेकिन बड़ा मुश्किल भी है। और मौत और

नोट

ईश्वर को हम अलग-अलग पहचान भी तो कभी-कभी ही सकते हैं। बल्कि शायद मन से ईश्वर को तब तक पहचान ही नहीं सकते, जब तक कि मृत्यु में ही उसे न पहचान लें। योके अपना मन्तव्य व्यक्त करती हुई कहती है कि मुझे तो यह सिखाया गया है कि ईश्वर है, इसीलिए मृत्यु नहीं है। मृत्यु केवल भ्रम है। तब सेल्मा ईश्वर और मृत्यु के विषय में एक गम्भीर दार्शनिक वक्तव्य ही दे डालती है–'सिखाया तो मुझे भी यही गया है। लेकिन भ्रम भी क्या कम ईश्वर है? और ईश्वर की कौन-सी पहचान हमारे पास है जो भ्रम नहीं है? जब ईश्वर पहचान से परे है तो कोई भी पहचान भ्रम है। ईश्वर को हम कैसे जान सकते हैं? जो हम जान सकते हैं वे कुछ गुण हैं–और गुण हैं इसलिए ईश्वर के तो नहीं हैं। हम पहचानते हैं अनिवार्यता, हम पहचानते हैं अन्तिम और चरम और सम्पूर्ण और अमोघ नकार– जिस नकार के आगे और कोई सवाल नहीं है और न कोई आगे जवाब ही . . . इसीलिए मौत ही तो ईश्वर का एकमात्र पहचाना जा सकने वाला रूप है। पूरे नकार का ज्ञान ही सच्चा ईश्वर-ज्ञान है। बाकी सब सतही बातें हैं और झूठ हैं।'

सेल्मा की ये बातें सुनकर योके को अनुभव होता है, जेसे ये सारी बातें उसे ही लक्षित करके कही जा रही हैं। उसे क्षणभर के लिए आत्मग्लानि होती है, और फिर एक अबाध आक्रोश उसके मन में फूट पड़ता है–'मैं अगर ईश्वर को नहीं मान सकती तो नहीं मान सकती, और अगर ईश्वर मृत्यु का ही दूसरा नाम तो मैं उसे क्या मानूं? मैं मृत्यु को नहीं मानती, नहीं मानना चाहती! मृत्यु एक झूठ है, क्यों वह जीवन का खंडन है। और मैं जीती हूँ, और जानती हूं कि मैं जीती हूं। कभी ऐसा होगा कि जीती न रहूंगी–लेकिन जब नहीं रहूंगी, तब यह जानने वाला भी कौन रहेगा कि मैं जीवित नहीं हू–कि मैं मर चुकी हूं? मौत दूसरों की ही हो सकती है, जिनका होना और न होना दोनों ही हम जान सकते हैं–या मानते हैं। लेकिन अपनी मृत्यु का क्या मतलब है? वह केवल दूसरों को देखकर लगाया हुआ एक अनुमान है–कि दूसरे के साथ ऐसा हुआ इसीलिए हमारे साथ भी होगा। लेकिन दूसरे ने अपने होने को जैसा जाना, क्या हमने भी उसके होने को ठीक वैसा ही जाना? क्या 'वह है' और 'मैं हूं' ये दोनों बुनियादी तौर पर अलग-अलग ढंग के अलग-अलग जाति के, अलग-अलग दुनियाओं के ही बोध नहीं हैं? 'वह है' के जोड़ का बोध यह भी है कि 'वह नहीं है' लेकिन 'मैं हूं' के साथ उसका उलटा कुछ नहीं है; मैं 'नहीं हूं' यह बोध नहीं है, बल्कि बोध का न होना है।'

अपने विचारों के इस द्वन्द्व से योके इतनी अधिक विचलित हो जाती है कि वह सेल्मा का गला घोंटने का विचार कर लेती है, किन्तु ऐसा कर नहीं पाती, और जब सेल्मा उससे कहती है कि मेरा तो खुद कई बार मन हुआ कि तुमसे कहूं, मेरा गला घोंट दो–करने का साहस नहीं हुआ तो योके न रख से शिख तक आत्मग्लानि से भरकर काँपने लगती है।

रात बीतने पर व प्रात:काल होने पर सेल्मा ने योके को अपने कमरे में बुलाया। कहते हैं कि आसन्न मृत्यु की एक गन्ध होती है। हम इन्सानो ने उसे पहचाने की शक्ति खो दी है, लेकिन जानवर पहचान सकते हैं, और उसे पाकर बेचैन हो उठते है। यह भी सुना है कि कैन्सर के रोगियों के अन्तिम दिनों में यह गन्ध इतनी स्पष्ट होती है कि मनुष्य भी पहचान सकते हैं। अत: सेल्मा की मृत्यु से सेल्मा स्वयं तो अनभिज्ञ थी ही, उसकी गन्ध योके को भी मिल गई थी, इसलिए उन दोनों का पारस्परिक व्यवहार अपेक्षाकृत अधिक मृदुल और सहानुभूतिपूर्ण हो गया था। योके ने अपने उस व्यवहार के लिए क्षमा-याचना की, जब वह उसका गला घोटने के लिए तैयार हो गई थी। सेल्मा ने उत्तर दिया–'क्षमा तो मुझे मांगनी है–तुम्हें ऐसी परिस्थिति में डालने के लिए यह कुछ अच्छी स्थिति नहीं कि कोई कुछ करना चाहिए और कर न सके।' किन्तु तब भी योके स्वयं को ही अपराधि नी मानती है। सेल्मा अपराध की और मानव की परतंत्रता की विवेचना करती हुई उसे समझाती है–'न न, योके यह अपराध तो खाहमखाह ओढ़ना है। तुम जो अपने को स्वतंत्र मानती हो, वही सब कठिनाइयों की जड़ है। न तो हम अकेले हैं, और इसीलिए चुनने या फैसला करने का अधिकार हमारा नहीं है। मैंने तुम्हें बताया है कि मैं चाहती थी कि मैं अकेली मरूं। लेकिन क्या यह निश्चय करना मेरे बस का था? क्या मैं अपनी मनपसन्द परिस्थिति चुन सकी? और तुम क्या स्वतंत्र हो कि मुझे मरती हुई न देखो? ऐसी सब स्वतंत्रताओं की कल्पनाएँ निरी अहंकार है–और उसी से स्वतंत्रता को छोड़कर कोई दूसरी स्वतंत्रता नहीं है।'

नोट

सेल्मा की गूढ़ गम्भीर और रहस्यभरी बातें योके को भी गम्भीर और रहस्यमयी बना देती हैं। सेल्मा की मरणासन्न दशा, उसके माध्यम से मृत्यु का साक्षात्कार, योके को भी अपने और मृत्यु के विषय मे बार-बार सोचने को विवश कर देता है। वह सोचती है–'इस बिना कफन की कब्र से क्या वह पहले की अवस्था अच्छी नहीं थी? बर्फ के नीचे दबकर मरना तो है–उसमें कारण और कार्य की संगति तो है! लेकिन व बिना दबे, बिना बर्फ को छुए भी अहेतुक मर जाना–यह मानो हमारे जीवन के अनुभव का अपमान करता है। और हम मरने पर भी अनुभव का खंडन सहने को तैयार नहीं। शायद यह हमारे इस करुण विश्वास का–विश्वास की कामना का फल है कि अगर अनुभव है तो हम भी हैं, और अगर कोई अनुभव हमें हुआ है तो हमारे मर जाने पर भी वह नहीं मरता, और एक घनात्मक उपलब्धि के रूप में बचा ही रह जाता है। इस कारण विश्वास के सहारे हमें यह मान लेना चाहिए कि हमीं बचे रह जाते हैं। लेकिन सब झूठ है–कुछ नहीं बचता–हम नहीं बचते; बचने को रहे भी, यह भी नहीं कर सकते! मृत्यु–मृत्यु–मृत्यु–उसी की एकमात्र प्रतीक्षा, ऊपर बर्फ हो या न हो–और हाँ, कैंसर भी हो या न हो! क्या सेल्मा की प्रतीक्षा मेरी प्रतीक्षा से इसलिए कुछ भिन्न है कि उसे कैंसर है और मुझे नहीं है, या कि भिन्न इसी बान में है कि उसके पास कार्य-कारण की संगति का सबूत है, और मेरे पास वह भी नहीं है? क्या मैं ज्यादा लाचार, ज्यादा दयनीय–ज्यादा मरी हुई नहीं हूं? क्या मुझे ही ज्यादा कैंसर नहीं है–वह कैंसर जिसे हम जिन्दगी कहते हैं?'

बर्फ हट गई है और सेल्मा के घर में योके को धूप का एक चकत्ता दिखाई दे गया है, जो उस कब्र के प्रवास के इतिहास में एक उल्लासमयी घटना है। योके सेल्मा से धूप के उस चकत्ते को देखने का आग्रह करती है, किन्तु वह इसके प्रति उत्सुक दिखाई नहीं पड़ती। और कोई आध घंटे बाद जब सेल्मा ने धूप के उस चकत्ते को देखने की इच्छा प्रकट की, तब तक वह गायब हो चुका था। आज योके ने पहली बार अनुभव किया कि उसके मन में उस बुढ़िया के प्रति करुणा का भाव उत्पन्न हुआ है।

सेल्मा

इस शीर्षक के अंतर्गत सेल्मा के युवा जीवन की कहानी कही गई है। वह उस बस्ती के पास रहती थी जिसमें यद्यपि शहर के सब लक्षण आ चुके थे, फिर भी लोग उसे कस्बा ही कहते थे। यहां पर निवास करने वाले लोगो के जीवन की गति भी धीमी ही थी, और शायद उनके बोलने के ढंग की तरह उनकी जीवन-दृष्टि भी कुछ पुरानी और कुछ पिछड़ी हुई थी। इस कस्बे के आगे सीधे-सपाट मैदान में एक बाग था। यह बाग भी पुराना था, किन्तु हरियाली की सैर करने की चाह करने वालों के लिए यही एकमात्र स्थान था। बाग के पार नदी थी, और नदी के किनारे एक सड़क थी। सड़क के आगे फिर हरियाली का फैलाव था। वहीं उस नदी पर एक पुल था। जब वर्षा होती थी और चारों ओर पानी ही पानी भर जाता था, तो वहां के रहने वाले सभी पुल पर आ जाते थे, और तब अनेक छोटी-मोटी दुकानों के कारण पुल पर काफी चहल-पहल हो जाती थी। पुल धनुषाकार था, जिसके दोनों छोर ही थोड़ा-बहुत पानी में डूब पाते थे। पुल के सबसे ऊँचे खण्ड पर कुछ पक्की दुकाने भी थीं। वहां पर हर साल बाढ़ आती और उतर जाती। सभी लोग अपने-अपने स्थानों पर पहुंचकर फिर से अपने-अपने कार्यों में लग जाते।

किन्तु सन् 1906 में जो बाढ़ आई, उसने सारे कस्बे को जैसे अपने उदर में समो लिया। नदी पर जो नावें सुरक्षा के लिए बंधी हुई थीं, वे सबकी सब वाढ़ मे बह गई। पुल से आने-जाने का रास्ता भी बन्द हो गया, और शहर की नावें बह जाने के कारण वहां से भी आना लोगों का रुक गया। सैलानी भी कोई नहीं अया। फिर एक दिन अचानक एक भयंकर भूचाल भी आ गया। सारे पुल की नावें हिल गयीं। पुल के दोनों सिरे तो टूटकर बह ही गये, बीच के ऊंचे भाग को संभालने वाले खम्भे भी दरक गये, और उनमें से कुछ तो थोड़ा-बहुत अपने-अपने स्थानों से हट भी गये तब पुल अधर में ही लटक कर रह गया, और वह कभी भी गिरकर नदी की भयंकर धारा मे विलीन हो सकता था। उस पुल पर उस समय केवल तीन दुकानें ही रह गई थीं–सेल्मा की, यान की और एक फोटोग्राफर की। सारी मस्तूल टूट जाने पर बाद में भटकती हुई कहीं अटक गई थी, अटक कर अर्थहीन हो गई थी, और अर्थहीनता से थर-थर कांपते हुए तीनों प्राणी उससे चिपके हुए सांसें गिन रहे थे।

नोट

एक दिन सेल्मा डालबर्ग अपने चायघर में बैठी हुई अपने खाने के लिए कुछ बना रही थी कि सहसा वहां यान एकेलोफ आया, और खाने का कुछ सामान मांगा। सेल्मा ने दुगुने दाम लेकर उसे सामान दे दिया। वह सामान–थोड़ा-सा आटा और सूखा गोश्त–लेकर चला गया। दूसरे दिन सवेरे ही फोटोग्राफर आया, और उसने पीने का पानी मांगा, क्योंकि पुल के कांपने से दवा की कुछ शीशियां पानी के ड्रम मे गिरकर टूट गई थीं जिससे उसका सारा संचित पानी दूषित हो गया था। सेल्मा ने मन ही मन परिस्थिति का मूल्यांकन करते हुए–'पानी मेरे पास शायद चाय बनाने लायक-भरा होगा। मैंने अभी चाय भी नहीं बनाई है। कहो तो वही पानी तुम्हें दे दूं। या कि यहीं एक प्याला चाय पी लो।' यह सुनकर फोटोग्राफर निराश होकर लौट गया।

यान, फोटोग्राफर और सेल्मा के बीच में एक दीवार-सी खड़ी हो गई, और सेल्मा तो इन दोनों से बिलकुल कट ही गई। वह अपने चायघर में बैठी-बैठी कभी-कभी अपनी खिड़की से झांककर उन दोनों को बातें करते हुए देख लेती थी। वे अक्सर चाय बनाकर भी पी लिया करते थे।

चौथे दिन यान फिर कुछ खरीदने के लिए सेल्मा के पास आया। यान के व्यवहार में काफी परिवर्तन था, जिससे सेल्मा को ऐसा अनुभव हुआ कि दुनिया का मतलब और कुछ नहीं है सिवा इसके कि एक वह है, और बाकी ऐसा सब है जो कि वह नहीं है, और जिसके साथ उसका केवल विरोध का सम्बन्ध है। यह विरोध ही एकमात्र ध्रुवता है जिसे उसे कसकर पकड़े रहना है, जिसे पकड़े रहने के अपने सामर्थ्य को उसे हर साधन से बढ़ाना है। यान ने थोड़ा-सा सूखा गोश्त और डिब्बे का दूध खरीदा और उनके दाम चुकाकर वह बिना धन्यवाद दिये ही लौट गया। उसके इस व्यवहार से सेल्मा को थोड़ी सी ठेस लगी।

तीसरे पहर फिर उन दोनों ने–यान और फोटोग्राफर ने–चाय बनाई, जिसमें ईंधन के स्थान पर यान ने अपने खिलौनों को जलाया। यद्यपि चाय अच्छी नहीं बन पाई, फिर भी उन्हे वही पीनी पड़ी।

अगले दिन सेल्मा ने देखा कि फोटोग्राफर का चेहरा काफी पीला पड़ा हुआ है, और वह अपने टीन के डिब्बे को नहीं में बार-बार लटकाकर नदी का पानी पी रहा है। तीसरे पहर यान भी फोटोग्राफर के पास आ गया, और उसे वही गन्दा बाढ़ का पानी बार-बार पिलाने लगा। फोटोग्राफर पानी पीकर अपनी दुकान के अन्दर चला जाता है, और फिर शीघ्र ही बाहर निकलकर पानी पी लेता है, और फिर अन्दर चला जाता है। इससे सेल्मा को यह अनुमान लगाने में कोई कठिनाई नहीं हुई कि फोटोग्राफर बीमार है। रात हो जाने पर सेल्मा ने अपने घर के द्वार बन्द कर लिए, सारे परदे गिरा लिए। वह सेचने लगी कि कभी-न-कभी यह बाढ़ उतरेगी ही, और तब वह टूटा पुल शायद एक अतिरिक्त आकर्षण पा लेगा। सैलानी पुल पर हमेशा आते रहे, टूटे हुए पुल पर और भी अधिक आयेंगे, क्योंकि, अब तो वह एक कौतुक की चीज हो जायेगा, और उसका चायघर का कारोबार और भी चमक उठेगा। इन्हीं विचारों मे लीन वह न जाने कब सो गई। अचानक घनी रात में एकाएक उसकी आंखे खुल गईं। वह अपने बरामदे में आई, और यह देखकर स्तब्ध रह गई कि फोटोग्राफर की दुकान धू-धू करके जल रही है। इससे पहले कि सेल्मा कुछ सोच भी सके उसे क्या करना चाहिए, उसने देखा कि फोटोग्राफर दुकान की ओट से निकलकर बाहर आया, और अपनी कमर पर हाथ टेककर वह उस जलती हुई दुकान को देखने लगा। फिर वह अपने-आप ही हंस पड़ा इस अप्रत्याशित घटना ने सेल्मा को झकझोर दिया। वह अपने घर से बाहर निकली। यान भी अपनी दुकान से बाहर निकल आया था, और फोटोग्राफर की ओर लपक रहा था। एकाएक फोटोग्राफर जोर से चीखा, और नदी की प्रबल धारा में कूद पड़ा।

सेल्मा का सम्पूर्ण अस्तित्व लड़खड़ा गया। वह वहीं बरामदे की सीढ़ियों पर बैठ गई। यान धीरे-धीरे उस स्थान की ओर बढ़ा जहां से फोटोग्राफर नदी में कूदा। वह बहुत देर तक नदी के उस निरन्तर बहते हुए भयावह प्रवाह को अपलक नेत्रों से देखता रहा। काफी देर बाद यान ने एक बार मुड़कर सेल्मा के बरामदे की ओर देखा, और उसे सीढ़ियो पर बैठी देखकर उसने अपना मुंह फेर लिया। फिर वह धीरे-धीरे अपनी दुकान की ओर बढ़ने लगा। किन्तु चार-छह कदम चलकर ही वह फोटोग्राफर की दुकान की ओर मुड़ गया, और उसी के पास बैठ गया। सेल्मा ने अनुमान लगाया कि गंदा पानी पीकर पेचिश से ही फोटोग्राफर मरा, क्योंकि वह इसी बीमारी से पागल होकर नदी में कूदा। वह कुछ कहने वाली थी, किन्तु उसने बलात् अपने होंठ भींच लिये। यान उसकी इस स्थिति

नोट

को समझ गया। सेल्मा उठकर अपने चायघर के भीतर चली गई, 'जहां न डूबता हुआ फोटोग्राफर है और घृणा करता हुआ यान। जहां आत्मविश्वास है, और सुरक्षा है, और भविष्य की अनुकूलता है। यह नहीं कि वह भीतर नहीं पहुंचता। देह तो हमेशा ही अकेली है, और उसके लिए अकेलेपन का अलग से कोई मतलब नहीं है। और उसके भीतर जो है वह कभी भी अकेला नहीं है, क्योंकि वह तो समूचे का है। केवल जब व भीतर वाला समूचे का नहीं रहता, और अकेला अनुभव करता है–या जब देह अकेली नहीं रहती, समूह का खण्ड हो जाती है–तभी वह डर होता है, जिसे झुठलाया नहीं जा सकता, जो छाती पर चढ़ बैठता है, और मानो फेफेड़ों में पंजा डालकर खंखोड़-खंखोड़कर सांस बाहर निकालता रहता है।' इन्हीं वैचारिक ऊहापोह के कारण सेल्मा पूरी रात सो न सकी।

सबेरे जब वह उठी तो उसका अंग-अंग दुख रहा था। उसने बिना दूध और चीनी के कड़वी चाय बनाकर पी। जब उससे भी मन की तल्खी दूर नहीं हुई तो उसने प्याले की भीगी पत्तियाँ भी मुँह में भर लीं, और मुँह के अन्दर इधर-उधर घुमाती रही। थोड़ी देर बाद वह घूँट उसने थूक दिया, और गालों के अन्दर जीभ फेरकर मानो अपने मुँह के कसैलेपन का स्वाद लेने लगी। जब वह बाहर की ओर झांकी तो उसने यान को फोटोग्राफर की जलती हुई दुकान के पास बैठे देखा। सेल्मा ने बिना आहट किए एक चौकी खिड़की के पास रखी, और उस पर बैठकर परदे की ओट से वह यान को देखने लगी। जब उसने यह जाना कि यान फोटोग्राफर की जली हुई दुकान की आग पर कुछ पका रहा है, तो उसके मन में भारी बेचैनी के भाव उबल उठे।

दिन छिपने वाला था। यान सेल्मा के पास आया, और बिना किसी भूमिका के ही उसने पूछा–'गोश्त है?' सेल्मा उसके इस व्यवहार से तिलमिला तो गई, परन्तु अपने-आप पर संयम रखती हुई बोली कि गोश्त तो है, किन्तु उसके लिए तुम्हारे पास पूरे पैसे भी होने चाहिए। सेल्मा ने भीतर से लाकर एक हत्थेवाले तश्त में रखा हुआ गोश्त यान की ओर बढ़ा दिया जब यान ने उस गोश्त का मूल्य बहुत अधिक पाया तो क्रुद्ध होकर उसने अपनी जेब से मुट्ठीभर सिक्के निकालकर सेल्मा के मुँह पर दे मारे। और साथ ही यह भी कह दिया कि जितने सिक्के कम हों, उतने का वह गोश्त कम कर लें। उसने सिक्के बीनकर इकट्ठे किए, भीतर गई, और गोश्त लगभग आधा करके ले आई। यान जब चला गया तो सेल्मा ने खिड़की बन्द कर ली, और तब हाथ से टटोलकर अपना चेहरा देखने लगी कि कहां सूजा है। एक चौड़ी लाल लकीर उसकी हथेली पर छप गई। वह अपने इस अपमान से तिलमिला गई, और उसने निश्चय किया कि अपने इस अपमान का बदला वह जरूर लेगी। वह अपने ही आक्रोश में भरकर बड़बड़ाने लगी–'. . . फोटोग्राफर पागल होकर मर गया तो मैं क्या कर सकती हूं? मैं भी पागल नहीं हो गई, इसीलिए क्या मैं अपराधी हूं?' वह मानसिक स्तर पर ठेलकर सीधा रास्ता बनाकर तेजीसे लौट लौटकर बराभेद में इतनी अधिक अस्तव्यस्त हो गई, कि पहले वह भीतर जा बैठी, फिर बरामदे में आ गई, और चौकियां इधर-उधर चक्कर काटने लगी। इस अस्तव्यस्तता में उसे यह भी पता नहीं लगा कि कब रात घनी हो गई। वह अपने-आपको बिल्कुल अकेली महसूस कर रही थी, केवल उसके अपने पैरों की आहट ही उसकी एकमात्र साथिन थी।

सहसा किसी ने उसका दरवाजा खड़खड़ाया। वह जान गई कि वह यान था। उसका हृदय जोरों से धड़कने लगा, और वह एक कुर्सी का हत्था पकड़कर खड़ी हो गई अब की बार दरवाजा और जोर से खड़खड़ाया गया। किसी भावी आशंका से भयभीत होकर और उसका सामना करने के लिए उसने अंगीठी के पास रखी हुई लोहे की सलाख उठायी और फिर बरामदे में आ गई। जब यान ने तीसरी बार दरवाजा खड़खड़ाया तो उसने सलाख को अपनी पीठ की ओट में छिपाकर बायें हाथ से खिड़की की चिटखनी खोली, और पूछा–'क्या काम है तुम्हें इतनी रात गए?' यान ने उत्तर दिया–'सेल्मा! मैं माफी चाहता हूँ, गुस्से में मैं अवश हो गया था–उसके लिए शर्मिन्दा हूँ। मैंने सोचकर देखा है कि तुम्हारा दोष नहीं है।' यह सुनकर सेल्मा असमंजस में पड़ गई। उसे शंका हुई कि कहीं यह दरवाजा खुलवाने का ढोंग न हो। साहस करके उसने दरवाजा खोल दिया। यान ने भीतर आकर कहा–'तुमने मेरी जान लेनी चाही है, लेकिन सकी नहीं–सकती नहीं। मैं चाहूँ तो तुम्हारी जान ले सकता। लेकिन मैं चाहता नहीं हूँ। 'थोड़ी देर दानों चुप रहे। सेल्मा का दिल फिर धड़कने लगा था। लेकिन स्थिति उसकी समझ

नोट

में नहीं आ रही थी, इसीलिए वह पूरी तरह डर भी नहीं पा रही थी। असमंजस में ही उसने अपने को संभाल लिया, और वह सतर्क भाव से यान की ओर देखती रही। तब यान ने कहा–'मरेगा तो शायद हम दोनों में से कोई नहीं–तुम्हारी हरकत के बावजूद अभी तो नहीं लगता कि मैं मरने वाला हूँ। लेकिन अगर सचमुच यह बाढ़ ऐसी ही इतने दिनों तक रही कि मैं भूखा मर जाऊँ तो तुम बचकर कहाँ जाओगी? और अगर पीछे ही मरोगी, तो तुम समझती हो कि वैसे अकेले में मरने में कोई बड़ा सुख है? बल्कि अकेली तो तुम अब भी हो, जबकि मैं नहीं हूँ। और शायद मर ही चुकी हो–जबकि मैं अभी जिन्दा हूँ।'

सेल्मा चाहते हुए भी इसका कोई उत्तर न दे सकी। वह केवल इतना ही कह सकी–'तुम तो माफी मांगने आये थे–यह क्या नये सिरे से अपमान नहीं कर रहे हो? यान ने कहा–'तुम माफी कैसे दे सकोगी? कोई भी जो अपनी बेचारगी नहीं देखता, दूसरे को क्षमा नहीं कर सकता। मैं तो तुम्हारी मदद ही कर रही हूँ।' कुछ देर तक सन्नाटा रहा। फिर यान ने प्रस्ताव किया कि उसने जो गोश्त पकाया है, उसमें वह उसे साझी करना चाहता है, क्योंकि वह अकेला खाना नहीं चाहता। खा भी कैसे सकता है, क्योंकि गोश्त फोटोग्राफर की जली हुई दुकान की आंच पर पका, जिसे उसने अपने जीवन के मोल खरीदा, उसमें उस सेल्मा का साझी होना आवश्यक ही है, जिसने मनचाहे दाम लेकर उसे बेचा। सेल्मा इस स्थिति में डगमगा गई। अपनी हीनता का अनुभव करके बह यान से बोली कि वह तभी साझी होगी, जब वह उसके चुकाये दाम वापस ले ले। और फिर न जाने किस भाव-दुर्बलता से आविष्ट होकर उसने यान के साथ अपने विवाह का प्रस्ताव रख दिया। यान का इस नितान्त अप्रत्याशित प्रस्ताव से चौकना अवश्यम्भावी था। फिर संभलकर और सेल्मा के प्रति अपनी समूची घृणा को समेटकर वह बोला–'तुमसे विवाह? यानी तुम्हारी इस सब सड़ती हुई पाप की कमाई से विवाह? नहीं मुझे नहीं चाहिए। तुम मेरे अन्तिम भोजन का अपना हिस्सा लो, और मुझे छुट्टी दो। ''' या कि हिस्सा भी न लो, सारा तुम्ही रख लो।' यह कहकर वह मुड़ा और फिर चला गया। तब 'सेल्मा देर तक बैठी उस टीन को देखती रही। उस देखने-देखने में उसने दो-तीन जीवन जिए और मरे। मानो दूसरा कोई होकर दो-तीन बार वह जियी और मरी, और फिर मानो अपने-आप में लौट आती, परायी और अनपहचानी होकर। और एक बार उसने कुछ ऐसे ही भाव से अपने हाथ-पैरों और अपने घुटनों की ओर देखा भी–मानो पूछ रही हो कि क्या यह उसी के हैं–कि क्या वह है?'

जब उसके मन का अन्तर्द्वन्द्व कुछ शान्त हुआ तो उसने एक कागज के टुकड़े पर धीरे-धीरे यत्नपूर्वक संवार कर कुछ लिखा, और उसे जेब में डालकर तथा अलमारी में से खाने का कुछ सामान निकालकर वह यान की दुकान की ओर बढ़ गई। वहां जाकर उसने सारी चीजें यान के सामने रख दीं, और दो तश्तरियां उसको देते हुए कहा कि एक में वह उसके लिए परोस दे, और एक में स्वयं अपने लिए परोस ले। तश्तरियों मे गोश्त के परोसे जाने के बाद सेल्मा को अनुभव हुआ कि वह यान के साथ बैठकर कुछ भी न खा सकेगी। उसने यान से विनती की कि अभी उसकी खाने की इच्छा नहीं है, अतः वह अपने चायघर में जाकर खा लेगी, और फिर अपनी जेब से कागज निकालकर यान के सामने रखते हुए बोली–'यह तुम्हारे लिए लायी थी।' सेल्मा तेजी से अपने बरामदे की ओर चली गयी, और तश्तरी चौकी पर रखकर उसने धड़ाक से अपना दरवाजा बन्द करक लिया। उसने एक बार कुर्सी की ओर देखा और चाहा कि वह उस पर बैठ जाए, किन्तु बैठ नहीं सकी, वहीं अनिश्चित खड़ी रही, क्योंकि एकाएक उसके आगे एक डगमगाता अंधेरा छा गया–भीतर कहीं बहुत गहरे से एक बुलबुला-सा उठकर उसके गले तक आकर फूट गया और वह फफककर रो उठी। 'वही अन्त था। और कुछ पूछने को नहीं था। और कुछ बताने को भी नहीं था। जीवन के मोड़ होते हैं जिनके आगे जरूरी नहीं है कि रास्ता हो ही, कभी अन्धी गली भी होती। सवेरा हुआ, शाम हुई, दूसरा दिन हुआ और फिर तीसरा दिन। सेल्मा न बाहर निकली, न उसने बरामदे में से बाहर झांका, न उसने मन ही मन भी यह जिज्ञासा की कि यान क्या कर रहा होगा, या कि आगे क्या होगा। सब कुछ समाप्त हो चुका था, और उसने जान लिया था कि सब-कुछ समाप्त हो गया है, स्वीकार कर लिया था कि यही समाप्ति है यान ने उसका प्रत्याख्यान कर दिया था, और उसने अपनी सारी कमाई का–क्योंकि उस सबकी वसीयत वह यान के नाम लिखकर दे आयी थी। और कहीं

नोट

कुछ नहीं था! और कहीं कुछ नहीं था . . . । कोई जिज्ञासा नहीं थी . . . । कोई उत्तर नहीं था . . . । कोई ध्रुवता नहीं बची थी, क्योकि कोई विरोध नहीं बचा था। बाहर बाढ़ नहीं थी, और काल का प्रवाह भी नहीं था। केवल एक टूटा हुआ अर्थहीन पुल–कहाँ-से-कहाँ तक और कब तक! एक टूटा हुआ अर्थहीन पुल जो कि वह स्वयं है। –वह, सेल्मा, जो न कहीं से है, न कहीं तक है–जो है तो यह भी नहीं जानती कि कब तक है।'

चौथे दिन यान ने आकर सेल्मा का दरवाजा खटखटाया सेल्मा आह्लादित हो उठी, मानो इसी की प्रतीक्षा कर रही हो यान ने बाहर से ही पुकार कर कहा–'लोग आ रहे हैं–दूर एक नाव दीख रही है। बाढ़ उतर गयी है–सेल्मा! बाहर आओ।'

सेल्मा के लिए यह समाचार नहीं था, मानो एक पहेली थी। फिर भी वह यन्त्रचालित-सी बाहर आ गयी। यान के संकेत पर जब उसने दूर क्षितिज की ओर देखा तो उसे एक काली-सी नाव और उसमें झलकते हुए कई-एक काले-काले सिर दिखाई दिये। वह यान के पास ही काफी देर तक खड़ी रही। धीरे-धीरे नाव इतनी पास आ गई थी कि उसके लोगों ने शायद उन दोनों को देख लिया था। नाव मे से दो-तीन आदमी हाथ हिलाकर इशारा कर रहे थे। लेकिन सेल्मा अपने ही में डूबी हुई थी। उसने एकाएक हाथ हिलाकर इशारा कर पूछा–'यान अब तो मेरा कुछ नहीं है। अब मै फिर पूछती हूं, मुझे स्वीकार करोगे?' यान ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया। उसने एक बार सेल्मा की ओर देखा और फिर अपनी जेब से उसका दिया हुआ कारगज निकालकर उसके देखते-देखते ही उसके टुकड़े-टुकड़े कर-करके उसे हवा में उड़ा दिया। इस घटना को देखकर सेल्मा अपने होश-हवास ही खो बैठी। मानो स्वप्न में ही उसने पहचाना कि उसे सहारा देकर नाव में उतारा गया है, कि उसके बाद यान भी उतरा है, कि वे दोनों भी नाव में बैठे हैं और नाव पुल से हट रही है। मानो स्वप्न में उसने देखा कि वह टूटा हुआ पुल उनसे दूर हटता हुआ आकाश में विलीन होता जा रहा है–उनके जीवन का अंग नहीं, केवल सूने आकाश का अंग। यान से आंखें मिलते ही उसका यह स्वप्न भंग हो गया, जैसे वह अज्ञात लोक से उतरकर यथार्थ लोक में आ गई हो। यान की उस अप्रत्याशित स्निग्ध मुस्कान ने सेल्मा के प्रस्ताव को बिना वाणी के ही स्वीकृति दे दी थी। यान की यह स्वीकृति सेल्मा को ऐसी अनुभव हुई, जेसे अन्तहीन आकाश मे बंसा हुआ आलोक हो।

उन दोनों ने एक नयी गृहस्थी बसाई, जिससे उनके तीन सन्तानें हुईं। और दुर्भाग्य से एक दिन वह भी आया, जब यान इस लोक में नहीं रहा, परन्तु वह सेल्मा के जीवन मे एक अमर और अमिट अर्थवत्ता भर गया। वस्तुत: 'जीवन सर्वदा ही वह अन्तिम कलेवा है जो जीवन देकर खरीदा गया है, और जीवन जलाकर पकाया गया है, और जिसका साझा करना ही होगा, क्योंकि वह अकेले गले से नही उतारा जा सकता–अकेले वह भोगे भुगता ही नहीं।

नोट्स

जीवन छोड़ ही देना होता है कि वह बना रहे, और भर भरकर मिलता रहे; सब आश्वासन छोड़ देने होते हैं कि ध्रुवता और निश्चय मिले। और इतर सब जिया जाता है और जब जिया जाता है तब फिर मरा नहीं जाता, जो प्रकाश पर टिका है, और जिसमें अकेलापन नहीं हैं . . ।'

सेल्मा ने उखड़ती हुई सांसों से और अनेक अन्तरलों से अपनी यह जीवनगाथा जब योके को सुनाई तो उसके मन में अनेक प्रकार के मिश्रित भावों का द्वन्द्व सक्रिय हो उठा। वह इस पर न तो पूर्ण विश्वास कर सकी और न पूर्ण अविश्वास को ही प्रश्रय दे सकी। विश्वास और अविश्वास की तरगों में उसका मन ऊब-डूब करने लगा–'शायद कहानी जिस ढंग से कही गयी–टुकड़ों-टुकड़ों में, और बीच-बीच के अन्तरालों में मानों मृत्यु की ठोस काली छाया के विराम-चिह्नों से युक्त–उसी से उसका सच्चाई बोध कुछ खंडित हो गया। कहानी में कुछ ऐसा सम्पूर्ण और अखंड और अबाध्य रूप से एक दिशा में बढ़ने वाला है कि उसका रुकना या हिस्सों में बंटना

नोट

असम्भव है।' सेल्मा ने जो एक-दूसरी दुनिया का संकेत किया था, उसके विषय मे विचार करती हुई योके सोचती है कि 'दूसरी दुनिया क्या सच है? क्या उसका दूसरा होना ही झूठा होना नहीं है–उस परिस्थिति में जिसमें कि यह दुनिया, देशकाल का यह विशेष बिन्दु, जीवन का यह एक निःसंग जड़ित क्षण ही एकमात्र अनुभूत सच्चाई है? लेकिन यही तो सबसे बड़ा झूठ है, यही तो सबसे अधिक अग्राह्य है। यह दुनिया झूठ है, क्या इसलिए यह मान लें कि दूसरी दुनिया सच है? सपना झूठ है तो सपने में जो लोक देखा, उसको सच मान लेना होगा? मोह की अवस्था में, झूठ में जो कल्पना की गई, वह क्या और भी अधिक झूठ नहीं है–झूठ का भी झूठ नहीं है?'

सेल्मा की कहानी को सुनते-सुनते एक बार तो योके के मन में इतना प्रबल विरोध भाव उदित हुआ था कि वह उसे बीच में ही रोककर पूछ बैठी–'दुःख और कष्ट की बात–लेकिन दुःख और कष्ट सच कैसे हैं, अगर उनका बोध ही नहीं है?' सेल्मा ने उत्तर दिया था–'यही तो मैं भी कहती हूँ–लेकिन दूसरी तरह से। बोध में से ही दर्द की सच्चाई है। ···और मृत्यु की भी।' योके ने आगे सुनना नहीं चाहा, इसलिए वह वहां से उठकर दूसरे कमरे में चली गई, लेकिन उसका मन किसी भी काम में नहीं लगा, और दोबारा आकर सेल्मा के पास बैठ गई। वह सोच रही थी–'वह वहां सेल्मा है, और चह यहाँ मैं हूँ। वह सेल्मा है, सेल्मा ही है, यह मैं नहीं जानती–क्योंकि यह भी नहीं जानती कि वह जीती है या मर चुकी है–वह ऐसी निश्चेष्ट निस्पन्द पड़ी है–लेकिन उसके चेहरे मे कोई परिवर्तन नहीं आया है, और उसकी आंखें बन्द हैं। सुना है–आंखें खुल जाती हैं ·· लेकिन मैं क्यों उसे देख रही हूं? जीवन के अनुभव के लिए, अपने जीते होने का अनुभव करने के लिए, अपने मैं-पन को पहचानने के लिए? मैं-पन का बोध और जीवित-पन का बोध, दोनों का एक साथ अनुभव करने के लिए–दोनों को एक अनुभूति मे ढालकर उस इकाई को भोगने के लिए?' इन प्रश्नों के उभरते ही योके का मन अथाह वेदना और बेचैनी से भर जाता है। वह इस तीखी द्वन्द्व-भावना के कारण अपना सन्तुलन खो बैठती है, और इधर-उधर चक्कर कोटने लगती है। वह अपने विचारों का स्वयं ही उत्तर देती है–'क्योंकि यहीं कहीं कुछ झूठ था–एक धोखा था–क्योंकि इन दो अलग-अलग अनुभवों का मेल किसी तरह भी इस एक अनुभूति के बराबर नहीं होता कि 'मैं जीवित हूं'–की अखंड अनुभूति तभी हो सकती है जब व्यक्ति प्रति चेतन न हो। क्योंकि कोई भी, किसी प्रकार की भी आत्मचेतना अपने को अपने अनुभूति से अलग कर देती है, तटस्थ कर देती है, साक्षी बना देती है; और जो साक्षी है, वह भोक्ता कैसे है? जीवन की अनुभूति तभी हो सकती है, जब अनुभव कर रहे होने का बोध न हो।'

अपने इन्हीं विचारों में खोई हुई योके को इस बात का पता भी न चल सका कि सेल्मा कब मर गई? उसकी मृत्यु को देखकर योके लड़खड़ा गई। उसने लपककर सेल्मा के कमरे का दरवाजा बन्द कर दिया, और उसे पीठ से दबाती हुई खड़ी हो गई। उसे आशा थी कि इस प्रकार वह मृत्यु और मृत्युगन्ध दोनों को ही उस कमरे में बन्द कर देगी। किन्तु उसकी आशा विफल ही रही उसे अनुभव हुआ कि जैसे मृत्यु-गन्ध यत्र-तत्र-सर्वत्र भरी हुई है। योके ने एक कम्बल और चादर से दरवाजे के जोड़ और दरारें बन्द करने का प्रयत्न किया, किन्तु उसे अहसास हुआ कि इन कपड़ों में मृत्यु-गन्ध पूरी तरह से भर गई है। आवेश में उसकी मुट्ठियां बंध गईं। उसने जो से एक घूंसा कम्बल पर मारा, फिर भी उसे संतोष नहीं हुआ। फिर वह अपनी दोनों मुट्ठियों से दरवाजे को बुरी तरह से पीटने लगी। एक कड़ुवा आक्रोश उसके भीतर अबाध गति से उबलने लगा, और वह उन्माद कीसी अवस्था में ईश्वर का नाम ले-लेकर तरह-तरह की गालियाँ बकने लगी, और साथ ही साथ दरवाजे पर निरन्तर घूंसों का प्रहार करने लगी।

उसके ये सभी प्रयत्न निष्फल ही रहे, क्योंकि मृत्यु-गन्ध न दबती है, और न दबेगी, क्योंकि वह सब जगह फैली हुई है, और सब-कुछ में बसी हुई है। यहां सब-कुछ मरा हुआ है, सड़ रहा है, घिनौना है, और बेपनाह है। तब योके को सहसा ऐसा अनुभव हुआ कि यह गन्ध स्वयं उसी के शरीर से आ रही है। वह दरवाजे से उठकर खिड़की के पास गई। फिर उसने एक गिलास लेकर खिड़की के बाहर से उसमें बर्फ भरी, जिससे वह काफी देर तक अपने हाथों को, अपनी बांहों को और अपने चेहरे को रगड़ती रही। फिर भी गन्ध दूर नहीं हुई। तब उसे लगा कि वह बर्फ भी मृत्यु-गन्ध से भरी हुई है–केवल मृत्यु की प्रतीक्षा–मरने की प्रतीक्षा, सड़ने की

नोट

प्रतीक्षा ··· वह गन्ध पहले ही सब जगह और सब कुछ में है, और हम सदा मृत्यु-गन्ध से गन्धाते रहते हैं।' एक उन्मत्त और अतिमानवी निश्चय से भरकर योके ने कम्बल और चादर उठाकर दरवाजा खोल दिया। वह इतनी असंयत हो गई थी कि सोच रही थी कि वह सेल्मा को उठाकर ईश्वर के मुँह पर दे मारेगी और कहेगी कि लो अपनी सड़ी हुई, गन्धाती हुई मृत्यु, और छोड़ दो मुझे मेरे अकेलेपन के साथ। लेकिन वह फिर न जाने क्यों सहम गई, मानो उसे लकवा मार गया हो। एक बार फिर उसका मन ईश्वर के विरुद्ध विद्रोह कर उठा–'थुड़ी है, ईश्वर पर जो उसे इतना अकेला करके भी अकेला नहीं छोड़ रहा है। मुझे इतना अकेला करके ··· अकेला होना–मृत्यु के साथ अकेला होना–मृत्यु के सम्मुख अकेला होना–मृत्यु में अकेला होना। इस चरम अकेलेपन और स्वयं मृत्यु में क्या अन्तर है? क्या हुआ अगर ईश्वर चोरी से देख रहा है, उस अकेली मृत्यु को–क्या ईश्वर भी मरा हुआ नहीं है?

बहुत देर बाद, निश्चय लेकर योके ने सेल्मा की लाश को कम्बल उढ़ाया, और उसे दफनाने के लिए बाहर ले आई बर्फ के कारण कब्र खोदना सम्भव नहीं था, अतः उसने उसे बर्फ पर लिटा दिया, फिर अन्दर जाकर एक डोल ले आई, और उसीसे खोद-खोदकर बर्फ में एक खाई बनाई। उसमें उसने लाश को लिटा दिया, किन्तु यह सोचकर ठिठक गई कि उसे तो कोई भी प्रार्थना याद नहीं है। ईश्वर के प्रति फिर उसका आक्रोश भभक उठा–'क्या वह ईश्वर को जानती है या मानती है, इससे अधिक कि उसका नाम लेकर थूके! ईश्वर केवल एक अभ्यास है, और उसके नाम पर थूकना भी अभ्यास है ··· ।'

वह तेजी से सेल्मा की लाश पर डोल से बर्फ डालने लगी, और जब लाश पूरी तरह से बर्फ से ढक गई तो योके ने डोल रखकर अपनी कमर सीधी की, और एक बार मुड़कर घर की ओर देखा। घर अभी तक बर्फ के भीतर की एक गुफा मात्र बना हुआ था, जिसके द्वार से वह निकलकर बाहर आई थी, और अब उसमें केवल अकेली ही प्रवेश करेगी। एक-एक उसके मन में सेल्मा के प्रति एक गहरी करुणा का भाव उदित हुआ, लेकिन योके ने इस भाव को अधिक पल्लवित नहीं होने दिया। वह सोचने लगी–'करुणा गलत है, बचाव उसमें नहीं है, घृणा भी नरक का द्वार है तो दया भी नरक का द्वार है। मैं दया करके भी वहीं गिरूँगी, जहां घृणा करके गिरती!' योके ने तब अनुभव किया कि उसकी दशा उस भिक्षु से बेहतर नहीं तो अपने एकान्त से ऊबकर, अपनी कोठरी में सुरंग लगाकर, दूसरी एकान्त किन्तु अधिक भयावह गुफा में पहुंच गया था। उसे सेल्मा का यह वाक्य याद आया–'वरण की स्वतंत्रता कहीं नहीं है, हम कुछ भी स्वेच्छा से नहीं चुनते हैं।' और तब वह सोचने लगी कि 'ईश्वर भी शायद स्वेच्छाचारी नहीं है–उसे भी सृष्टि करनी ही है, क्योंकि उन्माद से बचने के लिए सृजन अनिवार्य है, वह सृष्टि नहीं करेगा तो पागल हो जायेगा।'

योके ने फिर डोल उठाया, और उसमें बर्फ भरकर सेल्मा की ओझल देह पर डाल दी। यह मानो अनावश्यक था, अतिरिक्त था, लेकिन इस अनावश्यक अतिरिक्तता ने ही उस दफन-क्रिया को सम्पूर्णता दी, और अन्तिम रूप दिया। तभी योके ने एक बार चारों ओर देखा। उसे बहुत दूर, क्षित रेखा पर, एक काला-काला बिन्दु हिलता हुआ दिखाई दिया, मानो कोई उसीकी ओर पहाड़ को लांघता हुआ चला आ रहा है। उसने निश्चयात्मक स्वर में कहा–'पॉल सोरेन। हां, पॉल ही है।' एकाएक उसे एक पुकार सुनाई दी। पॉल चिल्ला रहा है–हाथ हिला हिलाकर उसे अपनी पहचान और अपनी खुशी की पहचान कराना चाह रहा है। वस्तुतः 'कहीं वरण की स्वतंत्रता नहीं हैं हम अपने बन्धु का वरण नहीं कर सकते–और अपने अजनबी का भी नहीं ·· हम इतने भी स्वतंत्र नहीं हैं कि हम अपना अजनबी भी चुन सकें ··· अजनबी, अनपहचाना डर ··· क्या हम इतने भी स्वतंत्र हैं कि अजनबी से पहचान कर लें?'

योके

इस परिच्छेद में योके की विक्षिप्तता तथा मृत्यु का मर्मान्तक वर्णन है।

दुकान पर काफी भीड़ थी। इसका कारण यह था कि एक तो दुकान कई दिनों तक बन्द होने के बाद खुली थी, और दूसरा कारण यह था कि इसमें इतना सामान नहीं था कि सभी को मिल पाता। सभी जानते थे कि

नोट

जो पिछड़ जायेगा, व मर जायेगा। इसीलिए सभी आगे बढ़कर किसी-न-किसी तरह सामान खरीदने के लिए आतुर भी थी और व्यग्र थी। यह दुकान उस गली में थी जिसमें जर्मनों का आना-जाना तो नहीं था, किन्तु शहर पर अधिकार होने के बाद से जो आतंक था, वह इस गली में भी पूर्ण रूप से व्याप्त था। उसी आतंक के कारण दुकान का न तो खुलने का ही समय निश्चित था, और न बन्द होने का ही। उसी के कारण चीजों के दाम बहुत ज्यादा तो नहीं बढ़े थे, पर जो चीज चुक जाती, वह फिर मिलनी मुश्किल हो जाती।

यद्यपि दुकान पर 'भीड़ बहुत थी, लेकिन प्रतियोगी भाव के अलावा भी भीड़ में सब अकेले थे। बुझे हुए बन्द चेहरे, मानो घर की खिड़कियां ही बन्द न कर ली गयी हों, बल्कि परदे भी खींच दिये गये हों, दबी हुई भावनाहीन पर निर्मम आवाजें, मानो जो मांगती हों, उसे जंजीर से बांध लेना चाहती हों। अजनबी चेहरे, अजनबी आवाजें, अजनबी मुद्राएं, और वह अजनबी केवल एक दूसरे को दूर रखकर उससे बचने का ही नहीं है, बल्कि एक-दूसरे से सम्पर्क स्थापित करने की असमर्थता का भी है–जातियों और संस्कारों का अजनबीपन, जीवन के मूल्य का अजनबीपन।'

इस दुकान से जैसे-तैसे जगन्नाथन् ने कुछ सामान खरीद लिया था–एक बड़ा टुकड़ा पनीर का, कुछ मीठी टिकियां और थोड़ी सूखी रोटी। इन्हें अपने सामने रखकर वह दीवार के साथ सजी चीजों की ओर देख रहा था कि वह और क्या ले सकता है। तभी दुकान के वातावरण में एकाएक तनाव आ गया, और सभी लोग आगन्तुका को–विक्षिप्त योके को–देख रहे थे। जगन्नाथन् ने भी उसकी ओर देखा। उसके वस्त्र अस्त-व्यस्त थे, चेहरा अस्तव्यस्त था, और आखें अस्तव्यस्त थीं। वह अपनी खुली-खुली आंखों से चारो ओर देख रही थी। सहसा उसकी दृष्टि जगन्नाथन् पर पड़ गई। एकाएक आगन्तुका ने अपने निचले होठ से चिपका हुआ सिगरेट अलग किया, और जगन्नाथन् के खरीदे हुए पनीर में उसे रगड़कर बुझा दिया, और फिर उसी में उस सिगरेट को खोंस भी दिया। उसके इस व्यवहार से जगन्नाथन् दंग रह गया। फिर धीरे से पनीर का टुकड़ा उठाते हुए उसने हारे हुए स्वर में कहा–'यह देखो, तुमने क्या कर दिया?' आगन्तुका ने पनीर का टुकड़ा उठाकर फर्श पर गिर जाने दिया, और वह फिर एकाएक मुड़कर बाहर की ओर दौड़ी कुछ लोग हंस पड़े। पलभर विमूढ़-सा रहकर जगन्नाथन् भी अपना सामान उठाकर उसके पीछे लपका। लोगों ने जगन्नाथन् पर तरह-तरह के व्यंग्य कसे, जिससे उसने यह अनुमान लगाया कि आगन्तुका वेश्या है। वह चाहता था कि वापस लौट चले, तभी आगन्तुका (योके) रुक गई। वह बड़े जोरों से हांफ रही थी, और उसके चेहरे से स्पष्ट बोध होता था कि वह अन्धी गली में आ गई थीं, और वह वहाँ से वापस लौटने के लिए विवश थी। वह पास की सीढ़ी पर ही सिकुड़कर बैठ गई, जैसे कभी कुत्ता पूंछ दबाकर बैठ जाता है मार खाने के लिए। जब बातोंबातों में ही उसने यह कहा कि 'मुझे जाना है, मेरी पुकार हो गई है–तुम तो मुझे मारना चाहते थे–मारते क्यों नहीं? लो, यह मैं हूँ–मारो!' तो जगन्नाथन् को विश्वास हो गया कि वह पागल है।

पागल योके कुछ देर तक जगन्नाथन् से अनाप-शनाप बातें करती रही, फिर उसने अपनी जेब से विष निकाल कर खा लिया। तुरन्त उसकी दशा बिगड़ती चली गयी। उसने जगन्नाथन् का नाम जानकर कहा–नाथन्! मुझे माफ कर दो। मैंने तुम्हें तकलीफ पहुँचाई है, लेकिन मेरे खिलाफ इस बात को याद मत रखना–पीछे याद मत करना। मैं मर रही हूँ। जगन्नाथन् के यह पूछने पर कि तुमने क्या खा लिया है, वह कहने लगी–'मैंने चुन लिया। मैंने स्वतंत्रता को चुन लिया। ··· मैं बहुत खुश हूँ। मैंने कभी कुछ नहीं चुना। जबसे मुझे याद है, कभी कुछ चुनने का मौका मुझे नहीं मिला। लेकिन अब मैंने चुन लिया। जो चाहा, वही चुन लिया। में खुश हूँ। मरणासन्न पागल योके के अनुरोध के कारण जगन्नाथन् वहाँ से जा नहीं सका। लेकिन वहीं मुड़कर उसने जोर से आजाव लगायी . . . 'कोई है–मदद चाहिए ··· कोई है?' और फिर योके से पूछा–'क्या कह दोगी?' योके ने उत्तर दिया–कह दूँगी कि मैंने चुना, स्वेच्छा से चुना। सब-कुछ कह दूँगी। सारी हरामी दुनिया को बता दूँगी कि एक बार मैंने अपने मन से जो चुना, वही किया! हरामी–हरामी दुनिया! नाथन् ! अच्छे आदमी, मुझे माफ कर दो।' पागल योके ने रुक-रुक कर कहना शुरू किया–'कह दो ··· सारी हरामी दुनिया से कह दो, अन्त में मैं हारी नहीं ··· अन्त में मैने जो चाहा सो किया ··· मरजी से किया। चुनकर किया। मैं मरियम ··· ईसा की माँ ··· ईश्वर

नोट

की माँ मरियम ''' जिसको जर्मनों ने वेश्या बनाया, हाँ, मेरा नाम मरियम। ईसा की माँ का नाम मरियम। चुनी हुई माँ। जो कभी मर नहीं सकती '' जर्मनों की वेश्या। उससे पहले मेरा नाम योके था। वह मैंने नहीं चुना, पर अच्छा नाम है। लेकिन योके मर गयी मरियम कभी नहीं मरती।'

योके की इन बातों को सुनकर, जितने भी लोग वहा एकत्र हो गये थे, वे सभी चुप हो गये थे। सभी में कुछ होता है जो पहचान लेता है कि कोई महत्त्वपूर्ण घटना घटने वाली है, और उसके आसन्न प्रभाव के सामने क्षण-भर चुप हो जाता है। उस मौन में योके और जगन्नाथन् मानो बाकी सारी भीड़ से कुछ अलग हो गये थे। जगन्नाथन् की बांह कुछ और घिर आई, और योके का सिर उसने अपने कन्धे पर टेक लिया। थोड़ी देर तक योके बड़बड़ाती रही, और फिर मर गई। जगन्नाथन ने पहचाना कि वह भीड़ से घिरा हुआ है, और उसकी बांह योके की जड़ देह को संभाले हुए है।

उस दृश्य से सतब्ध भीड़ में एक ही वृद्ध व्यक्ति को सूझा कि हाथ उठाकर रस्मी ढंग से क्रॉस का चिह्न बना दे; वह चिह्न सूने आकाश में अजनबी-सा टंका रह गया।

स्व-मूल्यांकन

सही विकल्प चुनिए–

1. 'बूढ़ों को चिंता किस बात की यह जगह-जगह बैठे पगुराते रहते हैं।' उपन्यास में यह विचार किसने व्यक्त किए हैं?
   (क) सेल्या (ख) यान (ग) योके
2. 'आपको ताश से भविष्य पढ़ना आता है।' योके यह प्रश्न किससे करती है?
   (क) यान से (ख) सेल्मा से (ग) पॉल से
3. ईश्वर में अटल विश्वास प्रकट करती है–
   (क) सेल्मा (ख) योके (ग) फोटोग्राफर
4. 21 दिसंबर को योके अपनी डायरी में किस विषय की दार्शनिक व्याख्या करती है।
   (क) धरती (ख) समय (ग) मृत्यु

21.2 अपने-अपने अजनबी–सप्रसंग व्याख्या

(1) "एक अन्तहीन, परिवर्तन ही धुंधली रोशनी, जो न दिन की है, न रात की है, न सन्ध्या के किसी क्षण की ही है–एक अपार्थिव रोशनी जो कि शायद रोशनी भी नहीं है, इतना ही कि उसे अन्धकार नहीं कहा जा सकता। हमेशा आयी हूँ कि शायद यही वास्तव में मृत्यु होती है, जिसमें कुछ भी होता नहीं, सब कुछ होते-होते रह जाता है होते-होते रह जाना ही मृत्यु का विशेष रूप है जो मनृष्य के लिए चुना गया है जिसमें कि विवेक है, अच्छे-बुरे का बोध है। यह उसमें न होता तो उसका मरना सम्पूर्ण हो सकता। जो चुकता वह सम्पूर्ण चुक जाता, या जो रहता उसका बना रहना भी असन्दिग्ध होता। यह हमारे युगों से संचे हुए रीति बोध की सजा है कि हमारा करना भी अधूरा ही हो सकता है–मरकर भी कुछ हिसाब बाकी रह जाता है।"

सन्दर्भ–यहाँ योके घोर तुषारघात से बचने के लिए बूढ़ी सेल्मा के काठघर में शरण लेती है। काठघर बर्फ से घिर कर कब्र-सा बन जाता है। बाहर जाने का कोई मार्ग नहीं है। यहाँ अनास्थावादी पाश्चात्य-दर्शन के अनुसार योके मृत्यु के सम्बन्ध में चिन्तन करती है।

व्याख्या–यहाँ बर्फ से घिरे काठघर में एक ऐसी कम रोशनी है, और न उसमें परिवर्तन होने की ही सम्भावना है। य रोशनी दिन, रात, सन्ध्या या किसी रोशनी से भिन्न है। इसका रूप अपरिचित है। यद्यपि इसको रोशनी नहीं कहा जा सकता, परन्तु यह अन्धकार भी नहीं है।

नोट

योके 16 दिसम्बर की डायरी में लिखती है कि मैं कब में अन्धकार रहने की बात सुनती आई हूँ, परन्तु यहाँ के अन्धकार में कब्र की भी सम्पूर्णता नहीं है, यहाँ इसके विविध रूपों का अनुभव होता है। शायद मृत्यु भी यही है। जिसमें कुछ नहीं होता और सभी कुछ होते-होते रह जाता है। होते-होते रह जाना ही मृत्यु का विशेष रूप है। और इसी होते-होते रह जाना अर्थात् मृत्यु को मनुष्य को मनुष्य के लिए चुना गया है। परन्तु इसमें विवेक और अच्छे-बुरे का बोध बना रहता है। यदि मनुष्य में विवेक और अच्छे-बुरे का बोध न होता तो उसका मरना सम्पूर्णता को प्राप्त कर सकता है। अत: मृत्यु जीवन की समाप्ति नहीं है, क्योंकि मृत्यु में सम्पूर्ण मनुष्य का जो कुछ चुकता है, वह चुक जाता है और जो शेष रह जाता है, वह भी सन्देह से परे होता है। युगों से हमने जो ज्ञान संचय किया है, उसी का दंड हमें अपूर्ण मृत्यु के रूप में मिलता है और हमारा मरना भी अधूरा ही रहता है। मृत्यु के बाद भी कुछ शेष रह जाता है।

विशेष–1. यहाँ इस तथ्य का संकेत मिलता है कि 'अपने-अपने अजनबी' उपन्यास की कथा मृत्यु दर्शन पर आधारित है।

2. बर्फ से ढके काठघर में धुंधली रोशनी को कब्र के अन्धकार का प्रकाश माना गया है।

3. मृत्यु के दर्शन को पाश्चात्य-दर्शन की दृष्टि से सहज अभिव्यक्ति दी गई है।

(2) "क्या अपने सारे विकास के बावजूद हम मनुष्य भी निरे पौधे नहीं हैं जो बेबस सूरज की ओर उगते है? अधेरे में भी अंकुर मिट्टी के भीतर-ही-भीतर सूरज की ओर बढ़ता है, रौंदा जाकर फिर टेढ़ा होकर भी सूरज की ओर ही मुड़ता है। कोई कहते हैं कि सब पौधे धरती के केन्द्र से बाहर की ओर बढ़ते हैं–यानी केन्द्र से दूर हटने की प्रवृत्ति उन्हें सूरज की ओर ठेलती है। लेकिन इस केन्द्रापसारी प्रवृत्ति को भी अंतिम मान लेना तो वैसा ही है जैसे हम पृथ्वी को सौर-मण्डल से अलग मान लें। पृथ्वी सूरज की ओर खिंचती भी है और सूरज की ओर से परे को ठिलती भी रहती है। इसी तरह अंकूर भी जड़ों को नीचे की ओर फेंकता है और बढ़ता है सूरज की ओर।

सन्दर्भ– 'अपने-अपने अजनबी' उपन्यास के 'योके और सेल्मा' परिच्छेद से यह अवतरण लिया गया है। यहाँ योके मनुष्य का विकास एक पौधे के रूप में देखती हुई 16 दिसम्बर की डायरी में लिखती है:

व्याख्या– यद्यपि हम मनुष्य लोग अपना सारा विकास कर चुके हैं, परन्तु हमारा यह विकास पौधे की तरह ही होता है। पौधे विवश होकर सूर्य की ओर खिंचते हुए बढ़ते हैं। भूमि के भीतर पौधे का जो अंकुर होता है, वह सूरज की ओर बढ़कर भूमि फोड़कर बाहर आता है। भूमि के ऊपर वह रौंदा जाने से टेढ़ा हो जाता है। परन्तु इस स्थिति में वह सूर्य की ओर ही ऊपर को बढ़ता है। कोई कहता है कि सभी पौधे धरती के केन्द्र से बाहर की ओर बढ़ते हैं। उनकी केन्द्र से हटने की प्रवृत्ति है। वह उनको सूर्य की ओर ठेलती रहती है। परन्तु पौधे की केन्द्र से हटने की जो प्रवृत्ति है। वह उनको सूर्य की ओर ठेलती रहती है। परन्तु पौधे की केन्द्र से हटने की यह प्रवृत्ति अन्तिम नहीं है। ऐसा मान लेना तो पृथ्वी को सौर मण्डल से अलग मान लेना है। पृथ्वी सूर्य की ओर खिंचती है ओर सूर्य से परे ठिलती रहती है। पौधे का अंकुर भी अपनी जड़ों को नीचे की ओर फेंकता है और सूर्य की और बढ़ता है।

विशेष– 1. रूपक, उपमा और उत्प्रेक्षा के द्वारा जीवन की दार्शनिक अभिव्यक्ति सरल रूप में हुई है।

2. मानव एक वनस्पति है। उसका विकास वनस्पति के समान ही होता है।

(3) "लेकिन मैं जहाँ हूँ क्या सूर्य वहाँ सचमुच नहीं है? क्या काल वहाँ सचमुच नहीं है? क्या दावे से ऐसा कह सकना ही मेरी यहाँ की समस्या नहीं है? मानो एक काल-निरपेक्ष क्षण में टंगी हुई हूँ–वह क्षण काल की लड़ी में से टूटकर कहीं छिटक गया है और इस तरह अन्तहीन हो गया है–'अन्तहीन और अर्थहीन!'"

सन्दर्भ–यह अवतरण योके द्वारा लिखी डायरी से अवतरित है। योके पहले कह चुकी है कि सूर्य ही हमारा जीवन है। वह जीवन और समय की गति का मापक है। परन्तु वह बर्फ से ढके काठघर में बन्दिनी है। यहाँ

नोट

सूर्य की रोशनी नहीं है अपने अजनबीपन, शून्यता एव कब्र के समान अन्धकार से योके ऊब चुकी है। प्रस्तुत अवतरण में उसकी इसी मानसिकता की अभिव्यक्ति है:

व्याख्या–सूर्य ही जीवन की गतिविधि और समय को अनुशासित रखता है। परन्तु यहाँ बर्फ के बन्दीगृह में जहाँ हम रहने के लिए विवश हैं, क्या सूर्य सचमुच नहीं है? यहाँ हम सूर्य को देख नहीं सकते। सूर्य न होने से क्या यहाँ काल की भी गतिशीलता नहीं है। परन्तु सूर्य का न होना क्या दाबे के साथ कहा जा सकता है। इसे मात्र यही कि समस्या नहीं बनाया जा सकता।

यहाँ काल-निरपेक्ष क्षण है। जिसमें मैं टंगी हुई हूँ। और मैं जिस क्षण में जी रही हूँ–जीती रही हूँ, वह काल की लड़ी से टूटकर कहीं छिटक गया है। इस प्रकार काल-निरपेक्ष हमारी जीवन-स्थिति अन्तहीन हो गई है। जिसकी कुछ अर्थवत्ता भी नहीं है।

विशेष– 1. योके का मानसिक द्वन्द्व उभरा है।

2. अलंकारों के प्रयोग से अभिव्यक्ति में प्रेषणीयता और सहजता आ गई है।

(क) 'मानो एक काल-निरपेक्ष क्षण' में उत्प्रेक्षा अलंकार।

(ख) "वह क्षण काल की लड़ी से टूटकर कहीं छिटक गया है।" में रूपक अलंकार है।

3. अभिव्यक्ति में दार्शनिक चिन्तन की प्रधानता है।

(4) "समय मात्र अनुभव है, इतिहास है। इस सन्दर्भ में 'क्षण'" वही है। जिसमें अनुभव तो है, लेकिन जिसका इतिहास नहीं है, जिसका भूत-भविष्य कुछ नहीं है, जो शुद्ध वर्तमान है, इतिहास से परे स्मृति के संसर्ग से अदूषित, संसार से मुक्त। अगर ऐसा नहीं है, तो वह क्षण नहीं है, क्योंकि वह काल का कितना ही छोटा खण्ड क्यों न हो उसमें मेरा जीना काल-सापेक्ष जीना है, ऐतिहासिक जीना है। वह बिन्दु नहीं है रेखा है, रेखा परम्परा है और क्षण परम्परा मुक्त होना चाहिए।"

सन्दर्भ– यह अवतरण अज्ञेय जी के 'अपने-अपने अजनबी' उपन्यास के 'योके और सेल्मा' परिच्छेद से लिया गया है। यह 21 दिसम्बर को लिखी गई योके की डायरी का अंश है। इसमें क्षण के स्वरूप और महत्त्व को स्पष्ट किया गया है।

व्याख्या– अनुभव और इतिहास का नाम ही क्षण है। अत: क्षण उसी को कहा जा सकता है कि जिसका अनुभव तो हो, किन्तु इतिहास न हो, क्षण का भूत-भविष्य कुछ नहीं होता। जो शुद्ध वर्तमान है, वह है। वह इतिहास से परे है। स्मृति के संदर्भ से भी वह इतिहास नहीं है। वह संसार से सर्वथा मुक्त है। जिसमें इतनी विशेषताएं नहीं हैं। वह क्षण कदापि नहीं है। फिर वह काल का चाहे जितना छोटा खण्ड हो, उसमें जीना काल-सापेक्ष जीना ही होता है और वह इतिहास में जीना हो जाता है।

क्षण बिन्दु और रेखा भी नहीं है। रेखा तो परस्पर भर है। परन्तु क्षण परम्परा मुक्त होता है।

विशेष–1. बर्फ से आवृत्त काठघर में बन्द योके के मानसिक स्थिति का द्वन्द्व यहाँ प्रस्तुत हुआ है।

2. शुद्ध वर्तमान ही क्षण है। वह इतिहास और भूत-भविष्य नहीं है, साथ ही वह परम्परा मुक्त है।

3. डायरी शैली में बात कही गई है।

(5) "मेरी बीमारी की बात बार-बार दोहराने की जरूरत नहीं है–मैं जानती हूं कि मैं बीमार हूँ। मैं क्या जान बूझकर हुई हूँ, या कि तुम्हें सताने के लिए बीमार हुई हूँ? और स्वतंत्रता–कौन स्वतंत्र है? कौन चुन सकता है कि वह कैसे रहेगा, या नहीं रहेगा? मैं क्या मर जाऊँ? मैंने चाहा था कि अन्तिम दिनों में कोई मेरे पास न हो। लेकिन वह भी क्या मैं चुन सकी? तुम क्या समझती हो कि इससे मुझे तकलीफ नहीं होती कि जो मैं अपनों को भी नहीं दिखाना चाहती थी उसे देखने के लिए–भगवान ने–एक-एक अजनबी भेज दिया?"

नोट

सन्दर्भ–यह अवतरण 'अपने-अपने अजनबी' उपन्यास के 'योके और सेल्मा' परिच्छेद से लिया गया है। यह योके द्वारा लिखी गई 5 जनवरी की डायरी का अंश है। यहाँ सेल्मा ने योके को स्पष्ट किया है कि मनुष्य कुछ भी करने के लिए स्वतंत्र नहीं है। उसे तो नियति अपने नियन्त्रण में विवश किए हुए है:

व्याख्या–योके, तुम स्वतंत्रता की बात कहती हो, परन्तु यहाँ तो अपनी इच्छा को पूरा करने के लिए कोई भी स्वतंत्र नहीं है। तुमको इस बात की जरूरत नहीं है कि मेरी बीमारी की बात बार-बार दुहराओ। मैं इस बात को जानती हूँ कि मैं बीमार हूँ, परन्तु मैं जानबुझकर बीमार नहीं हूँ। जहाँ तक स्वतंत्रता की बात है, कोई भी तो स्वतंत्र नहीं है। मैं न तो जानबूझकर बीमार होने के लिए ही स्वतंत्र थी और न तुम्हें सताने के लिए ही बीमार हुई हूँ।

कोई भी अपनी इच्छानुसार काम करने के लिए स्वतंत्र नहीं है। इस बात को अपनी इच्छा से कोई भी नहीं चुन सकता कि वह किस प्रकार रहेगा और किस प्रकार नहीं रहेगा। मैं बीमार न रहने के लिए स्वतंत्र नहीं हूँ। मैं इसके लिए ही स्वतंत्र नहीं हूँ कि मरकर बीमारी से मुक्ति प्राप्त कर लूँ।

मैंने इच्छा की थी कि मेरे अन्तिम दिनों में कोई भी मेरे पास न रहे। परन्तु मेरी इच्छा पूरी न हो सकी। मुझे इससे कितनी अधिक तकलीफ होती है कि अपनी मृत्यु को दूसरो को न दिखाने की भी मेरी इच्छा पूरी न हो सकी। तुम्हारे रूप में भगवान ने अन्तिम समय में एक अजनबी को मेरे पास भेज दिया।

विशेष–1. यहाँ भारतीय आस्थावादी दर्शन की सम्पूर्णता व्यक्त हुई है। मनुष्य किसी बात के लिए स्वतंत्र नहीं हैं वह अपनी कोई भी इच्छा पूर्ण नहीं कर सकता। ईश्वर या नियति ही उसका और उसके कर्मों का सूत्रधार है। वह उसे नचाती रहती है:

"नचती है नियति नटी,
कन्दुक-क्रीड़ा सी करती।"

2. योके पाश्चात्य अनास्थावादी संस्कृति की प्रतीक है और सेल्मा भारतीय आस्थावादी संस्कृति की प्रतीक है।

3. योके ईश्वर में विश्वास नहीं करती और मृत्यु को जीवन का खण्डन मानती है जबकि सेल्मा मृत्यु को जीवन की निरन्तरता मानती है और उसे सर्जनात्मक मानती है। मृत्यु उसके लिए एक वस्त्र उतारकर दूसरा पहनने के समान है।

(6) "क्या सचमुच ऐसा है? मुझे किसका सहारा है, में नहीं जानती हूँ। ईश्वर का है, यह भी किस मुँह से कह सकती हूँ? शायद मृत्यु का ही सहारा है। वह है, बिलकुल पास है, सामने खड़ी है–लगता है कि हाथ बढ़ाकर उसे छू सकती हूँ। और यह कहने में और इसमें क्या फर्क है कि हाथ बढ़ाकर उसका सहारा ले सकती हूँ? ... ईश्वर ... ईश्वर का नाम ले लेना तो बड़ा आसान है, लेकिन बड़ा मुश्किल भी है।और मौत और ईश्वर को हम अलग-अलग पहचान भी तो कभी-कभी ही सकते हैं। बल्कि शायद मन से ईश्वर को तब तक पहचान नहीं सकते जब तक कि मृत्यु में ही उसे न पहचान लें।"

सन्दर्भ– यह अवतरण 'अपने-अपने अजनबी' उपन्यास के 'योके और सेल्मा' परिच्छेद से लिया गया है। यह योके द्वारा 5 जनवरी को लिखी गई डायरी का अंश है। नियति ने योके को बर्फ से ढके कठघर में एक लम्बे समय के लिए बन्द कर दिया है, जहाँ वह भयभीत है। जबकि वह सेल्मा में किंचित भी भय का संचार नहीं देखती है। योके प्रश्न करती है कि सेल्मा को कौन सहारा है। जिससे बर्फ की अंधेरी गुफा में उसे भय नहीं लगता। सेल्मा उत्तर देती हुई कहती है:

व्याख्या– योके, तुम सहारे की बात कहती हो, क्या मुझे सचमुच कोई सहारा है मैं यह नहीं जानती कि मुझे किस का सहारा है, जिसके कारण मुझे यहाँ भय नहीं लगता। मुझे ईश्वर का सहारा है। यह बात भी मैं किस मुख से कह सकती हूँ।

नोट

मैं सोचती हूँ कि शायद मुझे मृत्यु का सहारा हैं वह मेरे बिलकुल पास है। मैं अनुभव करती हूँ कि वह मेरे पास ही खड़ी हुई है। ऐसा लगता है कि मैं हाथ बढ़ाकर उसे छू सकती हूँ। अत: मैं यह भी कह सकती हूँ कि मैं हाथ बढ़ाकर उसका सहारा ले सकती हूँ, अर्थात् मृत्यु को छूने और उसका सहारा लेने में कोई अन्तर नहीं है।

जहाँ तक ईश्वर का प्रश्न है, उसका नाम लेना जहाँ बहुत आसान है, वहाँ बहुत मुश्किल भी है। मृत्यु और ईश्वर को अलग-अलग करके कभी-न-कभी पहचाना जा सकता है। यथार्थ में हम ईश्वर को मन से तब तक नहीं पहचान सकते, जब तक मृत्यु में उसे पहचान न लें।

विशेष–1. यहाँ सेल्मा का ईश्वर के प्रति आस्थावाद चरमोत्कर्ष पर है।

2. भारतीय दर्शन की यह कितनी यथार्थ और सरल व्याख्या है, जिसमें मृत्यु को काल-भगवान कहा गया है।

3. मृत्यु को पहचाने बिना मन से ईश्वर को पहचाना नहीं जा सकता।

(7) "मृत्यु एक झूठ है, क्योंकि वह जीवन का खण्डन है। और मैं जीती हूँ और जानती हूँ कि मैं जीती हूँ। कभी ऐसा होगा कि जीती न रहूँगी लेकिन जब नहीं रहूँगी तब जानने वाला भी कौन रहेगा कि मैं जीवित नहीं हूँ–कि मैं मर चुकी हूँ? मौत दूसरों की ही हो सकती है, जिनका होना और न होना दोनों ही हम जान सकते हैं या मानते हैं। लेकिन अपनी मृत्यु का क्या मतलब है वह केवल दूसरे को देख कर लगाया हुआ एक अनुमान है–कि दूसरे के साथ ऐसा हुआ इसलिए हमारे साथ भी होगा।"

सन्दर्भ–यह अवतरण 'अपने-अपने अजनबी' उपन्यास के 'योके और सेल्मा' परिच्छद से लिया गया है। सेल्मा के मृत्यु और ईश्वर के सम्बन्ध में आस्थावादी विचारों से योके झुंझला उठती है। वह सेल्मा की बातों को अपने प्रति व्यंग्य का अनुभव करती है। वह सोचती है कि सेल्मा मुझे नीचा दिखाकर जलील कर रही है। यह सोचतती है कि जब ईश्वर मृत्यु का ही दूसरा नाम है, तब मैं ईश्वर को किसी प्रकार भी नहीं मान सकती।

व्याख्या–मैं मृत्यु को नहीं मानती और न मानना ही चाहती हूँ। मृत्यु जीवन का खण्डन है। अत: वह झूठ है। अत: वह झूठ है। मैं जीती हूँ और जीती रहने का अनुभव करती हूँ। कभी ऐसा भी होगा कि मैं जीती नहीं रहूँगी। तब इस बात को ही जानने वाला कौन रहेगा कि मैं जीवित नहीं हूँ और मैं मर चुकी हूँ। मौत दूसरों की ही हो सकती है। दूसरों की मौत हुई या नहीं हुई, इसे हम प्रत्यक्ष रूप से देखते हैं। अपनी मृत्यु को तो कोई भी नहीं देख पाता। अत: अपनी मृत्यु का क्या अर्थ हो सकता है। अपनी मृत्यु का तो अनुमान दूसरों की मृत्यु को देखकर ही लगाया जा सकता है। दूसरों की मृत्यु को देखकर हम अनुमान लगा लेते हैं, कि हमारी भी मृत्यु इसी प्रकार होगी।

विशेष–जीवन और मृत्यु की दार्शनिक व्याख्या कितने सरल शब्दों में व्यक्त हुई है। कोई भी अपनी मृत्यु नहीं देख पाता। वह दूसरों की मृत्यु को देखकर ही अनुमान लगाता है कि उसकी भी मृत्यु इसी प्रकार होगी।

21.3 शब्दकोश

1. **प्रियविष्णु**– प्रभावशील, बलवान
2. **कहवा**– एक पेड़ का बीज जिसे भूनकर उसमें चीनी मिलाकर पेय पदार्थ बनाया जाता है।
3. **थुड़ी**– धिक्कार सूचक शब्द, लानत

नोट

21.4 अभ्यास-प्रश्न

1. अज्ञेय के उपन्यास अपने-अपने अजनबी का कथासार अपने शब्दों में लिखिए।
2. योके एवं सेल्मा के आस्थावादी एवं अनास्थावादी विचारों पर टिप्पणी कीजिए।

उत्तर: स्व-मूल्यांकन

1. (ग) 2. (ख) 3. (क) 4. (ख)

21.5 संदर्भ पुस्तकें

1. *अपने-अपने अजनबी*–अज्ञेय, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली।
2. *अज्ञेय: एक अध्ययन*–भोला भाई पटेल, वाणी प्रकाशन, दिल्ली।
3. *अज्ञेय: कवि-कर्म का संकट*–कृष्णदत्त पालीवाल, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली।

नोट

इकाई 22: अपने-अपने अजनबी-प्रमुख पात्रों का चरित्र-चित्रण

अनुक्रमणिका

उद्देश्य

प्रस्तावना

22.1 अपने-अपने अजनबी-प्रमुख पात्रों का चरित्र-चित्रण

22.1.1 यान

22.1.2 सेल्मा

22.1.3 योके

22.2 सारांश

22.3 शब्दकोश

22.4 अभ्यास-प्रश्न

22.5 संदर्भ पुस्तकें

उद्देश्य

विद्यार्थी इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् सक्षम होंगे–

- अज्ञेय के उपन्यास अपने-अपने अजनबी के पात्रों से परिचित होंगे।

प्रस्तावना

चरित्र-चित्रण उपन्यास का प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण तत्त्व होता है। चरित्र-चित्रण का अर्थ है–पात्र के चरित्र को आंकना, उसके गुण-दोषों का उद्घाटन करना, उसके व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति करना। अज्ञेय की पात्र-संयोजना पर दृष्टिपात किया जाये, तो स्पष्टतया कहा जा सकता है कि अज्ञेय के पात्र व्यक्ति नहीं, वरन् समष्टि होते हैं। वे अपने अस्तित्व की खोज में जितने तल्लीन है, उतनी ही वे अपनी प्रतीकात्मकता की भी अभिव्यक्ति करते हैं। यहाँ अज्ञेय के उपन्यास 'अपने-अपने अजनबी' के कुछ महत्त्वपूर्ण पात्रों के चरित्र का विश्लेषण प्रस्तुत है।

22.1 अपने-अपने अजनबी-प्रमुख पात्रों का चरित्र-चित्रण

22.1.1 यान

यान के चरित्र का उपन्यासकार ने पर्याप्त विकास किया है। वह फोटोग्राफर और सेल्मा की दुकानों के पास ही अपनी खिलौनों की दुकान चलाता है और उन्हीं के साथ वह भी बाढ़ की भीषण विभीषिकाओं से घिरता है। यान में जितना स्वाभिमान है, उतना ही करुणा और निस्पृहता भी है। वह भूखा रहता है, प्यासा रहता है, किंतु न तो समृद्ध सेल्मा से आश्रय मांगता है, और न कभी कोई वस्तु उधार ही लेता है। वह सेल्मा की उस प्रवृत्ति से पूर्णतया परिचित है, जिसमें धन के लिए अतिशय मोह है, और सभी से कटकर अपने अकेलेपन में ही डूबे रहने की

नोट

असामाजिकता है। वह पैसे देता है, और सेल्मा से अपनी आवश्यकताओं की वस्तुएँ खरीदता है। किंतु उसके स्वाभिमान का सम्पूर्ण रूप तब प्रकट होता है, जब वह दूसरी बार सेल्मा की दुकान पर खाने का सामान खरीदने पहुंचता है, और सेल्मा के अमानुषिक व्यवहार से आहत होकर अपने जेब के सारे सिक्कों को उसके मुंह पर दे मारता है। और साथ ही बाकी पैसों के लिए वह खरीदे हुए गोश्त का आधा भाग वापस कर देता है। उसका यह कार्य जहाँ उसके अतिशय स्वाभिमान को सूचित करता है, वहां सेल्मा के प्रति उसकी अथाह घृणा को भी व्यक्त करता है। तब सेल्मा का आक्रोश इन विचार-सारणियों में प्रवाहित होने लगता है–'हार वह नहीं मानेगी, कभी नहीं मानेगी। अपमान से तो और भी नहीं। और यान कौन होता है उसका अपमान करने वाला या उस पर क्रोध करने वाला? मुनाफा वह करती है, मुनाफा सब करते हैं। यान क्या सूवेनिर के नाम पर तरह-तरह का निरर्थक कूड़ा बेचकर मुनाफा नहीं करता? दाम कम या ज्यादा हो, यह मांग पर निर्भर है। तबियत पर निर्भर है।'

इस घटना की यह प्रतिक्रिया आवेशमयी और सतही है, किन्तु अपने आवेश को दबाकर जब सेल्मा गम्भीरता से सोचती है तो अनजाने ही वह यान के इतनी निकट पहुंच जाती है कि अपनी सारी सम्पत्ति की वसीयत उसके नाम कर देती है, और अन्त में उससे विवाह भी कर लेती है।

इस प्रकार, यान का चरित्र स्वयं में विस्तृत न होते हुए भी सेल्मा के गतिशील चरित्र को मुखरित करने में विशेष सहायता है।

22.1.2 सेल्मा

वस्तुत: सेल्मा और योके ही इस उपन्यास के प्रमुख पात्र हैं, जिनके माध्यम से उपन्यासकार ने उपन्यास की कथावस्तु का भी विस्तार किया है, और अपने-अनेक वैचारिक धरातलों का भी उद्घाटन किया है। सेल्मा के चरित्र के तीन स्तर हैं–अति साधारण, साधारण और असाधारण।

सेल्मा का प्रारम्भिक जीवन अति साधारण स्तर का है, जिसमें वे सभी गुण-दोष हैं जो एक अत्यन्त साधारण मानव में हो सकते हैं। वह नदी के पुल पर अपना चायघर चलाती है और खूब मुनाफा कमाती है। धनार्जन के प्रति उसके अतिशय मोह ने उसे नितान्त आत्मकेन्द्रित बना दिया है। यद्यपि उसी की दुकान के समीप यान और फोटोग्राफर की भी दुकानें हैं, जो कभी-कभार आपस में मिल लेते हैं, बातें कर लेते हैं, एक दूसरे के सुख-दुख के भागीदार बनते हैं, किन्तु वह उनसे बिलकुल कटी हुई रहती है। उसका केवल चायघर ही उसकी एकमात्र दुनिया है, और वह स्वयं ही अपना एकमात्र समाज है। उसका यह नितान्त अकेलापन उसे असामाजिक ही नहीं बना देता, बल्कि उसमें अनेक ऐसे अमानवीय भाव भी उत्पन्न कर देता है जो किसी सामाजिक मानवीय के लिए किसी भी स्थिति में वांछित नहीं हो सकते। और जब बाढ़ आ जाती है, तो उसका अमानवी रूप पूरी तरह उभरकर सामने आ जाता है। वह अपनी चीजों के दाम दूने कर देती है। उसे तनिक भी इस बात की चिन्ता नहीं कि वहां पर वे केवल तीन ही प्राणी थे, जो अर्थहीनता में थर-थर कांपते हुए किसी प्रकार अपने-अपने प्राणों को संजोए हुए थे। एक दिन जब भूखा-प्यासा यान एकेलोफ उसकी दुकान पर कुछ भी खाने को सामान खरीदने आता है, तो वह बिना किसी हिचक के अवसर से लाभ उठाती हुई कहती हैं–"ईंधन की बहुत कमी है। कुछ बनाने में दुगुने दाम लगेंगे।"

यान दुगुने दाम देने पर ही विवश है, क्योंकि अन्य कोई विकल्प नहीं है।

एक दिन जब प्यास से आक्रांत फोटोग्राफर उससे थोड़ा-सा पानी मांगने आता है, तब भी वह अपनी पूरी हृदयहीनता का ही परिचय देती है–'पानी मेरे पास शायद चाय बनाने लायक भर होगा। मैंने अभी चाय भी नहीं बनायी है। कहो तो वही पानी तुम्हें दे दूं। या कि यहीं एक प्याला पी लो।' फोटोग्राफर निराश होकर प्यासा ही लौट जाता है, क्योंकि वह जान गया है कि वह बिना पैसे पानी भी देना नहीं चाहती, बल्कि चाय के बहाने पैसे वसूलना चाहती है। एक दिन जब यान उसकी दुकान पर फिर आता है, तो वह और भी अधिक हृदयहीन बन जाती है। उसकी हृदयहीनता का तथा एकान्विता का वर्णन उपन्यासकार ने इन शब्दों में किया है–'सहानुभूति उन सबकी परिस्थिति में अकल्पनीय हो, ऐसा उसे अब तक नहीं लगा था–इस बारे में कुछ सोचने की आवश्यकता ही उसे नहीं हुई थी। लेकिन जिस ढंग से यान से बात हुई–यानी यान ने जैसे बात शुरू की–उससे सेल्मा को एकाएक ऐसा लगा

नोट

कि दुनिया का मतलब और कुछ नहीं है सिवा इसके कि एक वह है, और बाकी ऐसा सब है जो कि वह नहीं है, और जिसके साथ उसका केवल विरोध का सम्बन्ध है। यह विरोध ही एकमात्र ध्रुवता है जिसे उसे कसकर पकड़े रहना है, जिसे पकड़े रहने के अपने सामर्थ्य को उसे हर साधन से बढ़ाना है।'

वह अवसर से लाभ उठाना अपना व्यापारिक धर्म एवं अधिकार समझती है। इसलिए जब एक बार आक्रोश में आकर यान उसके मुंह पर सिक्के मारकर चला जाता है तो वह अपने-आप से कहती है–'मुनाफा वह करती है, मुनाफा सब करते हैं। यान क्या सूबेनिर के नाम पर तरह-तरह का निरर्थक कूड़ा बेचकर मुनाफा नहीं करता? दाम कम या ज्यादा हो, यह मांग पर निर्भर है। तबीयत पर निर्भर है। सैलानी लोग सिर्फ शौक के कारण मुंह-मांगे दाम देकर तरह-तरह की फिजूल चीजें खरीद लेते हैं। सभी जानते हैं कि दाम चीज का नहीं, शौक का है; तो इससे क्या व्यापार अनैतिक हो जाता है? दाम मांग का है, मांग विरोध की स्थिति से उत्पन्न होती है, विरोध ध्रुव है, और उसे पकड़े ही रहना है।... जरूरत भी शौक का दूसरा नाम है। दोनों ही मांगें हैं। अलग-अलग तरह की सही। शौक पर मुनाफा– जरूरत पर मुनाफा–हां, फर्क तो है–शौक के साथ लाचारी नहीं है, जबकि जरूरत के साथ विकल्प नहीं है।... लेकिन विकल्प क्या सचमुच नहीं है? और जोखिम क्या मैं नहीं उठा रही हूं यहां रहकर? क्या मेरी जरूरत का सवाल नहीं है–और क्या मैं कम लाचार हूं?'

व्यापारिक दृष्टि से, व्यापार की सर्वस्व-समर्पण की दृष्टि से सेल्मा के वे तर्क सही हो सकते हैं, लेकिन मान्यता की दृष्टि से इन तर्कों में कतई वचन नहीं है, और ये निश्चित रूप से सेल्मा को अति साधारण स्तर पर ही ले जाकर खड़ा कर देते हैं।

किन्तु सेल्मा प्रगतिशील चरित्र है, अत: फोटोग्राफर की कारुणिक आत्महत्या, जिसकी सेल्मा साक्षी भी है और बहुत हद तक जिम्मेदार भी, सेल्मा के इन सभी आत्मकेन्द्रिता पर स्थित व्यापारिक तर्कों को झकझोर देती है, और यहीं से सेल्मा के चरित्र का साधारण स्तर शुरू होता है, उसके जीवन में केवल स्व-हित की ही अन्धता नहीं रहती, बल्कि पर-हित की भावना भी, भले ही शुरू में वह कितनी ही क्षीण और अस्थिर क्यों न हो, उद्‌भूत हो जाती है। फोटोग्राफर की आत्महत्या के कारुणिक किन्तु अस्थिर क्यों न हो, उद्‌भूत हो जाती है। फोटोग्राफर की आत्महत्या के कारुणिक किन्तु भयावह दृश्य को देखकर सेल्मा जैसे शक्तिहीन ही हो जाती है और वह लड़खड़ाकर अपने बरामदे की सीढ़ियों पर बैठ जाती है। इसी कारण वह उस रात सो न सकी, और सारी रात उसने बड़ी ही बेचैनी से काटी। उसे अनुभव हुआ, मानो उसका सारा जीवन कसैला है, उसकी सारी अनुभूतियाँ कसैली हैं, और उसका सारा जीवन-दर्शन भी कसैला है। उसकी इस कसैली दशा का संकेत उपन्यासकार ने इन शब्दों में दिया है–'फिर उसने बहुत गहरी चाय बनाकर बिना दूध-चीनी के ही पी डाली। उसकी कड़ुवाहट से भी जब तसल्ली नहीं हुई, तो भीगी पत्तियां भी प्याले में उड़ेलकर उन्हें मुंह में भर लिया, और मुंह के अन्दर इधर-उधर घुमाती रही। थोड़ी देर बाद वह घूंट उसने थूक दिया, और गालों के अन्दर जीभ फेरकर मानो अपने मुंह के कसैलेपन का स्वाद लेने लगी।'

क्या आप जानते हैं अज्ञेय ने सेल्मा के चरित्र का अति संकीर्णतावादी से उत्तरोत्तर प्रगतिशीलता की ओर बढ़ते दिखाया है।

दूसरे दिन एक दूसरी घटना और घटित हो जाती है, जो उसे विषम भूकम्प की भांति पूरी तरह से हिलाकर रख देती है। वह घटना है, फोटाग्राफर की जली हुई दुकान की आग पर यान का गोश्त पकाना। इस घिनौने दृश्य को देखकर 'एकाएक दूकान के जलने का रात में देखा हुआ वह दृश्य सेल्मा की आंखों के सामने साकार हो आया। मानो फोटोग्राफर की वह उन्मत्त मुद्रा उसने फिर देखी, वह पागल चीख फिर सुनी, और फिर पानी की बुड़बुड़ाहट और फिर वह एकस्वर घरघराहट, जिससे घिरे हुए उसे न जाने कितने दिन हो गये थे। एकाएक उसे उबकाई आने

नोट

लगी। उसने पदरा खींचकर दृश्य उसकी आंखों के आगे से हटा दिया, और वहां से उठ गयी। लेकिन दृश्य उसकी आंखों के आगे थोड़े ही था जो परदा खींचने से हट जाता। वह जिधर मुड़ी, उधर भी वही दृश्य था–क्योंकि वह उसकी आंखों के सामने नहीं, आंखों के भीतर था।'

सेल्मा के चरित्र की यह वह भावभूमि है, जहां से वह किसी भी समय असाधारणता की ओर जा सकती है। और हुआ भी ऐसे ही, जब यान ने उसी की दुकान से खरीदे गये गोश्त को पकाकर उसे उसमें साझेदारी का निमन्त्रण दिया, तो इसी घटना ने उसे साधारणता से मुक्त करके असाधारण बना दिया। वह अपने अकेलेपन के कठोर कवच से निकलकर बाहर आ गई, और उसने अपनी सारी सम्पत्ति, जो उसने सारे जीवन मूल्यों को तिलांजलि देकर अर्जित की थी, यान को वसीयत में दे दी, जिसे यान ने स्वीकार नहीं किया, पर उसकी प्रार्थना पर उसने उसवे (सेल्मा के) साथ विवाह कर लिया।

अपनी वृद्धावस्था में तो सेल्मा निरन्तर असाधारण ही बनी रहती है। यद्यपि वह जानती है कि उसकी मृत्यु सन्निकट है, फिर भी वह उससे भयभीत नहीं है, वरन् उसका स्वागत करने के लिए उतावली ही जान पड़ती है। उसकी इस निर्भीकता को देखकर योके आश्चर्यचकित हो जाती है, और जब वह उससे पूछती है कि तुम्हें किसका सहारा है, तो सेल्मा उत्तर देती है–'मुझे किसका सहारा है, मैं नहीं जानती हूं। ईश्वर का है, यह भी किस मुंह से कह सकती हूं? शायद मृत्यु का ही सहारा है। वह है, बिल्कुल पास है, सामने खड़ी है–लगता है कि हाथ बढ़ाकर उसे छू सकती हूं। और यह करने में और इसमें क्या फर्क है कि हाथ बढ़ाकर उसका सहारा ले सकती हूं?'

जीवन के संघर्षों ने और आसन्न मृत्यु ने सेल्मा को अपने प्रति अत्यधिक आत्मविश्वासी और ईश्वर के प्रति अतिशय आस्थावादी बना दिया है। इसी आत्मविश्वास और आस्था ने उसे इतना प्रबल जीवन-बोध दे दिया है कि उसके लिए मृत्यु और ईश्वर में कोई भेद नहीं रह गया है। यदि ईश्वर उसके लिए पूरे नकार का ज्ञान है तो मृत्यु इस ज्ञान को प्राप्त करने का, इसे पहचान पाने का, एकमात्र साधन है–'जब ईश्वर पहचान से परे है तो कोई भी पहचान भ्रम है। ईश्वर को हम कैसे जान सकते हैं? जो हम जान सकते हैं, वे कुछ गुण हैं–और गुण हैं, इसलिए ईश्वर के तो नहीं हैं। हम पहचानते हैं अनिवार्यता हम पहचानते हैं अन्तिम और चरम और सम्पूर्ण और अमोघ नकार–जिस नकार के आगे और कोई सवाल नहीं है, और न कोई आगे जवाब ही... इसीलिए मौत ही तो ईश्वर का एकमात्र पहचाना जा सकने वाला रूप है। पूरे नकार का ज्ञान ही सच्चा ईश्वर-ज्ञान है।'

वह इस ज्ञान को केवल भाव-बोध तक ही सीमित नहीं रखना चाहती, बल्कि पूरी तरह से अपने जीवन में उतार लेना चाहती है। वह चाहती है कि उसकी यह आस्था उसके तन और प्राणों को पूरी तरह से आच्छादित कर ले, वह इसमें सम्पूर्ण रूप से डूब जाये। अपनी इस मनोकामना को व्यक्त करती हुई वह योके से कहती है–'मैं भगवान को ओढ़ लेना ही चाहती हूं। पूरा ओढ़ लेना कि कहीं कुछ भी उघड़ा हुआ रह न जाय।... देखो, योके! मेरी आंखों में देखो। क्या तुम्हें नहीं दीखता कि भगवान के सिवा मेरे पास कुछ नहीं है ओढ़ने को!' अपनी इसी सम्पूर्ण आस्था की अभिव्यक्ति वह यदा-कदा अपने गीतों से भी करती रहती है। मृत्यु की छाया में हर्ष और सन्तोष के गीत गाना जीवन-बोध की प्रबलतम अभिव्यक्ति हैं। यह जानते हुए भी कि उसकी मृत्यु सन्निकट है, वह मृत्यु को नकार कर जीवन-बोध को ही सुरक्षित रखना चाहती है। वह जानती है कि मृत्यु अवश्यम्भावी है, यही जीवन की अन्तिम अपरिहार्य नियति है। अत: योके के द्वारा अपनी बीमारी की बात को बार-बार सुनकर वह कुछ उत्तेजित हो जाती है, और उससे कहती है–'मेरी बीमारी की बात बार-बार दोहराने की जरूरत नहीं है–मैं जानती हूं कि मैं बीमार हूं। मैं क्या जान-बूझकर हुई हूं, या कि तुम्हें सताने के लिए बीमार हूं। और स्वतन्त्रता–कौन स्वतंत्र है? कौन चुन सकता है कि वह कैसे रहेगा, या नहीं रहेगा? मैं क्या स्वतंत्र हूं कि बीमार न रहूं–या कि अब बीमार हूं तो क्या इतनी भी स्वतन्त्र हूं कि मर जाऊं?' वस्तुत: सेल्मा की यह उक्ति उसके जीवन-बोध की आसक्ति को ही व्यक्त करती है।

सेल्मा की इसी अबाध आस्था और जीवन बोध के कारण वह योके को असाधारण-सी लगती है। उसकी दृष्टि में, वह उस फरिश्ते से कम नहीं है जो जीवन की सम्पूर्ण यन्त्रणाओं से मुक्त और अलौकिक है–'फरिश्ता हम दोनों

नोट

में से कोई है तो शायद आंटी सेल्मा, जिसके चेहरे पर अचानक कभी-कभी एक भाव दीखता है जो मानो इस लोक का नहीं है।' वह असाधारणता को छोड़कर इतनी अधिक असाधारण हो गई है कि उसकी सभी उक्तियां किसी न किसी प्रकार के रहस्य-मर्मों से भरी होती हैं। यथा–

(1) 'खतरे में डर के दो चेहरे होते हैं, जिनमें से एक को दुस्साहस कहते हैं; कई लोग इसी एक चेहरे को देखते हुए बड़े-बड़े काम कर बैठते हैं, और कहीं के कहीं पहुंच जाते हैं। लेकिन धीरज में डर का एक ही चेहरा होता है, और उसे देखे बिना काम नहीं चलता। उसे पहचान लेना ही अच्छा है–तब उतना अकेला नहीं रहता। निरे अजनबी डर के साथ कैद होकर कैसे रहा जा सकता है? नहीं रहा जा सकता–बिल्कुल नहीं रहा जा सकता।'

(2) 'जो हमारे भीतर नहीं है, वह हम बाहर कैसे दे सकते हैं–कैसे देना चाह सकते हैं? खुली, निखरी हुई, स्निग्ध, हंसती धूप–मैं बाहर उसकी कल्पना करती हूं तो वह मेरे भीतर भी खिल आती है, और मैं सोच सकती हूं कि मैं उसे औरों को दे सकती हूं। नहीं तो–कितना ठण्डा अंधेरा होता है उसके भीतर जिसे मरना है और सिवा मरने के और कुछ नहीं करना है।'

(3) 'न न, योके! इस अपराध को खाहमखाह ओढ़ना है। तुम जो अपने को स्वतन्त्र मानती हो, वही सब कठिनाइयों की जड़ है। न तो हम अकेले हैं, न हम स्वतन्त्र हैं। बल्कि अकेले नहीं हैं और हो नहीं सकते, इसलिए स्वतन्त्र नहीं है, और इसीलिए चुनने या फैसला करने का अधिकार हमारा नहीं है।'

वास्तव में सेल्मा का चरित्र इतना गम्भीर और वैविध्यपूर्ण है कि उसे किसी एक निश्चित दायरे में नहीं बांधा जा सकता। उपन्यास के पाठकों की दृष्टि में यदि वह 'एक व्यक्ति का चरित्र है जो जीवन से नितान्त निरपेक्ष, आत्मकेन्द्रित, दमित, अहंपूर्ण अतः समाज के साथ स्वयं के लिए भी व्यर्थ है।'–और 'अपने-अपने अजनबी' में प्रतिकात्मकता को देखने वाले पाठकों की दृष्टि में वह आस्था, जीवन-बोध, पाश्चात्य ह्रासोन्मुख की दृष्टि में वह अत्यन्त उलझनमयी तथा रहस्यमयी है–'उसमें किसी तरह का विरोध नहीं है–न मेरे प्रति, न मेरे हिंस्र भावों के प्रति, न मृत्यु के ही प्रति। और यह मेरी समझ में नहीं आता, मुझे स्वीकार नहीं होता। कैसे कोई जीता हुआ प्राणी जिजीविषा से परे हो सकता है? हम सब कुछ से अनासक्त हो सकते हैं, पर जीवन से कैसे हो सकते है? कहीं न कहीं जरूर बुढ़िया में कोई झूठ है। कोई आत्मवंचना है। हो सकता है कि वह गहरे में छिपी हो...लेकिन यह नहीं हो सकता कि वह हो ही न....।'

22.1.3 योके

नवयुवती योके पॉल सॉरेन की प्रेमिका है। एक बार वह अपने प्रेमी के साथ बर्फ के पहाड़ों पर घूमने के लिए जाती है, और अकस्मात् बर्फ के गिरने से वह अपने प्रेमी से बिछुड़कर सेल्मा के काठघर में पहुंच जाती है। उस समय सेल्मा अकेली थी, और अपने जीवन के अन्तिम दिनों को गिन रही थी। यद्यपि योके नहीं चाहती थी कि वह उस बुढ़िया के पास रहे, किन्तु बर्फ ने चारों ओर से उस घर को इतनी प्रगाढ़ता से घेर लिया था कि वह चाहते हुए भी वहां से नहीं निकल सकती थी, अतः न चाहते हुए भी उस अजनबी बुढ़िया के साथ ही वहां पर रहने के लिए विवश थी। वह वहां रहती रही, और सेल्मा अपनी मृत्यु के निकट से निकटतर होती गई, और एक दिन वह परलोक सिधार ही गई।

योके ने सेल्मा को तिल-तिल करके गलते देखा था, क्षण-क्षण मृत्यु की ओर खिसकते देखा था, और यदा-कदा उसकी मृत्यु की कामना भी की थी, क्योंकि उसका और सेल्मा का जीवन-दर्शन बिल्कुल ही विपरीत था, इसीलिए वह कभी-कभार सेल्मा की बातों से अथवा उसके व्यवहार से खीझ उठती थी। किन्तु जब उसकी मृत्यु हो ही गई, तो योके को भारी मानसिक सन्त्रास हुआ। उसे अनुभव हुआ, जैसे समूचे घर में , बल्कि उसके अंग-अंग के रोम-रोम में सेल्मा की मृत्यु की दुर्गन्ध समा गई है... 'वह मृत्यु-गन्ध मानो सर्वत्र भर रही थी। योके ने एक कम्बल और चादर से दरवाजे के जोड़ और दरारें बन्द कर देने का यत्न किया, लेकिन उसे लगा कि ये कपड़े भी उसी गन्ध से बस गये हैं। उसकी मुट्ठियां बंध गयीं। उसने जोर से एक घूंसा कम्बल पर मारा; लेकिन चोट न लगने से उसको सन्तोष नहीं हुआ, और वह दोनें मुट्ठियों से दरवाजे को पीटने लगी। एक कडुवा आक्रोश उसके भीतर

नोट

उमड़ आया; न जाने कब पुरुषों के झगड़ों में सुनी हुई गालियां उसे याद हो आयीं, और वह उन्माद की सी अवस्था में ईश्वर का नाम ले-लेकर गालियों को दोहराने लगी, और साथ-साथ दरवाजे पर घूंसे मारने लगी। व्यर्थ। सब व्यर्थ। वह मृत्यु-गन्ध नहीं दबती, न दबेगी, सब जगह फैली हुई है, सब कुछ में बसी हुई है। सब कुछ मरा हुआ है, सड़ रहा है, घिनौना है...बेपनाह है...एकाएक योके को लगा कि वह गन्ध और कहीं से नहीं आ रही है, उसी में है...उसी की देह में से आ रही है।

सेल्मा की मृत्यु से उपजा यह सन्त्रास योके को मानसिक धरातल पर पूरी तरह से झकझोर देता है।

वह जब सेल्मा की लाश को बर्फ में दफनाकर वापस लौटती है तो वह अत्यन्त अकेली, खिन्न और दुखी होती है। उसकी अनास्था और सुदृढ़ और भी प्रबल हो जाती है। अचानक वह जर्मन सिपाहियों द्वारा पकड़ी जाती है। वे उसे वेश्या बना देते हैं, जिसके कारण यह विक्षिप्त हो जाती है, और एक दिन भटकते-भटकते वह एक ऐसी दुकान के पास पहुंच जाती है, जहां राशन लेने वालों की भीड़ लगी हुई है। जगन्नाथन् राशन ले चुका है, तथा और भी कुछ लेने की सोच रहा है कि विक्षिप्त योके उसके पास पहुंचती है और अपनी सिगरेट उसके पनीर के टुकड़े से रगड़कर और पनीर को फर्श पर फेंककर एक गली में भाग जाती है। जगन्नाथन् उसके पीछे-पीछे दौड़ता है। निराश होकर वह एक स्थान पर बैठ जाती है, और विष खाकर जगन्नाथ्न की बांहों में ही अपना दम तोड़ देती है।

याके का समूचा चरित्र इसी कथा के तीनो-बानों से बुना हुआ है। 'अपने-अपने अजनबी' के पाठकों से जब उसका परिचय होता है, तो वे पाते हैं कि योके अत्यन्त विचारशीला युवती है। उसकी अति गम्भीर वैचारिक प्रवृत्तियों को देखकर वह असाधारण भी लगती है। उसके चिन्तन के विविध आयाम हैं जो उसकी गम्भीर विचारशीलता को स्पष्टतया मुखरित करते हैं।

टास्क 'ईश्वर भी शायद स्वेच्छाचारी नहीं है उसे भी सृष्टि करनी ही है। क्योंकि उन्माद से बचने के लिए सृजन अनिवार्य है, वह सृष्टि नहीं करेगा तो पागल हो जाएगा–इन पंक्तियों की व्याख्या कीजिए।'

योके अनीश्वरवादी है। ईश्वर की सत्ता में उसकी कोई आस्था नहीं है, इसीलिए जब-जब सेल्मा अपनी आस्था की अभिव्यक्ति करती है तो वह ऊबने लगती है, और कभी-कभी तो उसे सेल्मा पर अत्यधिक क्रोध भी आ जाता है–'मैं अगर ईश्वर को नहीं मान सकती तो नहीं मान सकती, और अगर ईश्वर मृत्यु का ही दूसरा नाम है तो मैं उसे क्यों मानूं? मैं मृत्यु को नहीं मानती, नहीं मानना चाहती! मृत्यु एक झूठ है, क्योंकि वह जीवन का खंडन है।' जब सेल्मा की मृत्यु हो जाती है तो योके की अनास्थावादिता अपनी चरम सीमा पर ही पहुंच जाती है। वह अपना सम्पूर्ण आक्रोश संजोकर कह उठती है–'वह सेल्मा को उठाकर ईश्वर के मुंह पर दे मारेगी–कहेगी कि लो अपनी सड़ी हुई, गन्धाती हुई मृत्यु, और छोड़ दो मुझे मेरे अकेलेपन के साथ!' इतना कहकर भी उसे यही अनुभव होता है कि वह अपनी अनास्था को, अपने आक्रोश को पूरी तरह व्यक्त नहीं कर पाई है, अत: वह और भी अधिक आक्रोशमयी होकर कहती है–'मुझे इतना अकेला करके...अकेला होना–मृत्यु के साथ अकेला होना–मृत्यु में अकेला होना। इस चरम अकेलेपन और स्वयं मृत्यु में क्या अन्तर है? क्या हुआ अगर ईश्वर चोरी से देख रहा है, उस अकेली मृत्यु को–क्या ईश्वर भी मरा हुआ नहीं है?'

योके को ईश्वर के नाम से भी घृणा है। वह दृढ़तापूर्वक यह मानती है कि ईश्वर कोई विलक्षण या अलौकिक सत्ता नहीं, वरन् परम्परागत एक अवधारणा मात्र है, और इस अवधारणा को तिलांजलि देना मनुष्य का परमकर्तव्य है। सेल्मा की लाश को दफनाते समय यह सोचती है; बल्कि अपनी अनास्था से उत्तेजित होकर उबल पड़ती है–'क्या कोई प्रार्थना उसे याद है? क्या प्रार्थना का भाव भी उसके मन में है? क्या वह ईश्वर को जानती या मानती भी है, इससे अधिक कि उसका नाम लेकर थूके! ईश्वर केवल एक अभ्यास है, और उसके नाम पर थूकना भी अभ्यास

है...।'

नोट

सेल्मा का जीवन-बोध मृत्यु को एक साधन-रूप में ग्रहण करता है, किन्तु योके का विचार उसे एक दार्शनिक रूप देता हुआ नकारता है। योके का विचार है कि जीवन और मृत्यु न तो एक-दूसरे के पूरक हैं, जैसाकि भारतीय दार्शनिक स्वीकार करते हैं, और न मृत्यु ईश्वर का ही पर्याय है, जैसाकि सेल्मा मानती है। योके के अनुसार मृत्यु जीवन-बोध भयंकर ट्रेजेडी है, क्योकि यह जीवन का खंडन है। अत: मृत्यु जीवन को सम्पूर्ण भी नहीं होने देती, और स्वयं भी कभी पूरी नहीं होती–'हमेशा सुनती आयी हूं कि कब्र में बड़ा अंधेरा होता है, लेकिन यहां (काठघर में) उसकी भी असम्पूर्णता और विविधता है। शायद यही वास्तव में मृत्यु होती है, जिसमें कुछ भी होता नहीं, सब कुछ होते-होते रह जाता है! होते-होते रह जाना ही मृत्यु का विशेष रूप है जो मनुष्य के लिए चुना गया है जिसमें कि विवेक हैं, अच्छे-बुरे का बोध है। यह उसमें न होता तो उसका मरना सम्पूर्ण हो सकता। जो चुकता वह सम्पूर्ण चुक जाता। या जो रहता उसक बना रहना भी असन्दिग्ध होता। यह हमारे युगों से संचे हुए नीति-बोध की सजा है कि हमारा मरना भी अधूरा ही हो सकता है–मरकर भी कुछ हिसाब बाकी रह जाता है।' फिर भी योके यह मानती है कि जीवन की मृत्यु ही एकमात्र सच्चाई है, क्योंकि जो जन्म लेता है, वह मरता भी अवश्य है।

नोट्स अनास्थावादी योके का मानना है कि मृत्यु ही जीवन की एक मात्र सच्चाई, क्योंकि जो जन्म लेता है वह मरता भी अवश्य है।

कभी-कभी योके मृत्यु के दर्शन से इतनी अधिक आक्रान्त हो जाती है कि उसका जीवन-बोध और अस्तित्व-बोध दोनों ही डगमगाने लगते हैं। वह सेल्मा की निरन्तर मृत्यु की ओर बढ़ती देखती है, और उसे निश्चय है कि वह एक दिन अवश्य मर जायेगी, किन्तु वह अपने जीवित रहने के विषय में भी आश्वस्त नहीं है। अपनी मृत्यु के विषय में भी उसे निश्चय है। अपनी 12 जनवरी की डायरी में वह विस्तार से अपनी इस भावना को और अपने जीवन के प्रति लड़खड़ाये विश्वास को इन शब्दों में प्रस्तुत करती है–'इस बिना कफन की कब्र से क्या वह पहले की ही अवस्था अच्छी नहीं थी? बर्फ के नीचे दबकर मर जाना भी मर जाना है। लेकिन वह दबकर मरना तो है–उसमें कार्य और कारण की संगति तो है। लेकिन यह बिना दबे, बिना बर्फ को छुए भी अहेतुक मर जाना–यह मानो हमारे जीवन के अनुभव का अपमान करता है। और हम मरने पर भी अनुभव का खंडन सहने को तैयार नहीं। शायद यह हमारे इस करुण विश्वास का–विश्वास की कामना का फल है कि मगर अनुभव है तो हम भी हैं, और अगर कोई अनुभव हमें हुआ है तो हमारे मर जाने पर भी वह नहीं मरता, और एक धनात्मक उपलब्धि के रूप में बचा ही रह जाता है। इस करुण विश्वास के सहारे हम यह मान लेना चाहते हैं कि हमीं बचे रह जाते हैं। लेकिन सब झूठ है–कुछ नहीं बचता–हम नहीं बचते, बचने को रहे भी, यह भी नहीं कह सकते! मृत्यु–मृत्यु–मृत्यु–उसी की एकमात्र प्रतीक्षा, ऊपर बर्फ हो या न हो–और हां, कैन्सर भी हो या न हो। क्या सेल्मा की प्रतीक्षा मेरी प्रतीक्षा से इसलिए कुछ भिन्न है कि उसे कैन्सर है और मुझे नहीं है या कि भिन्न इस बात में है कि उसके पास कार्य-कारण की संगति का सबूत है, और मेरे पास वह भी नहीं है? क्या मैं ज्यादा लाचार, ज्यादा दयनीय–ज्यादा मरी हुई नहीं हूं? क्या मुझे ज्यादा कैन्सर नहीं है–वह कैन्सर जिसे हम जिन्दगी कहते हैं?'

और अन्त में मृत्यु तथा रचना से सम्बद्ध योके को उस द्विविधा का उल्लेख भी आवश्यक है जो सेल्मा को दफनाते समय उसके मन में उत्पन्न हो गई थी–'ईश्वर भी शायद स्वेच्छाचारी नहीं है–उसे भी सृष्टि करनी ही है, क्योंकि उन्माद से बचने के लिए सृजन अनिवार्य है; वह सृष्टि नहीं करेगा तो पागल हो जाएगा।... लेकिन यहां तो रचना की बात नहीं है। मृत्यु की बात है–मृत्यु, मृत्यु–क्या उसमें भी रचना के लिए, सृष्टि के लिए गुंजाइश है? क्या यही रहस्य था जिसका कुछ आभास सेल्मा को मिला था–कि वरण की स्वतन्त्रता नहीं है, लेकिन रचना फिर भी सम्भव है, और उसमें ही मुक्ति है?'

नोट

योके जीवन में क्षण को अत्यधिक महत्व देती है, क्योंकि वह जानती है कि जीवन क्षणों में ही जिया जाता है। समय को क्षण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि समय केवल अनुभव है जो इतिहास से आबद्ध है। क्षण वह अनुभव है जो इतिहास, काल, स्मृति और संसार आदि सभी से मुक्त होता है। अतः क्षणों में जीना परम्पराओं से मुक्त होकर जीना है–'समय मात्र अनुभव है, इतिहास है। इस सन्दर्भ में 'क्षण' वही है जिसमें अनुभव तो है, लेकिन जिसका इतिहास नहीं हैं, जिसका भूत-भविष्य कुछ नहीं है, जो शुद्ध वर्तमान है, इतिहास से परे, स्मृति के संसर्ग से अदूषित, संसार से मुक्त। अगर ऐसा नहीं है, तो वह क्षण नहीं है, क्योंकि वह काल का कितना ही छोटा खंड क्यों न हो, उसमें मेरा जाना काल-सापेक्ष जीना है, ऐतिहासिक जीना है। वह बिन्दु नहीं है, रेखा है, रेखा परम्परा है और क्षण परम्परामुक्त होना चाहिए।'

जब योके बर्फ की गुफा में बन्दिनी बन जाती है, तब उसे अपने अस्तित्व का, और अपने अस्तित्व के माध्यम से सभी के अस्तित्व का बोध होता है। चूंकि बर्फ के नीचे दबकर उसकी स्थिति निरुपाय और असहाय की है, इसीलिए उसके अस्तित्व-बोध में इन भावनाओं का आना स्वाभाविक ही है। वह सोचती है–'क्या अपने सारे विाकस के बावजूद हम मनुष्य भी निरे पौधे नहीं हैं जो बेबस सूरज की ओर उगते हैं?' और फिर वह अपने निजी अस्तित्व के विषय में सोचती है–'मैं मानो एक काल-निरपेक्ष क्षण में टंगी हुई हूं वह क्षण काल की लड़ी में से टूटकर कहीं छिटक गया है और इस तरह अन्तहीन हो गया है–अन्तहीन और अर्थहीन!'

स्व-मूल्यांकन (Self Assessment)

दिए गए कथन के सामने सही (✓) अथवा गलत (×) का निशान लगाइए–

1. यान अत्यंत अहंकारी प्रवृत्ति का चरित्र है। ☐
2. सेल्मा ईश्वर में आस्था और आत्मविश्वास से भरपूर है। ☐
3. योके कभी-कभी घटनाएँ डायरी में दर्ज करती हैं। ☐
4. योके अनास्थावादी होते हुए भी अतंतः आस्थावादी बन जाती है। ☐

वह सेल्मा के साथ रह रही है, किन्तु विवशता के साथ। यदि उसका वश चलता तो वह एक क्षण वहां न टिकती। इसीलिए वहां का समूचा वातावरण उसके लिए घुटना-भरा है, जैसे सेल्मा के हाथ उसका गला घोंट रहे हैं। वह दिनभर इसी घुटन से व्यथित रहती है और अपने विषय में उसे कुछ सोचने का अवसर तब मिलता है, जब वह रात को अकेली अपने पलंग पर लेटती है, तब उसे ऐसा अनुभव होता है, कि समूचे घर में सेल्मा ही व्याप्त है, और वह है ही नहीं। इस असहाय स्थिति में उसका अस्तित्व बोध उभर पड़ता है–'मानो इस घर में वही वह है, मैं हूं ही नहीं, जबकि जीती मैं हूं और जीने की जरूरत भी मुझे है!' कभी-कभार तो याके इतनी असहाय दशा में अपने आपको अनुभव करती है कि जैसे उसका सारा अस्तित्व ही समाप्त हो गया हो, और वह मृत्यु का वरण करने के लिए लाचार हो गई हो–और मैं–मैं यहां अभी इस क्षण में जीती हूं–मुझमें स्मृति नहीं है। मुक्त मुझे होना चाहिए, लेकिन मैं इतिहास से क्षमाग्रस्त हूं। मरना सेल्मा को है, मरेगी वह, लेकिन मर रही हूं मैं, अकेली मैं...।'

सेल्मा की आसन्न मृत्यु से वह इतनी भयग्रस्त हो जाती है, कि एक क्षण के लिए भी वह अपने अस्तित्व को भुलाना नहीं चाहती, बल्कि उसके प्रति अनावश्यक रूप से और अधिक जागरूक हो गई। और यही जागरूकता उसमें असहता, निरुपायता विवशता के अनेक भावों को भर देती है। रुग्ण सेल्मा को, जिसके चारों ओर मृत्यु की छाया मंडरा रही है, देखकर वह उद्विग्न हो उठती है–लेकिन मैं क्यों उसे देख रही हूं? क्या अपने को यही बोध कराने के लिए कि मैं मरी नहीं हूं? जीवन के अनुभव के लिए, अपने जीते होने का अनुभव करने के लिए, अपने मैं-पन को पहचानने के लिए? मैं-पन का बोध और जीवित-पन का बोध, दोनों का एक साथ अनुभव करने के लिए–दोनों को एक अनुभूति में ढालकर उस इकाई को भोगने के लिए?'

नोट

इस प्रकार, योके एक साधारण और असाधारण व्यक्तित्व होते हुए उपन्यासकार की प्रतीकात्मकता को भी वहन करती है। प्रतीक-रूप में योके उस पाश्चात्य संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती है जो महत्त्वाकांक्षी है, निरीश्वरवादी है, अतिशय वैचारिक है, अपने अस्तित्व-बोध के लिए अनावश्यक रूप से चिन्तित है और विदेशियों के द्वारा बलात्कारित है। इस संस्कृति की मृत्यु निश्चय है, वरन् यह विक्षिप्त होकर आत्महत्या करने के लिए बाध्य है। इसका यह विकृत रूप तभी सुधर सकता है, जब यह आस्था की गोद में पड़ कर पर्यवसित हो।

निष्कर्ष कहा जा सकता है कि 'अपने-अपने अजनबी' का चरित्र-चित्रण परंपरामुक्त और एक विशेष उद्देश्य को प्रतीकात्मकता से व्यक्त करने वाला है, इसीलिए इस उपन्यास के सभी पात्र प्रतीक हैं किसी न किसी भाव के। सेल्मा और योके और जगन्नाथन् की प्रतीकात्मकता को तो स्वयं उपन्यासकार ने भी व्याख्यायित किया है। अत: अज्ञेय के ये पात्र न तो व्यक्ति है और न वर्ग, प्रतीक हैं उपन्यासकार के वैचारिक धरातलों को उपन्यास के पाठकों तक सम्प्रषित करने के लिए।

सम्पूर्ण शक्ति से आक्रामक पर आक्रमण कर रहा हो।

लेकिन जब जाने-अनजाने या चाहे-अनचाहे सेल्मा यान के प्रति समर्पित हो जाती है तो उसके कथनों में समर्पिता नारी का महज मार्दव आ जाता है। तब यान का व्यंग्य भी मर्माहत करने वाला बन जाता है–

'यान दूकान के बाहर ही बैठा था, और पानी की ओर देख रहा था। सेल्मा ने सब चीजें उसके सामने रखते हुए कहा : 'तुम मुझे न्यौता देने आये थे, वह मुझे स्वीकार है। मैं दो तश्तरियां भी लाई हूं। एक में मेरे लिए परोश दो।'

यान थोड़ी देर उसकी ओर स्थिर दृष्टि से देखता रहा। क्षणभर सेल्मा को लगा कि वह इनकार कर देने वाला है। फिर उसने चुपचाप तश्तरी उठायी, और टीन में से गोश्त परोशने लगी। फिर उसने कहा : 'यह क्या है?'

'यह मेरी ओर से भी है–इसका भी साझा होना चाहिए।'

'थोड़ी झिझक के बाद यान ने कहा : 'तो तुम्हीं परोस दो।'

सेल्मा अभी कुछ डाल ही रही थी कि उसने टोक दिया : 'बस-बस।'

सेल्मा ने पूछा : 'यहीं बैठकर खा सकती हूं।'

यान ने कुछ-कुछ अस्पष्ट वक्रभाव से कहा : 'पुल कोई मेरो थोड़े ही है?'

लेकिन थोड़ी देर बाद सेल्मा को भी लगा कि वह कुछ खा नहीं सकेगी–यान के पास बैठकर किसी तरह नहीं। अपनी तश्तरी उठाकर वह खड़ी हो गयी और बोली : 'मैं उधर ही ले जा रही हूं–अभी नहीं खा सकूंगी।'

और यान कुछ कह सके इससे पहले ही जल्दी से जेब से कागज निकालकर उसे यान के पास रखती हुई बोली : 'और यह लो–यह तुम्हारे लिए लायी थी।'

'यह क्या है?'

'तुम मुझे न्योता देने आये थे, पर अपमान करके चले आये। मैं अपमान करने नहीं आयी, न करूंगी, पर अभी खा नहीं सकूंगी–किसी तरह नहीं।'

उपर्युक्त उद्धरणों एवं विवेचन से स्पष्ट है कि अज्ञेय की कथोपकथन-योजना पात्रों की मन:स्थितियों का उद्‌घाटन करती हुई उनके चरित्र के विविध पक्षों को प्रस्तुत करती है। घटना या कथावस्तु के विकास में इसका कोई विशेष योगदान नहीं है। एक मनोवैज्ञानिक उपन्यासकार से यह अपेक्षित भी नहीं है। जो उससे अपेक्षित है, उसका निर्वाह कथोपकथन-संयोजना पूरी तरह से कर रही है।

नोट

22.2 सारांश

यान के चरित्र का उपन्यासकार ने पर्याप्त विकास किया है। वह फोटोग्राफर और सेल्मा की दुकानों के पास ही अपनी खिलौनों की दुकान चलाता है और उन्हीं के साथ वह भी बाढ़ की भीषण विभीषिकाओं से घिरता है। यान में जितना स्वाभिमान है, उतना ही करुणा और निस्पृहता भी है। वह भूखा रहता है, प्यासा रहता है, किंतु न तो समृद्ध सेल्मा से आश्रय मांगता है, और न कभी कोई वस्तु उधार ही लेता है।

इस प्रकार, यान का चरित्र स्वयं में विस्तृत न होते हुए भी सेल्मा के गतिशील चरित्र को मुखरित करने में विशेष सहायता है।

सेल्मा का प्रारम्भिक जीवन अति साधारण स्तर का है, जिसमें वे सभी गुण-दोष हैं जो एक अत्यन्त साधारण मानव में हो सकते हैं। वह नदी के पुल पर अपना चायघर चलाती है और खूब मुनाफा कमाती है।

उसका केवल चायघर ही उसकी एकमात्र दुनिया है, और वह स्वयं ही अपना एकमात्र समाज है। उसका यह नितान्त अकेलापन उसे असामाजिक ही नहीं बना देता, बल्कि उसमें अनेक ऐसे अमानवीय भाव भी उत्पन्न कर देता है जो किसी सामाजिक मानवीय के लिए किसी भी स्थिति में वांछित नहीं हो सकते।

वह अवसर से लाभ उठाना अपना व्यापारिक धर्म एवं अधिकार समझती है।

व्यापारिक दृष्टि से, व्यापार की सर्वस्व-समर्पण की दृष्टि से सेल्मा के वे तर्क सही हो सकते हैं, लेकिन मान्यता की दृष्टि से इन तर्कों में कतई वचन नहीं है, और ये निश्चित रूप से सेल्मा को अति साधारण स्तर पर ही ले जाकर खड़ा कर देते हैं।

नवयुवती योके पॉल सॉरेन की प्रेमिका है। एक बार वह अपने प्रेमी के साथ बर्फ के पहाड़ों पर घूमने के लिए जाती है, और अकस्मात् बर्फ के गिरने से वह अपने प्रेमी से बिछुड़कर सेल्मा के काठघर में पहुंच जाती है। उस समय सेल्मा अकेली थी, और अपने जीवन के अन्तिम दिनों को गिन रही थी। यद्यपि योके नहीं चाहती थी कि वह उस बुढ़िया के पास रहे, किन्तु बर्फ ने चारों ओर से उस घर को इतनी प्रगाढ़ता से घेर लिया था कि वह चाहते हुए भी वहां से नहीं निकल सकती थी, अत: न चाहते हुए भी उस अजनबी बुढ़िया के साथ ही वहां पर रहने के लिए विवश थी। वह वहां रहती रही, और सेल्मा अपनी मृत्यु के निकट से निकटतर होती गई, और एक दिन वह परलोक सिधार ही गई।

योके को ईश्वर के नाम से भी घृणा है। वह दृढ़तापूर्वक यह मानती है कि ईश्वर कोई विलक्षण या अलौकिक सत्ता नहीं, वरन् परम्परागत एक अवधारणा मात्र है, और इस अवधारणा को तिलांजलि देना मनुष्य का परमकर्तव्य है।

योके का विचार है कि जीवन और मृत्यु न तो एक-दूसरे के पूरक हैं, जैसाकि भारतीय दार्शनिक स्वीकार करते हैं, और न मृत्यु ईश्वर का ही पर्याय है, जैसाकि सेल्मा मानती है। योके के अनुसार मृत्यु जीवन-बोध भयंकर ट्रेजेडी है, क्योंकि यह जीवन का खंडन है। अत: मृत्यु जीवन को सम्पूर्ण भी नहीं होने देती, और स्वयं भी कभी पूरी नहीं होती–'हमेशा सुनती आयी हूं कि कब्र में बड़ा अंधेरा होता है, लेकिन यहां (काठघर में) उसकी भी असम्पूर्णता और विविधता है। शायद यही वास्तव में मृत्यु होती है, जिसमें कुछ भी होता नहीं, सब कुछ होते-होते रह जाता है! होते-होते रह जाना ही मृत्यु का विशेष रूप है जो मनुष्य के लिए चुना गया है जिसमें कि विवेक हैं, अच्छे-बुरे का बोध है। यह उसमें न होता तो उसका मरना सम्पूर्ण हो सकता। जो चुकता वह सम्पूर्ण चुक जाता। या जो रहता उसक बना रहना भी असन्दिग्ध होता। यह हमारे युगों से संचे हुए नीति-बोध की सजा है कि हमारा मरना भी अधूरा ही हो सकता है–मरकर भी कुछ हिसाब बाकी रह जाता है।' फिर भी योके यह मानती है कि जीवन की मृत्यु ही एकमात्र सच्चाई है, क्योंकि जो जन्म लेता है, वह मरता भी अवश्य है।

नोट

22.3 शब्दकोश

1. **निस्पृहता–** इच्छारहित, वासनारहित, निर्लोभ
2. **आसन्न–** पास आया हुआ, सटा हुआ, संलग्न
3. **अपरिहार्य–** अत्याज्य, अनविार्य, अवश्यभावी, आवश्यक
4. **रूग्ण–** बीमार, दूषित

उत्तर: स्व-मूल्यांकन

1. ( ) 2. ( ) 3. (✓) 4. (×)

22.4 अभ्यास-प्रश्न

1. यान के चरित्र पर प्रकाश डालिए।
2. सेल्मा की चारित्रिक विशेषताएँ बताइए।
3. योके उस नारी का प्रतीक है जिसका अस्तीत्वबोध और जीवनबोध दोनों डगमगा गए हैं, इस उक्ति के आलोक में योके की चारित्रिक विशेषताएँ बताइए।

22.5 संदर्भ पुस्तकें

पुस्तकें

1. *अपने-अपने अजनबी*–अज्ञेय, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली।
2. *अज्ञेय: एक अध्ययन*–भोला भाई पटेल, वाणी प्रकाशन, दिल्ली।
3. *अज्ञेय: कवि-कर्म का संकट*–कृष्णदत्त पालीवाल, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली।

नोट

इकाई 23: अपने-अपने अजनबी–भाषा-शैली

अनुक्रमणिका

उद्देश्य

प्रस्तावना

23.1 अपने-अपने अजनबी–भाषा-शैली

23.2 सारांश

23.3 शब्दकोश

23.4 अभ्यास-प्रश्न

23.5 संदर्भ पुस्तकें

उद्देश्य

विद्यार्थी इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् सक्षम होंगे–

- अज्ञेय के उपन्यास अपने-अपने अजनबी के भाषा वैशिष्ट्य से परिचित होंगे।

प्रस्तावना

सामान्यत: अभिव्यक्ति के साधन को भाषा कहते हैं, किन्तु यह लक्षण भाषा के देह-रूप को परिभाषित करती है भाषा केवल व्यक्ति की सतही अभिव्यक्ति से ही नहीं, वरन् उसके मन-प्राण से भी जुड़ी हुई होती है। इसीलिए प्रत्येक समर्थ लेखक और भाषा की आन्तरिकता का पारखी उसके बाह्य रूप या साधारण रूप से ही सन्तुष्ट नहीं होता, बल्कि उसकी आत्मा में पैठकर उसके वास्तविक और सम्पूर्ण रूप को या शक्ति की खोज पाने के लिए प्रयत्नशील रहता है।

अज्ञेय आज के युग के सर्वाधिक समर्थ एवं भाषा-पारखी शिल्पी हैं, इसीलिए इन्हें परम्परागत भाषा अधूरी जान पड़ी, और सबसे पहले इन्होंने ही यह उद्घोषणा की–

'अगर मैं तुमको
ललाती सांझ के नभ की अकेली तारिका
अब नहीं कहता,
या शरद की भोर की निहार-न्हायी हुई,
टटकी कली चम्पे की
वगैरह, तो
नहीं कारण कि मेरा हृदय उथला या सूना है
या कि मेरा प्यार मैला है
बल्कि केवल यही:
ये उपमान मैले हो गये हैं।
देवता इन प्रतीकों के कर गये हैं कूच।
कभी बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है'

नोट

और यहीं से अज्ञेय की नयी भाषा की खोज शुरू हो जाती है। कविता और गद्य दोनों ही क्षेत्रों में इनकी यह खोज जारी रही है, और इन्होंने भाषा का जो स्वरूप खोजा, उसको इन्होंने इस प्रकार प्रस्तुत किया है–

'सही शब्द वे ही हैं जो उनके बीच के अन्तराल का सबसे अधिक उपभोग करें–अन्तराल के उस मौन द्वारा भी अर्थवत्ता का पूरा ऐश्वर्य सम्प्रेषित कर सकें। इतना ही क्यों? पूर्व की एक परम्परा के उत्तराधिकारी के नाते मैं यहाँ तक कह सकता हूं कि कविता भाषा में नहीं होती, वह शब्दों में भी नहीं होती, कविता शब्दों के बीच की तीव्रताओं में होती है और कवि सहज बोध से जानता है कि उससे दूर तक पहुंचा जा सकता है, उससे संलाप की स्थिति पायी जा सकती है, क्योंकि वह जानता है कि मौन के द्वारा भी सम्प्रेषण हो सकता है।'

मौन का यही विभावन अज्ञेय के अनुसार, भाषा की सर्वाधिक समर्थ शक्ति है। जितना प्रभावशाली वक्तव्य लेखक मौन के द्वारा व्यक्त कर सकता है, उतना शब्दों के द्वारा सम्भव नहीं है। एक और प्रसंग में भी अज्ञेय ने मौन के महत्त्व को इन शब्दों में स्वीकार किया है–'तो व्यंजना के नये माध्यम की खोज में, अगर कभी पाता है कि उसे जो कहना है, वह मौन में ही कहा जा सकता है तो क्या वह बिल्कुल भूला है? क्या इसमें वह सन्तों-मनीषियों के साथ नहीं है–क्या स्वयं प्रकृति के साथ नहीं है? नाद अगर आकाश का शून्य का गुण है तो उसकी सम्पूर्णतया मुक्त अभिव्यक्ति का क्षेत्र और कौन हो सकता है–सिवा नीरवता के?"

यदि यह कहा जाये कि 'अपने-अपने अजनवी' की भाषा की शक्तियों में मौन-विभाजन भी एक प्रमुख तत्त्व है, तो अन्यथा न होगा। उपन्यासकार ने यत्र-तत्र इसका अत्यन्त भावपूर्ण एवं समर्थ प्रयोग किया है। कुछ उद्धहरण प्रस्तुत हैं

1. 'कल एपिफानिया का त्यौहार है। कल ·· लेकिन योके, तुम ईश्वर को मानती हो?'
2. 'ईश्वर ·· ईश्वर का नाम ले लेना तो बड़ा आसान है, लेकिन बड़ा मुश्किल भी है।'
3. 'न होना। न होना ··· होना न होना! होना और न होना–और एक साथ ही होना और न होना ·· एकाएक मैने पाया कि मैं केवल इन शब्दों को सोच ही नहीं रही हूं, बल्कि धीरे-धीरे दोहरा रही हूं, और दोहराने के साथ-साथ मेरे हाथों की मुट्ठियां बंधती और खुल जाती हैं।'
4. 'और मैं–मैं यहां अभी इस क्षण में जीती हूं–मुझमें स्मृति नहीं है। मुक्त मुझे होना चाहिए, लेकिन मैं इतिहास से क्षयग्रस्त हूं और अकेली हूं। मरना सेल्मा को है, मरेगी वह, लेकिन मर रहीं हूं मैं, अकेली मैं ···।'

कहने की आवश्यकता नहीं कि इन मौन-विभावनों के द्वारा भावों की सम्प्रेषणीयता में जो शक्ति और मार्मिकता आई है, वह किसी भी शब्द-शक्ति से वक्तव्य के द्वारा कदापि नहीं आ सकती थी। मौन का यह विभावन, शब्दों के मध्य का यह अन्तराल अपनी मूकता में ही जिस भावाभिव्यक्ति को झंकृत कर देता है, वह काफी देर तक मस्तिष्क की शिराओं को झंकारती और हृदय के संवेदनों को गुदगुदाती रहती है।

23.1 अपने-अपने अजनबी–भाषा-शैली

'अपने-अपने अजनबी' विचार-प्रधान उपन्यास है, और विचारों की अभिव्यक्ति के लिए भाषा का दुरूह तथा बोझिल हो जाना अस्वाभाविक नहीं है, किन्तु प्रस्तुत उपन्यास की भाषा अपनी सहजता और सरलात के द्वारा प्रत्ययों का जिस प्रकार बोधगम्य और हृदयस्पर्शी प्रस्तुतीकरण करती है, वह अज्ञेय जैसे समर्थ और भाषा की आन्तरिकता के विशेषज्ञ से ही सम्भव है। ईश्वर, मृत्यु, अस्तित्वबोध, क्षण आदि ऐसे ही प्रत्यय हैं जिनका विवेचन साधारण शब्दावली में प्राय: असम्भव है, किन्तु अज्ञेय ने अपने सृजनात्मक भाषा-प्रयोग से इस असम्भवता को भी सम्भवता बना दिया है। सेल्मा अपनी ईश्वर-विषयक अवधारणा को व्यक्त करती हुई कहती है–'यों तो मैं भी नहीं कह सकती कि मैं जानती हूं, कि मैं सचमुच जानती हूं। लेकिन कभी जब यह बात सोचती हूं कि मैं मरने वाली हूं, और तब मुझे ध्यान आता है कि तुम यहां उपस्थित हो–जब मैं अपने से अलग एक सजीव उपस्थिति के रूप में तुम्हारी बात सोचती हूं–तब मुझे एका-एक निश्चित रूप से लगता है कि ईश्वर है–कि सजीव उपस्थिति का नाम ही ईश्वर है–कोई भी उपस्थिति ईश्वर है। क्योंकि नहीं तो उपस्थित हो ही कैसे सकती है?

नोट

सेल्मा की यह विचारधारा भारतीय दर्शनों को सर्वात्मावाद के अनुरूप है, और कितने सरल ढंग से और कितनी सरल भाषा में, किन्तु प्रभावपूर्ण रीति से इसे व्यक्त कर दिया गया है! किन्तु जहां पर ईश्वर की सत्ता को तर्क-वितर्क से प्रस्तुत किया गया है, वहां भी न तो भावों की दुर्बोधता है और न भाषा की संश्लिष्टता ही–'लेकिन भ्रम भी क्या कम ईश्वर है? और ईश्वर की कौन-सी पहचान हमारे पास है जो भ्रम नहीं है! जब ईश्वर पहचान से परे है तो कोई भी पहचान भ्रम है। ईश्वर को हम कैसे जान सकते हैं? जो हम जानते हैं वे कुछ गुण हैं–और गुण हैं इसीलिए ईश्वर के तो नहीं हैं। हम पहचानते हैं अनिवार्यतया, हम पहचानते है। अन्तिम और चरम और सम्पूर्ण और अमोघ नकार–जिस नकार के आगे और कोई सवाल नहीं है और न कोई आगे जवाब ही ˙ ˙ इसीलिए मौत ही तो ईश्वर का एकमात्र पहचाना जा सकने वाला रूप है। पूरे नकार का ज्ञान ही सच्चा ईश्वर-ज्ञान है।'

भारतीय दार्शनिकों ने ईश्वर को निर्गुण, निराकार, अगम्य आदि रूपों से व्याख्यायित किया है। जिस ईश्वर का तुलसी ने केवल चिन्तन-मनन का ही विषय माना है, और जिस ईश्वर को सूरदास ने अविगत गति वाला बताया है, उसी को सेल्मा 'पूरे नकार का ज्ञान' बताकर ईश्वर की अगम्यता एवं अनिर्वचनीयता को ही संकेतिक करती है। किन्तु इस रूप के प्रतिपादन में दार्शनिकों की भाषा की सी दुरूहता बिल्कुल भी नहीं है, वरन् एक कवि की ज्ञानात्मक संवेदना की मार्मिक सम्प्रेषणीयता है।

ईश्वर की भांति हही मृत्यु भी वैचारिक स्तर पर एक अत्यन्त गम्भीर और दुर्बोध विषय है। भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने दुरूह भाषा का प्रयोग करके इसकी गम्भीरता और दुर्बोधता को व्यक्त किया है, किन्तु अज्ञेय ने, योके के माध्यम से इसके स्वरूप को इतनी सरल भाषा में व्यक्त किया है, जैसे यह कोई दुर्बोध विषय है ही नहीं–"हमेशा सुनती आयी हूं कि कब्र में बड़ा अंधेरा होता है, लेकिन यहां उसकी भी असंपूर्णता और विविधता है। शायद यही वास्तव में मृत्यु होती है, जिसमें कुछ भी नहीं होता, सब-कुछ होते-होते रह जाता है। होते-होते रह जाना ही मृत्यु का विशेष रूप है जो मनुष्य के लिए चुना गया है जिसमें कि विवेक है, अच्छे-बुरे का बोध है। यह उसमें न होता तो उसका मरना सम्पूर्ण हो सकता। जो चुकता वह सम्पूर्ण चुक जाता, या जो रहता, उसका बना रहना भी असन्दिग्ध होता। यह हमारे युगों से संचे हुए नीति-बोध की सजा है कि हमारा मरना भी अधूरा हो सकता है–मरकर भी कुछ हिसाब बाकी रह जाता है!"

यहां केवल मृत्यु वु स्वरूप का नये भावबोध के परिप्रेक्ष्य में उसका विवेचन ही नहीं है, वरन् उससे जुड़ी हुई जीवन की दुर्भाग्यपूर्ण सांकेतिकता भी व्यंजित है।

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि दूसरों के विषय में जानना जितना सरल है, अपने विषय में जाननना उतना ही कठिन और दुर्बोध है। आत्म-बोध या अस्तित्व-बोध की इसी दुर्बोधता को, मनोवैज्ञानिक स्तर की पूर्णत: सुरक्षा करते हुए, अज्ञेय ने पर्याप्त सरल भाषा में प्रस्तुत किया है। मनुष्य नियति का खिलौना है, इसीलिए वह अवश और असहाय है, और इसीलिए उसे वरण की स्वतंत्रता नहीं है। अस्तित्व-बोध की इसी असहायता का वर्णन अज्ञेय ने इन शब्दों में किया है–'क्या अपने सारे विकास के बावजूद हम मनुष्य भी निरे पौधे नहीं हैं जो बेबस सूरज की ओर उगते हैं? अंधेरे में भी अंकुर मिट्टी के भीतर-ही-भीतर सूरज की ओर बढ़ता है, रौंदा जाकर फिर टेढ़ा होकर भी सूरज की ओर ही मुड़ता है।' उसकी यही नियति उसे यह सोचने के लिए विवश करती है–'मैं मानो एक काल-निरपेक्ष क्षण में टंगी हुई हूँ–वह क्षण काल की लड़ी में से टूटकर छिटक गया है और इस तरह अन्तहीन हो गया है–अन्तहीन और अर्थहीन!'

जीवन में क्षण का बहुत महत्त्व है, इसीलिए भारतीय दार्शनिकों ने क्षण को एक दार्शनिक तत्व के रूप में स्वीकार करके क्षणवाद का अत्यन्त गम्भीर विवेचन किया है। आधुनिक साहित्यकारों ने भी क्षण को विशेष महत्व प्रदान किया है, किन्तु इनका विवेचन क्षणवाद के विवेचन से भिन्न है। अज्ञेय ने, योके के माध्यम से, क्षण का पर्याप्त मौलिक एवं गम्भीर विवेचन करते हुए कहा है–'समय मात्र अनुभव है, इतिहास है।' इस सन्दर्भ में 'क्षण' वही है जिसमें अनुभव तो है, लेकिन जिसका इतिहास नहीं है। जिसका भूत-भविष्य कुछ नहीं है, जो शुद्ध वर्तमान है, इतिहास से परे, स्मृति के संसर्ग से अदूषित, संसार से मुक्त। अगर ऐसा नहीं है, तो वह क्षण नहीं है, क्योंकि वह

नोट

काल का कितना ही छोटा खण्ड क्यों न हो, उसमें मेरा जीना काल-सापेक्ष जीना है, ऐतिहासिक जीना है। वह बिन्दु नहीं है रेखा है; रेखा में परम्परा है, और क्षण परम्परा-मुक्त होना चाहिए।'

नोट्स अपने-अपने अजनबी उपन्यास की भाषा आभिजात्य न होते हुए भी इतनी सबल और सक्षम है कि गम्भीर विषयों को भी सरल, सुबोध और सहज ढंग से व्यक्त करने की उसमें अपूर्व क्षमता है। भाषा की ऐसी सिद्धि बिरले साधक ही प्राप्त कर पाते हैं।

सरल होते हुए भी इस उपन्यास की भाषा में कहीं भी सतहीपन नहीं है, वरन् सर्वत्र यथेष्ट गम्भीर और अर्थगर्भित है। छोटे-छोटे वाक्यों में इतनी गम्भीरता है, सूत्रात्मकता है कि उसके आवरण में विशद भाव-राशि निहित है। यथा–

1. 'लेकिन खतरे के आकर्षण में बहुत-कुछ सह लिया जाता है–डर भी।'
2. 'क्योंकि गरमाई भी तो बर्फ से कम जरूरी नहीं है।'
3. 'और बूढ़ों को चिन्ता किस बात की–एक ही जगह बैठे-बैठे पगुराते रहते हैं! अतीत की स्मृतियां कुरेदकर जुगाली करते हैं, और फिर निगल लेते हैं।'
4. 'चेहरे की हर रेखा में इतिहास होता है ···।'
5. 'जो हमारे भीतर नहीं है, वह हम वाहर कैसे दे सकते हैं,–और कैसे देना चाह सकते हैं।'
6. 'तुम नहीं जानती कि जिसे माला की मणि तक नहीं पहुंचना है, उसके लिए एक-एक मनके का रूप कितना दिव्य होता है।'
7. 'कैसे, जो जीवित नहीं हैं, वे उन पर इतना कड़ा शासन करते हैं जो जीवन से छटपटा रहे हैं?'
8. 'मृत्यु एक झूठ है, क्योंकि वह जीवन का खंडन है।'
9. 'मैं नहीं हूं' यह बोध नहीं है, बल्कि बोध का न होना है।'
10. 'न तो हम अकेले हैं, न हम स्वतंत्र हैं, और इसीलिए चुनने या फैसला करने का अधिकार हमारा नहीं है।'
11. 'समय और समय-मुक्त, काल और काल-निरपेक्ष, अनित्य और सनातन की सीमा-रेखा और क्या है–सिवा हमारी सांसों के और सांस की चेतना में होने वाले जीवन-बोध के।'
12. 'सांस में ही जीवन-बोध हो, ऐसा नहीं है, क्योंकि सांस लेना तो अन-वधान अवस्था की क्रिया है। सांस की बाधा ही जीवन-बोध है, क्योंकि उसी में हमारा चित्त पहचानता है कि कितनी व्यग्र ललक से हम जीवन को चिपट रहे हैं।'
13. 'दुनिया का मतलब और कुछ नहीं है सिवा इसके कि एक वह है, और बाकी ऐसा सब है, जो कि वह नहीं है और जिसके साथ उसका केवल विरोध का संबंध है।'
14. 'कोई भी दुर्भाग्य ऐसा नहीं होता जिसमें किसी-न-किसी का लाभ भी न हो ···।'
15. 'देह तो हमेशा ही अकेली है, और उसके लिए अकेलेपन का अलग से कोई मतलब नहीं है। और उसके भीतर जो है, वह कभी भी अकेला नहीं है, क्योंकि वह तो समूचे का है।'
16. 'मैं जीवित हूं'– की अखण्ड अनुभूति तभी हो सकती है जब व्यक्ति उसके प्रति चेतन न हो।
17. 'केवल मृत्यु की प्रतीक्षा–मरने की प्रतीक्षा, सड़ने और गन्धाने की प्रतीक्षा ···वह गन्ध पहले ही सब जगह और सब कुछ में है, और हम सर्वदा मृत्यु-गन्ध से गन्धाते रहते हैं।'
18. 'ईश्वर केवल एक अभ्यास है, और उसके नाम पर थूकना भी अभ्यास है ···।'

नोट

19. 'कहीं वरण की स्वतंत्रता नहीं है। हम अपने वन्धु का वरण नही कर सकते–और अपने अजनबी का भी नहीं ... हम इतने भी स्वतंत्र नहीं हैं कि अपना अजनबी भी चुन सकें।'

20. 'सभी में कुछ होता है जो पहचान लेता है कि कोई महत्त्वपूर्ण घटना घटने वाली है और उसके आसन्न प्रभाव के सामने क्षण-भर चुप हो जाता है।'

अज्ञेय मूलत: कवि हैं, और अभिजात्य संस्कारों से सम्पन्न हैं, अत: इनकी भाषा का सालंकृत होना सहज भी है और स्वाभाविक भी। किन्तु यह अलंकारिता वक्तव्य भावों को केवल अलंकृत ही नहीं करती, वरन् उन्हें अधिक मर्मस्पर्शी और सम्प्रेषणीय भी बना देती है। यथा–

'और मैं–मैं यहां अभी इस क्षण में जीती हूं–मुझमें स्मृति नहीं है। मुक्त मुझे होना चाहिए, लेकिन मैं इतिहास से क्षयग्रस्त हूं, और अकेली हूं। मरना सेल्मा को है, मरेगी वह, लेकिन मर रही हूं, अकेली मैं ...।'

वह वक्तव्य उस योके का है जो अनचाहे ही सेल्मा के साथ रहने को विवश है, और सेल्मा की नित्य निकटतर आती हुई मृत्यु को जानकार अत्यन्त चिन्ता और व्यथा ग्रस्त है। इस वक्तव्य में वीप्सा से परिपुष्ट विरोधाभास अलंकार है, और इन विरोधाभासी कथनों से योके की व्यथा निरन्तरता और असीमता तथा सेल्मा के प्रति उसका अलगाव का भाव अत्यन्त प्रभविष्णु बन गया है। और–"नदी में बाढ़ हर साल ही आती थी, लेकिन हर साल की बाढ़ सड़क को छूकर धीरे-धीरे उतर जाती थी। ऐसा कभी-कभी होता था कि वह और बढ़कर सड़क पर आ जाए। लेकिन जब वैसा होता था तो सड़क के साथ समूचा बाग भी पानी में डूब जाता था और पुल के छोर भी डूब जाते थे। बाग के बड़े-बड़े पेड़ मानो सीधे पानी में से उगकर पानी पर ही छांव करते जान पड़ते थे, और पुल का भी मानो नदी से, या उसे पार करने की जरूरत से, कोई सम्बन्ध नहीं रहता था। मानो पातालवासी जल-देवता ने अपनी शक्ति देखने के लिए भुजा बढ़ाकर एक महाकाय धनुष पानी से ऊपर ठेल दिया हो, ऐसा ही वह तब लगने लगता था।"

इन पंक्तियों में उत्प्रेक्षा अलंकार के द्वारा उपन्यासकार ने बाढ़ के पानी की अगाधता का और उस पर झूलते हुए पुल का सजीव वर्णन किया है। यह वर्णन सालंकारता के कारण भाव और दृश्य दोनों ही रूपों में यथेष्ट भयानक एवं प्रभावशाली बन गया है।

बाढ़ के आधिक्य के कारण सभी लोग वहां से चले गए थे। पानी के भीषण थपेड़ों को खाकर पुल के खम्भे भी अपने स्थानों से खिसक गये थे, और कुछ टूटकर पानी में बह गये थे। अत: उधर अधर पर लटकते हुए पुल पर केवल तीन ही प्राणी रह गये थे–सेल्मा, यान और फोटोग्राफर। इसका वर्णन भी सालंकृत भाषा में उपन्यासकार ने इस प्रकार किया है–"चायघर में अकेली वह, पास की फोटो की दुकान में फोटोग्राफर, और इनके पास सूवेनियर रूमालों, खिलौना-आकार के चाय के प्यालों, और पुल की प्रतिकृतियों की दूकान में यान एकेलोफ–प्रलय की मटमैली धारा के ऊपर टंगी हुई पुल रूपी दुनिया में यही तीन प्राणी रह गये थे।' हजरत नूह की नाव मानो मस्तूल टूट जाने के बाद भटकती हुई कहीं अटक गयी थी और अटककर अर्थहीन हो गयी थी, और अर्थहीनता से थर-थर कांपते हुए तीनों प्राणी उससे चिपके हुए सांस गिन रहे थे। नूह के बनाये हुए जानवरों से किसी बात में कम नहीं थे ये तीनों जानवर।"

कहने की आवश्यकता नहीं कि रूपक और उत्प्रेक्षा अलंकारों के प्रयोगों से वक्तव्य भाव कितना प्रभावक बन गया है:

अत: स्पष्ट है कि अज्ञेय ने जहां भी सालंकृत भाषा का प्रयोग किया है, वहां वह केवल अलंकृत ही नहीं हुई है, वरन् अत्यधिक मर्मस्पर्शी, संवेदनीय और सम्प्रेषणीय बन गई है।

चित्रात्मकता भी सबल और सशक्त भाषा का एक विशेष गुण होता है। चित्र संयोजना करने के लिए लेखक को जहां सशक्त भाषा की आवश्यकता होती है, वहां लेखक के लिए सूक्ष्म दृष्टि से भी अपेक्षित है। 'अपने-अपने अजनबी' की भाषा में यह गुण सहज और प्रचुरता से मिलता है। यथा–

नोट

'कस्बे के आगे सीधे-सपाट मैदान में बाग था। यह भी पुराना बाग था, पुरानी ओर सुस्त चाल से चलने वाला बाग, जिसमें हल्की-फुल्की, चुस्त और हर मौसम में रूप बदलने वाली फूलों की क्यारियां बिलकुल नहीं थीं, पुरानी और सदाबहार हरियाली के बीच जहाँ-तहाँ बहुत बड़े-बड़े पुराने और बड़ी धीमी गति से बढ़ने वाले पेड़ थे।

बाग के पार नदी थी–या नदी के पार सड़क थी, क्योंकि सड़क ही बाग की मर्यादा बांधती थी, सड़क के आगे फिर हरियाली का फैलाव था और उसके आगे नदी थी।

'हरियाली का ढलाव नदी की ओर था, और हर साल बारिश होने पर सारी हरियाली डूब जाती थी, और बाग की मर्यादा-रेखा खींचने वाली सड़क, नदी की मर्यादा-रेखा बन जाती थी।'

इस वर्णन में स्थानीय चित्रण बड़ी ही सजीव है, और अनायास ही सारा चित्र चित्रपट की भांति आंखों में झूम जाता है। इसी प्रकार, विक्षिप्त मौके के इस वर्णन में सजीव चित्रात्मकता है–

'आगन्तुका के कपड़े कुछ अस्त-व्यस्त थे। लेकिन ध्यान उनकी ओर नहीं जाता था, ध्यान जाता था उसके चेहरे और आंखों की ओर जो कि और भी अस्त-व्यस्त थीं–उसकी आंखों में मानो पतझर के मौसम की एक समूची वनखंडी बसी हुई थी। वह खुली-खुली आंखों से बिखरी हुई दृष्टि से चारों ओर देख रही थी।'

इन स्थूल चित्रों के अतिरिक्त, कुछ भावात्मक चित्र भी मिलते हैं। युद्ध की विभीषिका से संत्रस्त और राशन की दूकान के आगे लगी हुई भीड़ का यह वर्णात्मक चित्र अत्यन्त भावात्मक है–"काले, गोरे और भूरे चेहरे, काले, लाल, पीले, भूरे, गेहुंए, सुनहले और धौले बाल, रंगे-पुते और रूखे-खुड्ढे चेहरे। चुन्नटदार, इस्तरी किए हुए और सलवट-पड़ कपड़े; चमकीले और कीच-सने, चरमराते या फटफटाते या घिसटते हुए जूते। और चेहरों में, आंखों में, कपड़ों में, सिर से पैर तक हर अंग की हर क्रिया में निर्मम जीवैषणा का भाव–मानो वह दूकान सौदे-सुलुफ या रसद की दूकान नहीं है, बल्कि जीवन की ही दूकान है।"

स्व-मूल्यांकन

रिक्त स्थान की पूर्ति करें-

1. अज्ञेय के विचार में ..... भाषा की सर्वाधिक समर्थ शक्ति है।
2. अज्ञेय मूलत: कवि हैं और ..... संस्कारों से संपन्न हैं।
3. अज्ञेय ने योके के माध्यम से ..... का पर्याप्त, मौलिक एवं गंभीर विवेचन प्रस्तुत किया है।
4. मनुष्य ..... का खिलौना है।

भाषा और भावों का उसी प्रकार अविच्छिन्न संबंध होता है, जिस प्रकार वीचि और वारि का, अत: जो भाषा जितनी अधिक भावानुसारिणी होगी, वह उतनी ही सक्षम और सफल मानी जायेगी। अज्ञेय की भाषा में यह गुण विद्यमान है, और 'अपने-अपने अजनबी' भाषा में तो यह गुण और भी अधिक मुखरित हुआ है। योरोप की किसी बस्ती का निरन्तर किन्तु द्रुत परिवर्तन का इस प्रकार वर्णन किया है–"बोलचाल का मुहावरा जिस तेजी से बदलता है, बस्ती का रूप उससे कहीं अधिक तेजी से बदल रहा था। बातचीत में अभी कस्बा ही कहते थे, लेकिन उसमें शहर के सब लक्षण आ चुके थे। बल्कि हिस्से को किसी भी औचित्य के साथ कस्बा कहा जा सकता, वह उसके एक छोर पर पड़ गया था। उतने हिस्से का स्थापत्य कुछ अलग और पिछड़ा हुआ था। सड़कें इतनी तंग थीं कि उन्हें गलियां कहना ही ठीक था, और वहां वाले कहते भी यही थे। वहां के लोगों के जीवन की गति भी धीमी ही थी, और शायद उनके बोलने के ढंग की तरह उनकी जीवन-दृष्टि भी कुछ पुरानी और पिछड़ी हुई थी। कम से कम शहर में, यानी शहर के दूसरे हिस्से में, रहने वाले लोग, उसे पिछड़ा हुआ ही मानते थे, और जब भी कस्बे के लोगों की चर्चा करते थे, तो उसमें एक व्यंग्य निहित होता था–बड़ा शहराती, छिपा हुआ व्यंग्य, लेकिन शहराती या छिपा हुआ होने के कारण कुछ कम तीखा नहीं।"

इस उद्धरण में जिस प्रकार के वाक्य-विन्यासों का प्रयोग हुआ है, उनमें कहीं-कहीं ठहराव की और कहीं-कहीं अनायास प्रवाह की लयात्मक गति है, जिससे उस बस्ती का पिछड़ापन और निरंतर परिवर्तन दोनों एक साथ ही व्यंजित होते हैं।

नोट

टास्क अज्ञेय के कवि रूप का परिचय दीजिए।

किसी भी उपन्यास की भाषा की शक्ति और सार्थकता इस पर भी निर्भर करती है कि वह पात्रों की मन:स्थितियों का उद्‌घाटन करने में सक्षम हो। इसमे किसी को भी मत-विभेद की गुंजाइश नहीं है कि 'अपने-अपने अजनबी' की भाषा में यह गुण भी पर्याप्त रूप से सहज हही परिव्याप्त है। योके और सेल्मा उपन्यास का दो प्रमुख पात्र हैं। योके नवयुवती है, जिसने अभी तक जीवन-जगत् के झंझाावातों को नहीं झेला है, जीवन-जगत् के भयंकर कटु अनुभवों को नहीं भोगा है, इसीलिए उनके द्वारा प्रयुक्त भाषा में जीवन के प्रति उल्लास, जिजीविषा को महत्त्वाकांक्षा ही अधिक है। यथा–"पर क्या? यही की लकड़ी अधिक खर्च हो जायेगी? पर वैसा सोचना भी निरी कंजूसी नहीं है। कम-से-कम ढाई महीने वहां काटने की सम्भावना तो उन्हें करनी ही चाहिए–यानी बचे रहे तो। तीन महीने भी हो जायें तो हो सकते हैं। यों यह बिल्कुल असम्भव तो नहीं है कि कोई उसे खोजने ही वहां आ जाये–घर के लोगों को तो पता ही है, और पॉल तो यहां से एक ही दिन की दूरी पर होगा। पॉल तो रह नहीं सकेगा–जरूर उसे ढूंढ़ ही निकालेगा–पॉल जो कहा करता है कि तुम दुनिया के किसी भी देश में होती तो मैं तुम्हें खोज निकालता–लाखों, करोड़ों में तुरन्त पहचान लेता ...।"

यौवन काल स्वभावत: सामाजिक होता है, वह समाज में, और कम-से-कम अपने प्रेमी के साथ, निरन्तर रहना चाहता है, जहां उसे सदैव अपने अस्तित्व का अहसास होता रहे, और जहां उसे सर्वथा फूलने-फलन के अवसर मिलते रहें। लेकिन जब कि वह समाज से कट जाता है, और अपने चरम अकेलेपन को भोगने के लिए विवश होता है, तो उसकी भावनायें अन्तर्मुखी हो जाती हैं, और वह कुछ अधिक गम्भीर होकर दर्शन के स्तर पर स्वयं को भी देखने लगता है। काठघर में बरबस बन्दिनी योके की भी यही नियति है। वह रात को जो डायरी लिखती है, उसकी वैचारिक गम्भीरता और अकेलेपन की चरम यन्त्रणा उसमें सहज ही परिलक्षित होती है। योके की इस मन:स्थिति को व्यक्त करने वाली भाषा भी पर्याप्त गम्भीर है, उसमें कहीं भी हलकापन और यौवन-सुलभ उच्छृंखलता दिखाई नहीं देती। यथा–"मैं बैठ गयी। लेकिन बहुत कोशिश करने पर भी मुंह से बोल नहीं निकला। सारी परिस्थिति में कहीं कुछ बहुत ही बेठीक लगा। जैसे अवतरण की बात भी गलत है, और उसके गाने माना भी गलत। अवतरण अगर हुआ है तो मृत्यु का, और वह मृत्यु ऐसी नहीं है कि गाने से उसका स्वागत किया जाये! वह मेरे कंधों पर सवार होकर मेरा गला घोंट रही है। कैसा बेपनाह है वह पंजा, जो छोड़ेगा नहीं, लेकिन जिसकी उंगलियों की छाप भी नहीं पड़ेगी! मैंनें कल्पना कि उनकी पकड़ भी ऐसी है या नहीं कि कोई छाप न छोड़े; लेकिन बुढ़िया के गले की रक्तहीन पारदर्शी त्वचा तो पहले ही ऐसी है कि उस पर कोई छाप क्या पड़ेगी।"

और जब वह किसी विचार-प्रधान तत्त्व का उल्लेख करती है तो उसकी भाषा किसी गम्भीर चिन्तक की भाषा से कम गम्भीर नहीं होती–"और हम जड़ें कहीं नहीं फेंकते, या कि सतह पर ही इधर-उधर फैलाते जाते हैं, लेकिन जीते हैं सूरज के सहारे ही; अनजाने ही वह हमारे जीवन की हर क्रिया को, हर गति को अनुशासित कर रहा है। हम सब मूलतया सूर्योपासक हैं, और हमारे चिन्तन में चाहे जो कुछ हो, हमारे जीवन में सूर्य ईश्वर का पर्याय है। सूर्य और ईश्वर, सूर्य और समय, इसलिए सूर्य और हमारा जीवन–जहां सूर्य नहीं है, वहां समय भी नहीं है।"

अथवा–

"इस बिना कफन की कब्र से क्या वह पहले की ही अवस्था अच्छी नहीं थी? बर्फ के नीचे दबकर मर जाना भी मर जाना है। लेकिन वह दबकर मरना तो है–उसमें कार्य और कारण की संगति तो है। लेकिन यह बिना दबे, बिना बर्फ को छुए भी बहेतुक मर जाना–यह मानो हमारे जीवन के अनुभव का अपमान करता है। और हम मरने पर भी अनुभव का खंडन सहने को तैयार नहीं। शायद यह हमारे इस करुण विश्वास का–विश्वास की कामना का फल है कि अगर अनुभव है तो हम भी हैं, और अगर कोई अनुभव हमें हुआ है तो हमारे मर जाने पर भी वह नहीं मरता और एक धनात्मक उपलब्धि के रूप में बचा ही रह जाता है। इस करुण विश्वास के सहारे हम यह मान लेना चाहते हैं कि हमीं बचे रह जाते हैं।"

नोट

यही आभिजात्य और विचारशीला योके जब विक्षिप्त हो जाती है तो इसकी भाषा भी उसी मन:स्थिति के अनुकूल हो जाती है–"कह दूंगी कि मैंने चुना, स्वेच्छा से चुना। सब कुछ कह दूंगी। सारी हरामी दुनिया को बता दूंगी कि एक बार मैंने अपने मन से जो चुना, वही किया! हरामी–हरामी दुनिया।"

योके ठीक विपरीत सेल्मा है, जिसने जीवन और जगत् के मधुर और तिक्त बनुभवों का भोग किया है और इनकी वास्तविकता से परिचय प्राप्त किया है। इसीलिए इसकी भाषा में सर्वत्र प्रौढत्व की गम्भीरता और गरिमा है। इसका एक-एक वाक्य इसकी गहरी बुजुर्गी और अनुभव की वास्तविकता से ओतप्रोत है। अपने जीवन की अवशता और निरुपयता वह जिन शब्दों में प्रकट करती है, वह भाव केवल इसी के जीवन से संबद्ध नहीं है, वरन् उन सभी वृद्ध और वृद्धाओं की, एक प्रकार से मानव-जीवन की, नियति को संकेतिक करते हैं जो जीवन के अन्तिम छोर पर आकर अवश और निरुपाय हो जाते हैं–"मेरी बीमारी की बात बार-बार दोहराने की जरुरत नहीं है। मैं जानती हूं कि मैं बीमार हूं। मैं क्या जान-बूझकर हुई हूं, कि तुम्हें सताने के लिए बीमार हुई हूं? और स्वतंत्रता–कौन स्वतंत्र है? कौन चुन सकता है कि वह कैसे रहेगा, या नहीं रहेगा? मैं क्या स्वतंत्र हूं कि बीमार न रहूं–या कि अब बीमार हूं तो क्या इतनी भी स्वतंत्र हूं कि मर जाऊं? मैंने चाहा था कि अन्तिम दिनों में कोई मेरे पास न हो। लेकिन यह भी क्या मैं चुन सकी?"

इसी प्रकार निम्नलिखित पंक्तियों में भी सेल्मा का अर्जित गम्भीर अनुभव उसी के अनुरूप गम्भीर एवं गरिमामयी भाषा के द्वारा मुखरित हो रहा है–"न न, योके यह अपराध को ख़ामहख़ाह ओढ़ता है। तुम जो अपने को स्वतंत्र मानती हो, वही सब कठिनाइयों की जड़ है। न तो हम अकेले हैं, न हम स्वतंत्र हैं। बल्कि अकेले नहीं हैं, और हो नहीं सकते, इसलिए स्वतंत्र नहीं हैं; और इसीलिए चुनने या फैसला करने का अधिकार हमारा नहीं है। ऐसी सब स्वतंत्रताओं की कल्पनाएं निरा अहंकार है–और उसी से स्वतंत्रता को छोड़कर कोई दूसरी स्वतंत्रता नहीं है।"

कहने का तात्पर्य यह है कि 'अपने-अपने अजनबी' की भाषा अज्ञेय का एक और नूतन एवं सृजनात्मक प्रयोग है, जो पूर्णतया सफल और भाषा के क्षेत्र में एक क्रांतिकारी कदम है। इनके पहले उपन्यासों में–'शेखर: एक जीवनी' और 'नदी के द्वीप' में–भाषा का जो आभिजात्य रूप परिलक्षित होता है, उसका इस उपन्यास की भाषा में अभाव है, और यह अपने सरलतम रूप में उन उपन्यास की भाषा की अपेक्षा अधिक सहज, स्वाभविक और गतिशील है। डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी के शब्दों में–"सृजनात्मक भाषा प्रयाग की दृष्टि से 'अपने-अपने अजनबी' का अध्ययन अपने-आप में एक महत्त्वपूर्ण विषय है। पूरे उपन्यास की भाषा एकदम सादी और निराग्रह है। मृत्यु का साक्षात्कार जैसा रंगहीन और निरावरण हो सकता है, वैसी ही लेखक के वर्णन की भाषा है। खास तौर से अज्ञेय के पिछले उपन्यासों की तुलना में 'अपने-अपने अजनबी' की भाषा बिलकुल बदली हुई है–सतरंग मानो शुभ्र प्रकाश में समो जायें। 'शेखर: एक जीवनी' और 'नदी के द्वीप' की भाषा में आभिजात्य और तत्समता के गुण, जो अपने विशिष्ट ढंग से प्रसिद्ध रहे हैं, 'अपने-अपने अजनबी' में सर्वत: लुप्त हो जाते हैं। यहां भाषा का मूलत: ठेठ, सहज और तद्भव रूप सहसा उभरता है, जिसका प्रयोग लेखक अपनी कविता में करता रहा है। काव्य-भाषा के इस रूप में एक खड़खड़ापन है, जो सामान्यत: बोल-चाल की साधारण भाषा का गुण माना जाता है।"

क्या आप जानते हैं अपने-अपने अजनबी की भाषा अज्ञेय के दूसरे उपन्यास नदी के द्वीप की अभिजात्य भाषा एवं तत्समता के गुणों से भिन्न है।

वास्तव में, 'अपने-अपने अजनबी' की भाषा में जो सहजता एवं सृजनात्मकता का एक विशेष दिशा में आदर्श सामजस्य है, वह अज्ञेय की प्रयोग-शक्ति और रचनात्मक क्षमता को तो प्रमाणित करता ही है, साथ ही परवर्ती प्रयोगशील उपन्यासकारों के लिए एक नये पथ का भी दिशा-निर्देश करता है। अत: कहा जा सकता है कि प्रस्तुत उपन्यास का वर्ग उन रचनाओं का है, 'जो संवेदना और भाषिक सर्जनात्मकता की गहराई के कारण अनेक

नोट

छाया-स्तरों पर अपना अर्थ विवृत करती हैं, देश और काल, दोनों के विस्तार में। अर्थ के संचरण के लिए उनमें एक स्वत: स्फूर्त शक्ति विकसित हो जाती है, जो किसी भी क्लैसिक रचना का मूल गुण है।

23.2 सारांश

भाषा केवल व्यक्ति की सतही अभिव्यक्ति से ही नहीं, वरन् उसके मन-प्राण से भी जुड़ी हुई होती है। इसीलिए प्रत्येक समर्थ लेखक और भाषा की आन्तरिकता का पारखी उसके बाह्य रूप या साधारण रूप से ही सन्तुष्ट नहीं होता, बल्कि उसकी आत्मा में पैठकर उसके वास्तविक और सम्पूर्ण रूप की या व्यक्ति की खोज पने के लिए प्रयत्नशील रहता है।

अज्ञेय आज के युग के सर्वाधिक समर्थ एवं भाषा-पारखी शिल्पी हैं।

अज्ञेय ने भाषा का जो स्वरूप खोजा, उसको इन्होंने इस प्रकार प्रस्तुत किया है।

'सही शब्द वे ही हैं जो उनके बीच के अन्तराल का सबसे अधिक उपभोग करें–अन्तराल के उस मौन द्वारा भी अर्थवत्ता का पूरा ऐश्वर्य सम्प्रेषित कर सकें। इतना ही क्यों? पूर्व की एक परम्परा के उत्तराधिकारी के नाते मैं यहाँ तक कह सकता हूं कि कविता भाषा में नहीं होती, वह शब्दों में भी नहीं होती, कविता शब्दों के बीच की तीव्रताओं में होती है और कवि सहज बोध से जानता है कि उससे दूर तक पहुंचा जा सकता है, उससे संलाप की स्थिति पायी जा सकती है, क्योंकि वह जानता है कि मौन के द्वारा भी सम्प्रेषण हो सकता है।'

मौन का यही विभावन अज्ञेय के अनुसार, भाषा की सर्वाधिक समर्थ शक्ति है।

यदि यह कहा जाये कि 'अपने-अपने अजनवी' की भाषा की शक्तियों में मौन-विभाजन भी एक प्रमुख तत्त्व है, तो अन्यथा न होगा।

'अपने-अपने अजनबी' विचार-प्रधान उपन्यास है, और विचारों की अभिव्यक्ति के लिए भाषा का दुरूह तथा बोझिल हो जाना अस्वाभाविक नहीं है, किन्तु प्रस्तुत उपन्यास की भाषा अपनी सहजता और सरलात के द्वारा प्रत्ययों का जिस प्रकार बोधगम्य और हृदयस्पर्शी प्रस्तुतीकरण करती है, वह अज्ञेय जैसे समर्थ और भाषा की आन्तरिकता के विशेषज्ञ से ही सम्भव है। ईश्वर, मृत्यु, अस्तित्वबोध, क्षण आदि ऐसे ही प्रत्यय हैं जिनका विवेचन साधारण शब्दावली में प्राय: असम्भव है, किन्तु अज्ञेय ने अपने सृजनात्मक भाषा-प्रयोग से इस असम्भवता को भी सम्भवता बना दिया है। सेल्मा अपनी ईश्वर-विषयक अवधारणा को व्यक्त करती हुई कहती है–'यों तो मैं भी नहीं कह सकती कि मैं जानती हूं, कि मैं सचमुच जानती हूं। लेकिन कभी जब यह बात सोचती हूं कि मैं मरने वाली हूं, और तब मुझे ध्यान आता है कि तुम यहां उपस्थित हो–जब मैं अपने से अलग एक सजीव उपस्थिति के रूप में तुम्हारी बात सोचती हूं–तब मुझे एका-एक निश्चित रूप से लगता है कि ईश्वर है–कि सजीव उपस्थिति का नाम ही ईश्वर है–कोई भी उपस्थिति ईश्वर है। क्योंकि नहीं तो उपस्थित हो ही कैसे सकती है?

अज्ञेय मूलत: कवि हैं, और अभिजात्य संस्कारों से सम्पन्न हैं, अत: इनकी भाषा का सालंकृत होना सहज भी है और स्वाभाविक भी। किन्तु यह अलंकारिता वक्तव्य भावों को केवल अलंकृत ही नहीं करती, वरन् उन्हें अधिक मर्मस्पर्शी और सम्प्रेषणीय भी बना देती है।

किसी भी उपन्यास की भाषा की शक्ति और सार्थकता इस पर भी निर्भर करती है कि वह पात्रों की मन:स्थितियों का उद्घाटन करने में सक्षम हो। इसमे किसी को भी मत-विभेद की गुंजाइश नहीं है कि 'अपने-अपने अजनबी' की भाषा में यह गुण भी पर्याप्त रूप से सहज हही परिव्याप्त है। योके और सेल्मा उपन्यास का दो प्रमुख पात्र हैं। योके नवयुवती है, जिसने अभी तक जीवन-जगत् के झंझावातों को नहीं झेला है, जीवन-जगत् के भयंकर कटु अनुभवों को नहीं भोगा है, इसीलिए उनके द्वारा प्रयुक्त भाषा में जीवन के प्रति उल्लास, जिजीविषा को महत्त्वाकांक्षा ही अधिक है।

नोट

वास्तव में, 'अपने-अपने अजनबी' की भाषा में जो सहजता एवं सृजनात्मकता का एक विशेष दिशा में आदर्श सामजस्य है, वह अज्ञेय की प्रयोग-शक्ति और रचनात्मक क्षमता को तो प्रमाणित करता ही है, साथ ही परवर्ती प्रयोगशील उपन्यासकारों के लिए एक नये पथ का भी दिशा-निर्देश करता है।

23.3 शब्दकोश

1. **संश्लिष्ट–** जोड़ा हुआ, मिलाया हुआ
2. **दुर्बोध–** जिसे सरलता से न जाना जा सके, क्लिष्ट, अत्यंत कठिन
3. **यथेष्ट–** तिना चाहिए उतना
4. **बिरला–** बहुत कम मिलने वाला
5. **नीरव–** शब्द रहित, शब्द न करने वाला

उत्तर: स्व-मूल्यांकन

1. मौन 2. अभिजात्य 3. क्षण 4. नियति

23.4 अभ्यास-प्रश्न

1. अपने-अपने अजनबी की भाषा-शैली पर प्रकाश डालिए।
2. अपने-अपने अजनबी की भाषा कथ्य के अनुरूप गंभीर होते हुए भी सृजनात्मक भाषा के नये आयाम उद्‌घाटित करती है। इस कथन की समीक्षा कीजिए।

23.5 संदर्भ पुस्तकें

पुस्तकें

1. *अपने-अपने अजनबी*–अज्ञेय, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली।
2. *अज्ञेय: एक अध्ययन*–भोला भाई पटेल, वाणी प्रकाशन, दिल्ली।
3. *अज्ञेय: कवि-कर्म का संकट*–कृष्णदत्त पालीवाल, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली।

नोट

इकाई 24: अपने-अपने अजनबी– तात्त्विक समीक्षा

अनुक्रमणिका

उद्देश्य

प्रस्तावना

24.1 अपने-अपने अजनबी– तात्त्विक समीक्षा

24.2 सारांश

24.3 शब्दकोश

24.4 अभ्यास-प्रश्न

24.5 संदर्भ पुस्तकें

उद्देश्य

विद्यार्थी इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् सक्षम होंगे–

- अपने-अपने अजनबी उपन्यास की तात्त्विक समीक्षा से परिचित होंगे।

प्रस्तावना

'अपने-अपने अजनबी' कृतिकार की ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण हिन्दी के कथा-साहित्य की एक महत्तम सर्जनात्मक उपलब्धि है। अपने अत्यन्त लघु कलेवर में भी वह औपन्यासिक गुणों से तो सम्पन्न है ही, साथ ही उपन्यास के माध्यम से अस्तित्ववादी दर्शन की सरस एवं प्रभावशाली अभिव्यक्ति करने में भी यह कृति पूर्णतया सक्षम तथा सफल है।

24.1 अपने-अपने अजनबी-तात्त्विक समीक्षा

अपने-अपने अजनबी का कथानक लघु होते हुए भी अनेक प्रत्ययों की अभिव्यक्ति करता है। योके एक नवयुवती और विध महान सरस आकांक्षाओं से परिपूर्ण है। यह अपने प्रेमी पॉल के साथ घूमने आती है कि अचानक भारी तुषरापात से उसे अपने प्रेमी से बिछुडकर न चाहते हुए भी सेल्मा के काठघर में बन्दिनी हो जाना पड़ता है। सेल्मा कैंसर से पीड़ित आसन्न मृत्यु वृद्धा है, जो नित्य अपनी मृत्यु के निकटतर होती जाती है। अपनी इस स्थिति से पूर्ण अवगत होते हुए भी वह अपनी मृत्यु से भयभीत नहीं है, और न अपने अस्तित्व-बोध के प्रति विचलित है। वह सदैव अपनी सम्पूर्ण आस्था को संजोकर अपनी मृत्यु का आलिंगन करने के लिए सहर्ष सन्नद्ध है। अपने यौवनकाल में वह मानवीय सीमा से भी अधिक स्वार्थिनी और समाज-निरपेक्ष भले ही रही हो, किन्तु मृत्यु से साक्षात्कार के क्षणों में वह सम्पूर्ण आदर्शमयी मानवी बन गई है, या उसकी परिस्थितियों ने उसे वैसा हो जाने को विवश कर दिया है। योके उसके लिए एकदम अजनबी और अवांछित तथा अनाहूत है, फिर भी वह उसके प्रति अपनी पूर्ण आत्मीयता का परिचय देती है और अपने जीवन के अर्जित अनुभवों से उसे अवगत कराती है। इसके विपरीत, योके में न जीवन के अनुभव हैं, न आस्था है। उसमें केवल एक ही महत्वाकांक्षा है कि वह अपने जीवन को सम्पूर्ण, अनुकूलता में जी ले। इसीलिए उसके मन में अपने बन्दी और असहाय बने हुए जीवन तथा मृत्यु की ओर बढ़ती हुई सेल्मा के प्रति निरन्तर वितृष्णा एवं चिड़चिड़ाहट बनी रहती है। ऐसे ही प्रतिकूल और अवांछित जीवन को जीने की उसकी

नोट

नियति है। इस अप्रत्याशित और अनुकूल नियति ने उसे स्वाभाविकता से अधिक विचारशील और चिन्तक बना दिया है जिनका अंकन वह प्रायः प्रतिदिन अपनी डायरी में करती रहती है।

अपने युवाकाल में सेल्मा नितान्त स्वार्थिनी, जीवन के आदर्श मूल्यों से हीन और अपने समाज से कटी हुई एक युवती दुकानदारिन थी। उसका लक्ष्य था अधिक से अधिक धनार्जन करना। इसीलिए वह भंयकर बाढ़ का पूरा लाभ उठाने को तत्पर है और पूरी हृदयहीन बनकर वह अपने सामान को दुगुने-तिगुने मूल्य पर बेचती है। अपने इस व्यवहार में वह किसी प्रकार की अमानवीयता नहीं देखती, वरन् इसे व्यापार का एक आवश्यक अंग एवं व्यवहार मानती है। अपने इस व्यवहार में वह इतनी दृढ़ है कि अपने ही साथी दुकानदारों को-यान को और फोटोग्राफर को-भी वह इससे विलग नहीं कर पाती। किन्तु एक दिन फोटोग्राफर की कारुणिक मृत्यु को देखकर और विवश यान के अप्रत्याशित कठोर व्यवहार को सहकर वह अपने जीवन-दर्शन पर पुनविचार करने के लिए बाध्य होती है। उसकी यह बाध्यता उसे मानवीय धरातल पर ले आती है। और वह यान के प्रति अपना सर्वस्व समर्पण कर देती है। कुछ वर्षों तक वह यान की पत्नी रहकर दाम्पत्य जीवन का निर्वाह करती है और तीन पुत्रों की जननी बनकर विधवा हो जाती है। उसके जीवन की इन्हीं विविधताओं ने और आयु के अन्तिम सोपान ने उसे जीवन और समाज के प्रति निस्संग और निस्पृह बना दिया है। इसीलिए तो वह मौत भी तब चाहती है, जब वह अकेली हो, और उसकी मौत को देखने वाला उसके पास कोई दूसरा न हो। परन्तु उसकी यह इच्छा पूर्ण नहीं हो पाती । उसे योके की उपस्थिति में ही अपने प्राणों का त्याग करना पड़ता है।

सेल्मा की मृत्यु से योके को गहरा मानसिक आघात पहुंचता है। इतना गहरा कि उसकी जीवन और ईश्वर के प्रति सम्पूर्ण अनास्था अपने चरण रूप में अभिव्यक्ति पाती है। वह विक्षिप्त-सी हो जाती है, और उसको दफनाकर अपने आवेगों को कुछ सीमा तक प्रशान्त कर पाती है। तभी दूर से उसे उसका प्रेमी पॉल उसकी ओर दौड़कर आता हुआ दिखाई देता है।

इसके बाद योके की उपस्थिति एक विक्षिप्त युवती के रूप में दिखाई देती है जिसे जर्मन सैनिकों ने वेश्या बनने के लिए विवश कर दिया। योके की यह विक्षिप्तता सम्पूर्ण मानवीयता को और उसके आदर्शों को झकझोरदेती है। वह अपने दूषित और कलंकित शरीर को उठाये-उठाये इधर-उधर भटकती रहती है, और एक दिन अचानक एक राशन की दुकान पर पहुंच जाती है, जहां अन्य ग्राहकों के साथ जगन्नाथन् भी अपना राशन खरीद रहा था-कुछ खरीद चुका था और कुछ खरीदने की सोच रहा था वह अपनी सिगरेट से जगन्नाथन् के द्वारा खरीदे गये पनीर के टुकड़े को दूषित करके भाग खड़ी होती है। न जाने किस आवेश में आकर जगन्नाथन् उसका पीछा करता है, और एक स्थान पर श्रान्त, निरुपाय योके को पकड़ लेता है। योके उसे अपने कलंकित जीवन का बोध कराती हुई, जर्मन सैनिकों के प्रति और उनके माध्यम से समग्र निर्मम संसार के प्रति अपनी अथाह घृणा व्यक्त करती हुई उसकी बांहों में ही विष खाकर आत्महत्या कर लेती है।

'अपने-अपने अजनबी' का यह कथानक योके और सेल्मा, सेल्मा और योके इन तीन परिच्छेदों में विभक्त है। बाहरी दृष्टि से देखने पर इस विभाजन की कथाओं में कोई सूत्रबद्धता दृष्टिगोचर नहीं होती–एक की कथा का प्रारम्भ तुषारापात से होता है, दूसरे की कथा का बाढ़ की भयंकरता से और तीसरे की कथा का युद्ध की विभीषिकाओं एवं तज्जन्य संत्रस्त वातावरण की भयावहता से। अतः कथा में विखराब की प्रतीत होती है। किन्तु इस विखराव में भी वैचारिक धरातलों की समन्विति के कारण एकसूत्रता और अखंडता है, अर्थात् 'अपने-अपने अजनबी' की कथावस्तु की समन्विति विचार-सूत्रों के कारण है। यही इस कथा-संरचना की कलात्मकता भी है और महत्ता भी।

'अपने-अपने अजनबी' विचार-प्रधान उपन्यास है, इतना विचार-प्रधान कि यह विचार-दर्शन अधिक और उपन्यास कम रह गया है। यदि इसे औपन्यासिक विचार-दर्शन कह दिया जाये तो अनुचित न होगा। यह ठीक है कि उपन्यासों में भी वैचारिक धरातल होते हैं अथवा होने चाहिये, किन्तु उनकी अवस्थिति वैसी ही होनी चाहिए जैसे गहन आकाश में यदा-कदा कोई तारा चमककर अपने चमक से आह्लादित और प्रभावित करता है, वैसी नहीं कि वैचारिकता का बादल अपनी गम्भीरता लेकर समूचे आकाश को ही वाच्छादित करने पर उतारू हो जाए। प्रस्तुत उपन्यास में, विशेषतः

नोट

सेल्मा और योके परिच्छेद में, ऐसा ही हुआ है। इसमें उपन्यासकार की प्रवृत्ति अस्तित्ववादी दर्शन को ही प्रस्तुत करने की अधिक रही है। इससे कथावस्तु की गति भी कुंठित हुई है और औपन्यासिक-सापेक्ष्य सरसता का भी तिरोभाव हुआ है। यथा:

1. एक अन्तहीन, परिवर्तनहीन धुंधली रोशनी, जो न दिन की है न रात की है, न सन्ध्या के किसी क्षण की ही है—एक अपार्थिव रोशनी जो कि शायद रोशनी भी नहीं है, इतना ही कि उसे अन्धकार नहीं कहा जा सकता। हमेशा सुनती आयी हूँ कि कब्र में बड़ा अन्धेरा होता है, लेकिन यहां उसकी भी असम्पूर्णता ओर विविधता है! शायद यही वास्तव में मृत्यु होती है, जिसमें कुछ भी नहीं होता, सब कुछ होते-होते रह जाता है। होते-होते ही रह जाना मृत्यु का विशेष रूप है जो मनुष्य के लिए चुना गया है जिसमें कि विवेक है, अच्छे-बुरे का बोध है। यह उसमें न होता तो उसका मरना सम्पूर्ण हो सकता। जो चुकता वह सम्पूर्ण चुक जाता; या जो रहता, उसका बना रहना भी असन्दिग्ध होता। यह हमारे युगों से संचे हुए नीति-बोध की सजा है कि हमारा मरना भी अधूरा ही हो सकता है-मरकर भी कुछ हिसाब बाकी रह जाता है!

नोट्स अपने-अपने अजनबी विचार-प्रधान उपन्यास है। इतना विचार-प्रधान कि यह विचार-दर्शन अधिक उपन्यास कम रह गया है। यदि इसे औपन्यासिक विचार-दर्शन कहा जाए तो अनुचित न होगा।

2. 'एक धुधंली रोशनी'-एक ठिठका हुआ नि:संग जीवन। मानो घड़ी ही जीवन को चलाती है, मानो एक छोटी-सी मशीन ने, जिसकी चाबी तक हमारे हाथ में है, ईश्वर की जगह ले ली है। और हम हैं कि हमारा इतना भी वश नहीं है कि उस यन्त्र को चाबी न दें, घड़ी को रुक जाने दें, अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दें! घड़ी के रुक जाने से समय तो नहीं रुक जायेगा और रूक भी जायेगा तो यहां पर क्या अन्तर होने वाला है, घड़ी के चलने पर भी तो यहां समय जड़ीभूत है। एक ही अन्तहीन लम्बे शिथिल क्षण में मैं जी रही हूँ—जीती ही जा रही हूँ—और वह क्षण जरा भी नहीं बदलता, टस से मस नहीं होता है। क्या अपने सारे विकास के बावजूद हम मनुष्य भी निरे पौधे नहीं है जो बेबस सूरज की ओर उगते हैं? अंधेरे में भी अंकुर मिट्टी के भीतर ही भीतर कोई सूरज की ओर बढ़ता है, रौंदा जाकर फिर टेढ़ा होकर भी सूरज की ओर ही मुढ़ता है। कहते हैं कि सब पौधे धरती के केन्द्र से बाहर की ओर बढ़ते हैं-यानी केन्द्र से दूर हटने की प्रवृत्ति उन्हें सूरज की ओर ठेलती है। लेकिन इस केन्द्रापसारी प्रवृत्ति को भी अन्तिम मान लेना तो वैसा ही है जैसे हम पृथ्वी को सौरमंडल से अलग मान लें। पृथ्वी सूरज की ओर खिंचती भी है। और सूरज की ओर से परे को ठिलती भी रहती है। इसी तरह अंकुर भी जड़ों को नीचे की ओर फेंकता है और बढ़ता है सूरज की ओर।
3. 'और हम जड़ें कहीं नहीं फेंकते, या कि सतह पर ही इधर-उधर फैलाते जाते हैं, लेकिन जीते हैं सूरज के सहारे ही; अनजाने ही वह हमारे जीवन की हर क्रिया को, हर गति को अनुशासित कर रहा है। हम सब मूलतया सूर्योपासक हैं; और हमारे चिन्तन में चाहे जो कुछ हो, हमारे जीवन में सूर्य ईश्वर का पर्याय है। सूर्य और ईश्वर, सूर्य और समय, इसलिए सूर्य और हमारा जीवन-जहां सूर्य नहीं है वहां समय भी नहीं है। लेकिन मैं जहां हूं क्या सूर्य वहां सचमुच नहीं है? क्या काल वहां सचमुच नहीं है? क्या दावे से ऐसा न कह सकना ही मेरी यहां की समस्या नहीं है? मैं मानो एक काल निरपेक्ष क्षण में टंगी हुई हूं-वह क्षण काल की लड़ियों में से टूटकर कहीं छिटक गया है और इस तरह अन्तहीन हो गया है-अन्तहीन और अर्थहीन!'

ये सभी उद्धरण योके की एक दिन की विचारशीलता का और उसकी डायरी का एक ही दिन का अंकन है। इन उद्धरणों में अस्तित्व गम्भीर चिन्तन है, योके की अपने अस्तित्व के प्रति और उसके माध्यम से समष्टि के अस्तित्व के प्रति एक गम्भीर निराशा और विषाद-भरी चिन्ता है। इस चिन्ता से कहीं भी कथा को प्रसार नहीं मिलता। इसी प्रकार-

नोट

'आज बहुत दिन बाद मैंने सहज भाव से आंखें उठाकर बुढ़िया की ओर भरपूर देखा। वह चेहरा कुछ एक दिन में ही काफी बूढ़ा हो गया था। सभी रेखायें अधिक स्पष्ट और गहरी निर्मम हो गयी थीं और उनके माध्यम से जीवन जो भी निःसंग और निष्करुण सन्देश देना चाहता था वह और भी विशद और असन्दिग्ध हो उठा था।'

मैंने पूछा: 'आंटी सेल्मा मैं एक बात अक्सर सोचती हूँ-पूछना चाहती हूं–वह क्या है जो तुम्हें सहारा देता है, जबकि मुझे डर लगता है?'

बुढ़िया ने उत्तर नहीं दिया। थोड़ी देर बाद बोली: 'क्या सचमुच ऐसा है? मुझे किसका सहारा है, मैं नहीं जानती हूं। ईश्वर का है, यह भी किस मुंह से कह सकती हूं?' शायद मृत्यु का ही सहारा है। वह बिल्कुल पास है, सामने खड़ी है–लगता है कि हाथ बढ़कर उसे छू सकती हूं। और वह कहने में और इसमें क्या फर्क है कि हाथ बढ़ाकर उसका साथ ले सकती हूं? ईश्वर ... ईश्वर का नाम ले लेना तो बड़ा आसान है, लेकिन बड़ा मुश्किल भी है। और मौत और ईश्वर को हम अलग-अलग पहचान भी तो कभी-कभी ही सकते हैं। बल्कि शायद मन से ईश्वर को तब तक पहचान ही नहीं सकते जब तक कि मृत्यु में ही उसे न पहचान लें।

मैंने धीमे स्वर में कहा-'यह मेरी समझ में नहीं आया। बल्कि मुझे तो यही सिखाया गया है कि ईश्वर है, इसीलिए मृत्यु नहीं है। मृत्यु केवल भ्रम है।'

'सिखाया तो मुझे भी यही गया है। लेकिन भ्रम भी क्या कम ईश्वर है? और ईश्वर की कौन-सी पहचान हमारे पास है जो भ्रम नहीं है? जब ईश्वर पहचान से परे है तो कोई भी पहचान भ्रम है। ईश्वर को हम कैसे जान सकते है? जो हम जान सकते है वे कुछ गुण हैं-और गुण हैं इसलिए ईश्वर के तो नहीं हैं। हम पहचानते हैं अनिवार्यता:, हम पहचानते हैं अन्तिम और चरम और सम्पूर्ण और अमोघ नकार-जिस नकार के आगे और कोई सवाल नहीं है और न कोई आगे जवाब ही–इसीलिए मौत ही तो ईश्वर का एकमात्र पहचाना जा सकने वाला रूप है। नकार का ज्ञान ही सच्चा ईश्वर ज्ञान है। बाकी सब सतही बातें हैं, और झूठ है।'

टास्क अपने-अपने अजनबी उपन्यास का कथ्य आपको किस रूप में प्रभावित करता है?

यह संवाद यद्यपि ज्ञान और शास्त्र की ऊब को काफी हद तक शिथिल बना देता है और वर्णन में नाटकीयता का पुट देकर उसे कुछ मात्रा तक-भले ही उस मात्रा की मात्रा अल्पतिअल्प हो–सरसता भी प्रदान कर देता है, परन्तु न तो इस परिसंवाद से कथावस्तु को ही प्रसार मिल पाता है, और न इसकी दार्शनिक गम्भीरता को ही नकारा जा सकता है। स्पष्ट है कि इस परिसंवाद की संयोजना किसी औपन्यासिक तत्व की अभिवृद्धि के लिए नहीं हुई है, वरन् आधुनिक ज्ञान और मनोविज्ञान के परिवेश में 'ईश्वर' की व्याख्या करना ही इसका सुनियोजित उद्देश्य है। ऐसी ही परम्परा मुक्त व्याख्या मृत्यु की भी प्रस्तुत की गई है। योके के शब्दों में-'मृत्यु एक झूठ है, क्योंकि वह जीवन का खंडन है। और मैं जीती हूं और जानती हूं कि मैं जीती हूं। कभी ऐसा होगा कि जीती न रहूंगी–लेकिन जब नहीं रहूंगी तब यह जानने वाला भी कौन रहेगा कि मैं जीवित नहीं हूं-कि मैं मर चुकी हूं? मौत दूसरी की ही हो सकती है, जिनका होना और न होना दोनों ही हम जान सकते हैं–या मानते हैं। लेकिन अपनी मृत्यु का क्या मतलब है? वह केवल दूसरों का देखकर लगाया हुआ अनुमान है–कि दूसरे के साथ ऐसा हुआ, इसलिए हमारे साथ भी होगा।'

केवल कथावस्तु ही नहीं, इस उपन्यास के पात्र भी अपनी प्रतीकात्मकता के कारण इसके वैचारिक धरातलों को और अधिक गम्भीर किन्तु सुस्पष्ट करते हैं। इसके मुख्य पात्र हैं-योके, सेल्मा और जगन्नाथन्। अनास्थावादी पाश्चात्य संस्कृति का, और सेल्मा आस्थावादी संस्कृति का और जगन्नाथन् आस्थावादी तथा निष्ठामयी पौर्वात्य संस्कृति का प्रतीक है। पाश्चात्य संस्कृति का जब अनास्थावादी पक्ष आस्थावदी पक्ष से अनचाहे ही मिल जाता है तो दानों में समन्वय नहीं हो पाता, वरन् दोनों की टकराहट नित्य चलती रहती और प्रबल होती रहती है। अनास्थावादी संस्कृति

नोट

अपने अहं और अपने अस्तित्व-बोध को ही अपनी विचारशीलता में स्थान देती है, वह घूम-फिरकर इन दोनों ही बिन्दुओं में भटकती रहती है। वह विध्वंस को एकदम नकारती है, क्योंकि वह इसकी सृजनशीलता को न तो स्वीकार करती ही है, और न करना ही चाहती है। इसके विपरीत, आस्थावादी संस्कृति विध्वंस को भी निर्माण, बल्कि ईश्वर का ही पर्याय मानती है, और अपनी विध्वंसकता को भी उतनी ही सहर्षता से स्वीकार करती है जितनी निर्मिति को। वह अनास्थावादी संस्कृति को प्रज्ञय देती है, उसका संरक्षण करने का और उसे आस्थावादी मार्ग पर लाने का प्रयास करती है, पर उसमें विफल रहती है। अपनी अनास्था के कारण अनास्थावादी संस्कृति जगत् के अन्य दुर्विचारों से बलात्कारित होकर भटकती है, और अन्त में पौर्वात्य आस्थावादी संस्कृति के आश्रय में वह आत्महत्या करने को विवश हो जाती है। यही उसकी परिणति है, यही उसकी मुक्ति है।

इसी प्रतीकार्य को अज्ञेय ने उक्त तीनों पात्रों के माध्यम से व्यक्ति किया है। पूर्व और पश्चिम की यह टकराहट आज के जीवन की विवशता है, इसीलिए आधुनिक सचेत लेखक इस टकराहट में पड़ जाने के लिए बाध्य है। वह 'पूर्व और पश्चिम के तनाव के बीच लिखता है। जैसी तीव्र उसकी संवेदनशीलता है, वैसा ही गहरा उसके व्यक्तित्व पर दबाव है। वर्तमान शताब्दी के आरम्भिक दशकों में पूर्व-पश्चिम की समस्या अधिकतर विचारों और स्थूल रीति-रिवाजों के क्षेत्र में थी, अब यह टकराहट आन्तरिक संस्कारों और संवेदना के सूक्ष्म क्षेत्रों तक पहुंच गयी है। यह स्थिति निश्चय ही रचनाकार के लिए एक विषम चुनौती है, क्योंकि अब प्रश्न वास्तविक चुनाव का है, कोरे सामंजस्य और समन्वयवादी दृष्टिकोण से काम नहीं चल सकता। अपनी पूर्ववर्ती रचनाओं की अपेक्षा अज्ञेय अपने-अपने अजनबी' में पश्चिम का जीवन और उसकी कथा तो ग्रहण कर लेते हैं, परन्तु उन्हें भारतीय उन्मेष में घुला-मिला देते हैं। यह मिलावट या समन्वय यद्यपि वैचारिक स्तर पर सुसंघटित नहीं हो पाता, और भारतीय दृष्टि की अपेक्षा पाश्चात्य दृष्टि ही अधिक बलवती दिखाई देती है, फिर भी इसमें आधुनिक लेखक की स्थिति की सार्थकता तो सजीव हो उठती है।

क्या आप जानते हैं

अज्ञेय ने अपने-अपने अजनबी में पूर्व और पश्चिम की टकराहट के कारण लेखक के संवेदनशील व्यक्तित्व पर गहरा दबाव है जिसे झेलने के लिए वह विवश है।

अपनी अनेक विसंगतियों के बावजूद, अपनी वस्तु-संघटना और अपनी नवीनतम शैली के कारण 'अपने-अपने अजनबी' असन्दिग्ध रूप से एक सृजनात्मक उपलब्धि है। डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी के शब्दों में-मृत्यु से साक्षात्कार की वस्तु को लेकर बंगला के कथा-शिल्पी ताराशंकर वन्द्योपाध्याय ने भी अपने उपन्यास 'आरोग्य निकेतन' की रचना की है। इस एक स्थिति को छोड़ देने पर 'अपने-अपने अजनबी' और 'आरोग्य निकेतन' में तुलना अथवा समानता के कोई और तत्व नहीं हैं। दोनों उपन्यास शैली, भाषिक प्रयोग, वस्तु के सन्दर्भ आदि की दृष्टि से एक-दूसरे से बहुत दूर हैं। तारा बाबू की रचना बहुत कुछ 'क्लासिकल' पद्धति का अनुसरण करती है, जबकि अज्ञेय की संवेदना और शिल्प काफी आधुनिक हैं। पर मुख्य बात यह है कि 'आरोग्य निकेतन' की वस्तु-विषय से यहां अभिप्राय नहीं है–भारतीय सन्दर्भ और दृष्टि की व्याख्या करती है, और कुछ जोड़ती है। अज्ञेय का यत्न अपने ढंग से शायद अधिक महत्त्वाकांक्षी है। वे भी भारतीय दृष्टि और सन्दर्भ को समृद्ध करना चाहते है–विशेषत: पश्चिम की तुलना में। पर पश्चिम के दबाव के कारण उनकी दृष्टि कुछ आक्रान्त हो जाती है। यह ठीक है कि निरी सफलता या असफलता यत्न के महत्व को जांचने का एकमात्र बाधार नहीं हो सकती। और इस दृष्टि से 'अपने-अपने अजनबी' समकालीन भारतीय सर्जन के क्षेत्र में एक बेजोड़ कृति है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

स्व-मूल्यांकन

नोट

सही विकल्प चुनिए–

1. उपन्यास की महत्त्वपूर्ण नारी-पात्र सेल्मा प्रतीक है–
   (क) पाश्चात्य विचार दर्शन (ख) भारतीय विचार दर्शन
   (ग) मार्क्सवादी विचार-दर्शन
2. उपन्यास की नायिका योके का वैचारिक आधार है–
   (क) आस्थावादी (ख) मनोविश्लेषणवादी
   (ग) अनास्थावादी
3. सेल्मा का हृदय परिवर्तन होता है–
   (क) फोटोग्राफर की मृत्यु देखकर (ख) योके से प्रभावित होकर
   (ग) यान से विवाह के पश्चात्
4. अपने-अपने अजनबी में अज्ञेय ने व्याख्यायित किया है–
   (क) मनोविश्लेषणवादी दर्शन को (ख) अस्तीत्ववादी दर्शन को
   (ग) मार्क्सवादी दर्शन को

अपनी महती आधुनिकता और अपनी शैल्पिक नूतन विशेषताओं के आवजूद भी 'अपने-अपने अजनबी' की कुछ सीमाएं भी है, जिनका उल्लेख डॉ. रामदरश मिश्र ने इन शब्दों में किया है-'अपने-अपने अजनबी' अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन को बड़ी सफाई से उभारकर रखने वाला उपन्यास है। बर्फ से घिरे घर में बन्द दो नारियों की मन-स्थितियों की बड़ी सूक्ष्म व्याख्या की गई है। बन्द समय में स्थिर जीवन और आसन्नगन्धा मृत्यु की सूक्ष्म रेखाओं, बिम्बों और प्रतीकों द्वारा बड़ी मार्मिक व्यंजना की गई है, और साथ ही साथ अस्तित्ववादी जीवन-दर्शन को उभारा गया है। भाषा बड़ी ही समर्थ और रचनात्मक रूप से आई है। किन्तु 'अपने-अपने अजनबी' सशक्त उपन्यास नहीं कह जा सकता–इसमें जीवन की ऊष्मा नहीं है। जीवन एक परिधि में सिमटा है, उसमें गति नहीं है, समय बन्द है उसमें गति नहीं है। परिस्थितियों के प्रवेश की गुँजाइश नहीं, एक ही परिस्थिति स्तब्ध-सी बर्फ के नीचे ठहरी है। कुलमिलाकर जीवन का ताप अपनी विवशता से उभरने का अवकाश नहीं पा सका है। लेखक की समस्त सूक्ष्म मनोवैज्ञानिकता और जीवन-सत्यों की सूत्रवत् अभिव्यक्ति के बावजूद यह उपन्यास न तो छू पाता है और न जीवन की ऊष्मा दे पाता है। रोचकता का तो (यह कोई बड़ा दोष नहीं माना जा सकता, पश्चिम के बहुत-से विश्वविख्यात उपन्यास रोचकता के अभाव से बुरी तरह पीड़ित हैं) अभाव है ही। सिद्धान्त-रूप से सभी लोग अस्तित्ववाद को स्वीकारें ही, यह कोई आवश्यक नहीं। बर्फ से घिर घर कब्रगाह बन गया है, यह पश्चिम के लिए एक विशेष परिस्थिति हो सकती है, किन्तु यह पूरे विश्व-जीवन का प्रतीक है, ऐसा मानना कोई आवश्यक नहीं और तब जो चीज सबको प्रभावित करती है, वह होती है जीवन की ऊष्मा और औपन्यासिक रोचकता। यह इस उपन्यास में नहीं हैं। अन्त में जगन्नाथन् की अवतारणा से भी बहुतों को शिकायत है। कुछ लोगों ने यह अर्थ लगाया है कि जनन्नाथन् के माध्यम से लेखक ने भारतीय जीवन-दर्शन में पश्चिमी जीवन को शान्ति देना चाहा है। यदि ऐसा है तो स्पष्ट नहीं है। एक व्यक्ति अपने गुण-व्यापार को उभारे बिना पूरे जीवन-दर्शन का प्रतीक कैसे बन सकता है? और यदि वह व्यक्तिरूप में ही है, तो प्रश्न उठता है कि क्या समूचे पश्चिम में जगनाथन् ही एक भला आदमी मिला जिसके सान्निध्य में योके मरकर शान्ति पा सकी। कुल मिलाकर जगन्नाथन् की अवतारणा या तो अस्पष्ट है या अनावश्यक।

डॉ. मिश्र के इन आरोपों की भी अपनी सीमाएं हैं। किन्तु इस तथ्य को नहीं नकारा जा सकता कि 'अपने-अपने अजनबी' अपनी कथावस्तु के विविध प्रत्ययों की अभिव्यक्ति, कथा-संरचना में बिखराव में अखंडता, वैचारिक धरातल पर अस्तित्ववादी चिन्तन, पात्रों की वैचारिक प्रतीकात्मकता, संवादों की भावाभिव्यक्ति की माध्यमिकता, भाषा की सर्जक प्रयोगधार्मिता आदि के कारण हिन्दी-कथा-साहित्य की एकसर्जनात्मक उपलब्धि है–वह उपलब्धि जिससे हिन्दी-साहित्य समृद्ध भी हो रहा है और गौरवान्वित भी।

नोट

24.2 सारांश

'अपने-अपने अजनबी' कृतिकार की ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण हिन्दी के कथा-साहित्य की एक महत्तम सर्जनात्मक उपलब्धि है।

अपने-अपने अजनबी का कथानक लघु होते हुए भी अनेक प्रत्ययों की अभिव्यक्ति करता है। योके एक नवयुवती और विध महान सरस आकांक्षाओं से परिपूर्ण है। यह अपने प्रेमी पॉल के साथ घूमने आती है कि अचानक भारी तुषरापात से उसे अपने प्रेमी से बिछुडकर न चाहते हुए भी सेल्मा के काठघर में बन्दिनी हो जाना पड़ता है।

अपने युवाकाल में सेल्मा नितान्त स्वार्थिनी, जीवन के आदर्श मूल्यों से हीन और अपने समाज से कटी हुई एक युवती दुकानदारिन थी। उसका लक्ष्य था अधिक से अधिक धनार्जन करना। इसीलिए वह भंयकर बाढ़ का पूरा लाभ उठाने को तत्पर है और पूरी हृदयहीन बनकर वह अपने सामान को दुगुने-तिगुने मूल्य पर बेचती है। अपने इस व्यवहार में वह किसी प्रकार की अमानवीयता नहीं देखती, वरन् इसे व्यापार का एक आवश्यक अंग एवं व्यवहार मानती है।

सेल्मा की मृत्यु से योके को गहरा मानसिक आघात पहुंचता है। इतना गहरा कि उसकी जीवन और ईश्वर के प्रति सम्पूर्ण अनास्था अपने चरण रूप में अभिव्यक्ति पाती है। वह विक्षिप्त-सी हो जाती है, और उसको दफनाकर अपने आवेगों को कुछ सीमा तक प्रशान्त कर पाती है। तभी दूर से उसे उसका प्रेमी पॉल उसकी ओर दौड़कर आता हुआ दिखाई देता है।

'अपने-अपने अजनबी' का यह कथानक योके और सेल्मा, सेल्मा और योके इन तीन परिच्छेदों में विभक्त है। बाहरी दृष्टि से देखने पर इस विभाजन की कथाओं में कोई सूत्रबद्धता दृष्टिगोचर नहीं होती–एक की कथा का प्रारम्भ तुषारापात से होता है, दूसरे की कथा का बाढ़ की भयंकरता से और तीसरे की कथा का युद्ध की विभीषिकाओं एवं तज्जन्य संत्रस्त वातावरण की भयावहता से। अत: कथा में विखराब की प्रतीत होती है। किन्तु इस विखराव में भी वैचारिक धरातलों की समन्विति के कारण एकसूत्रता और अखंडता है, अर्थात् 'अपने-अपने अजनबी' की कथावस्तु की समन्विति विचार-सूत्रों के कारण है। यही इस कथा-संरचना की कलात्मकता भी है और महत्ता भी।

24.3 शब्दकोश

1. **अनाहूत–** अनिमंत्रित, बिन बुलाया
2. **निरसंग–** बिना साथ का, अकेला, विषय वासना रहित, एकांत, निर्जन
3. **निस्पृह–** इच्छा रहित, वासना रहित, निर्लोभ
4. **श्रांत–** थका हुआ, दुखी, खिन्न
5. **तज्जन्य–** उसके द्वारा उत्पन्न
6. **अवस्थिति–** टिकाव, विद्यमानता, ठहराव
7. **पौर्वात्य–** पाश्चात्य के अनुकरण पर बना हुआ अशुद्ध शब्द

24.4 अभ्यास-प्रश्न

1. अपने-अपने अजनबी में अज्ञेय ने अस्तीत्ववादी दर्शन को महत्त्व दिया है। इस कथन की समीक्षा कीजिए।
2. अपने-अपने अजनबी की तात्त्विक समीक्षा कीजिए।

उत्तर: स्व-मूल्यांकन *नोट*

1. (ख) 2. (ग) 3. (क) 4. (ख)

24.5 संदर्भ पुस्तकें

1. *अपने-अपने अजनबी*–अज्ञेय, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली।
2. *अज्ञेय: एक अध्ययन*–भोला भाई पटेल, वाणी प्रकाशन, दिल्ली।
3. *अज्ञेय: कवि-कर्म का संकट*–कृष्णदत्त पालीवाल, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली।

नोट

इकाई 25: आषाढ़ का एक दिन: कथासार एवं प्रमुख गद्यांशों की सप्रसंग व्याख्या

अनुक्रमणिका

उद्देश्य

प्रस्तावना

25.1 कथासार

25.2 प्रमुख गद्यांशों की सप्रसंग व्याख्या

25.3 शब्दकोश

25.4 अभ्यास-प्रश्न

25.5 संदर्भ पुस्तकें

उद्देश्य

विद्यार्थी इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् सक्षम होंगे–

- 'आषाढ़ का एक दिन' की कथावस्तु को समझने एवं उसकी व्याख्या करने में।

प्रस्तावना

मोहन राकेश ने इस नाटक की वस्तु-योजना कालिदास के व्यक्तित्व एवं कृतित्व की पृष्ठभूमि पर की है। ऐसा माना जाता है कि मोहन राकेश ने 'आषाढ़ का एक दिन' के माध्यम से वास्तव में कलाकार के युग-युगों के व्यक्तित्व को उभारना उसके सर्जन-प्रक्रिया की राह में आने वाले विभिन्न प्रश्नों को रेखांकित करना इसका मुख्य उद्देश्य एवं कथ्य रहा है, पर वस्तु का चयन नाटककार ने कहाँ से किन-किन इतिहास ग्रंथों से किया है, जयशंकर प्रसाद की तरह इसका कोई ब्यौरा प्रस्तुत नहीं किया गया। इस संबंध में नाटककार सर्वथा मौन रहा है। यहाँ नाटक की कथावस्तु एवं उसके कुछ महत्त्वपूर्ण अंशों की व्याख्या प्रस्तुत है।

25.1 कथासार

मातृ-पितृहीन बालक कालिदास का लालन-पालन उसके पशु-पालक मामा के उपेक्षा और प्रताड़नापूर्ण व्यवहार की छाया में प्राकृतिक सौन्दर्य से पूर्ण पहाड़ी गाँव में हुआ। पालक मामा मातुल के उपेक्षापूर्ण व्यवहार प्राप्त होने के कारण गाँव का अन्य कोई भी व्यक्ति सिवाए एक मल्लिका के-उसे स्नेह एवं सम्मान की दृष्टियों से नहीं देखता। किसी का भी ध्यान उसकी काव्य-प्रतिभा की ओर उसकी भावुकता और सहृदयता की ओर नहीं जाता। सभी उसे एक अभागा, आवारा और मनचला युवक मानते हैं। पर उसकी बाल्य सखी मल्लिका का स्नेह और प्यार उसके युवा हो जाने पर भी बना रहता है। वह कालिदास की काव्य-प्रतिभा, भावुकता और सहृदयता को भी न केवल पहचानती है, बल्कि उसका उचित सम्मान भी करती है। मल्लिका की माता अम्बिका को न तो कालिदास का अपने घर में आना ही अच्छा लगता है और न बेटी मल्लिका का उसके साथ गाँव-प्रान्तर में घूमता-फिरना ही भाता है। फिर भी सभी प्रकार के अपवादों को निरपेक्ष दृष्टि से निहार मल्लिका कालिदास में भावना के स्तर पर अनुरक्त रहती है। उसके साथ स्वतंत्रतापूर्वक प्रवृत्ति के निभृत एवं स्वच्छन्द वातावरण में घूमती-फिरती, उछलती-कूदती और उसी में अनवरत विभोर रहा करती है।

नोट

क्या आप जानते हैं नाटककार राकेश ने कालिदास की समस्त सौन्दर्य और काव्य साधना की प्रेरणा का मूलस्रोत मल्लिका को माना है।

उसी गांव का एक अन्य युवक है-विलोम। वह काव्य और मल्लिका के प्रेम-सम्बन्धों को लेकर पग-पग कालिदास से प्रतिद्वन्द्विता करता है। वह हरपल मल्लिका को आकर्षित करने के लिए कटिबद्ध रहता है, पर कालिदास और मल्लिका दोनों ही उससे घृणा करते हैं। विलोम मल्लिका की माता अम्बिका के सम्मुख तो कालिदास और मल्लिका के प्रेम सम्बन्धों को लेकर उल्टी-सीधी हाँका ही करता है, सारे ग्राम-प्रान्तर में भी उनके विरुद्ध अनेक प्रकार का अनर्गल प्रचार करता रहता है। उधर कालिदास के पालक पशु-पालक मामा मातुल भी अपने भान्जे के प्रति वितृष्णा व्यक्त करने, उसे लेकर व्याकुलता और बेजारी प्रगट करते रहने से पीछे नहीं रहता। वह कालिदास को, उसकी काव्य-प्रतिभा और सहजात स्वच्छन्दता को व्यर्थ बल्कि अपने पर ही एक प्रकार का बोझ मानता है। कालिदास का साथ देने से व्यर्थ की चर्चाओं और बदनामियों का केन्द्र बन जाने के कारण मल्लिका की माँ द्वारा की गई उसकी सगाई टूट जाती है। परिणामस्वरूप दु:खी अम्बिका एक बार फिर से मल्लिका को कालिदास के साथ घूमने-फिरने से रोकती है। वह गाँव प्रान्तर के लोगों द्वारा की जाने वाली बदनामी भरी चर्चाओं की बात भी उठाती है। इस पर मल्लिका साफ कहती है-''क्या अधिकार है उन्हें कुछ भी कहने का? मल्लिका का जीवन उसकी अपनी सम्पत्ति है। वह उसे नष्ट करना चाहती है तो किसी को उस पर आलोचना करने का क्या अधिकार है?''

इस पर माँ अम्बिका जब कहती है कि ... इतना बड़ा अपवाद मुझ से नहीं सहा जाता है, तो भावमयी मल्लिका जो कि कालिदास के लिए समग्र भाव से समर्पित है, बड़ा ही भाव भीना उत्तर देती है - ''मैं जानती हूँ माँ, अपवाद होता है। तुम्हारे दु:ख की बात भी जानती हूँ। फिर भी मुझे अपवाद का अनुभव नहीं होता। मैंने भावना में भावना का वरण किया है। मेरे लिए वह सम्बन्ध और सब सम्बन्धों से बड़ा है। मैं वास्तव में अपनी भावना से प्रेम करती हूँ जो पवित्र है, कोमल है, अनश्वर है....।'' और इस प्रकार मल्लिका भावना के स्तर पर कालिदासमय होकर ही रह जाती है। वस्तु-योजना इस प्रकार के वादों-प्रतिवादों के बीच अनवरत गतिशील रहती है।

अपने उन्हीं उपेक्षाओं, बदनामियों से, अनवरत प्रताड़नाओं से भरे दिनों को जिस किसी भी प्रकार से जीते हुए कालिदास अपने प्रथम काव्य 'ऋतुसंहार' की रचना करता है। गाँव-प्रान्तर में स्यात् मल्लिका के अतिरिक्त इस अद्‌भुत काव्य-रचना के बारे में कोई नहीं जानता। खैर किसी प्रकार कालिदास के इस काव्य की चर्चा उज्जयिनी के राज-दरबार तक पहुँच जाती है। वहाँ के दरबारी कवि और विद्वान राजा के सामने उसका पाठ और प्रशंसा करते हैं। सभी ''ऋतुसंहार' काव्य की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते हैं। राज्य 'ऋतु संहार' जैसे काव्य के सफल प्रणेता का सम्मान करने का निश्चय करता है। परिणामस्वरूप आचार्य वरु-रुचि के नेतृत्व में राज्य-कर्मचारियों का एक दल कालिदास के गाँव पहुँचता है। दन्तुल नामक एक कर्मचारी की एक हिरण को घायल करने के मामले को लेकर अनजाने में कालिदास से झड़प भी हो जाती है। पता चलने पर वह प्रायश्चित भाव से भर उठता है। उधर जब कालिदास को पता चलता है कि राज-कर्मचारियों का दल उसी को उज्जयिनी ले जाने के लिए आया हुआ है, तो वह वहाँ जाने में अपनी स्वच्छन्दता का हनन मानकर इन्कार कर देता है। अपने मामा मातुल के जोर देने पर वह महाकाल के मन्दिर में जा छिपता है और कहता है कि जब तक राज-कर्मचारी वापस लौट नहीं जायेंगे, वह मन्दिर से बाहर नहीं निकलेगा। लोग इसको भी कालिदास का एक नाटक ही मानते हैं। पर गाँव का निक्षेप नामक युवक, जो कि कालिदास की प्रतिभा और स्वभाव का सच्चे मन से कायल होता है, वह आकर अम्बिका से कहता है कि -''कालिदास नाटक नहीं कर रहे, अम्बिका ! मुझे विश्वास है कि उन्हें राजकीय सम्मान का मोह नहीं है। वे सचमुच इस पवित्र भूमि को छोड़कर नहीं जाना चाहते।'' पर निक्षेप भी चाहता है कि कालिदास जिस सम्मान का अधिकारी है, उसे पाने के लिए उसे उज्जयिनी जाना ही चाहिए। अत: वह मल्लिका से आग्रह करता है वह उसे उज्जयिनी जाने के लिए विवश करे। वह कहता है:

नोट

नोट्स

कालिदास का जन्मजात रूप से प्रकृति के साथ निकट का सम्बन्ध था। वह उसकी रग-रग में रमी हुई थी और उसकी समग्र चेतना की परिचायक उसके काव्यमय जीवन की आधार तत्व थी। उससे उलझ कर कालिदास कालिदास नहीं रह सकता था।

''अवसर किसी की प्रतीक्षा नहीं करता । कालिदास यहां से नहीं जाते हैं, तो राज्य की कोई हानि नहीं होगी। राजकवि का आसन रिक्त नहीं रहेगा। परन्तु कालिदास जो आज हैं, जीवनभर वही रहेंगे-एक स्थानीय कवि। जो लोग आज 'ऋतु संहार' की प्रशंसा कर रहे हैं, वे भी कुछ दिनों में उन्हें भूल जाएँगे।'' निक्षेप की बात मल्लिका को जंच जाती है। मां के विरोध करने पर भी वह महाकाल के मंदिर में जाकर कालिदास को वहाँ से बाहर निकाल लाती है। उसे उज्जयिनी जाने की विवश करती है। बीच में आकर विलोम अपने स्वभाव के अनुसार कालिदास की तीखी आलोचना करता है। अम्बिका को उकसाता है कि वह जाने से पहले मल्लिका से विवाह कर ले, क्योंकि अब कालिदास के जीवन में कोई अभाव नहीं रह गया। अम्बिका इस बात की चर्चा मल्लिका से करती है, पर वह भावनामयी समर्पिता अपने स्वार्थ के लिए कालिदास के पथ में किसी भी प्रकार की बाधा उपस्थित करने से इन्कार कर देती है। कालिदास के विदा माँगने पर कहती है-''नहीं ! विदा तुम्हें नहीं दूँगी। जा रहे हो, इसलिए केवल प्रार्थना करूँगी कि तुम्हारा पथ प्रशस्त हो।'' और कालिदास चला जाता है। इस मोड़ पर पहुँचकर कथानक के एक - आरम्भिक भाग का अन्त हो जाता है। कालिदास किन परिस्थितियों में पल-पुसकर, अपने काव्य 'ऋतु संहार' के माध्यम से उज्जयिनी के राजदरबार तक पहुँच सका, यह स्पष्ट हो जाता है।

'आषाढ़ का एक दिन' नाटक की वस्तु-योजना का दूसरे अंक का भाग कुछ 'वर्षों के अनन्तर' आरम्भ होता है। घटनास्थल अब भी वही-पहले अंक या भाग वाला-वही अम्बिका के घर का प्रकोष्ठ ही रहता है। कालिदास को उज्जयिनी गए काफी वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। उसकी तरफ से भेजा गया कोई भी समाचार मल्लिका या गाँव वालों के पास नहीं पहुँचता। एक प्रकार से एक अनवरत निराशा की भावना अम्बिका और मल्लिका दोनों के मनों में सिजती जाती है। कुमारी ही रहकर मल्लिका उसकी अनवरत प्रतीक्षा करती रहती है। अपनी युवती बेटी की चिन्ता में घुल-घुलकर अम्बिका रोगशैय्या से चिपक जाती है। बीच-बीच में निक्षेप आकर कालिदास के सम्बन्ध में प्राप्त समाचार मल्लिका को सुना जाया करता है! वह मल्लिका को बताता है कि राजधानी में रहकर कालिदास ने अनेक नये-नये काव्यों का सृजन किया है। उनमें 'मेघ-दूत', कुमारसंम्भव' 'रघुवंशम' और शाकुन्तलम्' आदि को विशेष प्रसिद्धि एवं लोकप्रियता प्राप्त हुई है। वह कालिदास की प्रसिद्धि से तो प्रसन्न है, पर उसके जागतिक व्यवहारों से नहीं। निक्षेप मल्लिका को यह भी सूचना देता है कि कालिदास ने राजपुत्री प्रियंगु मंजरी से विवाह कर लिया है । वह बताता है कि राजधानी में इस बात की चर्चा भी है कि कालिदास का सम्बन्ध अनेक संभ्रान्त वनिताओं के साथ भी है। यहां नाटककार ने मनोवैज्ञानिक दृष्टियों से बलात् अवरुद्ध वासनाओं का विस्फोट ही दिखाया है। कालिदास जी पूर्वकाल के प्रति विस्मृति मनोवैज्ञानिक दृष्टि उनके कुण्ठित अहं का परिणाम ही कही जा सकती है । निक्षेप कालिदास के वहाँ विवाह कर लेने पर दु:ख और ग्लानि का भाव व्यक्त करते हुए कहता है- ..... यहाँ रहते हुए उनका जो आग्रह था कि जीवनभर विवाह नहीं करेंगे ? उस आग्रह का क्या हुआ? उन्होंने यह नहीं सोचा कि उनके इसी आग्रह की रक्षा के लिए तुमने .....?'' और फिर वह मल्लिका के प्रति स्वयं को अपराधी मानते हुए कहता है- ''यह तो दु:ख है कि मेरे कहने से तुम ऐसा न करतीं, तो आज तुम्हारे जीवन का रूप यह न होता।'' पर मल्लिका का प्रेम भावनात्मक अधिक है, अत: वह किसी भी बात का बुरा न मान कर कहती है-''व्यक्ति उन्नति करता है तो उसके नाम के साथ कई तरह के अपवाद जुड़ने लगते हैं।'' तात्पर्य यह है कि वह अपनी व्यथा पीकर सब सह लेती है।

मल्लिका के अन्तराल में एक ही टीस है कि कालिदास ने कभी उसका स्मरण ही नहीं किया, उसे एकदम भुला दिया है। तभी उस ग्राम-प्रान्तर में एक बार फिर राज-कर्मचारियों के आने की हलचल का पता चलता है। मातृगुप्त

नोट

के नाम से कश्मीर का शासक बनकर कालिदास अपने गाँव-प्रान्तर से गुजर कर कश्मीर जा रहा होता है । राज-कर्मचारियों को इधर-उधर भाग-दोड़ करते निहार कर कालिदास के घोड़ों की टापों की आवाज सुनकर निक्षेप मल्लिका को बताता है कि–

विलोम– ''मैंने अभी-अभी एक और आकृति को घोड़े पर जाते देखा है।

मल्लिका– परिचित आकृति।

विलोम– मुझे विश्वास है, वे स्वयं कालिदास हैं।''

और निक्षेप उन्हें देखने के लिए चला जाता है । वे आए हैं और पर्वत-शिखर की ओर गये हैं?'' यह कहते हुए मल्लिका का मन प्रतीक्षा से भर उठता है कि जब कालिदास यहाँ आए हैं तो निश्चय ही उससे मिलने के लिए भी आएंगे । पर आती हैं पहले रंगिणी-संगिणी नामक दो राज-कर्मचारी महिलाएँ, कालिदास के विगत जीवन पर शोध करना चाहती हैं और उनके बाद आते हैं अनुस्वार और अनुनासिक नामक दो राज-कर्मचारी, मल्लिका के घर की व्यवस्था देखने के लिए क्योंकि राज महिषी, कालिदास की रानी-पत्नी प्रियंगुमंजरी का वहाँ आना होता है। नाटककार ने वस्तु-योजना के इस स्थल पर पहुँच कर आज के शोधकर्त्ताओं और परम्परागत राज-कर्मचारियों के क्रिया-कलापों का बड़ा ही व्यंग्यमय, हास्य-विनोदपूर्ण संयत चित्रण किया है । अनुस्वार और अनुनासिक मल्लिका को यह सूचना देने के बाद कि मातृगुप्त के नाम से कश्मीर के शासक बने कालिदास की रानी प्रियंगु मंजरी देवी मल्लिका से मिलने आ रही हैं। अग्रिम सरकारी दलों के समान घर का जो जायजा लेते और सजावट की व्यवस्था करते हैं, वह काफी उपहास्यास्पद बन पड़ा है । तीखे व्यग्य का भाव यहाँ स्वत: स्पष्ट है ।

कथानक अग्रसर होता है। मल्लिका को कालिदास के आने की आशा है, पर उसके टूटे-फूटे घर में प्रवेश करती है, मातुल के साथ रानी प्रियंगु मंजरी । वह विस्मय-विमुग्ध मल्लिका के बैठने का आग्रह करने पर कहती है-''नहीं, बैठना नहीं चाहती । तुम्हें और तुम्हारे घर को देखना चाहती हूँ। उन्होंने बहुत बार इस घर की और तुम्हारी चर्चा की है। जिन दिनों 'मेघदूत' लिख रहे थे, उन दिनों प्राय: यहाँ का स्मरण किया करते थे। आज इस भूमि का आकर्षण ही हमें यहाँ ले आया है। अन्यथा दूसरे मार्ग से जाने में हमें अधिक सुविधा थी।'' वह यह भी बताती है कि कालिदास इधर नहीं आना चाहते थे, वह विशेष आग्रह से ही उन्हें साथ लाई है । वह यहाँ की कुछ वस्तुएँ भी कश्मीर अपने साथ ले जाने की बात कहती है, ताकि कालिदास के आस-पास यहाँ का वातावरण प्रस्तुत किसा जा सके और उस वातावरण के साधनों में स्यात मल्लिका भी एक साधन है, जिसे रानी प्रियंगु मंजरी अपने साथ ले जाना चाहती है। पर स्वाभिमानिनी और भावना के स्तर पर समर्पित मल्लिका साथ जाने से साफ इन्कार कर देती है। उसके बाद राज्य द्वारा उसके घर की मरम्मत करवा देने के प्रियंगु मंजरी के प्रस्ताव को भी मल्लिका-अपनी माँ अम्बिका के चाहने पर भी ठुकरा देती है। इस प्रसंग में नाटककार ने 'कलाकार और राजनीति' जैसे विषय की भी एक प्रश्न के रूप में चर्चा की है । स्पष्ट हो जाता कि एक मुक्त और स्वच्छन्द विचरने वाला साहित्यकार पहले राज्याश्रय लेता है, पर अब वह राजनीति के व्यावहारिक पक्षों का भी एक अंग बन जाता है।

बातचीत में मल्लिका कालिदास की समस्त परवर्ती काव्यों से अपने परिचय की बात कह कर, जिन्हें वह व्यवसायियों से मँगवा कर पढ़ती रही है-प्रियंगु मंजरी को चकित कर देती है, प्रियंगु मंजरी मल्लिका के लिए कुछ भी करना चाहती है, मल्लिका की माँ भी चाहती है कि उस अनाथों की-सी स्थितियों से छुटकारे के लिए कुछ हो, पर मल्लिका? वह साफ इन्कार कर देती है । अन्त में जैसे ही प्रियंगु मंजरी जाती है, तभी विलोम आ टपकता है । वह अपने ही ढंग से बात-चीत करके मल्लिका और अम्बिका दोनों के मनों को आहत करने का प्रयत्न करता है। क्योंकि मल्लिका को आशा है कि पर्वतों की ओर गया कालिदास लौटकर शायद उससे मिलने आये, अत: वह चाहती है कि विलोम तत्काल वहाँ से चला जाए, पर वह उनके घावों पर नमक छिड़कता ही रहता है। कालिदास के घोड़े की टापों का शब्द मल्लिका के घर के कमश: निकट से निकटतम आकर फिर आगे बढ़ जाता है। वह मल्लिका के घर के पास से गुजर कर भी नहीं मिलता। अत: विलोम और अम्बिका दोनों ही अपनी बातों से इस यथार्थ बोध का आश्रय लेकर मल्लिका को आहत और सावधान करने का प्रयास करते हैं। विलोम के चले जाने के बाद मल्लिका के धैर्य का बाँध टूट जाता है और वह सुबकने लगती है।

नोट

'कुछ और वर्षों के बाद'-नाटककार की इस विज्ञप्ति के साथ वस्तु-योजना का तीसरा और अन्तिम भाग आरम्भ होता है। वही पहले जैसा मल्लिका का घर! पर अब उस प्रकोष्ठ की स्थिति पहले से कहीं अधिक जीर्ण-शीर्ण हो चुकी होती है। घर में एक और भी महत्त्वपूर्ण अन्तर आ चुका है। वह यह कि अब गृहस्वामिनी अम्बिका नहीं है। उसका स्थान स्वयं मल्लिका और मल्लिका का स्थान उसकी अपनी नन्हीं बच्ची ले लेती है कि जिसका पिता कालिदास का प्रतिद्वन्द्वी विलोम है। इस प्रकार इस परिवर्तित आयाम में अगली वस्तु-योजना का आरम्भ काश्मीर से लौटे मातुल के प्रवेश के साथ होता है। मल्लिका को मातुल के मुख से काश्मीर के समाचार ज्ञात होते हैं। वह बताता है कि यहाँ पहुँच कालिदास शासक बनकर कश्मीर की राजनीति का संचालन करने लगा। पर कुछ ही दिन बाद वहाँ की प्रजा विद्रोह कर देती है। काव्य की दुनिया में रहने वाला कालिदास उस विद्रोह का और उससे सम्बन्धित राजनीतिक उठा-पटक का सामना नहीं कर पाता, अत: सब छोड़-छाड़ न जाने कहाँ भाग गया है। मातुल बताता है कि ऐसा सुनने में आया कि काशी पहुँचकर कालिदास ने संन्यास ग्रहण कर लिया है। पर वह निश्चित रूप से कुछ भी नहीं बता पाता, वह राजनीतिक जीवन और वातावरण की अनेक प्रकार से भर्त्सना करने के बाद एक प्रकार की अनिश्चित की स्थिति में ही कहता है:

''मैंने सुना है। विश्वास नहीं होता, परन्तु होता भी है। राजनीति में कुछ भी असम्भव नहीं है। जितना संभव है कि ऐसा न हो, उतना ही संभव है कि ऐसा हो। और यह भी सम्भव है कि जो हो, वह न हो....'' वह यह भी कहता है कि- ''वहाँ के लोगों का तो कहना है कि उसने संयास ले लिया है और काशी चला गया है। परन्तु मुझे विश्वास नहीं होता... परन्तु असम्भव भी नहीं है। एक राजनीतिक जीवन, दूसरे कालिदास। मैं आज तक दोनों में से किसी की भी धुर नहीं पहचान पाया....।'' पर मल्लिका इस बात पर विश्वास के स्वरों में कह उठती है कि -''नहीं, यह सत्य नहीं हो सकता। मेरा हृदय इसे स्वीकार नहीं करता।'' उसका हृदय कसमसा उठता है। मातुल के बैसाखी पटकते हुए वहाँ से चले जाने के बाद वहाँ जैसे एकाएक नजर पड़ती है।-'' नहीं, तुम काशी नहीं गए। तुमने सन्यास नहीं लिया मैंने इसलिए तुमसे यहाँ से जाने के लिए नहीं कहा था... और आज तुम मेरे जीवन को इस तरह निरर्थक कर दोगे?'' इस प्रकार मल्लिका जीवन में पहली बार एक प्रकार की पराजय की भावना से अभिभूत हो उठती है। वह अपने कालिदास को जहाँ जिन उच्च स्थितियों पर सामाजिक और व्यावहारिक जीवन भी देखना चाहती थी, वह वहाँ कभी भी तो उसे दिखाई नहीं देता। उसे लगने लगता है कि जैसे उसके सारे सपने, सारी कल्पनाएँ आषाढ़ की पहली ही बौछार ने धाराशायी कर दिये हैं। बाहर वर्षा का जोर एक बार फिर बढ़ जाता है, मल्लिका का मानसिक उद्वेग भी। वह मन-ही-मन अपने अब तक के जीवन का पुनरावलोकन कर ही रही होती है कि वस्तु-योजना में अन्तिम मोड़ आ पहुँचता है। सहसा जोर से बादल गरजते और बिजलियाँ चमक उठती हैं'' मल्लिका के जीर्ण-शीर्ण घर का द्वार एक बार और-शायद अन्तिम बार भड़भड़ाकर खुलता है और अस्त-व्यस्त वेश दशा में आषाढ़ी वर्षा में भीगता हुआ कालिदास वहाँ सहसा प्रवेश करता है। मल्लिका उसे जड़-सी देखती ही रह जाती है।

वस्तु-योजना विकास के उस मोड़ पर पहुँच कर अपने उपसंहार की ओर अब और भी अधिक वेग से बढ़ने लगती है। कालिदास और मल्लिका दोनों ही परस्पर अ-पहचानी दृष्टियों से देखते हैं। तब पहचान को दुहराने और ताजा करने के लिए कालिदास ही कहता है-''सम्भवत: पहचानती नहीं, हो...। स्वाभाविक है, क्योंकि मैं वह व्यक्ति हूँ जिसे स्वयं नहीं पहचानता.... देख रहा हूँ कि तुम भी वह नहीं हो। सब कुछ बदल गया है...।'' वह यह भी कहता है कि जीवन के यथार्थ को देखने के लिए ही वह एक बार फिर यहाँ आया है। थका और ज्वर-ग्रस्त जोने पर भी आषाढ़ की इस वर्षा में भीगकर वह अपने-आपको स्वस्थ अनुभव कर रहा है। वह मल्लिका के घर-परिवेश में आने वाले परिवर्तन, उसकी जीर्ण-शीर्णता की चर्चा भी करता है। वह बताता है कि राजधानी और कश्मीर में रहते हुए भी वह वहाँ के वातावरण में कभी अपने-आपको खपा नहीं सका। यहाँ की स्मृतियाँ उसके मन-मस्तिष्क को हमेशा कुदेरती रही। और अब वह कहता है-''.... सत्ता और प्रभुता का मोह छूट गया है। आज मैं उस सबसे मुक्त हूँ जो वर्षों से मुझे कसता रहा है।... मैंने संन्यास नहीं लिया। मैं केवल मातृगुह के कलेवर से मुक्त हुआ हूँ जिससे पुन: कालिदास के कलेवर में जी सकूं। एक आकर्षण सदा उस सूत्र की ओर खींचता था जिसे तोड़कर

नोट

में यहाँ से गया था। यहाँ की एक-एक वस्तु में जो आत्मीयता थी, वह यहाँ से जाकर मुझे कहीं नहीं मिली।'' और अपनी पराजय, अपने अहं की पराजय भी वह स्वीकार कर लेता है। यह भी कहता है कि वहाँ रह कर उसने जो कुछ भी लिखा, वह सब वास्तव में इसी गाँव, मल्लिका और वातावरण की ही देन है। वह वहाँ जाकर वहाँ के वातावरण को ग्रहण कर भी कुछ नया नहीं रच सका है। अचानक इतना मान-सम्मान प्राप्त हो जाने के कारण वही दलित काम और अहंभाव से पीड़ित हो उठा था। वह अहंकारी बन गया था, पर अब उसका वह सारा नशा टूट चुका है। अत: वह अपने जीवन को एक नए अर्थ से प्रारम्भ कर सकने के लिए ही यहाँ लौटा है।

मल्लिका उसे बताती है कि राजधानी में रहकर जितने भी काव्य उसने रचे थे, व्यवसायियों से मँगवाकर उसने सारे-के-सारे पढ़ डाले हैं। उसने कालिदास की अनवरत प्रगति और स्मृति में कोरे भोजपत्र भी इकट्ठे करके रखे थे। ताकि उन पर वह अपने जीवन का श्रेष्ठतम काव्य रच सके। वह कहती है-''ये पन्ने मैंने अपने-हाथों से बना कर सिये थे। सोचा था, तुम राजधानी से आओगे, तो मैं तुम्हें भेंट दूँगी। कहूँगी कि इन पृष्ठों पर अपने सबसे बड़े महाकाव्य को रचना करना। परन्तु उस बार तुम आकर भी नहीं आये और यह भेंट यहीं पड़ी रही। अब तो ये पन्ने टूटने भी लगे हैं, और मुझे कहते संकोच होता है कि ये तुम्हारी रचना के लिए हैं।'' इस प्रकार मल्लिका अपने समूचे व्यक्तित्व के टूटने-अपने कौमार्य के टूटने और माँ तक बन जाने की बात कालिदास को प्रतीक-परोक्ष-रूप से बता देती है, फिर भी उन भोजपत्रों पर पड़ी मल्लिका के आँसुओं की बूंदे कालिदास को विकल कर देती हैं। उसे जीवन का एक नया भावात्मक काव्य रचने की प्रेरणा भी प्रदान करती हैं। पर उस भावातिरेक के वातावरण पर जीवन का भोगा गया यथार्थ सहसा बिजली की तरह कौंध जाता है। कालिदास और मल्लिका के लिए सर्वाधिक घृणा के पात्र प्रतिद्वन्द्वी विलोम के संसर्ग से जन्मी नन्हीं बच्ची सहसा सोते से जाग कर रो उठती है। उधर कालिदास कह रहा होता है कि -''परन्तु इससे आगे भी तो जीवन शेष है। हम फिर आज से आरम्भ कर सकते हैं।'' कि बच्ची का रुदन सुनाई देता है और कालिदास के पूछने पर मल्लिका कहती है-''पर मेरा वर्तमान है।'' ठीक इसी समय दरवाजे को सहसा धक्के-से खोल कर शराब के नशे में लड़खड़ाता विलोम भी वहाँ प्रवेश करता है और उपसंहार की ओर अग्रसर वस्तु-योजना तनाव से पूर्ण होकर अपने अन्त की ओर और भरी द्रुत गति से भागने लगती है।

विलोम और कालिदास स्तंभित भाव से एक-दूसरे को देखते हैं। पर इस बार विलोम उससे हतप्रभ नहीं होता। वह गृहस्वामी होने के दावे के साथ कालिदास का आतिथ्य करने की बात कहता है। इस पर भी जब कालिदास विगत के स्वरों में उसे डाँटकर वहाँ से चले जाने की बात कहता है तो विलोम तन जाता है। बड़े ही स्पष्ट शब्दों में वह कहता है-''क्योंकि तुम यहाँ लौट आई हो?... क्योंकि वर्षों से छोड़ी हुई भूमि पर आज फिर तुम्हें अपनी प्रतीत होने लगी है?... क्योंकि तुम्हारा अधिकार शाश्वत है?.... जैसे तुमसे बाहर जीवन की गति ही नहीं है। परन्तु समय निर्दय नहीं है। उसने औरों को भी सत्ता दी है। अधिकार दिये हैं। वह धूम-दीप-नैवेद्य लिए घर की देहली पर रुका नहीं रहता है। उसने औरों को भी अवसर दिया है। निर्माण किया है।...तुम्हें उसी निर्माण से वितृष्णा होती है? क्योंकि तुम जहाँ अपने को देखना चाहते हो, नहीं देख पा रहे हो? और कालिदास सचमुच अपने को नहीं देख पाता! अतिथि के सम्मान की रक्षा के लिए विलोम वहां से चला जाता है, पर समय की गति से पछाड़ा जाकर कालिदास भी वहाँ टिक या रुक नहीं पाता। वह कहता है यूँ तो सब-कुछ पहले जैसा ही है- ''परन्तु यह कोरे पृष्ठों का महाकाव्य तब नहीं लिखा गया था।... मैंने कहा था कि मैं अथ से आरम्भ करना चाहता हूँ। यह सम्भवत: इच्छा का समय के साथ द्वन्द्व था। परन्तु देख रहा हूँ कि समय अधिक शक्तिशाली है, क्योंकि ... वह प्रतीक्षा नहीं करता।'' और फिर से आषाढ़ के पहले दिन के बादल गरज उठते हैं, बिजली चमकती है। एक बार चारों ओर देखकर कवि कालिदास बरसते आषाढ़ की तीखी बौछारों में हमेशा के लिए जाने किस ओर निकल जाता है। बेचारी मल्लिका की पुकारें उन बौछारों में कहीं खोकर रह जाती हैं। और तब? एक बार पुन: अपनी नन्हीं बच्ची का रुदन सुनकर मल्लिका भावना के स्तर से यथार्थ के स्तर पर उतर कर अपनी बच्ची के पास जा, उसे चूमने लगती है, जीवन के सत्य, भोगे जा रहे यथार्थ के इस मोड़ पर पहुँच कर 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक की वस्तु-योजना आषाढ़ के पहले दिन से ही वर्षा की बौछारों में भीग-भीग कर, उसी बौछार में ही अवसित होकर रह जाती है।

नोट

25.2 प्रमुख गद्यांशों की सप्रसंग व्याख्या

नील-कमल की तरह कोमल और आर्द्र, वायु की तरह हल्का और स्वप्न की तरह चित्रमय! मैं चाहती थी उसे अपने अंक में भर लूँ और आँखें मूँद लूँ।

प्रसंग– ये वाक्य 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक के पहले अंक में मल्लिका द्वारा अपनी माँ अम्बिका से कहे गये हैं। मल्लिका आषाढ़ के पहले दिन में होने वाली वर्षा में कवि कालिदास के साथ भीग कर के घर में आती है। उसका मन बहुत प्रसन्न होता है। अत: वह आषाढ़ के पहले बादलों की शोभा और अपने प्रसन्नता भरे अनुभव का माँ के सामने वर्णन करते हुए कह रही है:

व्याख्या– चारों ओर बादल इस प्रकार से घिर गये थे, जैसे धुआँ उठ कर सारे वातावरण पर छाकर उसे धुँधला बना देता है। यह दृश्य बड़ा ही सुंदर, सुहावना और कोमल भावों को जगाने वाला था। सारा वातावरण और दृश्य नीले रंग के खिले हुए कमल के समान कोमल तथा रसीला मालूम होता था। अर्थात् जैसे खिला हुआ नील कमल सुंदर लगता है, उसी प्रकार बादलों से भरा वातावरण भी सुंदर था। जिस प्रकार वायु में हल्कापन और ठण्डक होती है, उसी प्रकार प्रकृति का सारा दृश्य और वातावरण हल्का तथा ठण्डा हो गया था! जिस प्रकार मनुष्य सपने में अनेक प्रकार के सुंदर, सजीव तथा रंग भरे दृश्य देखकर मोहित हो जाता है, उसी प्रकार वह वातावरण भी बड़ा ही रंगीन और सुंदर चित्रों के समान मोहने वाला था। अत: लगता था कि जैसे मैं किसी रंगीन सपने में खो गई हूँ। बस, जी यही चाहता था कि सारे सुंदर वातावरण को, दृश्य को अपने जीवन में भर लूँ, आँखें मूँद लूँ, ताकि उस स्नेह भरे सुंदर वातावरण के सिवाए और कुछ भी कभी देखने को न रह जाय।

भाव यह है कि पहली वर्षा के बादलों का दृश्य बड़ा ही सुंदर, रसीला और मोहक था।

माँ, आज के वे क्षण मैं कभी नहीं भूल सकती। सौंदर्य का ऐसा साक्षात्कार मैंने कभी नहीं किया। जैसे वह सौंदर्य का स्पृश्य होते हुए भी माँसल हो। मैं उसे छू सकती थी, देख सकती थी, पी सकती थी। तभी मुझे अनुभव हुआ कि वह क्या है जो भावना को कविता का रूप देता है। मैं जीवन में पहली बार समझ पायी कि क्यों कोई पर्वत-शिखरों की सहलाती मेघ-मालाओं में खो जाता है, क्यों किसी को अपने तन-मन की अपेक्षा आकाश में बनते-मिटते चित्रों का इतना मोह हो रहता है।

प्रसंग:– पूर्ववत्।

व्याख्या– आषाढ़ के पहले बादलों में भीगने का अनुभव और दृश्य इतना सुंदर तथा मोहने वाला था, कि उसे जीवन में कभी भी भुलाया नहीं जा सकता। लगता था, जैसे प्रकृति की सारी सुंदरता साकार हो उठी थी। मैंने ऐसा सुंदर दृश्य इतनी नजदीकी से कभी नहीं देखा। यूँ तो सुंदरता को विशेष करके प्रकृति की सुंदरता को छुआ नहीं जा सकता, पर आाज ऐसा लगता था कि जेसे वह सुंदरता हाड़-माँस का रूप धारण करके सामने खड़ी हो गई हो और मैं हाथों से छू कर उसका सुख देने वाला साक्षात् अनुभव कर रही हूँ। लगता था कि मैं केवल उसे देख और छू ही नहीं रही थी, बल्कि प्रकृति की वह सुंदरता मेरी आँखों और मन के सहारे मेरे तन-मन में समाई जा रही थी! तब मैंने पहली बार अनुभव किया कि ऐसे सुंदर दृश्य ही मनुष्य के भावों को कविता में बदल देते हैं– अर्थात् ऐसे सुंदर दृश्यों से प्रेरणा लेकर ही कोई मनुष्य अपने अनुभवों को कविता में प्रगट करने लगता है। आज पहली बार मैंने यह अनुभव भी किया है कि इन दृश्यों में ऐसी शक्ति रहती है, उठने वाले बादलों का कुछ ऐसा प्रभाव है कि आदमी की आँखें पहाड़ों की ऊँची चोटियों पर उमड़ते या उठते बादलों को देखती ही रह जाती हैं। तब व्यक्ति को अपने तन-मन का होश नहीं रहता और ऐसे दृश्यों को देखकर उसका मन ऊँची तथा भावपूर्ण कल्पनाओं में खोकर रह जाता है।

भाव यह है कि प्रकृति में मनुष्य के मन को रमाने की अद्‌भुत शक्ति मौजूद रहती है।

विशेष– कालिदास ने अपना पहला काव्य 'ऋतु-संहार' ऐसे ही सुंदर प्राकृतिक दृश्यों को देखकर रचा है, यही स्पष्ट संकेत मल्लिका के इस कथन में झलकता है।

नोट

टास्क आषाढ़ का एक दिन नाटक में विलोम के व्यक्तित्व पर टिप्पणी कीजिए।

मैंने भावना में एक भावना वरण किया है। मेरे लिए वह संबंध और सब संबंधों से बड़ा है। मैं वास्तव में अपनी भावना से प्रेम करती हूँ जो पवित्र है, कोमल है, अनश्वर है ...।

प्रसंग– ये शब्द 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक के पहले अंक में मल्लिका अपनी माँ अंबिका से कहती है। मल्लिका आषाढ़ की पहली वर्षा में कालिदास के साथ भीगकर घर में आती है। उसकी माँ को यह सब अच्छा नहीं लगता। क्योंकि इस कारण गाँव में चारों ओर मल्लिका की निंदा होने लगी है। इसका प्रभाव उसके भविष्य पर भी पड़ सकता है। अत: अम्बिका कहती है कि उसे उसका कालिदास के साथ घूमना पसंद नहीं है क्योंकि लोगों में होने वाली निंदा वह नहीं सह सकती। तब मल्लिका अपने प्रेम की पवित्रता और उच्चता का भाव माँ को समझाते हुए कहती है:

व्याख्या– माँ, मैं तुम्हारे दु:ख को अच्छी तरह से समझती हूँ! मैं यह भी जानती हूँ कि मेरे कालिदास के साथ घूमने के कारण लोग हमारी निन्दा भी करते हैं। पर इतना होने पर भी मैं अपने मन में किसी प्रकार के अपराध का अनुभव नहीं करती। क्योंकि मैं अपने प्रेम या भाव को बुरा नहीं मानती। मेरे मन में सभी दृष्टियों से पवित्र और स्वार्थ-रहित भावनाएँ हैं। उधर कालिदास का जीवन कविता की भावनाओं से पूर्ण है। अंत में कालिदास के शरीर से नहीं, बल्कि अपनी पवित्र भावनाओं के साथ कालिदास की काव्यमयी पवित्र भावनाओं से प्रेम करती हूँ। क्योंकि कालिदास के साथ मेरा संबंध शरीर या स्थूल जगत का नहीं, बल्कि शुद्ध भावना का है, इस कारण मेरे यह संसार के सभी संबंधों से ऊँचा और महान् है। भावना के संबंध की संसार के संबंधों से तुलना नहीं की जा सकती। मेरी भावना पवित्र, कोमल और अमर है, इस कारण मेरा प्रेम भी इन्हीं गुणों वाला है। दुनिया वालों के बदनाम करने से मेरे प्रेम की अमरता कभी टूट नहीं सकती, कलेकित नहीं हो सकती।

भाव यह है कि प्रेम मनुष्य के मन की कोमल, पवित्र और अमर भावना होता है। प्रेम का यही सच्चा स्वरूप है। इस पर दुनिया की बदनामियों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता! बदनामियों से डर कर टूट जाने वाला प्रेम सच्चा और पवित्र नहीं होता।

"ठहरो, राजपुरुष! हरिणशावक के लिए हठ मत करो। तुम्हारे लिए प्रश्न अधिकार का है, उनके लिए संवेदना का। कालिदास नि:शस्त्र होते हुए भी तुम्हारे शस्त्र की चिंता नहीं करेंगे।"

प्रसंग– यह संवाद नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' में मल्लिका राजकर्मचारी दन्तुल से कहती है: दन्तुल एक हरिण शावक को बाण से घायल कर देता है। कालिदास उसे अपनी गोद में उठा कर मल्लिका के घर ला, उसका उपचार करता है। दन्तुल भी पीछे-पीछे आकर हरिण को माँगता है। कालिदास इंकार कर हरिण को लेकर उपेक्षा में चल देता है। तब दंतुल तलवार की मूठ पर हाथ रखकर, कालिदास से वह हरिण छीनने की बात कहता है। उसकी यह हरकत देखकर कालिदास के स्वभाव और दंतुल के अहंकार की तुलना करते हुए मल्लिका कहती है–

व्याख्या– हे राजपुरुष दंतुल! तुम जो कुछ भी करने जा रहे हो, जरा ठहर कर उस पर ठीक से विचार कर लो। अच्छा तो यही होगा कि तुम कालिदास से हरिण का बच्चा प्राप्त करने की जिद छोड़ दो। क्योंकि तुम राजकर्मचारी हो और शायद अपने अधिकार के अहंकार में ही शस्त्र के बल से हरिण कालिदास से छीनना चाहते हो, पर कालिदास एक भावुक और प्रकृति के प्राणियों के प्रति सहानुभूति, उनके दु:ख के प्रति दु:ख का भाव रखने वाला व्यक्ति है। अत: तुम्हारे राजकर्मचारी होने का अधिकार या शस्त्र के बल का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। अपनी भावना में बहकर कालिदास निहत्थे होने पर भी तुमसे भिड़ जायेगा। उसे शस्त्र से नहीं संवेदना से ही प्रभावित किया जा सकता है क्योंकि वह एक भावुक कवि है।

"किसी संबंध से बचने के लिए अभाव जितना बड़ा कारण होता है, अभाव की पूर्ति उससे बड़ा कारण बन जाती है।

नोट

प्रसंग– ये शब्द नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' में अंबिका द्वारा कहे गये हैं। मल्लिका अपनी माँ से कहती है कि उसका कालिदास के साथ भावना का संबंध है। अंबिका कहती है कि तब वह उससे विवाह क्यों नहीं करता। मल्लिका फिर कहती है कि अब तो कालिदास राजकवि बनने जा रहा है, अत: उसके जीवन में अभाव नहीं रहेगा। फिर वह क्यों मल्लिका से शादी नहीं करता? मल्लिका के कुछ कहने पर अंबिका कह रही है–

व्याख्या– कोई मनुष्य जब जान बूझकर किसी रिश्ते या संबंध से बचना चाहता है, तभी वह उसके नये कारण खोज लिया करता है। कभी वह अभावों का बहाना बना कर संबंधों की बात को टाल देता है, जैसे कि अब तक कालिदास मल्लिका के साथ विवाह कर लेने की बात को टालता आ रहा है। क्योंकि वह सब तरफ से उपेक्षित ही नहीं होता, उसके पास रोटी-रोजी का भी कोई साधन नहीं रहता। अत: अभाव का कारण स्पष्ट है। परंतु अंबिका के विचार में कई बार किसी संबंध से बचने का कारण अभावों का न रहना भी हो जाया करता है। क्योंकि सब प्रकार की नई सुख-सुविधाओं को पाकर मनुष्य पुराना सब कुछ और पुराने संबंधों को भी भुला दिया करता है। अत: स्पष्ट है कि कालिदास इस वैभवपूर्ण स्थिति में भी मल्लिका से विवाह नहीं करना चाहेगा। भाव यह है कि जब व्यक्ति को टालना ही हो, तो भाव-अभाव कोई भी बहाना बनाया जा सकता है।

विशेष– कालिदास के चरित्र और स्वभाव को देखकर ही यह बात कही गई है।

सम्मान प्राप्त होने पर सम्मान के प्रति प्रकट की गयी उदासीनता व्यक्ति के महत्त्व को बढ़ा देती है। तुम्हें प्रसन्न होना चाहिए कि तुम्हारा भागिनेय लोकनीति में भी निष्णात् है।

प्रसंग– कालिदास की रचना 'ऋतु संहार' को पढ़कर और उससे प्रभावित होकर उज्जयिनी के राज-दरबार के आचार्य वरुचि कालिदास को वहाँ ले जाने के लिये आते हैं। पर पता चलने पर कालिदास वहाँ जाने से इंकार कर देता है। कालिदास के इस रूप से चिढ़ कर मातुल अंबिका के पास आकर चिंता प्रकट करता है कि इस प्रकार कालिदास उनके वंश को मिलने वाले सम्मान को ठुकराकर अच्छा नहीं कर रहा। अंबिका कालिदास के स्वभाव को अच्छी प्रकार से समझती है। अत: मातुल की चिंता को व्यर्थ बताते हुए अम्बिका कहती है।

व्याख्या– मनुष्य का यह स्वभाव है कि कई बार वह जान-बूझ कर मिले सम्मान को ठुकरा देता है। वह यूँ प्रकट करने लगता है कि जैसे वह किसी भी प्रकार के आदर सम्मान का भूखा नहीं है। ऐसा वह इसलिए करता है कि लोग उसके रुख की प्रशंसा करें, जिससे उसका सम्मान और भी अधिक बढ़ जाये। अंबिका का विचार है कि वास्तव में कालिदास मन ही मन इस बात से खुश है कि सारे गाँव में केवल उसी को राज-दरबार के सम्मान के योग्य माना गया है। वह वहाँ जाना भी चाहता है पर ऊपर से यूँ ही प्रकट कर रहा है कि जैसे वह किसी की भी परवाह नहीं करता। इस दृष्टि से कालिदास व्यवहार नीति को अधिक समझता है और उसका निबाह भी बड़ी चतुराई से कर रहा है। अत: अंबिका मातुल से कहती है कि उसे अपने भांजे कालिदास की बुद्धिमानी, चतुराई और नीति पर प्रसन्न होना चाहिए।

विशेष– अंबिका ने यह सब कह कर कालिदास के चरित्र पर ही प्रकाश डाला है।

"कालिदास अपनी भावुकता में भूल रहे हैं कि इस अवसर का तिरस्कार करके वे बहुत कुछ खो बैठेंगे। योग्यता एक चौथाई व्यक्तित्व का निर्माण करती है शेष प्रतिष्ठा द्वारा होती है।"

प्रसंग– ये शब्द 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक में निक्षेप द्वारा कहे गये हैं। कालिदास उज्जयिनी नहीं जाना चाहता, वह जगदम्बा के मंदिर में जाकर बैठ जाता है। निक्षेप जानता है कि मल्लिका के जोर देने पर ही कालिदास उज्जयिनी जाने के लिए राजी होगा। अत: अंबिका के घर में आकर समझाने का प्रयत्न कर रहा है कि समय चूक जाने पर कालिदास एक बहुत बड़ा अवसर खो देगा। वह कहता है–

व्याख्या– कालिदास को उज्जयिनी अवश्य जाना चाहिए। न जाना उसकी बहुत बड़ी भूल होगी। ऐसी भूल करके वह अपनी उन्नति और विकास का अवसर हमेशा के लिए खो देगा। यह ठीक है कि वह बहुत ही योग्य व्यक्ति है, महान् प्रतिभाशाली कवि है– पर यहाँ गाँव में पड़े रहने से उसकी प्रतिभा और याोग्यता का क्या मूल्य है? उसके व्यक्तित्व का यहाँ पर एक चौथाई भी मूल्य या महत्व नहीं है सच्चा मूल्य और महत्त्व वह किसी उचित और योग्य

नोट

स्थान पर रह कर ही पा सकता है। उचित प्रतिष्ठा और सम्मान मिलने पर ही वह अपने व्यक्तित्व और प्रतिभा का उचित विकास कर सकेगा। इसलिए उसे उज्जयिनी अवश्य जाना चाहिए। न जाकर वह हमेशा जंगल में खिलने वाले फूल के समान अनजाना ही रहेगा। एक सामान्य और स्थानीय कवि ही बन कर रह जायेगा। भाव यह है कि व्यक्ति का सच्चा महत्व उचित स्थान पर पहुँचकर ही हुआ करता है।

"विलोम क्या है? एक असफल कालिदास और कालिदास एक सफल विलोम। हम कहीं एक दूसरे के बहुत निकट पड़ते हैं।"

प्रसंग– ये संवाद 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक में विलोम द्वारा कहा गया है। विलोम कालिदास का प्रतिद्वंद्वी है। स्वभाव में उससे विलोम-अर्थात् उल्टा है अत: कालिदास के उज्जयिनी जाने की बात सुनकर वह उससे मिलने आता है। मल्लिका, अंबिका और कालिदास कोई भी उस समय उसका वहाँ आना उचित नहीं मानता। अत: कालिदास जब व्यंग्य करता है, तो उत्तर में विलोम कहता है।

व्याख्या– वास्तव में विलोम और कालिदास में कोई विशेष अंतर नहीं दोनों स्वभाव और रुचि में एक जैसे हैं। दोनों कविता और मल्लिका से प्रेम करते हैं। पर दोनों में फर्क यह है कि विलोम को कविता और प्रेम के क्षेत्र में सफलता नहीं मिली, जबकि कालिदास इन दोनों क्षेत्रों में स्पष्ट रूप से सफल हो गया है अत: हम दोनों एक जैसे होते हुए भी एक दूसरे से विपरीत और भिन्न हैं। क्योंकि दो विपरीत वस्तुएँ भिन्न होते हुए भी एक दूसरे के निकट ही होती हैं। अत: विलोम और कालिदास में अंतर सफलता-असफलता का ही है, बाकी कुछ नहीं।

"मैं अनुभव करता हूँ कि यह ग्राम-प्रांतर मेरी वास्तविक भूमि है। मैं कई सूत्रों से इस भूमि से जुड़ा हूँ। उन सूत्रों में तुम हो, यह आकाश ये मेघ हैं, यहाँ की हरियाली में हरिणों के बच्चे हैं, पशुपालक हैं।"

प्रसंग– 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक में ये शब्द कवि कालिदास कहता है। कालिदास उज्जयिनी नहीं जाना चाहता, परंतु मातुल, निक्षेप और मल्लिका आदि सभी उस पर वहाँ जाने के लिए दवाब डालते हैं। मल्लिका के आग्रह को देखकर कालिदास अपने न जाने के कारण को स्पष्ट करते हुए उससे कहता है:

व्याख्या– प्रत्येक वस्तु जहाँ भी होती है, वह अपनी वास्तविक शोभा और स्थिति वहीं रहकर बनाये रख सकती है। मैं इस गांव-प्रांत का रहने वाला हूँ। इसी वातावरण में रहकर पला-पुसा हूँ। यहीं की प्रकृति से प्रेरणा पाकर मैंने अपनी कविता रची है। यहाँ की प्रत्येक वस्तु का संबंध मेरे शरीर ही नहीं, बल्कि भावना और कल्पना के साथ भी जुड़ा हुआ है। केवल इतना ही नहीं, और भी कई कारण हैं। एक कारण यह भी है कि मल्लिका यहाँ रहती है। उसके साथ भी मेरा (कालिदास) का आंतरिक प्रेम का संबंध है यहाँ का खुला आकाश, यहाँ खुलकर घिरने और बरसने वाले बादल, यहाँ की हरियाली, हिरणों के बच्चे– पशु-पक्षी तथा पशु-पालक– अर्थात प्रकृति के अपने रूप और रंग, जो मेरे रोम-रोम में समाए हुए हैं। उनसे मेरा संबंध जुड़ा है। यहाँ से जाकर ये मुझे प्राप्त नहीं हो सकेंगे। अत: हो सकता है कि अपनी इस वास्तविक भूमि से उखड़ कर मेरी कविता, मेरी कविता करने की प्रतिभा भी समाप्त हो जाये? मैं अब तक जो कुछ भी यहाँ हूँ, वह न रह पाऊँ। अत: मेरा यहाँ से किसी भी दृष्टि से चले जाना उचित नहीं। क्योंकि जिस प्रकार अपनी भूमि से उखड़ कर बनावटी भूमि और वातावरण में एक पौधा हरा-भरा नहीं रह सकता, इसी प्रकार कवि भी अपने मूल से उखड़ कर वह नहीं रह सकता।

विशेष– नाटक की मूल समस्या कि कवि को अपनी भूमि से-क्षेत्र से हटकर राज्य और राजनीति का संगी बनना चाहिये या नहीं, यहाँ उठाई गई है।

"यह क्यों नहीं सोचते कि नई भूमि तुम्हें यहाँ से अधिक संपन्न और उर्वर मिलेगी। इस भूमि से तुम जो कुछ ग्रहण करना चाहते थे कर चुके हो। तुम्हें आज नई भूमि की आवश्यकता है, जो तुम्हारे व्यक्तित्व को अधिक पूर्ण बना दे।"

प्रसंग– ये शब्द 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक में मल्लिका कालिदास से कहती है। अपने उज्जयिनी न जाने की इच्छा का कारण बताते हुए कालिदास कहता है कि अपनी भूमि से उखड़कर वह सुखी नहीं रह सकेगा। हो सकता है कि वह वहाँ जाकर अपनी काव्य-प्रतिभा से भी हाथ धो बैठे। तब उसके मन की शंका को दूर करने का प्रयत्न करते हुए मल्लिका कहती है।

नोट

व्याख्या– तुम्हारा कहना कुछ सीमा तक ठीक हो सकता है। पर यह भी तो हो सकता है कि जिस स्थान पर तुम जा रहे हो, वह स्थान तुम्हारे लिये और भी अधिक उपयोगी प्रमाणित हो। यहाँ इस प्रदेश में तो जो कुछ भी सार-तत्त्व है, वह तुम देख, सुन और अनुभव कर चुके हो, ग्रहण कर ही चुके हो। अत: अब तुम्हारे लिये यह जरूरी है, आवश्यक है कि अब तुम्हें जीवन में नई पृष्ठभूमि और आधार प्राप्त हो, ताकि तुम नई प्रेरणा और उत्साह लेकर नई-नई रचनाएँ रच सको। इससे तुम्हारा व्यक्तित्व, तुम्हारी कविता करने की प्रतिभा और शक्ति और भी अधिक विकसित हो सकेगी। तुम साहित्य के भण्डार को भरकर और भी अधिक सम्मान के अधिकारी बन सकते हो। अत: तुम्हें अपनी भूमि से उखड़ने की बात नहीं सोचनी चाहिए। बल्कि नई भूमि में नई प्रेरणा लेकर नई रचनाएँ करने के लिए उज्जयिनी अवश्य चले जाना चाहिए।

स्व-मूल्यांकन

दिए गए कथन के सामने सही (✓) अथवा गलत (×) का निशान लगाइए–

1. अंबिका चाहती है कि यदि कालिदास का प्रेम सच्चा है तो वह मल्लिका से विवाह करे। ☐
2. कालिदास की पत्नी-प्रियंगुमंजरी मल्लिका का अपमान करने के उद्देश्य से उसके घर जाकर विभिन्न प्रकार के सहायतार्थ प्रस्ताव रखती है। ☐
3. नाटक के अंत में कालिदास और मल्लिका विवाह बंधन में बंधकर सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने लगते हैं। ☐
4. विलोम से जन्मी मल्लिका की पुत्री अपनी माँ को भावना से बहुत ऊपर यथार्थ से साक्षात्कार कराती है। ☐

"आज वर्षों के अनंतर तुम लौटकर आये हो! सोचती थी तुम आओगे तो उसी तरह मेघ घिरे होंगे, वैसा ही अंधेरा-सा दिन होगा, वैसे ही एक बार वर्षा में भीगूँगी और तुमसे कहूँगी कि देखा मैंने तुम्हारी सब रचनाएँ पढ़ी हैं ...।

(कुछ पृष्ठ हाथ में ले लेती है।)

उज्जयिनी की ओर जाने वाले व्यवसायियों से कितना-कितना कहकर मैंने तुम्हारी रचनाएँ मँगवायी हैं। ...

सोचती थी तुम्हें 'मेघदूत' की पंक्तियाँ गा-गाकर सुनाऊंगी। पर्वत-शिखर से घण्टा-ध्वनियाँ गूँज उठेंगी और मैं अपनी यह भेंट तुम्हारे हाथों में रख दूँगी ....।

प्रसंग– 'आषाढ़ का एक दिन' से ली गई ये पंक्तियाँ दूसरे अंक में मल्लिका कहती है। मातृगुप्त के नाम से कश्मीर का शासक बन कर कालिदास अपने गाँव से गुजरता है, पर मल्लिका से मिलने नहीं आता। उसके जीवन की पृष्ठभूमि का अध्ययन करने के लिए रंगिनी-संगिनी जैसे कुछ राजकर्मचारी भी आते हैं। मल्लिका से कुछ ऊट-पटाँग प्रश्न करके जब ये दोनों महिला कर्मचारी चली जाती हैं, कालिदास फिर भी नहीं आता, तो पहली बार उसका अभाव अनुभव करते हुए मल्लिका निराश और दु:खी मन से आप ही आप कह रही है:

व्याख्या– कितने वर्ष बीत गये तुम्हें गये हुए! सोचा करती थी कि जब तुम लौटकर आओगे, तो जीवन में पहले जैसा ही आनंद तथा सुख-संतोष का भाव छा जायेगा। तुम आये तो हो, परंतु मेरी इच्छा पूरी न हो सकी। सोचा करती थी कि जब तुम आओगे, तो जैसे तुम्हारे जाने से पहले वर्षा में भीगी थी, कुछ उसी प्रकार का दृश्य फिर प्रकृति में घिर आयेगा। आकाश पर बादल छा रहे होंगे, उनके कारण सारा वातावरण कुछ अंधेरा-सा हो जायेगा। मैं तुम्हारे साथ आषाढ़ की पहली वर्षा वाले दिन के समान एक बार फिर भींगूंगी। भीगने का आनंद लेते हुए तुम्हें यह शुभ सूचना दूँगी कि उज्जयिनी में रहकर तुमने जितनी भी नई रचनाएँ रची हैं, वे सब मैंने पढ़ ली हैं। यह बताकर मैं तुम्हें हैरान कर दूँगी। पर वैसा कुछ भी न हो सका। मैंने यहाँ से उज्जयिनी जाने वाले व्यापारियों को एक-एक करके जोड़ा हुआ पैसा देकर, बड़ी मिन्नत और खुशामद करके तुम्हें चकित कर देने के लिए ही तुम्हारी

नोट

रचनाएँ मंगवाकर पढ़ी थीं। सोचा था कि तुम्हारे आने पर तुम्हारी अमर रचना 'मेघदूत' की पंक्तियाँ पढ़कर, गा-गाकर तुम्हें सुनाऊँगी, ताकि तुम हैरानी से यह सब देख-सुनकर जान सको कि मुझे तुमसे कितना प्यार है। दूर रहते हुए भी मैं तुमसे दूर नहीं रही। मैंने तुम्हारे नये काव्य लिखने के लिए जो भोज-पत्र इकट्ठे करके रखे हैं, वह तुम्हारे हाथों पर रखकर तुम्हें नया काव्य-रचना करने की प्रेरणा दूँगी। पर हाय! तुम यहाँ आकर भी मेरी इस समस्त खुशियों को बनाए रखने के लिए मुझसे मिलने नहीं आये।

भाव यह है कि मल्लिका का मन निराशा से भर उठा है, क्योंकि उसने कालिदास को लेकर जो आशाएँ मन में पाल रखी थीं, वह पूरी होती दिखाई नहीं देतीं।

" इस सौंदर्य के सामने जीवन की सब सुविधाएँ हेय हैं इसे आँखों में व्याप्त करने के लिए जीवन-भर का समय भी पर्याप्त नहीं।"

प्रसंग– ये शब्द कालिदास की पत्नी प्रियंगुमंजरी मल्लिका से कहती है। काश्मीर का शासन भार सम्हालने के लिए जाते हुए पियंगुमंजरी कालिदास की जन्म भूमि के प्राकृतिक-सौंदर्य को देखने की इच्छा से कालिदास को उसी मार्ग से लेकर आती है। वह मल्लिका का घर भी देखने जाती है, क्योंकि उसके साथ कालिदास के जीवन की अनेक स्मृतियाँ जुड़ी हैं। प्रियंगुमंजरी उस प्रदेश तथा मल्लिका के सौंदर्य को देखकर बहुत प्रभावित होती है। तब वह इस सब प्रकार के सौंदर्य की प्रशंसा करते हुए कहती है–

व्याख्या– मल्लिका पियंगुमंजरी से कहती है कि आप कुछ दिन यहाँ रहकर यहाँ का सौंदर्य देखें। पर आप जैसे नागरिकों को यहाँ गाँव में रहते हुए अनेक असुविधाएँ और कष्ट होंगे। तब प्रियंगुमंजरी उत्तर देती है– यह ठीक है कि यहाँ इस गाँव-प्रदेश का जीवन अनेक प्रकार की असुविधाओं और कष्टों से भरा है परंतु यहाँ जितना निर्मल सौंदर्य है, उसे देखने और अनुभव करने के लिए बड़ी से बड़ी मुसीबत और असुविधा का भी कोई महत्त्व नहीं। फिर यहाँ इतना अधिक सौंदर्य है कि उसे कुछ दिन रहकर पूरी तरह से देखा ही नहीं जा सकता। उसके लिए तो यदि सारा जीवन भी लगा दिया जाए तो भी कम है।

भाव यह है कि वास्तविक सौंदर्य को देखने-परखने के लिए यदि जीवन भी बिता दिया जाये, तो कम है।

'कश्मीर की राजनीति इतनी अस्थिर है कि हमारा एक-एक दिन वहाँ से दूर रहना कई-कई समस्याओं को जन्म दे सकता है। ... एक प्रदेश का शासन बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है हम पर तो और भी बड़ा उत्तरदायित्व है। क्योंकि कश्मीर की स्थिति बहुत संकटपूर्ण है। यूँ वहाँ के सौंदर्य की ही इतनी चर्चा है, परंतु हमें उसे देखने का अवकाश कहाँ रहेगा?

प्रसंग– उपरोक्त

व्याख्या– राजनीति और प्रकृति प्रेम दोनों को दो अलग वस्तुएँ बताते हुए प्रियंगुमंजरी कहती है– हम लोग यहाँ रहकर यदि यहाँ की प्रकृति के सौंदर्य को देखना भी चाहें तो नहीं देख सकते क्योंकि हम लोगों को जाकर के काश्मीर का शासन सम्हालना है वहाँ का राजनीतिक वातावरण आजकल बहुत ही बिगड़ा हुआ है ऐसी स्थिति में यदि हम एक दिन भी वहाँ से दूर रहते हैं तो गड़बड़ हो सकती है। अनेक कठिन राजनीतिक उलझनें और समस्यायें उत्पन्न हो सकती हैं। किसी राज्य प्रदेश का शासन सम्हालना कोई आसान कार्य नहीं होता। फिर जिस राज्य की स्थिति बिगड़ चुकी हो, विद्रोहीपूर्ण हो चुकी हो, वहाँ तो शासकों को पता नहीं कितने प्रकार की मुसीबतों का सामना करना पड़ता है जिस प्रकार यहाँ की प्रकृति सुंदर है, सारा वातावरण ही बहुत सुंदर और लुभावना है, उसी प्रकार की सुंदरता की चर्चा हमने कश्मीर के संबंध में भी सुनी हैं पर जिस प्रकार की वहाँ बिगड़ी हुई स्थिति है, क्या हम वहाँ रहकर भी वहाँ की प्राकृतिक सुंदरता को देख सकेंगे? अर्थात् नहीं। उसी प्रकार यहाँ भी राजनीति के कारण हमें प्राकृतिक सौंदर्य को देखने का अवसर नहीं है।

भाव यह कि राजनीतिक जीवन और प्राकृतिक सौंदर्य में कोई मेल नहीं। उसी कारण एक कवि या कलाकार राजनीति में प्रवेश करके अपनी वास्तविक स्थिति नहीं बनाये रख सकता। वह अवश्य उखड़ जाता है।

नोट

राजनीति साहित्य नहीं है। उसमें एक-एक क्षण का महत्त्व है। कभी एक क्षण के लिए भी चूक जायें, तो बहुत बड़ा अनिष्ट हो सकता है। राजनीतिक जीवन की धुरी में बने रहने के लिए व्यक्ति को बहुत जागरूक रहना पड़ता है। ... साहित्य उनके जीवन का पहला चरण था।

प्रसंग – 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक के दूसरे अंक में ये शब्द प्रियंगुमंजरी मल्लिका से कहती है। मल्लिका बताती है कि उसने कालिदास की सभी रचनाएँ पढ़ी हैं। तब प्रियंगुमंजरी कहती है कि उनकी बाल सखी होने के लिए तुम्हारा ऐसा करना स्वाभाविक ही है कालिदस भी अक्सर यहाँ की याद करके चंचल और व्याकुल हो जाया करते थे। तब उन्हें सम्हालना बड़ा कठिन हो जाता था। सारे राजनीतिक कार्यों में गड़बड़ करने लगते थे। इसी कारण मैं यहाँ की कुछ वस्तुएँ अपने साथ ले जाऊँगी, ताकि कालिदास को कुछ यहाँ का वातावरण मिल सके। इसी प्रसंग में राजनीतिक और साहित्य में अंतर बताते हुए प्रियंगुमंजरी कहती है–

व्याख्या– साहित्यकार स्वतंत्र होता है। साहित्य में साहित्यकार की रुचि और मूड की रक्षा हो सकती है। परंतु राजनीति साहित्य नहीं, बल्कि समय और स्थिति का महत्त्व होता है। एक-एक क्षण बहुत ही सावधानी से काम करना पड़ता हैं राजनीति में एक क्षण की भूल या देरी बहुत बड़े अनर्थ का, नाश का कारण बन सकती है। उस नाश से बचे रहने के लिए और राजनीति में अपनी स्थिति जमाये रखने के लिए मनुष्य को बहुत ही सावधान रहना पड़ता है। अपने जीवन के पहले भाग में कालिदास ने कुशल साहित्य की रचना की है। परंतु अब कालिदास केवल साहित्यकार ही नहीं रह गये, बल्कि उनके जीवन का दूसरा दौर– राजनीति का दौर भी आरंभ हो चुका है। अत: मैं नहीं चाहती कि राजनीति के क्षेत्र में उन्नति का अवसर पाकर कालिदास का कदम अब पीछे हटे, उसे असफलता मिले। अत: उसे सम्हाले रहने के लिए मुझे बहुत ही सावधान रहकर अनेक प्रकार के प्रयत्न करने हैं। वास्तव में राजनीति में अपनी स्थिति जमाए रखने के लिए मनुष्य को बहुत ही परिश्रम करना पड़ता है।

भाव यह है कि साहित्य या कला और राजनीति का आपस में कोई मेल नहीं।

साहित्कार को राजनीति किस प्रकार अपनी वास्तविक भूमि से दूर कर सकती है, यहाँ यही बताना नाटककार प्रयोजन है। क्योंकि राजनीति में प्रवेश के बाद कालिदास कोई भी नई रचना नहीं रच सका।

लो, 'मेघदूत' की पंक्तियाँ पढ़ो। इन्हीं में न कहती थी उसके अंतर की कोमलता साकार हो उठी है? आज उस कोमलता का और भी साकार रूप देख लिया?

(मल्लिका ठगी-सी उसकी ओर देखती रहती है।)

आज वह तुम्हें तुम्हारी भावना का मूल्य देना चाहता है, तो क्यों नहीं स्वीकार कर लेतीं। घर की भित्तियों का परिसंस्कार हो जाएगा और तुम उनके वहाँ परिचारिका बनकर रह सकोगी। इससे बड़ा और क्या सौभाग्य तुम्हें चाहिए?

प्रसंग– ये शब्द 'आषाढ़ एक दिन' नाटक के दूसरे अंक में अंबिका कहती है। उनके घर में आकर कालिदास की रानी प्रियंगुमंजरी मल्लिका की किसी भी प्रकार की आर्थिक सहायता करना चाहती है। पर मल्लिका सब प्रकार की सहायता लेने–यहाँ तक कि घर की मरम्मत करवाने से भी इंकार कर देती है। उधर मल्लिका अपनी माँ के सामने कालिदास तथा उसके नये काव्य 'मेघदूत' की बहुत प्रशंसा किया करती थी। प्रियंगुमंजरी के चले जाने के बाद अंबिका खीझ और क्रोध भरे स्वरों में कहती है–

व्याख्या– बड़ी प्रशंसा किया करती थी तू अपने कालिदास और उसकी रचना 'मेघदूत' की! वह तुझ से मिलने तक नहीं आया। अब अपनी रानी को यहाँ भेजकर अपने बड़प्पन का प्रदर्शन करना चाहता है, हम पर दया करना चाहता है। इस प्रकार हमारी गरीबी और लाचारी का मजाक उड़ाना चाहता है और तू भावना में पतली रह। उसके

नोट

सुंदर काव्य 'मेघदूत' की पंक्तियाँ पढ़कर खुश होती रह। तू यही तो कहा करती थी न कि मेघदूत की पंक्तियों में कालिदास के मन की सारी कोमलता साक्षात् प्रगट हो गई है। वह कोमलता कैसी है, आज तुमने उसका साक्षात् रूप देख लिया। वह हमारी चाँदी के सिक्कों से सहायता करना चहता है। स्वयं यहाँ तक आ भी न सका यही है न उसके हृदय की कोमलता?

एक क्षण रुक कर अंबिका ने फिर कहा– आज इस रूप में कालिदास तुम्हें तुम्हारी भावना और प्यार का मूल्य देना चाहता था। क्यों नहीं यह सब स्वीकार कर लेती हो? वह तुम्हारे घर की टूटी-फूटी दीवारों की मरम्मत करवा तुम्हें दया की भीख देना चाहता है। उसकी रानी तुम्हें अपने साथ कश्मीर ले जाना चाहती है, ताकि वह तुम्हें अपनी सेविका बना कर अपने साथ रख सके। अपनी भावना के प्यार को तुम और क्या पुरस्कार और सौभाग्य चाहती हो।

अंबिका का भाव यह है कि तुम तो भावना पर मरती रही और आज राजकवि तथा कश्मीर का शासक बनकर कालिदास हर बात से तुम्हारी गरीबी और भावना का स्पष्ट मजाक उड़ा रहा है।

'किंतु मुझे खेद है। वर्षों से इस दिन की प्रतीक्षा थी। अपनी मित्रता पर भरोसा भी था...!"

प्रसंग– ये शब्द 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक के दूसरे अंक में विलोम कहता है। मल्लिका तथा अंबिका की तरह उसे भी विश्वास था कि कालिदास एक बार मल्लिका से मिलने अवश्य आयेगा। पर वह गाँव में आकर भी उससे मिलने नहीं आता। तब मल्लिका के विश्वास का मजाक उड़ाते हुए विलोम यह स्पष्ट करना चाहता है कि अब कालिदास बड़ा आदमी हो गया है, अत: पुराने संबंध कैसे निभा सकता है। वह कहता है–

व्याख्या– कालिदास यहाँ नहीं आया, यह जानकर मुझे बहुत ही दु:ख हो रहा है। कितने वर्ष हो गये हैं उसे यहाँ से गये हुए। आज तक इस बात का इंतजार रहा कि एक न एक दिन कालिदास यहाँ अवश्य आवेगा। पुरानी मित्रता के नाते उससे यहीं मेल-मुलाकात होगी। अपनी मित्रता पर भी पूरा विश्वास था– पर वह नहीं आया। विलोम का संकेत स्पष्ट तौर पर मल्लिका की तरफ है कि वह अपने प्रेम पर विश्वास करती थी किंतु कालिदास ने गाँव में आकर भी उससे न मिल उसके प्रेम और विश्वास को तोड़कर डाला हैं उसने किसी की भी परवाह नहीं की। यह सब देखकर लगता है कि वास्तव में हम लोग ही कालिदास से मित्रता और प्रेम करते थे। वह किसी से कुछ नहीं करता था। हमारा प्रेम और मित्रता इकतरफा थे। अत: अब हमारे मन में अपनी मित्रता का भरोसा नहीं रह गया। सच तो यह है कि कालिदास का स्वभाव ही ऐसा है वह अपने सामने और किसी को कुछ मानता ही नहीं। वह सदा से ही ऐसा था, फिर आज तो वह बहुत बड़ा आदमी बन गया है। कहाँ वह राजकवि और कश्मीर का शासक! कहाँ हम लोग गाँव के सधारण निवासी? मित्रता तो समान स्वभाव और स्थिति वाले लोगों में हुआ करती है। पर यहाँ तो शुरू से लेकर अन्त तक विषमता ही विषमता है अत: यदि वह गाँव में आकर भी मुझे या मल्लिका से मिलने नहीं आया, तो हमें दुख नहीं मानना चाहिए।

भाव यह है कि स्वभाव और स्थिति की समानता के बिना मित्रता का या प्रेम-संबंधों का निबाह संभव नहीं होता।

विशेष– विलोम की बातों में व्यंग्य है। पर उसने कालिदास के स्वभाव का ही चित्र प्रस्तुत किया है।

"मैंने सुना है विश्वास नहीं होता, परंतु होता भी सम्भव है। राजनीति में कुछ भी है। राजनीति में कुछ भी असंभव नहीं है। जितना संभव है कि ऐसा हो, उतना ही संभव है कि ऐसा न हो, और यह भी संभव है कि जो हो, वह न हो....."।

प्रसंग– 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक के तीसरे अंक में ये शब्द मातुल कहता है मातुल कालिदास के साथ कश्मीर गया था। पर वहाँ के बनावटी वातावरण में अपने पैर तुड़वाकर वह वापस आ गया है। वह राजकीय जीवन और राजनीति का कट्टर विरोधी बन बैठा है। वह मल्लिका से मिलने के लिए वर्षा में भीगता हुआ उसके घर पहुँचा है उनसे पूछता है कि उसने कश्मीर का कोई समाचार सुना है? उसके इंकार करने पर राजनीतिक संभावनाओं पर व्यंग्य करते हुए मातुल कहता है:

नोट

व्याख्या– मैंने कश्मीर की राजनीति और कालिदास के संबंध में बहुत कुछ सुना है। जो कुछ सुना है, उस पर एक तरफ तो विश्वास करने को बिल्कुल जी नहीं चाहता, जबकि दूसरी ओर विश्वास न करने का कोई स्पष्ट कारण भी प्रतीत नहीं होता। क्योंकि राजनीति में कोई भी ऐसी बाात नहीं कि जो न हो सकती हो। दूसरी ओर कई बार जिन बातों के होने की बहुत अधिक संभावना रहती है, वे होते-होते भी नहीं हुआ करतीं। अत: राजनीति में क्या असंभव है और क्या संभव है, इस बारे में मनुष्य निश्चय होकर कुछ भी नहीं कह सकता वहाँ तो जो न होना हो, वह हो जाया करता है, और जो होना हो, वह नहीं होता। अजीब स्थिति है इस राजनीति की।

कहने का भाव यह है कि राजनीति का वातावरण प्राय: असंतुलित (unbalanced) सा रहा करता है। कब, क्या घट जाये कहा नहीं जा सकता। अत: कालिदास और कश्मीर की राजनीति के बारे में भी स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

"मैं यद्यपि तुम्हारे जीवन में नहीं रही, परंतु तुम मेरे जीवन में सदा बने रहे हो। मैंने कभी तुम्हें अपने से दूर नहीं होने दिया। तुम रचना करते रहे, और मैं समझती रही कि मैं सार्थक हूँ, मेरे जीवन की भी कुछ उपलब्धि है।"

"ग्रंथ को घुटनों पर रख लेती है।"

"और आज तुम मेरे जीवन को इस तरह निरर्थक कर दोगे?"

प्रसंग– ये शब्द 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक के तीसरे अंक में मल्लिका अपने-आपसे ही कहती है। मातुल उसे यह बताकर चला जाता है कि कश्मीर में विद्रोह हो गया है। उसे दबा पाने में असफल होकर कालिदास कहीं भाग गया है। कुछ लोग कहते हैं कि वह काशी जाकर संन्यासी हो गया है पर कालिदास के संबंध में सत्य क्या है, यह कोई नहीं जानता। तब अकेली खड़ी मल्लिका सोच कर अपने आप से ही कह रही है–

व्याख्या– कालिदास संन्यासी हो गया है, मैं इस बात पर विश्वास नहीं कर सकती। वह चाहे मेरे पास नहीं रहा, उसने मुझे भुला दिया, अपनी इच्छा से ही सभी कार्य करता रहा, तो भी मैंने उसके लिए हमेशा शुभकामनाएँ ही कीं। क्योंकि चाहे वह मेरे जीवन में नहीं रहा, पर मैंने उसे अपने से दूर या अलग कभी नहीं समझा। मेरी भावना में तुम सदा मेरे पास रहे हो। मैंने अपनी भावना के स्तर पर तुम्हें हमेशा अपने पास समझा है। तुम वहाँ जाकर अनेक नई-नई रचनाएँ करते रहे, इसी में मैंने अपनी भावना के प्रेम, अपने जीवन और अपनी कामनाओं की सफलता मानी। तुम्हारी उन रचनाओं को ही मैंने अपने जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि (प्राप्ति) मान। अर्थात् मैं जो चाहती थी कि तुम महान् कवि बनो, यश और आदर प्राप्त करते रहो, वह सब तुम्हें मिला–इसे मैंने अपनी अपने भावना के स्तर के प्रेम की सफलता माना। पर अब तुम भाग कर या संन्यासी बनकर लगता है कि मेरी सारी साधना को बेकार कर देना चाहते हो! मैं अपनी इस हार को सहन नहीं कर सकती।

25.3 शब्दकोश

1. **अनर्गल–** मनमाना, बे-सिर-पैर, अनियंत्रित
2. **वितृष्णा–** तृष्णा का बभाव
3. **स्पृश्य–** स्पर्श क्षम
4. **बेजार–** खिन्न, विमुख, अप्रसन्न

25.4 अभ्यास-प्रश्न

नोट

1. 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक का कथासार' अपने शब्दों में लिखिए।
2. नाटककार ने कालिदास के माध्यम से सर्जन प्रक्रिया की राह में आनेवाली बाधाओं को चिह्नित करना चाहा है। नाटक के आधार पर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर: स्व-मूल्यांकन

1. (✓) 2. (×) 3. (×) 4. (✓)

25.5 संदर्भ पुस्तकें

1. *आषाढ़ का एक दिन:* मोहन राकेश– राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली।
2. *मोहन राकेश का साहित्य*– शरेशचन्द्र चुलकीमठ, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली।
3. *हिंदी नाटक*–रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली।

नोट

इकाई 26: आषाढ़ का एक दिनः प्रमुख पात्रों का चरित्र-चित्रण

अनुक्रमणिका

उद्देश्य

प्रस्तावना

26.1 आषाढ़ का एक दिनः प्रमुख पात्रों का चरित्र-चित्रण

26.1.1 मल्लिका

26.1.2 कालिदास

26.1.3 विलोम

26.1.4 अंबिका

26.2 सारांश

26.3 शब्दकोश

26.4 अभ्यास-प्रश्न

26.5 संदर्भ पुस्तकें

उद्देश्य

विद्यार्थी इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् सक्षम होंगे–

- आषाढ़ का एक दिन नाटक के महत्त्वपूर्ण पात्रों से परिचत होंगे।
- आषाढ़ का एक दिन के कुछ महत्त्वपूर्ण अंशों की व्याख्या करने में सक्षम होंगे।

प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई में मोहन राकेश के नाटक आषाढ़ का एक दिन के कुछ महत्त्वपूर्ण पात्रों का परिचय दिया जा रहा है।

26.1 आषाढ़ का एक दिनः प्रमुख पात्रों का चरित्र चित्रण

26.1.1 मल्लिका

अनुपम त्यागमयी, निश्छल हृदया तथा प्रेमी की मंगल-कामना के लिए अपने जीवन के स्वप्नों को न्यौछावर कर देने वाली मल्लिका की यश-सुरभि से प्रस्तुत कृति मल्लिका-पुष्प की सुगंध के समान ही गमक रहा है। यह नाटक के आरंभ में हमें इसके नायक कालिदास से पूर्व मल्लिका के दर्शन होते हैं और नाटक की समाप्ति पर भी स्वपुत्री को आवेशावस्था में चूमती मल्लिका ही हमारी दया की पात्री के रूप में रंगमंच पर विद्यमान रहती है। नाटक कृति की विविध घटनाएँ उसी के प्रभावशाली व्यक्तित्व से अंतसम्बंधित हैं– वह तो एक ऐसा प्रकाश-केंद्र है जिसके प्रकाश में हमारे समक्ष नाटक के अनरू समस्त पात्रों के भले-बुरे, सुंदर-कुरूप चरित्र-चित्र सुस्पष्ट हो उठते हैं।

नोट

नोट्स

नाटक में ऐसा एक भी पात्र नहीं जो मल्लिका के संसर्ग में न आता हो। वह नाटक में आद्यंत हमारी करुणा एवं प्रीति-पात्री बनी रहती है। अत: इस तथ्य में रंचमात्र भी संदेह नहीं है कि इस नायिका-प्रधान नाटक की मूल धुरी मल्लिका है और यदि इस कृति का नामकरण नायक या नायिका के नाम के आधार पर किया जाता तो वह निश्चय ही मल्लिका किया जाना चाहिए था।

जहाँ तक मल्लिका के चारित्रिक गुणावगुणों का प्रश्न है उसमें हमें गुण-ही-गुण परिलक्षित होते हैं–यदि उसका कोई अवगुण या दोष है तो वह मात्र यह है कि वह कालिदास को प्रेम करती है और वह प्रेम भी ऐसा जिसमें स्वार्थ को स्थान न होकर प्रिय की मंगल-भावना प्रधान है, जिसमें आदान की नहीं अपितु प्रदान की भावना का प्राबल्य है, जिसमें प्रेम की निश्छलता के निर्वाह के बदले दुनिया को अँगूठा दिखाने की शक्ति है। हाँ, यह दूसरी बात है कि इस प्रकार की नादानी करने वाली ललनाओं को स्वार्थी पुरुष वर्ग की ओर से विश्वासघात-उपेक्षा-अवहेलना आदि के जो पुरस्कार प्रदान किए जाते हैं– मल्लिका की नियति भी उससे भिन्न नहीं है। उस अनाथ कलिका को निष्ठुर पुरुष वर्ग द्वारा पैरों तले रौंद दिया जाता है– उसकी भावनाएँ, उसकी आशा-आकांक्षाएँ आकाश-कुसुम मात्र रह जाती हैं। उसके चरित्रांकन को निम्नांकित शीर्षकों में विभक्त करके अधिक अच्छी तरह समझा जा सकता है–

पितृहीन अल्हड़ किशोरी– हतभाग्या मल्लिका का प्रथम दुर्भाग्य तो यही है कि उसके सिर से असमय ही पिता की छवछाया उठ जाती है तथा उसके कोई भाई भी नहीं है, मल्लिका और उसकी माँ को ही किसी प्रकार उदर-पूर्ति के साधन जुटाने पड़ते हैं। मल्लिका अल्हड़ नवयौवना है, वह जग-रीति का सम्यक् ज्ञान नहीं रखती अत: इस तथ्य के परिणामों को नहीं सोच पाती कि उसके कालिदास-संबंधी प्रेम का जो अवसाद फैलता जा रहा है उसका क्या भयंकर परिणाम निकल सकता है। उसकी देखभाल करने वाली है उसकी वृद्धप्राय माँ, जिसकी अपनी इकलौती पुत्री या कहिए जीवन की एकमात्र आधार पुत्री पर अपेक्षा से अधिक स्नेह-भाव है। वह मल्लिका को जग की ऊँच-नीच समझाने के लिए उससे रूठती तो है, किंतु अपनी अल्हड़-पुत्री पर कोई कड़ा प्रतिबंध नहीं लगा पाती। कहा जा सकता है कि यदि मल्लिका के पिता जीवित होते तो कदाचित् उसके जीवन की वह दयनीय परिणति नहीं होती जो नाटक में चित्रित की गई है।

हठीली पुत्री– अम्बिका की इकलौती संतान होने के कारण मल्लिका के चरित्र में उस हठ और दुराग्रह का पर्याप्त पुट है, जो प्राय: यही इकलौती संतानों में पाया जाता है। अम्बिका उसे बार-बार यह समझाने की चेष्टा करती है कि मात्र भावनाओं में खोये रहकर जीवन की प्रत्यक्ष आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं की जा सकती, किंतु मल्लिका की हठ के समक्ष उसे हार ही माननी पड़ती है। उदाहरणार्थ अंबिका इस बात पर मल्लिका से बड़ी रुष्ट है कि वह वर्षा होने की संभावना होने पर भी घर नहीं लौटी और कदाचित् अपने प्रेमी कालिदास के साथ वर्षा में भीगती रही है। वह मल्लिका की बातों की उपेक्षा करती हुई उसे 'ना' अथवा 'हाँ' में ही उत्तर देती है तो मल्लिका उसके हाथ से यह कहकर छाज ही छीन लेती है कि मैं तुम्हें काम नहीं करने दूँगी और उसे दूर रख आती है। स्वयं मल्लिका का ही यह कथन– "मेरे घर में रहने पर भी तुम अकेली होती हो? .. कभी तो मेरी भर्त्सना करती हो कि मैं घर में रहकर तुम्हारे सब कामों में बाधा डालता हूँ और कभी कहती हो ..."– इस तथ्य का उद्घाटन करता है कि उसे माँ के दुलार-भाव ने किसी सीमा तक बिगाड़ रखा है, वह माँ के कार्यों में हाथ नहीं बँटाती, अपितु माँ को खिजाती रहती है।

क्या आप जानते हैं

स्वपुत्री की हठ के सामने झुककर ही अंबिका उसके विवाह के विषय में अधिक दौड़ धूप नहीं करती।

नोट

कल्पनाजीवी एवं भावुकतामयी– मल्लिका अत्यधिक भावुक है। प्रेमी के साथ वर्षा में विहार करने के अनंतर उसका अंग-प्रत्यंग हुलसने लगता है– वह भावुकता के गगन में विहार करने लगती है। नाटक के आरंभ में ही उसके द्वारा स्व-माता से कही गई यह उक्ति कवित्व एवं भावुकता से ओत-प्रोत है– "मुझे भीगने का तनिक खेद नहीं। भगती नहीं तो आज मैं वंचित रह जाती। .. चारों ओर धुँआरे मेघ घिर आए थे। मैं जानती थी वर्षा होगी। फिर भी मैं घाटी की पगडंडी पर नीचे-नीचे उतरती गई। एक बार मेरा अंशुक भी हवा ने उड़ा दिया। फिर बूँदें पड़ने लगीं। ... वह बहुत अद्‌भुत अनुभव था माँ, बहुत अद्‌भुत। नीलकमल की तरह कोमल-आर्द्र, वायु की तरह हल्का और स्वप्न की तरह चित्रमय। ... मैं चाहती थी उसे अपने में भर लूँ और आँखें मूंद लूँ माँ ××× आज के वे क्षण मैं कभी भूल नहीं सकती। साक्षात्कार मैंने कभी नहीं किया। जैसे वह सौंदर्य अस्पृश्य होते हुए भी माँसल हो। मैं उसे छू सकती थी, देख सकती थी, पी सकती थी। तभी मुझे अनुभव हुआ कि क्या है, जो भावना को कविता का रूप देता है।"

मल्लिका के संदर्भ में यदि यह कहा जाए कि कल्पना और भावना ही उसके ओढ़ना और बिछौना हैं तो अत्युक्ति नहीं होगी। वह इतनी अधिक कल्पनाजीवी और भावुकतामयी है कि अपने और कालिदास के 'प्रेम संबंध' को वास्तविकता के स्थान पर भावना के स्तर पर प्रतिष्ठित करती है– जिसका अभिप्राय यही है कि कालिदास उसे अपनाना चाहे अथवा नहीं, किंतु वह उसका मनसा वरण कर चुकी है और आजीवन कुँवारी रहते हुए भी कालिदास के प्रेम की माला जपते रहने को प्रस्तुत है। वह अपनी माँ से यह कहते हुए कि मैं विवाह करना ही नहीं चाहती, यह भी स्पष्ट कर देती है– "मैंने भावना में एक भावना का वरण किया है। मेरे लिए वह संबंध और सब संबंध ों से बड़ा है। मैं वास्तव में अपनी भावना से ही प्रेम करती हूँ जो पवित्र है, कोमल है, अनश्वर है।" यह उनकी भावुकता का ही प्रमाण है कि आत्मकेन्द्रित कालिदास मल्लिका से विवाह करना नहीं चाहता, किंतु मल्लिका उसकी इस उपेक्षा और निस्संगता की भावना का दोष परिस्थितियों के सिर मढ़ती हुई कहती है–साधनहीन और अभावग्रस्त जीवन में विवाह की कल्पना ही क्यों की जा सकती है? हम यह कहना चाहेंगे कि मल्लिका का यह कथन नितांत भावुकतामय है-- ज्ञात नहीं उसे किस आधार पर यह आशा थी कि उसके निठल्ले से प्रेमी की आर्थिक स्थिति कभी सुधर भी सकती है और जब वह सुदिवस आयेगा तब वह मुझसे विवाह कर लेगा?

भावुकता का मल्लिका अंतिम दृश्य के अतिरिक्त कभी भी परित्याग नहीं कर पाती। उसे यह समाचार मिल जाता है कि कालिदास ने नरेश पुत्री से विवाह कर लिया है, उनका अधिकांश समय वारांगनाओं के साहचर्य में व्यतीत होता है, फिर भी कल्पनाजीवी मल्लिका यह आशा संजोये बैठी रहती है कि मेरे प्रेमी महाशय मुझे विस्मृत न कर पाएँगे। ग्राम-प्रांतर में आने पर कालिदास उससे मिलने नहीं आता, फिर भी भावुकतामयी मल्लिका स्वयं को कालिदास से पृथक् विच्छिन्न नहीं समझती। नाटक के तृतीय अंक में मातुल ये यह सूचना पाकर कि कालिदास ने काश्मीर का शासन-भार त्योगकर संन्यास ले लिया है, वह कालिदास के ग्रंथों को संबोधित करती हुई जो उद्‌गार व्यक्त करती है, उससे अधिक भावुकता और क्या हो सकती है? "मैं यद्यपि तुम्हारे जीवन में नहीं रही, परंतु तुम मेरे जीवन में सदा विद्यमान रहे हो। मैंने कभी तुम्हें अपने पास से हटने नहीं दिया। तुम रचना करते रहे और मैं समझती रही कि मैं सार्थक हूँ, मेरे जीवन की भी कुछ उपलब्धि है (ग्रंथ को घुटनों पर रख लेती है) और आज तुम मेरे जीवन को इस प्रकार सर्वथा निरर्थक कर दोगे? (ग्रंथ को आसन पर रखकर उद्विग्न भाव से उसकी ओर देखती है) तुम जीवन से तटस्थ हो सकते हो, परंतु मैं तो अब तटस्थ नहीं हो सकती। तुम जीवन को मेरी दृष्टि से क्यों नहीं देखते?" कहना न होगा कि उसकी इस भावुकता ने जहाँ पाठक-प्रेक्षकों की दृष्टि में उसका चारित्रिक उत्कर्ष किया है, वहाँ वस्तु जगत् में उसका जीवन दु:खागार बन जाता है।

निश्चल, नि:स्वार्थ प्रेमिका– सच्चा प्रेम निश्छल और नि:स्वार्थ होता है–उसमें स्वार्थ-भावना का कलुष नहीं होता। इस कसौटी की दृष्टि से मल्लिका का चरित्र बड़ा प्रशंसनीय है। यह उसकी कालिदास के प्रति निश्छता नि:स्वार्थ प्रेम से अर्जित शक्ति का ही प्रताप है कि वह माता का विरोध और लोकापवाद सहकर भी अपनी प्रेम-भावना में न्यूनता नहीं आने देती। उसकी माता चाहती है कि कालिदास उज्जयिनी जाने से पूर्व उससे विवाह कर ले तथ विलोम तो इस तथ्य को मल्लिका ही नहीं अपितु कालिदास के भी सम्मुख प्रस्तुत कर देता है, फिर भी मल्लिका

नोट

नहीं चाहती कि वह अपने प्रेमी के उज्जयिनी-गमन में अपने विवाह का बखेड़ा खड़ा करके अड़चन डाल दे। उसके स्व माता से कहे गए इन उद्‌गारों में उसका नि:स्वार्थ हृदय छलक उठा है– "माँ, आज तक का जीवन जिस किसी तरह बीता ही है। आगे भी बीत जायेगा। आज जब उनका जीवन एक नई दिशा ग्रहण कर रहा है, मैं उनके सामने अपने स्वार्थ का उद्‌घोष नहीं करना चाहती।"

कालिदास उसके अनुराग की ओर इंगित करते हुए उज्जयिनी नहीं जाना चाहते, किंतु मल्लिका के हृदय में यह धारण घर कर गई है कि ग्राम में रहते हुए उनकी काव्य-प्रतिभा का सम्यक् विकास नहीं हो सकता। अत: वह उनसे बड़ा मार्मिक प्रश्न करती है– "तुम समझते हो कि तुम इस अवसर को ठुकराकर यहाँ रह जाओगे तो मुझे सुख होगा?" वह सरला इस तथ्य को भी स्पष्ट कर देती है कि प्रथम तो तुम यहाँ से जाकर भी मुझसे दूर नहीं हो सकते? तथा मैं तुम्हें घेरना नहीं चाहती, इसीलिए जाने का आग्रह कर रही हूँ।

मल्लिका का हृदय भी बड़ा उदार है। उसे अब यह ज्ञात होता है कि उसके प्रेमी के विषय में ऐसा लोकापवाद है कि उसका अधिकांश समय वारांगनाओं के साहचर्य में व्यतीत होता है, तो वह कह देती है– "कोई व्यक्ति उन्नति करता है तो उसके नाम के साथ कई तरह के अपवाद अनायास जुड़ने लगते हैं।" जब निक्षेप कालिदास पर यह आक्षेप करता है कि वे यहाँ रहते हुए तो कहा करते थे कि मैं जीवन-भर विवाह नहीं करूँगा जबकि उन्होंने उज्जयिनी जाकर विवाह कर लिया है और उनके इस आग्रह की रक्षा के लिए तुमने अभी तक कौमार्य-व्रत ही ले रखा है, तो वह तुरंत कह उठती है– 'उनके प्रसंग में मेरी बात कहीं नहीं आती। मैं अनेकानेक साधारण प्राणियों में से हूँ। वे असाधारण हैं। उन्हें जीवन में असाधारण का ही संसर्ग चाहिए।" वह निश्छल, नि:स्वार्थ, प्रेममयी तो यह सोचकर प्रमुदित है कि मैं स्वप्रेमी के काव्योत्कर्ष में बाधक नहीं बनी हूँ, मैंने उन्हें उज्जयिनी भेजकर बड़ा उत्तम कार्य किया है। हाँ, भाग्य के हाथों ठोकरें खाकर उसे इस तथ्य का ज्ञान हो जाता है कि जीवन भावना ओर कल्पना के आधार पर नहीं जिया जा सकता, उसकी स्थूल अपेक्षाएँ बड़ी निष्ठूर और क्रूर होती हैं। उसकी भावनाएँ कालिदास की सतत् उपेक्षा के कारण भूलुंठित हो उठती है– अपने अभावमय या कहिए वास्तविक जीवन में उसे विलोम की अंकशायिनी बनने को विवश होना पड़ता है– वह अपना नाम खोकर एक विशेषण (कुलटा) मात्र रह जाती है।

टास्क कालिदास एक असफल प्रेमी है– कथन पर टिप्पणी कीजिए।

सच्चे प्रेमी और प्रमिकाओं का एक-दूसरे को देखने का दृष्टिकोण बदल जाता है–उन्हें उनके अवगुण भी गुण प्रतीत हुआ करते हैं। मल्लिका कालिदास की सच्ची प्रेमिका है और उसे अपने हृदय का समस्त भावना से अनुराग करती है। यही कारण है कि वह स्वप्रेमी के विरोध में एक शब्द तक नहीं सुन पाती और उसके दोषों को भी गुण, उसकी दुर्बलताओं को भी शक्ति के रूप में प्रस्तुत करती है। उसका हृदय यह अनुभव करके कचोट उठता है कि उसकी माँ भी ग्राम के अन्य लोगों की तरह कालिदास को संदेह ओर वितृष्णा की दृष्टि से देखती हैं जब दंतुल और कालिदास में आहत हरिणशायक को लेकर विवाद होता है तो आरंभ में तो वह दंतुल को यह कहकर फटकारती है कि तुम्हें ऐसे लांछन (चोरी करने में निपुणता) लगाते लज्जानुभव नहीं होता! जब कालिदास हरिणशावक को लेकर चला जाता है ओर दंतुल अपनी तलवार की मूठ पर हाथ रखकर पीछा करना चाहता है, तो वह उसका मार्ग रोक कर खड़ी हो जाती है और उसे डपटती हुई-सी कहती है– "ठहरो राजपुरुष! हरिणशावक के लिए हठ मत करो। तुम्हारे लिये प्रश्न अधिकार का है, उनके लिये संवेदना का। कालिदास नि:शस्त्र होते हुए भी तुम्हारे शस्त्र की चिंता नहीं करेंगे।" वह अपनी माँ से इस हेतु झगड़ती है कि वह कालिदास के विषय में उदारतापूर्वक नहीं सोचती, उसे पूर्वाग्रह के कारण उसके गुण भी दोष प्रतीत होते हैं। अंबिका बड़ा स्वाभाविक प्रश्न करती है कि यदि उसका भी तुमसे भावना का संबंध है, तो वह तुमसे विवाह क्यों नहीं करता? यह प्रश्न अपने आप में बड़ा सार्थक था, किंतु मल्लिका का प्रमाप्वाचित हृदय इस विकट प्रश्न को भी यह कह कर हवा में उड़ा देता है– 'तुम उनके

नोट

प्रति सदा अनुदार रही हो माँ। तुम जानती हो कि उनका जीवन परिस्थितियों की कैसी विडंबना में बीता है। मातुल के घर में उनकी क्या दशा रही है? उस साधनहीन और अभावग्रस्त जीवन में विवाह की कल्पना ही क्योंकर की जा सकती है।" विलोम जब-जब कालिदास पर व्यंग्य प्रहार करता है या अंबिका से बातें करते हुए उस पर आक्षेप लगाता है वह विलोम पर विगड़ उठती है। निक्षेप द्वारा इस ओर इंगित करे पर कि व्यवसायियों के मुख कालिदास के विषय में कुद अपवाद (वारांगनाओं का सहचर्य) सुनने को मिले हैं, तो वह कालिदास का पक्ष लेती हुई कह उठती है कि उन्नति करने वालों के विषय में लोगों की इस प्रकार के अपवाद फैलाने की आशा ही होती है। जब कालिदास उज्जयिनी से दो-तीन वर्ष पश्चात् ग्राम-प्रांतर में आने पर भी मल्लिका से साक्षात्कार करने नहीं आते और अंम्बिका तथा विलोम उनके इस आचरण की कटु शब्दों में निंदा करते हैं, तो मल्लिका उत्तेजित हो उठती है। वह विलोम की बाँह पकड़ कर अपने घर से बलात् निकाल देने की चेष्टा करती है और उसके द्वारा ढीठतापूर्वक तब भी न जाने पर अपनी माँ से कातर स्वर में कहती है– "माँ इनसे कहो ये यहाँ से चले जायें। मैं नहीं चाहती कि इस समय यहाँ कोई अयाचित स्थिति उत्पन्न हो।" कालिदास द्वारा उससे बिना मिले ही लौट जाने पर उसके संयम का बाँध टूट जाता है। और वह सिसकती हुई स्वमाता के वक्ष में मुख छिपा लेती है। किंतु जब उसकी माँ उसे यह कह कर समझाती है– "अब भी रोती हो? उसके लिए? उस व्यक्ति के लिए जिसने ...?" –तो मल्लिका और भी अधिक सिसकती हुई कह उठती है– "उनके संबंध में कुछ मत कहो माँ, कुछ मत कहो...।"

स्वाभिमानिनी–मल्लिका के हृदय में आत्म-सम्मान या स्वाभिमान की भावना भी पर्याप्त मात्रा में है। प्रियंगुमंजरी उसके समक्ष यह प्रस्ताव रखती है कि तुम्हारे घर का परिसंस्कार करा दिया जाय, किंतु वह उसके इस प्रस्ताव को विनम्रतापूर्वक अस्वीकार कर देती है, क्योंकि इससे उसके आत्म-सम्मान को ठेस पहुँचती है– "आप बहुत उदार हैं। परंतु हमें ऐसे घर में रहने का ही अभ्यास है, इसलिए हमें असुविधा नहीं होती।" विलोम से वह घृणा करती है ओर उसका रंगमात्र भी अहसान नहीं चाहती। इसीलिये जब वह उसकी माँ के लिए मधु दे जाने की बात कहता है तो वह कह देती है– "हमें मधु की आवश्यकता नहीं है। हमारे घर में मधु पर्याप्त मात्रा में है।" कालिदास जब ग्राम-प्रांतर में आकर भी उससे मिलने नहीं आता तो उसका स्वाभिमान आहत हो उठता है और उसके मुख से ये शब्द फूट पड़ते हैं "आज वर्षों के अनंतर तुम लौटकर आये हो। सोचती थी कि तुम आओगे तो उसी तरह मेघ घिरे होंगे, वैसा ही अंधेरा-सा दिन होगा, वैसे ही एक बार मै वर्षा में भीगूंगी और तुमसे कहूँगी देखो मैं ने तुम्हारी सब रचनाएँ पढ़ी हैं। ××× परंतु आज तुम आए हो तो वातावरण और है। और ... और नहीं सोच पाती कि तुम भी कहीं हो या ...।" इसी प्रकार जब पियंगुमंजरी उसके समक्ष यह प्रस्ताव रखती है कि वह अनुनासिक ओर अनुस्वार नामक राज्याधिकारियों में से किसी के साथ विवाह कर ले, तो उसके आत्माभिमान को बड़ी ठेस पहुँचती है और वह उससे कह देती है कि आप इस विषय मं चर्चा न ही करें तो अच्छा है। हाँ, उसका यह स्वाभिमान अंत तक स्थिर नहीं रह पाता–उसे नियति के समक्ष घुटने टेकने पड़ जाते हैं। वह उसी विलोम की अंक-शायिनी बनने को विवश हो जाती है, जिससे वह तीव्र घृणा करती आयी है।

विनम्र–मल्लिका के चरित्र में विनम्रता का पर्याप्त पुट है और वह प्रस्तुत नाटक के प्राय: प्रत्येक पात्र के साथ शालीनता प्रदर्शित करती दृष्टिगत होती है। विलोम के प्रति उसका मन कटु घृणा से भरा रहता है, किंतु उसकी कटूक्तियों का उत्तर देते हुए भी वह आर्य तथा अन्य आदरास्पद शब्दों का ही प्रयोग करती है उदाहरणार्थ उसके कुछ कथन द्रष्टव्य हैं–

(क)"आर्य विलोम, यह समय और स्थान निस्सन्देह इन बातों के लिए नहीं है। मैं आपको इस समय यहाँ देखने की आशा नहीं कर रही थी।"

(ख) "आर्य विलोम, आप अपनी सीमा से बाहर जाकर बातें कर रहे हैं। मैं बालिका नहीं हूँ, अपन शुभ-अशुभ समझती हूँ।"

(ग) "आर्य विलोम, मैं इस प्रकार की अनर्गलता को अक्षम्य समझती हूँ।"

निक्षेप तथा प्रियंगुमंजरी से हुए वार्तालापों में भी मल्लिका की शालीनता टपकती है। उसके प्रियंगुमंजरी से कही गई

नोट

उक्तियाँ द्रष्टव्य हैं– "यह हमारा सौभाग्य होगा कि आप कुछ दिनों के लिए इस प्रदेश में रह जाएँ। यहाँ आपको असुविधा तो होगी, फिर भी ...।" तथा– "क्षमा चाहती हूँ। मैं अपने को ऐसे गौरव की अधिकारिणी नहीं समझती।"

करुण-हृदया– आलोच्य नाटक के आरंभिक वृश्य में ही हमें मल्लिका के करुणा-आप्लावित हृदय के दर्शन हो जाते हैं। कालिदास द्वारा उसके विषय में कहे गये वे शब्द पूर्णतया सार्थक हैं जिन्हें वे हरिणशावक को छाती से लगा कर मल्लिका के यहाँ लाने के समय कहते हैं– "तुम्हें वहाँ ले चलता हूँ जहाँ तुम्हें अपनी माँ की-सी आँखें और उसका सा-ही स्नेह मिलेगा।" क्योंकि जैसे ही वह आहत हरिणशावक को देखती है, वह अधीर होकर पूछ बैठती है– "यह आहत हरिणशावक? यहाँ ऐसा कौन व्यक्ति है जिसने इसे आहत किया? क्या दक्षिण की तरह यहाँ भी ...?" उसके लिए दूध ले आती है और उसे गोद में लेकर उसका मुख दूध के निकट ले जाती है। नाटक के अंतिम दृश्य में भी उसका स्वपुत्री के प्रति वात्सल्य भाव उसकी प्रेम-भावना पर विजयी दृष्टिगत होता है। वह कालिदास-कालिदास पुकारती हुई ड्योढ़ी तक आ पहुँचती है, किंतु अपनी गोद में पुत्री को देखकर ठिठक जाती है ओर उसे आवेशपूर्वक चूम-चूम कर यह भाव व्यक्त कर देती है कि प्रेमी के लिए मैं संतति की उपेक्षा नहीं कर सकती।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि मल्लिका का चरित्रांकन कृतिकार ने बड़ी सहृदयतापूर्वक किया है। उसमें उसके चरित्रौदात्य को इतना महिमान्वित कर दिया है कि कृति के नायक कवि-कुल-गुरु कालिदास का चरित्र मलिन प्रतीत होने लगता है। मोहन राकेश ने 'लहरों के राहजंस' की भूमिका में मल्लिका के विषय में जो उद्‌गार व्यक्त किये है। वे पूर्णतया सार्थक हैं– "मल्लिका का चरित्र एक प्रेयसी और प्रेरणा का नहीं, भूमि में रोपित उस आस्था का भी है जो ऊपर से झुलसकर भी अपने मूल में विरोपित नहीं होती।" नाटक में मातुल द्वारा उसके विषय में प्रयुक्त किए गए ये विशेषण भी पूर्णतया उचित हैं कि "वह सारे प्रदेश में सबसे सुशील, सबसे विनीत और सबसे भोली लड़की है।" उसके प्रेमी द्वारा यद्यपि उसकी प्रेम-भावना के साथ खिलवाड़ ही किया जाता है, किंतु अंततः वह भी यह स्वीकार करते मिलता है कि मेरे समस्त कृतित्व की मूल प्रेरणा तुम्हीं रही हो–कुमार-संभव की तपस्विनी उमा, मेघदूत की विहर-विमर्दिता यक्षिणी तथा अभिज्ञान-शाकुंतलम की शकुंतला तुम्हीं हो। मल्लिका की अनूठी समर्पण-भावना, निश्छल प्रेम, अनुपम त्याग, धैर्य, विनम्रता, दयार्द्रता और स्वाभिमान की जितनी भी प्रशंसा की जाए वही कम है। अपने इस चारित्रिक औदात्य के कारण ही वह तब भी हमारी घृणा नहीं अपितु करुणा की ही पात्र बनती है, जब परिस्थितियों की मार के समक्ष घुटने टेककर वह विलोम की अवैध संतति की जननी बन जाती है। उसका चरित्र पुकार-पुकार कर इस तथ्य की उद्‌घोषणा कर रहा है कि नारी का जीवन कितना दयनीय होते हुए भी किस प्रकार अमित प्रेरणा का स्रोत होता है– त्यागमयी नारियाँ अपने प्रियजनों के लिऐ अपना जीवन उत्सर्ग कर देती हैं, फिर भी उन्हें उनका प्राप्य गौरव नहीं मिल पाता।

26.1.2 कालिदास

कालिदास के चरित्रांकन के विषय में मोहन राकेश पर यह दोषारोपण किया गया है कि उन्होंने कालिदास के चरित्र को गिरा दिया है और हम भी ऐसा ही अभिमत रखते हैं। नाटक के प्रथम अंक के उस प्रसंग के अतिरिक्त जिसमें वे एक आहत हरिणशावक की रक्षा करते हुए दंतुल से शत्रुता तक मोल ले लेते हैं और उसकी धमकियों की चिंता न करते हुए हरिणशावक को लेकर चल देते हैं, तथा राज्याश्रय स्वीकार करना नहीं चाहते, अन्यथा नाटक के अन्य प्रसंगों में उनका चरित्र एक साधारण मानव से भी दुर्बल है। प्रश्न इस बात का नहीं है कि कालिदस का अपना व्यक्तिगत जीवन कैसा रहा होगा– संभव है वे इससे भी अधिक दुर्बल-पतित रहे हों–किंतु अपने प्रसिद्ध पूर्वजों का चरित्रांकन यदि हमे एसे रूप में न करें जिससे उनके प्रति हमारी घृणा ही उद्‌बुद्ध हो तो अच्छा है। कालिदास की अंबिका और विलोम द्वारा जो निंदा की जाती है और वह निंदा भी ऐसी कि जो सारहीन नहीं प्रतीत होती। मल्लिका के पावन-प्रेम को सर्वथा भुलाकर जिस रूप में वे नरेश-दुहिता से विवाह करके वहीं के हो रहते हैं, मल्लिका की सुधि तक नहीं लेते, उनका समय वारांगनाओं के साहचर्य में व्यतीत होने का अपवाद फैलता है, ग्राम-प्रांतर में आकर भी वे मल्लिका से नहीं मिलते, तथा नाटक के अंत में अपनी इस स्वार्थध मनोवृत्ति को प्रकट

नोट

करने के पश्चात् कि मैं तो समझ रहा था कि तुम अर्थात् मल्लिका और ग्राम की सभी वस्तुएँ यथावत होंगी, – वे निरीहदयनीय मल्लिका को जिस तरह क्षण भर में ही त्याग कर भाग खड़े होते हैं–उनका यह आचरण किसी भावुक कवि के लिए तो शोभन है ही नहीं, किसी साधारण मनुष्य को भी शोभा नहीं देता। हाँ, कालिदास इस नाटक के नायक हैं और मल्लिका के अतिरिक्त अन्य पात्रों मं सर्वप्रमुख स्थान रखते है। मल्लिका के समान वे नाटक के सभी पात्रों के संसर्ग में तो नहीं आते, हाँ, अधिकांश पात्रों के संसर्ग में आते हैं। दंतुल से उनका हरिणशावक के विषय में विवाद होता है विलोम उनका प्रतिद्वद्वी है, मातुल उनका भमा है। इसी प्रकार प्रियंगुमंजरी उनकी पत्नी है, तो नाटक की नायिका मल्लिका उनकी प्रेयसी है। अंबिका उनकी इस हेतु आलोचना करती रहती है कि उन्होंने उसकी पुत्री को गुमराह कर रखा है, तो रंगिणी और संगिनी उनकी जन्मभूमि का विशेष अध्ययन करने आती हैं। हाँ, प्रस्तुत नाटक की घटनाओं की योजना में वे द्वितीय स्थान के ही अधिकारी हैं, प्रथम स्थान मल्लिका का ही है। कालिदास के चरित्र के विविध पक्षों को निम्नांकित शीर्षकों में विभक्त किया जा सकता है–

क्या आप जानते हैं

नाटक में कालिदास ऐतिहासिक पात्र हैं इसके साथ ही, नाटककार ने उसमें कल्पना का समावेश भी किया है।

(क) पशुओं के प्रति दयालु– प्रस्तुत नाटक के प्रथम अंक की आरंभिक घटना से ही कालिदास के चरित्र के इस पक्ष पर प्रकाश पड़ जाता है। दंतुल द्वारा आहत हरिणशावक दौड़कर उसकी गोद में आ जाता है जिसे देख कर वे ऐसा दुखानुभव करते हैं मानो उन्हीं के शरीर में बाण लगा हो। वे उसे गोद में उठा कर मल्लिका के घर की ओर चल देता है, और अपनी सहृदयता का परिचय देते हुए कहता है– "हम जिएँगे हरिणशावक! जिएँगे न! एक बाण से आहत होकर हम प्राण नहीं देंगे। हमारा शरीर कोमल है तो क्या हुआ? हम पीड़ा सह सकते हैं। एक बाण प्राण ले सकता है तो उँगलियों का कोमल स्पर्श प्राण दे भी सकता है। हमें नये प्राण मिल जाएँगे। हम कोमल आस्तरण पर विश्राम करेंगे। हमारे अंगों पर घृत का लेप होगा। कल फिर हम वनस्थली में घूमेंगे। कोमल दुर्वा खायेंगे। खायेंगे न?"

मल्लिका के घर पहुँचकर वे ऐसी बातें करता है मानो उस आहत हरिणशावक और स्वयं में कुछ अंतर ही न हो– "हम सोयेंगे? हाँ, हम थोड़ी देर सो लेंगे तो हमारी पीड़ा दूर हो जाएगी। परंतु उससे पहले हमें थोड़ा दूध पी लेना है। ... मल्लिका, थोड़ा दूध हो तो किसी भाजन में ले आओ।" वे मल्लिका से यह कामना भी व्यक्त करता है कि वह उसको आस्तरण पर सुला दे। जब दंतुल वहाँ आकर उस आहत हरिणशावक को माँगता है और कहता है कि यह मेरी संपत्ति है तब कालिदास उत्तर देता है– "यह हरिणशावक इस पार्वत्य भूमि की संपत्ति है राज-पुरुष! और इसी पार्वत्य भूमि के निवासी हम इसके सजातीय हैं। तुम यह सोचकर भूल कर रहे हो कि हम इसे तुम्हारे हाथ में सौंप देंगे। ... मल्लिका, इसे अंदर ले जाकर तल्प पर या किसी आस्तरण पर ..." यह जानते हुए भी कि किसी राज-पुरुष से झगड़ा मोल लेना अच्छा नहीं है वह हरिणशावक को लेकर चल देता है और दंतुल देखता ही जाता है। कालिदास के स्वभाव से परिचित मल्लिका उसके विषय में ठीक ही कहती है। "ठहरो राजपुरुष! हरिणशावक के लिए हठ मत करो। तुम्हारे लिए प्रश्न अधिकार का है, उनके लिए संवेदना का। कालिदास निःशस्त्र होते हुए भी तुम्हारे शस्त्र की चिंता नहीं करेंगे।"

(ख) स्वाभिमानी– कालिदास के चरित्र में स्वाभिमान की भावना भी पर्याप्त मात्रा में है। वह समझता है कि राज्याश्रय में रहने वाले कवियों को नरेशगण थोड़ी-सी मुद्राएँ देकर अपना क्रीत-दास बना लेते हैं जिससे उनकी काव्य-प्रतिभा का उचित विकास नहीं हो पाता और वे उन नरेशों की प्रशस्ति में रचनाएँ लिखने लगते हैं। यही कारण है कि कालिदास के मामा मातुल राजकीय सम्मान मिलने की बात सुनकर बड़े प्रसन्न होते हैं किंतु कालिदस उसे ठुकराते हुए जगदंबा के मंदिर में जा छुपते हैं। मातुल के शब्दों में "मैंने कहा कविवर, आचार्य आपको साथ उज्जयिनी ले जाने के लिए आए हैं। राज्य की ओर से आपका सम्मान होगा। (रुक जाता है) सुन कर रुके। रुक

नोट

कर जलते अंगारे की दृष्टि से मुझे देखा। –'मैं राजकीय मुद्राओं से क्रीत होने के लिए नहीं हूँ।' ऐसे कहा जैसे राजकीय मुद्राएँ आपके लिए विरह में घुली जाती हों और चल दिये। ... मेरे लिए धर्म संकट खड़ा हो गया कि अनुनय करता हुआ आपके पीछे-पीछे जाऊँ या अभ्यागतों को देखूँ।" अंबिका उनके इस आचरण को ढोंग बताती है किंतु निक्षेप स्पष्ट कर देता है कि वे ढोंग नहीं कर रहे अपितु उन्हें राजकीय सम्मान का वास्तव में ही मोह नहीं है।

(ग) दुर्बल हृदय प्रेमी– मल्लिका की तुलना में कालिदास एक दुर्बल हृदय प्रेमी सिद्ध होता है। मल्लिका अपना तन-मन उन पर न्यौछावर कर देती है और उसे विवाह करने की आशा में किसी अन्य पुरुष से विवाह करने से इनकार कर देती हैं जैसा कि निक्षेप कथन से ज्ञात होता है, कालिदास ने भी ग्राम-प्रांतर में रहते हुए यह इच्छा व्यक्त की थी कि मैं भी आजीवन विवाह (मल्लिका के अतिरिक्त किसी अन्य युवती से) नहीं करूँगा, किंतु वह उज्जयिनी जाकर नरेशपुत्री प्रियंगुमंजरी से विवाह कर लेता है। जब उनके उज्जयिनी जाने के समय अंबिका और विलोम मल्लिका को इस बात के लिए भड़काते हैं कि उसका और कालिदस का विवाह हो जाना चाहिए, तो वह अपनी उदास भावन का परिचय देती हुई कह देती है कि इस अवसर पर जबकि उनके जीवन में महान परिवर्तन आने वाला है मैं अपने स्वार्थ का परिचय नहीं देना चाहती। इसके विपरीत जब विलोम कालिदास से मल्लिका के साथ विवाह करने के विषय में प्रश्न करता है तो कालिदास यह कह कर टाल जाता है कि तुम दूसरों के घर में अनाधिकार आने के समान उनके जीवन में भी अनाधिकार प्रवेश कर जाते हो। इसके साथ ही कालिदास ग्राम-प्रांतर को त्यागने से पूर्व मल्लिका के विषय में विशेष लगाव नहीं दिखाता। अपितु वे वहाँ न जाने का जो कारण बताता है उससे यह ध्वनि निकलती है कि उसकी दृष्टि में मल्लिका का मूल्य वहाँ के पशुपालों और हरिणशावकों से अधि क नहीं हैं– "मैं अनुभव करता हूँ यह ग्राम-प्रांतर मेरी वास्तविक भूमि है। मैं कई सूत्रों से इस भूमि से जुड़ा हूँ। उन सूत्रों में तुम हो, यह आकाश और मेघ हैं, यहाँ की हरीतिमा है, हरिणों के बच्चे हैं, पशुपाल हैं।"

कालिदास को यह तथ्य भली प्रकार विदित है कि उन्हें उज्जयिनी जाने के लिए विवश करती हुई मल्लिका की मनोदशा कैसी हो उठी है और वे उससे कहते भी हैं– 'मैं चाहता हूँ कि इस समय तुम अपनी आँखें देख सकतीं–" किन्तु वे राजधानी में पहुँच कर मल्लिका को सर्वथा भुला देता है।

वह नरेश-पुत्री से विवाह कर लेता है और जैसा कि लोकापवाद था। वे वीरांगनाओं के साहचर्य में जीवन व्यतीत करने लगता है। मल्लिका के हृदय को बड़ा आघात पहुँचता है जब वह ग्राम-प्रांतर में आकर भी मल्लिका से नहीं मिलता। इस विषय में नाटक के तीसरे अंक में वह जो तर्क प्रस्तुत है वे बड़े लचर हैं। समझ में नहीं आता कि ऐसी वह कौन-सी विश्वविजय की यात्रा पर निकल रहे थे जिसमें व्याघात पड़ जाता, यदि वे मल्लिका से मिलकर जाता? उसका यह कथन कितना खोखला है– 'मैं तब तुमसे मिलने के लिए नहीं आया क्योंकि तुम्हारी आँखें मेरे अस्थिर मन को और अस्थिर कर देंगी। मै उनसे बचना चाहता था। उसका कुछ भी परिणाम हो सकता था। मैं जानता था तुम पर उसकी क्या प्रतिक्रिया होगी, दूसरे तुमसे क्या कहेंगे। फिर भी इस संबंध में निश्चित था कि तुम्हारे ..... भाव हो जाएगा। और मैं यह आशा लिए हुए चला गया कि एक कल ऐसा आएगा तब मैं तुमसे यह सब कह सकूँगा।

कालिदास के चरित्र में यह विचित्र असंगति परिलक्षित होती है। कि वे अपनी प्रमिका मल्लिका के जीवन को पुष्प की पंखुड़ियों की भाँति मसल कर नष्ट-भ्रष्ट कर देता है–उस पितृ एम् मातृहीना, दीन-हीना नवयौवना की ओर रंचमात्र भी ध्यान नहीं देता, जबकि दावा यह करता हैं कि यह उनके जीवन का मूल प्रेरणास्त्रोत रही है। अंबिका द्वारा उसके विषय में कहे गये यह शब्द उचित ही प्रतीत होते हैं– "मैं ऐसे व्यक्ति को अच्छी तरह से समझती हूँ। तुम्हारे साथ उसका इतना ही संबंध है कि तुम एक उपादान हो, जिसके आश्रय से वह अपने से प्रेम कर सकता है, अपने पर गर्व कर सकता है। परन्तु तुम क्या सजीव व्यक्ति नहीं हो?" प्रस्तुत नाटक में वास्तव में ही कालिदास को मल्लिका के प्रति अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह नहीं कर पाते, हाँ, मल्लिका के समान कुछ क्षण तक पाठक-प्रेक्षक भी कालिदास के इस कथन से प्रभावित होते हैं– "लोग सोचते हैं, मैंने उस जीवन और वातावरण में रह कर बहुत कुछ लिखा है। परंतु मैं जानता हूँ मैंने वहाँ रह कर कुछ नहीं लिखा। जो कुछ लिखा है वह

नोट

यहाँ के जीवन का संचय था। कुमारसंभव की भूमिका यह हिमालय और तपस्विनी उमा तुम हो। मेघदूत में यक्ष की पीड़ा मेरी पीड़ा है और विरह-विमर्दिता यक्षिणी तुम हो, यद्यपि मैंने स्वयं यहाँ होने और तुम्हें उज्जयिनी में देखने की कल्पना की। अभिजान शाकुंतलम में शकुंतल में रूप में तुम्हीं मेरे सामने थीं। मैंने जब-जब लिखने का प्रयत्न किया तुम्हारे और अपने जीवन के इतिहास को फिर-फिर दोहराया। और जब उससे हट कर लिखना चाहा तो रचना प्राणवान नहीं हुई। रघुवंश में आज का विलाप भी मेरी ही वेदना की अभिव्यक्ति थी और ...।" तदनंतर जब हम उसे यह इच्छा व्यक्त करते देखते हैं कि वह मल्लिका के साथ रहते हुए जीवन को पुनः अथ से आरंभ करना चाहता है तो यह सोचकर प्रमुदित हो उठते हैं कि चलो सुबह का भूला शाम को घर आ पहुँचा है। किंतु हमारी इस प्रसन्नता और मल्लिका की आशा-आकाँक्षाओं पर शीघ्र ही तुषारापात हो जाता है जब कालिदास यह ज्ञात होने पर कि मल्लिका विलोम की अवैध पुत्री की माँ बन चुकी है, मल्लिका को बिलखती छोड़ जाता है। और उसे विवशतापूर्वक विलोम के समक्ष आत्मसमर्पण करना पड़ता है। कालिदास के प्रेम में त्याग और क्षमा का कोई स्थान ही नहीं है, वे तो मात्र ग्रहण करना ही जानता है, इसलिए वह मल्लिका के इस परिस्थितिजन्य चारित्रिक-स्खलन को क्षमा नहीं कर पाता। कालिदास का यह आचरण न तो एक सच्चे प्रेमी के अनूकूल है और न एक महान कवि के ही, बेचारी मल्लिका उसकी अहं तुष्टि का क्षुद्र माध्यम मात्र बनकर रह जाती है।

(घ) वाक्पटुता– कालिदास कवि-कलाकार है और कवि भी उत्तम कोटि का, अतः उसका वाक्पटु होना स्वाभाविक ही है। वे अपने आचरण से तो नहीं, हाँ अपनी बातों से अपने विपक्षियों और मित्रों को प्रभावित करने में पटु हैं। वह मल्लिका के घर में घुस आने वाले दंतुल को डपटते हुए पूछता है– "जहाँ तक मैं जानता हूँ हम लोग परिचित नहीं हैं। तुम्हारा एक दूसरे के अपरिचित घर में आने का साहस कैसे हुआ?" इसी प्रकार वह विलोम द्वारा यह प्रश्न करने पर कि तुम राजधानी अकेले ही जाओगे अथवा मल्लिका के साथ विवाह करके इसे भी अपने साथ ले जाओगे? ऐसा उत्तर देते हैं जिससे विलोम को बगले झांकनी पड़ती हैं– "मैं तुम्हारी प्रशंसा करने के लिए अवश्य बाध्य हूँ। तुम दूसरों के घर में ही नहीं, उनके जीवन में भी अनाधिकार प्रवेश कर जाते हो।" इसी प्रकार वह मल्लिका से भी चिकनी-चुपड़ी बातें ही करते रहते हैं। अपने आचरण द्वारा ऐसा कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं करता जिससे यह स्पष्ट हो सके कि उसे वास्तव में मल्लिका कितना प्रेम है।

(ड.) स्वार्थी एवं आत्मकेंद्रित– प्रस्तुत नाटक में कालिदास का जैसा चरित्रांकन किया गया है उससे वे एक आत्म-केंद्रित एवं स्वार्थी व्यक्ति सिद्ध होता है। क्योंकि जब अंबिका की वास्तव में ही मृत्यु हो जाती है तब भी कालिदास वह मल्लिका के भरण-पोषण की चिंता या उसको पत्नी के रूप में अपना लेने की चेष्टा करता हुआ नहीं दिखाई देता। वह काश्मीर के शासक होने का जो भार स्वीकार करते है उसके मूल में भी उसकी यह स्वार्थ-भावना है कि वह अपने विरोधियों से बदला लेना चाहता है। उसी के शब्दों में– "तुम्हें बहुत आश्चर्य हुआ था कि मैं काश्मीर का शासन संभालने जा रहा हूँ? तुम्हें यह बहुत अस्वाभाविक लगा होगा। परंतु मुझे कुछ भी अस्वाभाविक प्रतीत नहीं होता। अभावपूर्ण जीवन की वह एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया थी। संभवतः उसमें कहीं उन सबसे प्रतिशेध लेने की भावना भी थी जिन्होंने जब-तब मेरी भर्त्सना की थी, मेरा परिहास उड़ाया था।"

विलोम से जब कालिदास मल्लिका के घर से चले जाने के लिए कहता है तो उसके द्वारा कालिदास आलोचना करना पूर्णतया सार्थक होने के साथ-साथ उसके स्वार्थी एवं आत्म-केंद्रित स्वरूप पर भी प्रकाश डालता है–"क्योंकि तुम यहाँ लौट आए हो?... क्योंकि वर्षों से छोड़ी हुई भूमि आज फिर तुम्हें अपनी प्रतीत होने लगी है? क्योंकि तुम्हारे अधिकार शाश्वत हैं? (हँसता है) जैसे तुम से बाहर जीवन की गति ही नहीं है। तुम्हीं तुम हो और कोई नहीं है। समय निर्दय नहीं रहा। उसने औरों को अवसर दिया है। निर्माण किया है। .. तुम्हें उसके निर्माण से वितृष्णा होती है, क्योंकि तुम जहाँ अपने को देखना चाहते हो नहीं देख पाते।"

(च) असफल राजनेता– भावुक कवि और साहित्यकार राजनीति में सफल नहीं हो पाते क्योंकि उसमें छल-छद्म ओर राजनैतिक हथकण्डों को जानने वाली विवेक-बुद्धि की आवश्यकता पड़ती है। इस दृष्टि से यह तथ्य कालिदास के जीवन की भूल ही थी कि वह अपने विपक्षियों को नीचा दिखाने की कामना से काश्मीर का शासन भार सँभाल लेता है। यह कहा जा सकता है कि यदि उसे प्रियंगुमंजरी जैसी राजनीति कुशल पत्नी न मिली होती तो वे काश्मीर

नोट

का शासन उतने दिनों तक भी न संभाल पाता जितने दिनों के पश्चात् उन्हें काश्मीर का शासन छोड़ कर भागना पड़ा। उसके अपने राजनैतिक जीवन के विषय में व्यक्त किये गये ये उद्‌गार उचित ही हैं– "किसी और के लिए वही वातावरण और जीवन स्वाभाविक हो सकता था। मेरे लिए नहीं था। एक राज्याधिकारी का कार्यक्षेत्र मेरे कार्यक्षेत्र से भिन्न था। मुझे बार-बार अनुभव होता कि मैंने प्रभुता और सुविधा के मोह से उस क्षेत्र में अनाधिकार प्रवेश किया है और जिस विशाल क्षेत्र में मुझे रहना चाहिए था उससे हट पाया हूँ।" प्रियंगुमंजरी के अग्रलिखित कथन से इसी तथ्य का प्रकाशन होता है कि कालिदास स्वयं को राजनैतिक जीवन के अनुरूप ढाल नहीं पाता– "वे भी जब-तक यहाँ के जीवन की चर्चा करते हुए आत्मादी-मृत हो जाते हैं। इसलिए राजनीतिक कार्यों से कई बार उनका मन उचटने लगता है। ... ऐसे अवसरों पर उनके मन को संतुलित रखने के लिए बहुत प्रयत्न करना पड़ता है।"

संक्षेप में, कहा जा सकता है कि प्रस्तुत नाटक में कालिदास का जिस रूप में चरित्रांकन किया गया है, उसमें से हमें उसके चरित्र के मात्र दो गुण ही प्रभावित कर पाते हैं। उसका प्रशु-पक्षियों के प्रति करुणा-प्लावित हृदय रखना और अपने कवि-व्यक्तित्व की रक्षा करने के लिए राजकीय सम्मान को ठुकराने को प्रस्तुत हो जाना। वह स्वार्थी है, आत्म-केंद्रित है–अपनी प्रेयसी के साथ विश्वासघात करता है, तथा राजकीय सम्मान प्राप्त करके अपना चोला गिरगिट की तरह बदल लेता है। ऐश्वर्य-मद में वे अपनी प्रेयसी मल्लिका को तो भूल ही जाता है, उसे अपने मामा मातुल की भी कोई चिंता नहीं है। मातुल के भवन के पुनर्निर्माण और उसको काश्मीर लिवा ले जाने में उसका नहीं अपितु प्रियंगुमंजरी का हाथ है। विदुषी प्रियंगुमंजरी ही मल्लिका के ग्राम-प्रांतर के वातावरण को काश्मीर ले जाने की इच्छा से जहाँ वहाँ के हरिणशावक आदि उपादान साथ ले जाती है, वहाँ मातुल को भी साथ ले जाती है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि कविकुल-गुरु की उपाधि से समाहित होने वाले तथा विश्व-साहित्य में भारतीय साहित्य को सम्मान्य स्थान दिलाने वाले कालिदास का चरित्रांकन अपेक्षित रूप में नहीं हुआ है। इस संदर्भ में मोहन राकेश द्वारा 'लहरों के राजहंस' में व्यक्त किया यह अभिमत भी संदर्भगत त्रुटि का मार्जन नहीं कर पाता– "मुझे आश्चर्य हुआ कि आलोचक संस्कृत के पंडित होकर भी कालिदास को व्रती, तपस्वी, महात्मा मानते हैं। अभिज्ञान शाकुंतलत, कुमार-संभव, तथा मेघदूत पढ़कर यदि कालिदास का ऐसा ही चित्र उनके मन में बनता है, तो क्या कहा जा सकता है, रूढ़ि-ग्रस्त संस्कार ही जहाँ व्यक्ति का विवेक बन जायें, वहाँ और आशा करना भी व्यर्थ है।"

26.1.3 विलोम

विलोम को कुछ आलोचकों ने इस नाटक का खलनायक बताया है जो उचित नहीं है वह अधम पात्र तो अवश्य है क्योंकि कृति की नायिका की विवशता का लाभ उठाकर उसे अपनी अंकशायिनी बनने को विवश कर देता है किंतु खलनायक का मुख्य लक्षण यह है कि वह नायक और नायिका के मिलन में पग-पग पर बाधा पहुँचाया करता है, जबकि नाटक के आरंभिक भाग में विलोम उनके मिलन में बाधक बनने के स्थान पर उनका विवाह कराने का समुत्सुक मिलता हैं इसलिए विलोम को इस नाटक का खलनायक न मान कर अधम पात्र ही मानना चाहिए। विलोम के चरित्र में अवगुणों की प्रधानता है, जिनमें से प्रथम यह है कि वह उस मल्लिका से प्रेम करता है, जो उसे घृणा करती है और इसके कारण ही उसके चरित्र में अन्य अवगुणों का समावेश हो जाता है। मल्लिका के प्रेम को जीतने के लिए वह उसकी माँ की चापलूसी करता रहता है, तथा कालिदास की प्रछन्न निंदा। बेचारी अंबिका भी वही करना चाहती है जो उसकी पुत्री की इच्छा है, और मल्लिका की इच्छाएँ कालिदास की इच्छाओं से प्रभावित हैं, और चूंकि कालिदस को स्पष्टवक्ता विलोम का मल्लिका के यहाँ आना नहीं सुहाता, अत: अंबिका भी विलोम के आने पर प्रसन्नता व्यक्त नहीं करती। विलोम के नाटक में प्रथम बार पदार्पण के समय ही उसके और अंबिका के मध्य जो वार्तालाप होता है। उससे यह तथ्य भली प्रकार स्पष्ट हो जाता है–

"अंबिका : विलोम! ... तुम यहाँ क्यों आये हो?

विलोम बाईं ओर दीपक की ओर चला जाता है)

विलोम : दीपक जला दूँ!

नोट

(उल्मुक से छूकर दोनों दीपक जला देता है और कहता है)

विलोम का आना ऐसे आश्चर्य का विषय है। ...

अंबिका– तुम चले जाओ विलोम! तुम जानते हो कि तुम्हारा यहाँ आना ....

विलोम– मल्लिका को पसन्द नहीं है।

(दीपक जलाकर अंबिका की ओर घूमता है।)

मैं जानता हूँ अंबिका! मल्लिका बहुत भोली है। वह लोक और जीवन के संबंध में कुछ नहीं जानती। ... वह नहीं चाहती कि मैं इस घर में आऊं क्योंकि कालिदास नहीं चाहता। ... और कालिदास क्यों नहीं चाहता? क्योंकि मेरी आँखों में उसे अपने हृदय का सत्य झाँकता दिखाई देता है। उसे उलझन होती है। ... किंतु तुम तो जानती हो अंबिका! मेरा एकमात्र दोष यह है कि मैं जो अनुभव करता हूँ, स्पष्ट कह देता हूँ।"

जैसा कि कहा जा चुका है वह अंबिका का कृपाभाजन बनने की चेष्टा करता रहता है। इस उद्देश्य से वह अंबिका की दयनीय दशा के प्रति संवेदना व्यक्त करता रहता है– "देख रहा हूँ इस समय तुम बहुत आर्त नहीं रही अंबिका? तुम्हारा तो जीवन ही पीड़ा का इतिहास है? पहले से कहीं दुबली हो गई हो! ... सुना है कालिदास उज्जयिनी जा रहा है।" अंबिका उसके कथन की किंचित उपेक्षा करती है तो वह मल्लिका और कालिदास का विवाह हो ही जाना चाहिए, इस तथ्य पर बल देता हुआ तथा अंबिका की दयनीय दशा के प्रति संवेदना व्यक्त करता हुआ कहता है– "कालिदास उज्जयिनी चला जायगा और मल्लिका, जिसका नाम उसके कारण सारे प्रांत में अपवाद का विषय बना है, पीछे यहाँ सब पड़ी रहेगी? क्यों अंबिका? × × × क्यों तुमने इतने वर्ष यह सब पीड़ा क्या इसी दिन के लिए सही है? दूर से देखने वाला ही अनुभव कर सकता है कि इन वर्षों में तुम्हारे साथ क्या बीता है! समय तुम्हारे मन, शरीर और आत्मा की इकाई को तोड़कर रख दिया है। तुमने तिल-तिल कर अपने को गलाया है कि मल्लिका को किसी अभाव का अनुभव न हो और आज जबकि उसके जीवन-भर अभाव का प्रश्न उसके सामने है, तुम कुछ सोचना नहीं चाहती?

विलोम ढीठ है। अंबिका उससे वहाँ से चले जाने का अनुरोध करती है किंतु वह धृष्टतापूर्वक कह देता है कि इस समय मैं अपना तुम्हारे पास होना बहुत आवश्यक समझता हूँ। कालिदास और मल्लिका के आने पर कालिदास से प्रश्न करता है कि क्या कल प्रातःकाल यहाँ से जा रहे हो? और इस ग्राम-प्रांतर को तो नहीं भूल जाओगे? वह उन बातों का भी वर्णन करने लगता है जिसके कारण यह संभावना है कि वह ग्राम-प्रांतर को भूल जायेगा। "सुना है, वहाँ जाकर व्यक्ति बहुत व्यस्त हो जाता है। वहाँ के जीवन में कई तरह के आकर्षण हैं ... रंगशालाएँ, मदिरालय और अन्यान्य विलास भूमियाँ।"

कालिदास के प्रति विश्वासमयी मल्लिका विलोम के इन कथनों को सुनरुष्ट हो उठती है और विनम्र स्वर में उससे वहाँ से चले जाने का आग्रह करती है, किंतु वह टस-से-मस तक नहीं होता। इस संदर्भ में यह तथ्य उल्लेखनीय है कि यद्यपि विलोम अपनी ढीठता के लिए निंदा का पात्र है। किंतु इसमें सन्देह नहीं कि उसे मानव-मनोविज्ञान की अच्छी जानकारी है। कुछ ही समय पश्चात् हमें उसका कथन अक्षरशः सत्य सिद्ध होते मिलता है– कालिदास वास्तव में ही राजधानी पहुँचकर वहाँ की रंगीनियों में डूब जाते हैं और मल्लिका तथा ग्राम-प्रांतर को भूल जाते हैं। विलोम ने इस तथ्य पर बल दिया था कि कालिदास के उज्जयिनी जाने से पूर्व उनसे मल्लिका का विवाह हो जाना चाहिए। यदि ऐसा हो जाता तो संभव है उनका नरेश-पुत्री के साथ विवाह नहीं होता और वे काश्मीर के शासक बनने का सौभाग्य भी प्राप्त न कर पाते, किंतु वैसा होन की दशा में अंबिका और मल्लिका के जीवन नष्ट नहीं होते।

विलोम कालिदास का प्रतिद्वंद्वी है। उसके हृदय में यह ईर्ष्या तो है ही कि वह मल्लिका जिसको वह प्रेम करता है, कालिदास के कारण उसकी उपेक्षा करती है, उसे कालिदास की कवि के रूप में सफलता के विषय में भी

नोट

ईर्ष्या है। हाँ, वह अपने ईर्ष्या-भाव को व्यक्त नहीं होने देता– उसे अपने परिहार में छिपा लेने की कला में कुशल है। वह कालिदास से कह उठता है– "विलोम क्या है? एक असफल कालिदास। ... और कालिदास? एक सफल विलोम। हम कहीं एक-दूसरे के बहुत निकट पड़ते हैं।" इसी प्रकार वह यह नहीं कहता कि उस कालिदस के राजकवि हो जाने का दु:ख है, अपितु इस तथ्य को इस रूप में बदल देता है कि एक मित्र से बिछुड़ने का किसे दु:ख नहीं होता। कालिदास उसको फूटी आँखों भी नहीं सुहाता। द्वितीय अंक में वह अंबिका और मल्लिका के समीप आकर कालिदास का इस हेतु उपहास करता है कि वह ग्राम-प्रांतर में आकर भी उनके घर नहीं आया, तथा उसकी आज्ञा से वहाँ के कंकड़-पत्थर और हरिणशावक आदि उपादान काश्मीर ले जाए जा रहे हैं। तृतीय अंक में जब वह कीचड़ में लथपथ ओर सुरापान के कारण झूमता हुआ मल्लिका के यहाँ आता हे और कालिदास को मल्लिका से बातें करते देखता है तो उसके शब्द उस पर विष में बुझे बाणों जैसा प्रहार करते हैं। वह मल्लिका से कहता है– "तुमने अभी तक कालिदास के आतिथ्य का आयोजन नहीं किया? वर्षों के अनंतर एक अतिथि घर में आए और उसका आतिथ्य न हो? तुम जानती हो कालिदास को इस प्रदेश के हरिणाशावकों से कितना मोह है? (फिर वह कालिदास की ओर मुड़ता है) एक हरिणशावक इसमें भी है। ... तुमने मल्लिका की बच्ची को अभी नहीं देखा? उसकी आँखें किसी हरिणशावक से कम सुंदर नहीं है ××× मैं इसलिए कह रहा था कि कालिदास ही देखकर बता सकें कि उसकी बात कहाँ तक सच है, कि क्या सचमुच बच्ची की अकृति विलोम से मिलती है या ...।" जब कालिदास उससे वहाँ से चले जाने को कहता है, तो विलोम उसकी भर्त्सना और उपहास करता हुआ कह उठता है– "इस घर से या ग्राम-प्रांतर से ही? सुना था शासन बहुत बली होता है? प्रभुता में बहुत सामर्थ्य होती है।" कालिदास के यह कहने पर कि मैं कह रहा हूँ, इस समय यहाँ से चले जाओ, वह कह उठता है– "क्योंकि तुम यहाँ लौट आए हो? क्योंकि वर्षों से छोड़ी हुई भूमि तुम्हें अपनी प्रतीत होने लगी है? क्योंकि तुम्हारे अधिकार शाश्वत हैं? (हँसता है) जैसे तुमसे बाहर जीवन की गति ही नहीं है। तुम्हीं तुम हो और कोई नहीं है। परंतु समय निर्दय नहीं है। उसने औरों को भी सत्ता दी है, अधिकार दिए हैं। वह धूप और नैवेद्य लिए घर की दहेली पर रुका नहीं रहा। उसने औरों को अवसर दिया है। निर्माण किया है। अंतत: वह कालिदास और मल्लिका दोनों पर ही यह व्यंग्य-बाण छोड़ता हुआ चला जाता है– "तुम चाहते हो इस समय में यहाँ से चला जाऊँ, मै चला जाता हूँ। इसलिए नहीं कि तुम आदेश देते हो परंतु इसलिए कि तुम आज यहाँ अतिथि हो, और अतिथि की इच्छा का मान होना चाहिए।" वह मल्लिका से कहता है– "देखना, मल्लिका, आतिथ्य में कोई न्यूनता न हो। जो अतिथि वर्षों में एक बार आया है वह आगे जाने कभी आएगा या नहीं।" और उसकी पहली भविष्यवाणियों के समान उसका इस बार का कथन भी सत्य सिद्ध होता है– कालिदास इस बार वास्तव में मल्लिका को ऐसा त्याग कर जाता है कि उसके पुन: लौटने की संभावना नहीं रहती।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि विलोम में मानवोचित दुर्बलताएँ तो अवश्य है– वह कालिदास से ईर्ष्या करता है, मल्लिका से उसकी इच्छा के विपरीत प्रेम करना चाहता हैं असहाय और निराश्रित मल्लिका को वह संरक्षण तो देता है किंतु उसके सतीत्व के मूल्य पर, किंतु इस तथ्य में संदेह नहीं है कि वह कल्पनाजीवी न होकर पदार्थ के ठोस धरातल पर जीने वाला पात्र है। मल्लिका का भी वह हितचिंतक ही अधिक है। और इस तथ्य पर बल देता है। कि उस सरल भावुकतामयी नवयौवना का विवाह कालिदास के साथ हो जाए। वह दूरद्रष्टा है और इस तथ्य में आशा रखता है कि समय किसी की प्रतीक्षा नहीं करता रहता। विलोम का चरित्रांकन कालिदास की अपेक्षा अधिक प्राणवान और सशक्त रूप में किया गया है।

टास्क नाटक में विलोम खलनायक है किंतु अंत में वह नायिका के साथ है इस दृष्टि से उसके सकारात्मक पक्ष पर टिप्पणी कीजिए।

नोट

26.1.4 अंबिका

अंबिका प्रस्तुत नाटक का ऐसा पात्र है जिसके प्रति पाठक-प्रेक्षकों की पूर्ण सहानुभूति रहती है। उसका मुख्य दुर्भाग्य यह है कि वह असमय ही विधवा हो जाती है तथा उसके कोई पुत्र भी नहीं है जो बड़ा होकर उसके भरण-पोषण का उत्तरदायित्व संभाल लेता। यह भी उसका दुर्भाग्य ही है कि उसकी इकलौती पुत्री मल्लिका उसके लाड़-प्यार के कारण कुछ ढीठ हो गयी है, तथा नवयौवनाओं के समान कल्पना के संसार में खोई रहती है। अनुभवी अंबिका इस तथ्य से भली प्रकार परिचित है कि युवक कालिदास जैसे आत्मकेंद्रित कवि-पुंगवों को अपनी प्रेयसियों के जीवन से खिलवाड़ करने में ही आनंदानुभव होता है। उन्हें उनके भले-बुरे की विशेष चिंता नहीं होती। वे उनसे विवाह करने का झंझट मोल लेना नहीं चाहा करते– ओर इन बातों को वह स्वपुत्री को समझाना भी चाहती है। किंतु वह स्व माता की उचित सीखों की ओर कान नहीं देती। परिणाम वही निकलता है जिसकी उसे आश थी, वह स्वपुत्री दे दु:खों से तिल-तिल कर गलती हुई, असमय ही काल-कवलित हो जाती है।

नाटक के प्रथम अंक के आरंभ में ही हमें अंबिका स्व-पुत्री के वर्षा में भी घर से बाहर रहने के तथ्य को लेकर विक्षुब्ध दिखाई देती हैं अनुभवी अंबिका यह अनुमान कर लेती है कि वह उस कालिदास के साथ ही वर्षाविहार कर रही होगी जिसको लेकर होने वाले लोकापवाद के कारण जीना दूभर हो रहा है। यही कारण है कि वर्षा में भीग कर लौटी मल्लिका के साथ वह बड़ी रूक्षता का व्यवहार करती है। उल्लसित मल्लिका उससे बार-बार बातें करने की चेष्टा करती है, किंतु वह उसकी बातें को टालती रहती हैं। अधिक आग्रह करने पर वह कह देती है– देखती नहीं हो मैं काम कर रही हूँ। हाँ, उसके हृदय में स्वपुत्री के प्रति अपार वात्सल्य-भाव है वह उससे रुष्ट तो अवश्य है फिर भी यह सोचकर कि उसे ठंड न लग जाए, उसके लिए पहले से ही सूखे वस्त्र निकाल कर रख देती है। वह उससे यह भी कहती है कि मैंने दूध औटा दिया है उसमें शकरा मिलाकर पी लो। यह तथ्य भी उसके वात्सल्य-भाव का ही परिचायक है कि यद्यपि वह उसकी प्रशंसा करने वाले विलोम के प्रति मन से संतुष्ट और प्रसन्न ही रहती है, फिर भी उसको अपने यहाँ से चल जाने को कहती है, क्योंकि उसकी पुत्री को विलोम का आगमन अच्छा नहीं लगता।

प्रत्येक भारतीय जननी के समान अंबिका भी इस तथ्य के प्रति बड़ी व्यग्र है कि उसकी पुत्री के हाथ पीले हो जाएँ। वह अग्निमित्र को इस हेतु वर-पक्ष वालों के यहाँ भेजती भी है किंतु यह सूचना पाकर व्यथित हो उठती है कि मेरी पुत्री और कालिदास के संबंधों का अपवाद वहाँ भी पहुँच गया है, जिससे उन्होंने विवाह करने से इनकार कर दिया है। मल्लिका से विवाह के विषय में यह सुनकर– "किंतु मैंने तुमसे कहा था, अग्निमित्र को कहीं भेजने की आवश्यकता नहीं है। तुम जानती हो मैं विवाह नहीं करना चाहती फिर उसके लिए प्रयत्न क्यों करती हो मैं विवाह नहीं करना चाहती फिर उसके लिए प्रयत्न क्यों करती हो? तुम समझती हो मैं निरर्थक प्रलाप करती हूँ' –उसके अंतर्मन को बड़ी ठेस पहुँचती है और वह व्यथित होकर कह उठती है कि तुम्हारी बात ही सार्थक होती जा रही है। दु:ख भरे स्वर में उसके मुख से यह उद्‌गार भी निकल पड़ते हैं– "तुम न कहो, मैं तो कह रही हूँ। आज तुम्हारा जीवन तुम्हारी संपत्ति है। मेरा तुम पर कोई अधिकार नहीं है।" जब उसके इस कथन के प्रत्युत्तर में कि मैं जानती हूँ कि तुम पर आज अपना भी अधिकार नहीं हैं किंत इतना बडा अपवाद मुझसे नहीं सहा जाता"–मल्लिका यह कहती है कि अपवाद के विषय में जानते हुए भी मैं स्वयं को दोषी नहीं मानती क्योंकि मैंने भावना में एक भावना का वरण किया है– तो अनुभवी अंबिका खेदपूर्वक कह उठती है– "और मुझे ऐसी भावना से विहुष्णा होती है ××× तुम जिसे भावना कहती हो वह केवल छलना और आत्मप्रवंचना है! .. .... भावना में भावना का वरण क्या होता है? उससे जीवन की आवश्यकताएँ किस तरह पूरी होती हैं? भावना में भावना का वरण है?"

स्व-मूल्यांकन *नोट*

दिए गए कथन के सामने सही (✓) अथवा गलत (×) का निशान लगाइए–

1. कालिदास नाटका का नायक होकर भी अंत में खलनायक प्रतीत होता है। ☐
2. कालिदास विवशतावश मल्लिका से विवाह नही कर पाता। ☐
3. मल्लिका वास्तव में विलोम से प्रेम करती है। ☐
4. मल्लिका विवश होकर विलोम से विवाह करती है। ☐

अंबिका मानव-मनोविज्ञान की भी अच्छी पारखी है। वह कालिदास की आत्मकेद्रित मनोवृत्ति की जिस रूप में भर्त्सना करती है वह अक्षरश: सत्य सिद्ध होती है। वह उसके विषय में उचित ही कहती है– "मैं ऐसे व्यक्ति को अच्छी तरह समझती हूँ। तुम्हारे साथ उसका इतना ही संबंध है कि तुम एक उपादान हो, जिसके आश्रय से वह अपने प्रेम कर सकता है, अपने पर गर्व कर सकता है। परंतु तुम क्या सजीव व्यक्ति नहीं हो! तुम्हारे प्रति उसका या तुम्हारा कोई कर्त्तव्य नहीं है? कल जब तुम्हारी माँ का शरीर नहीं रहेगा और घर में एक समय के भोजन की भी व्यवस्था नहीं होगी, तब जो प्रश्न तुम्हारे सामने उपस्थित होगा उसका तुम क्या उत्तर दोगी? तुम्हारी भावना उस प्रश्न का समाधान कर देगी?" अंबिका का मल्लिका से कहा गया यह कथन भी कितना सटीक और मार्मिक है कि "किसी संबंध से बचने के लिए अभाव जितना बड़ा कारण होता है, अभाव की पूर्ति उससे बड़ा कारण बन जाती है'– जिसका अभिप्राय यह है कि कालिदास साधन-संपन्न हो जाने पर भी तुझ से विवाह नहीं करेगा और हम देखते हैं कि उसकी यह उक्ति पूर्णतया सत्य सिद्ध होती है। आलोच्य नाटक के प्रथम अंक में ही अंबिका के ये उदगार सुनकर कि इस घर के तल्प और आस्तरण हरिणशावकों के लिए नहीं हैं, यह अनुमान लगाना अनुचित होगा कि उसके हृदय में दया का अभाव है। कारण यह है कि उसे कालिदास का अपने घर अधिक आना-जाना पसंद नहीं है और इसीलिए वह उस आहत हरिणशावक को अपने गृह में आश्रय देकर यह बखेड़ा मोल नहीं लेना चाहती कि उसको देखने के बहाने से कालिदास बार-बार उसके घर आए।

अंबिका के लोकानुभव का एक अन्य प्रमाण यह भी है कि वह कालिदास द्वारा राजकीय सम्मान को स्वीकार करने में अरुचि प्रदर्शित करने को ढोंग बताती है। वह मातुल से कह देती है कि कालिदास उज्जयिनी अवश्य ही जायेगा और यह उसी लोकनीति-विचअणता का ही प्रमाण है कि वह इस सम्मान के प्रति अरुचि दिखाकर अपना सम्मान बढ़ाना चाहता है उसके शब्दों में– "सम्मान प्राप्त होने पर सम्मान के प्रति प्रकट की गयी उदासीनता व्यक्ति के महत्त्व को बढ़ा देती है। तुम्हें प्रसन्न होना चाहिए कि तुम्हारा भागिनेय लोकनीति में भी निष्णात है।" वह निक्षेप से कहती है– "राज्य कवि का सम्मान करना चाहता है। कवि सम्मान के प्रति उदासीन जगदंबा के मंदिर में साध ना-निरत हैं राज्य के प्रतिनिधि मंदिर में जाकर कवि की अभ्यर्थना करते हैं। कवि धीरे-धीरे आँखें खोलता है। . . इतना बड़ा नाटक खेलना विलक्षणता नहीं है?"

कालिदास द्वारा मल्लिका के साथ विश्वासघात करके राज-पुत्री प्रियंगु-मंजरी से विवाह कर लेने से दु:खी होकर अंबिका दिन-प्रतिदिन घुलती जाती है। द्वितीय अंक में प्रियंगुमंजरी के आगमन पर उसके कथनों में बड़ी विषाक्त व्यंग्यमयता परिलखित होती है। जब राजकुमारी मल्लिका से यह प्रश्न करती है कि क्या तुम्हारे मन में अपना घर-परिवार बसाने की कल्पना नहीं है?– तो मल्लिका तो चुप रहती है किंतु अंबिका आगे आकर उत्तर देती है–"इसके मन में यह कल्पना नहीं है क्योंकि यह भावना के स्तर पर जीती है। इसके जीवन में ...।" (साँस उखड़ आने के कारण वह अपना कथन पूरा नहीं कर पाती)। मल्लिका द्वारा यह चेष्टा किए जाने पर कि वह प्रियंगुमंजरी से कोई अशोभन बात न कह दे, मेरे और कालिदस के विवाह की बात न उठा दे, वह उसकी भर्त्सना करती हुई कह उठती है– "मैं किसी अभ्यागत से बात भी नहीं कर सकती? दिन, मास, वर्ष मुझे घुटते हुए बीत जाते हैं। मेरे लिए यह घर अब घर नहीं, एक काल-गहर है, जिसमें मैं हर समय बंद रहती हूँ और तुम चाहती हो कि मैं किसी से बात भी न करूँ?" वह प्रियंगुमंजरी के समक्ष इस रहस्य का उद्घाटन करने की दो बार चेष्टा करती

नोट

है कि हमारी इस दुरावस्था का एक कारण तुम्हारे पति प्राणेश्वर कालिदास भी हैं, किंतु अनवसर खाँसी उठ आने के कारण वह अपनी पूरी बात नहीं कह पाती और प्रसंग बदल जाता है। प्रथम बार वह कहती है– "यह घर सदा से इस अवस्था में नहीं है राजवधू! जब मेरे हाथ चलते थे मैं प्रतिदिन इसे लीपती-बुहारती थी। यहाँ की हर वस्तु इस प्रकार गिरी-टूटी नहीं थी। परंतु आजकल तो हम दोनों माँ-बेटी भी यहाँ टूटी-सी पड़ी रहती है। यह इसलिए कि .....।" दूसरी बार यह कहती है– "परंतु राजवधू, मैं तुमसे कुछ कहना चाहती थी। तुम्हें बताना चाहती थी कि.....।

हम लोग ..... लोग ...।"

खाँसी उखड़ आने में उसके शब्द डूब जाते हैं और प्रियंगुमंजरी यह कहती हुई चली जाती है– 'मैं आपके कष्ट को समझ रही हूँ। जो भी सहायता मुझसे बन पड़ेगी, अवश्य करूँगी। इस समय अनुचर प्रतीक्षा कर रहे हैं, इसलिए ..।"

अंबिका कालिदास की ओर से निराश तो अवश्य थी किंतु इतनी हताश नहीं थी कि कालिदास यहाँ आकर भी हमारी उपेक्षा करके चला जायेगा। जब वह इस अप्रत्याशित को ही घटित होते देखती है तो मल्लिका पर व्यंग्यबाणों की वर्षा करते हुए अपनी अंतरात्मा की व्यथा को हल्का करने लगती है "लो मेघदूत की पंक्तियाँ पढ़ो। इन्हीं में न कहती थी कि उसके अंतर की कोमलता साकार हो उठी है? आज उस कोमलता का और भी साकार रूप देख लिया? आज वह तुम्हें तुम्हारी भावना का मूल्य देना चाहता है। क्यों नहीं स्वीकार कर लेती? घर की भित्तियों का परिसंस्कार हो जाएगा और तुम उनके यहाँ परिचारिका बनकर रह सकोगी। इससे बड़ा और क्या सौभाग्य चाहिए? × × × आज वह प्रभु है, उसके पास सम्पदा है, उस प्रभुता और सम्पदा का परिचय देने के लिए इससे अच्छा और क्या उपाय हो सकता था?" वह यह इच्छा व्यक्त करती है कि काश! मैं छाया-ग्रहिणी राक्षसी होती। जिसका उद्देश्य मात्र यही है कि वह किसी प्रकार कालिदास को पकड़ पाती और उससे पूछती कि तेरे उन वायदों का क्या हुआ जो तूने मल्लिका से किए थे! किंतु उसकी यह साध कि मैं अपने जीव काल में स्वपुत्री के हाथ पीले कर सकूँ अधूरी ही रह जाती है और यही निराश्रिता विधवा स्वपुत्री के दु:खों से अनुदिन परितापिता-विगलित होती हुई अन्तत: दम तोड़ देती है।

सेक्षेप में कहा जा सकता कि अंबिका आलोच्य नाटक का एक जीवन्त पात्र है। वह अपनी मल्लिका विषयक वात्सल्य-भावना, उसकी हिताकांक्षा, उसके भोलेपन के प्रति कातरता तथा कर्मठता और यथार्थवादी दृष्टिकोण के कारण पाठक-प्रेक्षकों की सहानुभूति अर्जित करने में पूर्णतया सफल रहती है। प्रभाव की दुष्टि से उसका चरित्र मल्लिका के अतिरिक्त अन्य सभी पात्रों स बढ़कर प्रभावशाली है।

26.2 सारांश

अम्बिका की इकलौती संतान होने के कारण मल्लिका के चरित्र में उस हठ और दुराग्रह का पर्याप्त पुट है, जो प्राय: यही इकलौती संतानों में पाया जाता है। अम्बिका उसे बार-बार यह समझाने की चेष्टा करती है कि मात्र भावनाओं में खोये रहकर जीवन की प्रत्यक्ष आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं की जा सकती, किंतु मल्लिका की हठ के समक्ष उसे हार ही माननी पड़ती है। मल्लिका के संदर्भ में यदि यह कहा जाए कि कल्पना और भावना ही उसके ओढ़ना और बिछौना हैं तो अत्युक्ति नहीं होगी। वह इतनी अधिक कल्पनाजीवी और भावुकतामयी है कि अपने और कालिदास के 'प्रेम संबंध' को वास्तविकता के स्थान पर भावना के स्तर पर प्रतिष्ठित करती है– जिसका अभिप्राय यही है कि कालिदास उसे अपनाना चाहे अथवा नहीं, किंतु वह उसका मनसा वरण कर चुकी है और आजीवन कुँवारी रहते हुए भी कालिदास के प्रेम की माला जपते रहने को प्रस्तुत है।

स्वार्थी एवं आत्मकेंद्रित– प्रस्तुत नाटक में कालिदास का जैसा चरित्रांकन किया गया है उससे वे एक आत्म-केंद्रित एवं स्वार्थी व्यक्ति सिद्ध होता है। क्योंकि जब अंबिका की वास्तव में ही मृत्यु हो जाती है तब भी कालिदास वह मल्लिका के भरण-पोषण की चिंता या उसको पत्नी के रूप में अपना लेने की चेष्टा करता हुआ नहीं दिखाई देता।

नोट

वह काश्मीर के शासक होने का जो भार स्वीकार करते है उसके मूल में भी उसकी यह स्वार्थ-भावना है कि वह अपने विरोधियों से बदला लेना चाहता है। उसी के शब्दों में– "तुम्हें बहुत आश्चर्य हुआ था कि मैं काश्मीर का शासन संभालने जा रहा हूँ? तुम्हें यह बहुत अस्वाभाविक लगा होगा। परंतु मुझे कुछ भी अस्वाभाविक प्रतीत नहीं होता। अभावपूर्ण जीवन की वह एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया थी। संभवत: उसमें कहीं उन सबसे प्रतिशेध लेने की भावना भी थी जिन्होंने जब-तब मेरी भर्त्सना की थी, मेरा परिहास उड़ाया था।"

अंबिका मानव-मनोविज्ञान की भी अच्छी पारखी है। वह कालिदास की आत्मकेंद्रित मनोवृत्ति की जिस रूप में भर्त्सना करती है वह अक्षरश: सत्य सिद्ध होती है। वह उसके विषय में उचित ही कहती है– "मैं ऐसे व्यक्ति को अच्छी तरह समझती हूँ। तुम्हारे साथ उसका इतना ही संबंध है कि तुम एक उपादान हो, जिसके आश्रय से वह अपने प्रेम कर सकता है, अपने पर गर्व कर सकता है। परंतु तुम क्या सजीव व्यक्ति नहीं हो! तुम्हारे प्रति उसका या तुम्हारा कोई कर्त्तव्य नहीं है? कल जब तुम्हारी माँ का शरीर नहीं रहेगा और घर में एक समय के भोजन की भी व्यवस्था नहीं होगी, तब जो प्रश्न तुम्हारे सामने उपस्थित होगा उसका तुम क्या उत्तर दोगी? तुम्हारी भावना उस प्रश्न का समाधान कर देगी?"

26.3 शब्दकोश

1. **हतभांग्या–** अभागिन, भाग्यहीन
2. **नादानी–** अकुशलता, अनाड़ीपन
3. **दुराग्रह–** अनुचित जिद, हठ

26.4 अभ्यास-प्रश्न

1. मल्लिका की भावुकता उसे जीवन में बहुत दु:ख देती है। इस कथन के प्रकाश में मल्लिका के चरित्र पर प्रकाश डालिए।
2. नाटक में कालिदास का चरित्र दुर्बल और स्वार्थी कवि का है– कालिदास के चरित्र के आधार पर प्रकाश डालिए।
3. नाटक के खलनायक के रूप में प्रस्तुत विलोम का चरित्र-चित्रण कीजिए।

उत्तर: स्व-मूल्यांकन

1. (✓) 2. (×) 3. (×) 4. (✓)

26.5 संदर्भ पुस्तकें

पुस्तकें

1. *आषाढ़ का एक दिन:* मोहन राकेश– राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली।
2. *मोहन राकेश का साहित्य*– शरेशचन्द्र चुलकीमठ, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली।
3. *हिंदी नाटक*–रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली।

नोट

इकाई 27: आषाढ़ का एक दिन: भाषा-शैली एवं संवाद-योजना

अनुक्रमणिका

उद्देश्य

प्रस्तावना

27.1 भाषा शैली एवं संवाद योजना

27.1.1 संवाद-योजना

27.1.2 भाषा-शैली

27.2 सारांश

27.3 शब्दकोश

27.4 अभ्यास-प्रश्न

27.5 संदर्भ पुस्तकें

उद्देश्य

विद्यार्थी इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् सक्षम होंगे–

- अषाढ़ का एक दिन की संवाद-योजना एवं भाषा-शैली की विशेषताओं को समझने में।

प्रस्तावना

नाटक के विधात्मक स्वरूप और रूपाकार की संरचना संवादों से होती है, अत: इन्हें नाटक का मूल विधायक तत्त्व स्वीकार किया गया है। संवादों के द्वारा नाटक के दृश्य रूप और कलेवर की रचना होती है एवं उसके प्राण-तत्त्व और आत्मा का विनिर्माण भी संवादों के द्वारा ही तय होता है। आत्म-तत्त्व संवादों में ही अन्त: संयोजित रहते हैं। वस्तु का आरंभ, मध्य, अन्त, विभिन्न स्थितियों का क्रमश: विकास और संयोजन भी नाटकों में संवादों के द्वारा ही सम्भव है। नाटककार यदि अपनी ओर से नाटक में कुछ कहना चाहता है, उसके लिए भी वह किसी पात्र द्वारा बोले जाने वाले संवाद का ही आश्रय लेता है। इन्हीं सब कारणों से नाटकों में संवाद को एक प्रमुख, सर्वव्यापक विधायक तत्त्व स्वीकार किया है। यह एकमात्र निर्विवाद तथ्य है कि नाटक की सम्पूर्ण सफलता इन संवादों के औचित्य, सुघड़ता एवं सुव्यवस्था पर ही निर्भर करती है। संवादों की सुष्ठु योजना में नाटक की सफलता है और उसकी बेतरतीबी में, स्वाभाविकता के अभाव में नाटक को नितान्त असफल भी हो सकता है। इसी कारण संवादों को नाटक का कलेवर और प्राण दोनों कहा गया है।

27.1 भाषा-शैली एवं संवाद-योजना

27.1.1 संवाद योजना

आधुनिक यथार्थवादी या समस्या-प्रधान नाटकों में प्राय: दो प्रकार के सम्वादों की योजना की जाती है। एक– सम्पूर्ण संवाद, इस प्रकार के संवादों में अभिनेयता की पूर्णता तो रहती ही है, अभिनेता अपनी बात कहने के लिए अनेक शब्दों और पूर्ण वाक्यों का प्रयोग करता है। उनमें असंबद्धता, अस्पष्टता और अधूरापन आभासित नहीं होता। संवादों का दूसरा प्रकार है– अपूर्ण या सांकेतिक संवाद। इस प्रकार के संवादों की योजना प्राय: असन्तुलित एवं अव्यक्त

नोट

मन:स्थितियों की अभिव्यक्ति के लिए या फिर असन्तुलित पात्रों के व्यवहारों के द्योतन के लिए, अथवा भावावेश की स्थातियों के रूपायन के लिए ही प्राय: किया जाता है। इस प्रकार की संवाद-योजनाओं में सांकेतिकता के अभिधान के लिए नाटककार या तो डैशों का प्रयोग करता है, या फिर व्याख्या-बिन्दुओं का। इस प्रकार की संवाद योजना अक्सर संक्षिप्त, कभी-कभी एक शब्द मात्र ही हो जाती है। भावावेश के क्षणों में कभी-कभी इस प्रकार के संवाद लम्बे भी हो जाते हैं। उनके बीच-बीच में डैश–और व्याख्या-बिंदु भी प्रयुक्त किये जाते हैं। राकेश ने अपने नाटकों में ये दोनों प्रकार के संवाद प्रयुक्त किये हैं। 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक से इन दोनों प्रकार के संवादों के कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं–

मल्लिका: ये कौन लोग हैं माँ?

अम्बिका : संभवत: राज्य कर्मचारी हैं।

मल्लिका : ये यहाँ क्या कर रहे हैं।

अम्बिका : जाने क्या कर रहे हैं! ... कभी वर्षों में ये आकृतियाँ यहाँ दिखाई दे जाती हैं। और जब भी दिखाई देती हैं, कोई न कोई अनिष्ट होता है। कभी युद्ध की सूचना आती है, कभी महामारी की।

दूसरे प्रकार का उदाहरण देखिए। कालिदास को उज्जयिनी ले जाने के लिए आचार्य वररुचि राज-कर्मचारियों के साथ आये हुए हैं। उस समय मातुल और निक्षेप में संवाद चल रहा है–

निक्षेप : किंतु मातुल ...।

मातुल : किंतु मातुल क्या? बताओ तुम मुझे मूर्ख समझते हो?

निक्षेप : नहीं मातुल ...।

मातुल : मैं मूर्ख नहीं, तो निश्चय ही तुम मूर्ख हो। ... आचार्य ने क्या कहा है?

निक्षेप : उन्होंने कहा है कि आपके साथ इस सारे ग्राम-प्रदेश में घूमना चाहते हैं ... जिस प्रदेश ने कालिदास की कविता को जन्म दिया है।

संवादों का एक अन्य प्रकार भी माना जाता है, जिसे काव्यात्मक संवाद कहते हैं। नाटककार प्रसाद के बाद इस प्रकार के संवाद लिखने में सर्वाधिक सफलता मोहन राकेश को ही मिल सकी है और वह भी कहीं अन्यत्र नहीं, बल्कि 'आषाढ़ का एक दिन' में ही। वास्तव में नाटक का आरंभ ही काव्यात्मक संवाद से हुआ है यथा–

मल्लिका: नील कमल की तरह कोमल और आर्द्र, वायु की तरह हल्का और स्वप्न की तरह चित्रमय! मैं चाहती थी उसे अपने में भर लूँ और आँखें मूँद लूँ।

इसी प्रकार मल्लिका के संवादों में काव्यात्मकता का समावेश सर्वत्र देखा जा सकता है। कालिदास से भी बढ़कर नाटककार ने मल्लिका से इस प्रकार के संवाद कहलाए हैं। उसका निम्न कथन तो एक भावमयी कविता ही कहा जा सकता है– मैंने भावना में भावना का वरण किया है। मेरे लिए वह सम्बन्ध और सब सम्बन्धों से बड़ा है। मैं वास्तव में अपनी भावना से प्रेम करती हूँ जो पवित्र है, कोमल हैं, अनश्वर है...।"

कालिदास के संवादों में भी इस प्रकार की काव्यात्मकता है और विलोम के कई संवाद तो एकदम काव्य-खण्ड से ही प्रतीत होते हैं। यहाँ दोनों का एक-एक उदाहरण प्रस्तुत है–

कालिदास: हम जिएंगे हरिण शावक! जिएँगे न, एक वाण से आहत होकर हम प्राण नहीं देंगे। हमारा शरीर कोमल है, तो क्या हुआ? हम पीड़ा सह सकते हैं। एक वाण प्राण ले सकता है, तो उँगलियों का कोमल स्पर्श प्राण दे भी सकता है। हमें नये प्राण मिल जाएँगे।

विलोम : विलोम क्या है? एक असफल कालिदास। और कालिदास? एक सफल विलोम। हम कहीं एक-दूसरे से बहुत निकट पड़ते हैं।

इन तीनों प्रकार के संवादों का 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक में पर्णूतया सफल प्रयोग हुआ है, यह उपरोक्त उदाहरणों

नोट

से स्पष्ट हो जाता है। इन संवादों की सफलता केवल बाह्य योजनाओं की दृष्टियों से ही नहीं है, बल्कि कथा औऱ कथानक का आत्म-तत्त्व या प्राणा-तत्व भी इनमें स्पष्टत: झलकता देखा-सुना जा सकता है। समस्या या यथार्थवादी नाटकों के समान अन्त में अत्यधिक बल्कि भाषण की सीमा तक प्रलंब संवाद भी आलोच्य नाटक के अंत में मिल जाते हैं। समस्या नाटकों के शिल्प और शैली की दृष्टियों से उनका अपन ही अलग ओर विशिष्ट महत्त्व हुआ करता है।

संवादों के इन प्रकारों के अतिरिक्त एक अन्य प्रकार या रूप भी उपलब्ध होता है। संस्कृत नाटकों में 'आकाश-भाषित' के नाम से इनका रूप प्राय: देखने को मिलता है। आजकल 'आत्म संभाषण' के नाम से नाटकों में इसका प्रयोग प्राय: किया जाने लगता है। यथार्थवादी और समस्या-प्रधान नाटकों में तो 'आत्म संभाषणात्मक-संवाद' रहते ही हैं। कोई पात्र प्राय: अकेलेपन में ही इस प्रकार के संवाद बोला करता है! इस प्रकार के संवादों का वैशिष्ट्य यह माना जाता है कि यह तो पात्र सीधे ढंग से अपने या किसी अन्य पात्र के बारे में कुछ कहता जाता है, या फिर प्रश्नोत्तर रूप में अपनी बात व्यक्त किया करता है। ऐसा करने से प्राय: घटित घटनाओं की या तो सूचना मिल जाया करती है या फिर उनका विवेचन-वश्लेषण हो जाया करता है। नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' में आलोचना या विवेचन के रूप में दो-तीन स्थानों पर इस प्रकार के संवादों की योजना भी उपलबध हो जाती हैं काश्मीर जाते समय कालिदास अपने ग्राम प्रान्तर से गुजरता है, पर मल्लिका के घर की ओर न आकर पर्वत शिखरों की ओर चला जाता है। तब कालिदास का लक्ष्य कर मल्लिका इस प्रकार का आत्म-सभाषण करने लगती है–

मल्लिका: आज वर्षों बाद तुम लौट कर आए हो? सोचती थी तुम आओगे तो उसी तरह मेघ घिरे होंगे, वैसा ही अन्धेरा-सा दिन होगा, वैसे ही वर्षा में एक बार भीगूँगी और तुम से कहूँगी कि देखो मैंने तुम्हारी सारी रचनाएँ पढ़ी हैं ...।

(कुछ पृष्ठ हाथ में ले लेती है।)

उज्जयिनी की ओर जाने वाले व्यवसाइयों से कितना-कितना कह कर मैंने तुम्हारी रचनाएँ मंगवाई हैं।... सोचती थी तुम्हें 'मेघदूत' की पंक्ति गा-गा कर सुनाऊंगी। पर्वत शिखर से घण्टा-ध्वनियाँ गूँज उठेंगी और मैं अपनी यह भेंट तुम्हारे हाथों में रख दूंगी... (मोढ़े पर रखा ग्रन्थ उठा लेती है) कि देखो, यह तुम्हारी नयी रचना के लिए हैं। ये कोरे पृष्ठ मैंने अपने हाथों से बनाकर सिये हैं। इन पर तुम जो भी लिखोगे, उससे मुझे अनुभव होगा कि मैं भी कहीं हूँ, मेरा भी कुछ है। (नि:श्वात छोड़ कर ग्रन्थ रख देती है) परंतु आज तुम आये हो तो सारा वातावरण ही और है और ... नहीं सोच पा रही कि तुम भी वही हो या...?

इससे हमें अतीत में घटित अदृश्य का बहुत कुछ पता चल जाता है। वक्ता, पात्र और वक्तव्य से संबद्ध पात्र के परिवर्तित परिवेश, उनके प्रति मनो-प्रतिक्रियाओं का अभ्यास भी मिल जाता है। नाटककार ने इस प्रकार के समाचारों की योजना बड़े ही नाटकीय ढंग से की है; क्योंकि ऐसे संवादों के बोलने के तत्काल बाद ही नाटकीय ढंग से की है; क्योंकि ऐसे संवादों के बोलने के तत्काल बाद ही किसी पात्र का प्रवेश होता है और परिवर्तित वतावरण एवं अन्त:स्थितियों का स्पष्ट उभार मिलने लगता है। इस संवाद के बाद रानी प्रियंगु मजरी के आगमन की सूचना लेकर अनुस्वार और अनुनासिक पूर्व-व्यवस्था के लिए प्रवेश करते हैं किंतु तीसरे अंक में जहाँ इस प्रकार की संवाद योजना की गई है। वहाँ उसके बाद मल्लिका के अभिलाषित कालिदास का प्रवेश होता है, पर एकदम विभिन्न एवं एक प्रकार से अपरिचित-अयाचित स्थितियों में। वहाँ दिया आत्म-संभाषण पर्याप्त प्रलंब है। उससे मल्लिका के वर्तमान मन:स्थितियों का एकदम आभास मिल जाता है। संभाषण का प्रारंभ मातुल के यह सूचना देने के बाद से होता है कि कालिदास काश्मीर से भाग कर, काशी जा कर संन्यासी हो गया है। विस्मय-विमुग्ध मल्लिका कहती है।

"नहीं तुम काशी नहीं गए। तुमने संन्यास नहीं लिया। मैंने इसलिए तुमसे यहाँ से जाने के लिए नहीं कहा था। ... मैंने इसलिए भी नहीं कहा था कि तुम जाकर वहीं का शासन भार संभालो। फिर भी जब तुमने ऐसा किया, मैंने तुम्हें शुभा-कामनाएं दीं–यद्यपि प्रत्यक्ष तुमने वे शुभ-कामनाएं ग्रहण नहीं की। (ग्रन्थ हाथ में लिए जैसे अभियोगपूर्ण दृष्टि से उसे देखती है) मैं यद्यपि तुम्हारे जीवन में नहीं रही, परंतु तुम मेरे जीवन में सदा बने रहे

नोट

हो। मैंने कभी तुम्हें अपने से दूर नहीं होने दिया। तुम रचना करते रहे और मैं समझती रही कि मैं सार्थक हूँ, मेरे जीवन की कुछ उपलब्धि हैं (ग्रन्थ को घुटनों पर रख लेती है।) और आज तुम मेरे जीवन को निरर्थक कर दोगे?"

और इसी प्रकार बोलती ही जाती है। उसके इस आत्म-संभाषण से पाठक और प्रेषक के सामने मल्लिका का आत्म-विश्लेषण तो आ ही जाता है। उसका वर्तमान अभावग्रस्त पर भावनामय जीवन भी उजागर हो जाता है। कादिलास के पलायनवादी व्यक्तित्व को विश्लेषणात्मक झाँकी भी मिल जाती है और भोगी जा रही परिस्थितियाँ भी स्पष्टतः सामने आ जाती हैं। यही सब इस प्रकार के संवादों की विशेषता है। मुख्यतः संवादों के यही रूप और प्रकार स्पष्ट करते हैं कि जिनका सफल प्रयोग राकेश ने अपने इस प्रथम नाटक में ही बड़ी सुघड़ता से किया है।

टास्क 'आषाढ़ का एक दिन' में भाषा की काव्यमयता के कारण संवादों में लयात्मकता है। इस कथन पर टिप्पणी कीजिए।

27.1.2 भाषा-शैली

आषाढ़ का एक दिन के भाषा-शिल्प पर विचार करते समय यह ध्यान रखना आवश्यक है कि इसके वस्तु-विधान और कथ्य का सम्बन्ध प्रत्यक्षतः अतीत में जिए एक ऐसे पात्र से है जो एक प्रतिभावान, सरस और समृद्ध कवि था। उसका अन्तः जीवन काव्यमय था। उसके साथ जुड़ी नाटक की नायिका भी भावनामयी होने की कारण स्वभावतः काव्यमयी थी, वह नायक की अन्तः प्रेरणाओं का मूल स्रोत थीं। अतः नाटक की भाषा में काव्यमयता का आ जाना एक सहज स्वाभाविक बात ही कही जाएगी। भाषायी काव्यमता के कारण ही अनेक आलोचक राकेश के इस नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' को जयशंकर प्राद की नाट्य-परम्परा रखना अधिक उचित एवं युक्तिसंगत स्वीकार करते हैं। उस परम्परा का नाटाक हो या फिर राकेश ने स्वयं अपनी एक नव्य परम्परा आरम्भ की हो, काव्यमता इस नाटक की भाषा का पहला और प्रमुख गुण है भाषायी काव्यमयता का एक उदाहरण देखें। कालिदास के साथ आषाढ़ की पहली वर्षा में भीगने का आनन्द लेकर लौटी मल्लिका अपनी माँ से कहते-कहते कितनी काव्यमय हो उठी है–

''माँ, आज के वे क्षण में कभी नहीं भूल सकती। सौंदर्य का ऐसा साक्षात्कार मैने कभी नहीं किया। जैसे वह सौंदर्य अदृश्य होते हुए भी मांसल हो। मैं उसे छू सकती थी, देख सकती थी, जी सकती थी। तभी मुझे अनुभव हुआ कि वह क्या है, जो भावना को कविता का रूप देता है। मैं जीवन में पहली बार समझ पायी कि क्यों कोई पर्वत-शिखरों को सहलाती मेघ-मालाओं में खो जाता है, क्योंकि किसी को अपने तन-मन की अपेक्षा आकाश में बनते-मिटते चित्रों का इतनां मोह रहता है।''

इसी प्रकार, इसी प्रसंग में मल्लिका कहती है मुझे तो अब भी अपने में बरसती बूँदों के पुलक का अनुभव हो रहा है। रोम अभी तक सीज रहे हैं।'' इसी प्रकार दन्तुल के प्रति कहे गये कालिदास के ये शब्द कविता की किसी पंक्ति से कम महत्वपूर्ण नहीं हैं–''शब्द और अर्थ राजपुरुषों के सम्पत्ति है, जानकर आश्चर्य हुआ।'' यहाँ जो उदाहरण प्रस्तुत किए गए हैं उनमें काव्यमयता के अन्य गुण– नाम सौन्दर्य एवं चित्रमयता आदि की स्स्थिति भी स्पष्टतः निहारी जा सकती है। अलंकरण काव्यमय भाषा का एक अन्य प्रमुख गुण माना जाता है। 'आषाढ़ का एक दिन' के भाषायी प्रयोगों में अलंकरण की यह प्रवृत्ति भी हमें कई स्थानों पर दिखाई देती है। आषाढ़ की प्रथम वर्षा में भीगने से मल्लिका को जो सुखद अनुभूति होती है, अम्बिका के समक्ष उसका वर्णन वह अलंकृत और चित्रमय भाषा में ही करती है। उदाहरण द्रष्टव्य है–

''नील-कमल की तरह कोमल और आर्द्र, वायु की तरह हल्का और स्वप्न की तरह चित्रमय। मैं चाहती थी उसे अपने में भर लूँ और आँखें मूद लूं।''

संपूर्ण रूप में यदि दे जाए तो ऐसा नहीं है कि मोहन राकेश ने इस नाटक में सर्वत्र काव्यमयी अलंकृत भाषा का

नोट

ही प्रयोग किया है। वास्तव में जिन पात्रों का सम्बन्ध भावना और भावुकता से अधिक है, उन्हीं की संवाद-योजना में इस प्रकार की भाषा का प्रयोग किया गया है। अन्य सामान्य पात्र जो भाषा व्यवहृत करते हैं। उसे हम एकदम सहज, सरल और स्वाभाविक भाषा कह सकते हैं। इस प्रकार के भाषायी प्रयोगों में एक स्वाभाविक तारतम्य एवं प्रवाह है। कथानक की ऐतिहासिकता भी उस की राह में कही बाधक नहीं बनी। वास्तव में इसी भाषा को ही हम पढ़े-लिखे व्यक्तियों के रंगमंच की -सहज-स्वाभाविक भाषा कह सकते हैं। यहाँ इस प्रकार के भाषा-प्रयोगों का उदाहरण प्रस्तुत है। कालिदास उज्जयिनी जाने से पूर्व मल्लिका से, एक अर्थ में विदाई ले रहा है–

कालिदास : मुझे जाने के लिए कह रही हो ?

मल्लिका : हाँ! देखना में तुम्हारे पीछे प्रसन्न रहूँगी, बहुत घूमूँगी और हर सन्ध्या को जगदम्बा के मन्दिर में सूर्यास्त देखने जाया करुँगी...।

कालिदास : इसका अर्थ है तुम से बिदा लूँ?

मल्लिका : नहीं! विदा तुम्हें नहीं दूँगी। जा रहे हो, केवल प्रार्थना करुँगी कि तुम्हारा पथ प्रशस्त हो।

नाटक में अधिकांशत: इसी प्रकार की भाषा का प्रयोग किया गया है। सामान्य एवं साधारण की भाषा होते हुए भी इसका अपना सौष्ठव एवं रस है। इसमें गहन से गहन अभिव्यंजना की भी पूर्ण क्षमता विद्यमान है। विशेषता यह है कि नाटकाकार ने अन्यान्य भाषाओं के शब्दों के प्रयोगों से अपने-आपको भरसक बचाये रखा है।

नोट्स 'आषाढ़ का एक दिन' की भाषा अधिकांशत: काव्यमय है। लेकिन नाटककार ने इस बात का ध्यान रखा है कि काव्यमय भाषा का प्रयोग चरित्र के अनुरूप हो जैसे– कालिदास, मल्लिका आदि।

इस प्रकार स्पष्ट है कि यह भाषा सहज नाटकीयता के आयामों की रक्षा कर पाने में पूर्णतया समर्थ है। इसी प्रकार की समर्थ भाषा का नाटक में अधिक प्रयोग हुआ है। इसे हम सीधी रंगमंचीयता से जुड़ी हुई भाषा कह सकते हैं।

नाटककार ने यद्यपि इस नाटक का रंगमंचीय और भाषायी प्रयोगों की दृष्टि से भी कई बार संशोधन किया है, फिर भी वे मानकीकृत या परिनिष्ठित भाषायी प्रयोगों से बच नहीं सके। नाटक में कही स्थान पर इस प्रकार की भाषा का प्रयोग हुआ है। फिर भी ऐसे प्रयोग अधिक दुरूह एवं बोझिल नहीं होने पाए हैं। वास्तव में इस प्रकार के भाषायी प्रयोगों को विशेष प्रकार के पात्रों के परिवेश की देन कहा जा सकत है। नाटककार ने इस प्रकार की भाषा का प्रयोग या तो कालिदास, विलोम, मल्लिका जैसे पात्रों से करवाया है यदि फिर दन्तुल जैसे राजपुरुषों से। नाटक में कालिदास का प्रवेश इसी प्रकार की भाषा बोलते हुए होता है–

कालिदास : हम जिएँगे हरिणशावक! जिऐंगे न? एक बाण से आहत होकर हम प्राण नहीं देंगे। हमारा शरीर कोमल है तो क्या हुआ? हम पीड़ा सह सकते हैं। एक बाण प्राण हमारा प्राण ले सकता है तो उँगलियों का कोमल स्पर्श प्राण दे भी सकता है। हमें नए प्राण मिल जाएँगें। हम कोमल आस्तरण पर विश्राम करेंगे। हमारे अंगों पर धृत का लेप होगा। कल हम फिर वन-स्थल में घूमेंगे, कोमल दूर्वा खाएँगे। खाएँगे न?

मल्लिका : यह आहत हरिणशावक ? .... यहाँ ऐसा कौन व्यक्ति है जिसने इसे आहत क्या? वह दक्षिण की तरह यहाँ भी....?

दन्तुल भी इसी प्रकार की परिनिष्ठित या मानकीकृत भाषा ही बोलता है।

राज्य-कर्मचारी के रूप में आने वाले अनुस्वार और अनुनासिक या सभ्य ढंग से दन्तुल की भाषा अर्थात् मानकित भाषा ही बोलते हुए दिखाए गए हे। उदाहरणत: अनुस्वार के शब्द देखें–''मुझे विश्वास है कि इस गौरवपूर्ण अवसर

नोट

पर आप अपने उपवेश गृह के वस्तु-विन्यास में कुछ परिवर्तन आवश्यक समझेंगी। इसे आपका आदेश समझते हुए हम यह कार्य अभी अपने हाथों से सम्पन्न किए देते हैं।'' भषा ही परिनिष्ठित नहीं है बल्कि उसका लबोलहजा अर्थात् उच्चरण का ढंग भी वास्तव में मानकीकृत रूप में राज कर्मचारियों जैसा ही है। इस प्रकार पात्रों को ध्यान में रखकर ही उसके आदि के अनुरूप ही मोहन राकेश ने इस प्रकार की भाषा के यत्र-तत्र सफल प्रयोग किए है।

क्या आप जानते हैं नाटककार जहाँ अषाढ़ का एक दिन में काव्यमय भाषा का प्रयोग कर काव्यात्मक वातावरण निर्मित करने में सफल रहा है, वहीं 'आधे-अधूरे' नाटक की भाषा विषयानुरूप नीरस और बोझिल वातावरण पैदा करती है।

नाटक में अनेक स्थलों पर सहज व्यंग्यात्मकता का भाव भी बड़ी तीव्रता से उभरा है। ध्यातव्य तथ्य यह है कि ऐसे स्थलों पर नाटककार के भाषायी प्रयोग भी उस प्रकार की भंगिमा को लेकर सामने आए हैं। शब्दों और उनसे बने वाक्यों में यह व्यंग्यात्मक भंगिमा बड़ी ही सजीव भाषा में, व्यक्त एवं रूपायित हुई है। जहाँ तक व्यंग्यात्मक भाषा और लबो-लहजे का प्रश्न है, अम्बिका और विलोम इस प्रकार के प्रयोगों में विशेष सफल हुए हैं। यों रंगिणी-संगिनी, और अनुस्वार-अनुनासिक की भाषा में भी व्यंग्य-विनोद के प्रयोग मिलते हैं, पर जो नुकीलापन अम्बिका और विलोम के संवदों में प्रयोग भाषा में सुलभ हो सका है, वह अन्य में कहीं दिखाई नहीं देता। पहले अम्बिका की कुछ इस प्रकार की उक्तियाँ देखिये और फिर विलोम की–

अम्बिका : (क) मैं कब कहती हूँ कि मुझे अधिकार है?

(ख) मैं जानती हूँ तुम पर आज अपना अधिकार भी नहीं है ।

(ग) भावना में भावना का वरण क्या होता हैं? उससे जीवन की आवश्यकताएँ किस तरह पूरी होती हैं?''.... भावना में भावना का वरण! हूँ।

बिलोम : (क) घिरे हुए मेघों ने आज असमय अन्धकार कर दिया है अम्बिका, या तुम्हें समया का ज्ञान नहीं रहा?

(ख) और कालिदास क्यों नहीं चाहता? क्योंकि मेरी आंखों में उसे अपने हृदय का सत्य झाँकता दिखाई देता है। उसे उलझन होती है।

(ग) आज निस्सन्देह छन्दों के अभ्यास पर गर्व कर सकते हो।

इस प्रकार के अन्य सम्वादों को भी उद्धृत किया जा सकता है जहाँ भाषा का लबो-लहज पूर्णतया व्यंग्य-विनोदमय हो गया है। वाग्वैदग्ध्य के दर्शन भी अनेकशः होते हैं। नाटककार ने कयी ऐसी विदग्ध उक्तियों का उपयोग किया है कि जो सूक्ति के रूप में ग्रहण की जा सकती है। इस प्रकार की कुछ उक्तियाँ देखिए–

1. शब्द और अर्थ राजपुरुषों की सम्पत्ति हैं, जानकर आश्चर्य हुआ।
2. माँ का जीवन भावना नहीं कर्म है।
3. मैं राजकीय मुद्राओं से कीत होने के लिए नहीं हूँ
4. कविता का कुछ मूल्य है, तभी तो सम्मान काफी है।
5. मातुल का तीसरा नेत्र हर समय खुला रहता है।
6. अवसर किसी की प्रतीक्षा नहीं करता ।
7. सभी विपरीत एक दुसरे के बहुत निकट पड़ते हैं।

नोट

स्व-मूल्यांकन

सही विकल्प चुनिए–

1. आषाढ़ का एक दिन की भाषा–
   (क) नीरस है (ख) काव्यात्मक है (ग) संस्कृतनिष्ठ है
2. 'विलोम क्या है? एक असफल कालिदास और कालिदास? एक सफल विलोम– नाटक में यह संवाद किसने कहे हैं।
   (क) विलोम (ख) कालिदास (ग) मल्लिका
3. मैंने भावना में एक भावना का वरण किया है– नाटक में यह पंक्तियाँ किसके द्वारा कही गई हैं–
   (क) अंबिका (ख) मल्लिका (ग) कालिदास
4. 'हम जिएँगे हरिणशावक, हमारा शरीर कोमल है तो क्या हुआ। हम पीड़ा सह सकते हैं। एक बाण प्राण ले सकता है तो उँगलियों का कोमल स्पर्श प्राण दे भी सकता है– नाटक में यह संवाद किसके द्वारा कहा गया है–
   (क) निक्षेप (ख) विलोम (ग) कालिदास

इस प्रकार की अन्य उक्तियाँ या सूक्तियाँ भी नाटक में देखी जा सकती हैं। इनके और इन जैसे प्रयोगों ने नाट्य भाषा को और भी अधिक सजीवता प्रदान कर दी है। नाटककार ने ऐतिहासिक पात्रों और परिवेश का ध्यान रखते हुए कुछ ऐसे शब्द भी प्रयुक्त किये हैं, जिनका चलन आज प्राय: नहीं होता। जैसा–उल्मुक, तल्य, आस्तरण, अंशुक, प्रकोष्ठ, उपवेशगृह, अग्निकोष्ठ इत्यादि। कहीं-कहीं कुछ प्रचलित मुहावरों के प्रयोग ने भी भाषायी सौष्ठव के परिवर्धन में यथेष्ठ यहायता पहुंचाई है। नाटक रचना, निष्णात होना, तिल-तिलकर गलना, आँखें गीली होना, ओंठ फड़फड़ना आदि इसी प्रकार के मुहावरे हैं जो नाटक में कहीं-कहीं प्रयुक्त हुए हैं। तात्पर्य यह है कि 'आषढ़ का एक दिन' नाटक की भाषा सभी दृष्टियों से विशुद्ध नाटकीय आयाम में ढली हुई है।

27.2 सारांश

आधुनिक यथार्थवादी या समस्या-प्रधान नाटकों में प्राय: दो प्रकार के सम्वादों की योजना की जाती है। एक– सम्पूर्ण संवाद, इस प्रकार के संवादों में अभिनेयता की पूर्णता तो रहती ही है, अभिनेता अपनी बात कहने के लिए अनेक शब्दों और पूर्ण वाक्यों का प्रयोग करता है। उनमें असंबद्धता, अस्पष्टता और अधूरापन आभासित नहीं होता। संवादों का दूसरा प्रकार है– अपूर्ण या सांकेतिक संवाद। इस प्रकार के संवादों की योजना प्राय: असन्तुलित एवं अव्यक्त मन:स्थितियों की अभिव्यक्ति के लिए या फिर असन्तुलित पात्रों के व्यवहारों के द्योतन के लिए, अथवा भावावेश की स्थातियों के रूपायन के लिए ही प्राय: किया जाता है। इस प्रकार की संवाद-योजनाओं में सांकेतिकता के अभिधान के लिए नाटककार या तो डैशों का प्रयोग करता है, या फिर व्याख्या-बिन्दुओं का। इस प्रकार की संवाद योजना अक्सर संक्षिप्त, कभी-कभी एक शब्द मात्र ही हो जाती है। भावावेश के क्षणों में कभी-कभी इस प्रकार के संवाद लम्बे भी हो जाते हैं। संवादों का एक अन्य प्रकार भी माना जाता है, जिसे काव्यात्मक संवाद कहते हैं। नाटककार प्रसाद के बाद इस प्रकार के संवाद लिखने में सर्वाधिक सफलता मोहन राकेश को ही मिल सकी है और वह भी कहीं अन्यत्र नहीं, बल्कि 'आषाढ़ का एक दिन' में ही। वास्तव में नाटक का आरंभ ही काव्यात्मक संवाद से हुआ है यथा–

मल्लिका– नील कमल की तरह कोमल और आर्द्र, वायु की तरह हल्का और स्वप्न की तरह चित्रमय! मैं चाहती थी उसे अपने में भर लूँ और आँखें मूँद लूँ।

आषाढ़ का एक दिन के भाषा-शिल्प पर विचार करते समय यह ध्यान रखना आवश्यक है कि इसके वस्तु-विधान और कथ्य का सम्बन्ध प्रत्यक्षत: अतीत में जिए एक ऐसे पात्र से है जो एक प्रतिभावान, सरस और समृद्ध कवि था। उसका अन्त: जीवन काव्यमय था। उसके साथ जुड़ी नाटक की नायिका भी भावनामयी होने की कारण स्वभावत: काव्यमयी थी, वह नायक की अन्त: प्रेरणाओं का मूल स्रोत थी। अत: नाटक की भाषा में काव्यमयता

नोट

का आ जाना एक सहज स्वाभाविक बात ही कही जाएगी। मोहन राकेश ने इस नाटक में सर्वत्र काव्यमयी अलंकृत भाषा का ही प्रयोग किया है। वास्तव में जिन पात्रों का सम्बन्ध भावना और भावुकता से अधिक है, उन्हीं की संवाद-योजना में इस प्रकार की भाषा का प्रयोग किया गया है। अन्य सामान्य पात्र जो भाषा व्यवहृत करते हैं। उसे हम एकदम सहज, सरल और स्वाभाविक भाषा कह सकते हैं। इस प्रकार के भाषायी प्रयोगों में एक स्वाभाविक तारतम्य एवं प्रवाह है। कथानक की ऐतिहासिकता भी उस की राह में कही बाधक नहीं बनी।

27.3 शब्दकोश

1. **प्रकोष्ठ–** महल के सदर फाटक के पास का कमरा, इमारतों से घिर हुआ रहना।
2. **अंशुक–** दुपट्टा, थोड़ा प्रकाश

27.4 अभ्यास-प्रश्न

1. अषाढ़ का एक दिन नाटक की भाषा-शैली– एवं संवाद-योजना पर प्रकाश डालिए।

उत्तरः स्व-मूल्यांकन

1. (ख) 2. (क) 3. (ख) 4. (ग)

27.5 संदर्भ पुस्तकें

पुस्तकें

1. *आषाढ़ का एक दिनः* मोहन राकेश– राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली।
2. *मोहन राकेश का साहित्य*– शरेशचन्द्र चुलकीमठ, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली।
3. *हिंदी नाटक*–रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली।

नोट

इकाई 28: आषाढ़ का एक दिन: तात्त्विक समीक्षा

अनुक्रमणिका

उद्देश्य

प्रस्तावना

28.1 आषाढ़ का एक दिन: तात्त्विक विवेचन

28.1.1 वस्तु-योजना

28.1.2 पात्र या चरित्र-चित्रण

28.1.3 कथोपकथन या संवाद

28.1.4 देशकाल-वातावरण

28.1.5 भाषा शैली

28.1.6 उद्देश्य और संदेश

28.1.7 रंगमंच और अभिनेयता

28.2 सारांश

28.3 शब्दकोश

28.3 अभ्यास-प्रश्न

28.4 संदर्भ पुस्तकें

उद्देश्य

विद्यार्थी इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् सक्षम होंगे–

- 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक की तात्त्विक समीक्षा से परिचित होंगे।

प्रस्तावना

आधुनिक नाटकों का स्वरूप परम्परागत नाट्य-परम्परा से एकदम हटकर है। नाटक इस दृष्टि से आज परम्परागत आधारों पर नाटकों के विवेचन-विश्लेषण का कोई औचित्य नहीं रह गया। इस प्रकार नाटक पहले रस एवं किसी विशिष्ट उद्देश्यों को सामने रखकर रचे जाते थे। 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक में जिस प्रकार के और जिस ढंग से कथ्य-कथानक की योजना की गई है, पात्रों की योजना और उनके चरित्र-चित्रण किये गये हैं, उन सब में परम्परा का निर्वाह किसी भी रूप में नहीं हुआ है बल्कि एक नव्य प्रक्रिया और प्रणाली ही नाटककार ने अपनाई है। इन स्थितियों में परम्परागत दृष्टियों और आधुनिक दृष्टियों से नाटक के जो क्रमशः तीन, छः या सात तत्त्व स्वीकार किए गये हैं, उनकी कसौटी पर 'आषाढ़ का एक दिन' या आज के किसी नाटक को परखने कोई अर्थ नहीं है। फिर भी विशुद्ध अकादमिक स्तर पर भी नाटकों अथवा साहित्य के अन्य विधात्मक रूपों के तात्त्विक विवेचनों की परम्परा विद्यमान है। इस दृष्टि से कृति का मूल्यांकन यहाँ प्रस्तुत है।

28.1 आषाढ़ का एक दिनः तात्त्विक विवेचन

नोट

नाटक मूलतः कथात्मक साहित्य का एक दृश्य विधानात्मक विधा और स्वरूप है। कथात्मक साहित्य के अंतर्गत आने वाले विधात्मक रूपों के आधुनिक परिप्रेक्ष्यों में मूख्यतः छः तत्त्व स्वीकार किये जाते हैं। पर जहां तक कथात्मक-साहित्य के इस दृश्य-स्वरूप या विधा का प्रश्न है, दृश्यमयता के कारण इसके क्रमशः सात तत्त्व स्वीकार किय जाते हैं। यहाँ 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक के तात्त्विक विवेचन के लिए नाटक के सात मुख्य तत्त्व स्वीकार किए गए हैं। क्रमशः उन तत्त्वों के नाम हैं– 1. वस्तु योजना, कथात्मक या कथा वस्तु 2. पात्र और चरित्र-चित्रण 3. कथापकथन या सम्वाद 4. देशकाल और वातावरण 5. भाषा- शिल्प 6. उद्देश्य एवं सन्देश और 7. रंग-मंच एवं अभिनेयता। जब हम इन तत्त्वों की कसौटियों पर 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक को कसते हैं, तो निम्नलिखित तथ्य हमारे सामने आते हैं।

28.1.1 वस्तु योजना

इसे कथानक और कथावस्तु के नाम से भी अभिहित किया जाता है। नाटक की वस्तु-योजना आधिकारिक दृष्टियों से इतिहास संयत होते हुए भी विशुद्ध ऐतिहासिक नहीं बल्कि कल्पना-प्रधान ऐतिहासिक है। क्योंकि नाटककार ने कथानक के नायक कालिदास को युग-युगों की सृजन चेतना का प्रतीक मानकर उसका चित्रण किया है। अतः वस्तु-विन्यास एवं विकास में आधुनिक बल्कि यथार्थ युग-बोध अधिक समन्वित एवं संयत हो पाया है। वस्तु-विन्यास और विकास के लिए नाटककार ने कालिदास के सम्बन्ध में प्रचलित मान्य किंवदन्तियों, लोक-कथाओं और ऐतिहासिक अनुमानों का सहारा ही अधिक लिया है, इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता। इस दृष्टि से कथा-नायक कालिदास जहां युग-युगों की सृजन-प्रतिभा का प्रतीक बनकर हमारे सामने आया है, वहां कथा-नायिका भी एक प्रकार से युग-युगों की समर्पिता प्रेमिका और नारी के रूप में ही हमारे सामने चित्रित हो पाई हैं। कुल मिलाकर 'आषाढ़ का एक दिन' की वस्तु-योजना उपेक्षा एवं अपमान सहते हुए ग्राम-प्रांत में स्थानीय कवि के रूप में रहने वाले कालिदास के अपने काव्य 'ऋतु संहार' के बल पर मल्लिका के पास से राज्य कवि बन कर जाने और फिर अपनी वास्तविक भूमि की खोज में उसके पास लौटकर वापस आने पर समय के प्रभावों को लक्षित करके किसी अज्ञात दिशा में मल्लिका के पास से चले जाने तक की ही है। इसी को ही नाटककार ने ऐतिहासिक पर्यावरणों में युगीन सन्दर्भों में रूपायित एवं-हृदय रूप में प्रस्तुत किया है।

क्या आप जानते हैं

'लहरों के राजहंस' ऐतिहासिक आधार लेकर लिखा गया मोहन राकेश का दूसरा महत्त्वपूर्ण नाटक है।

वस्तु-विवेचन करने से पहले संक्षेप में और क्रम से उसके विन्यास को देख लेना उचित रहेगा। अत्यन्त संक्षिप्तक्रम में इसका रूप इस प्रकार है–किसी अनजाने पर्वतीय प्रदेश से, सदियों में पहले या अनजाने काल में, पहाड़ी प्रकृति की गोद में बसे किसी गांव में कालिदास नामक एक व्यक्ति का जन्म हुआ। यह जन्म से ही कवि प्रतिभा से संयत था! पर शैशवी सुकुमार क्षणों में ही वह अपने माता-पिता के स्नेह-लालच से वंचित हो गया। उसके पशु-पालक मामा ने अत्यधिक उपेक्षा, अवमानना की छाया में उसका लालन-पालन किया। उसे पशुपालक बनाना चाहा, पर उसकी सहजात काव्य-प्रतिभा उसे पर्वतीय प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण में विचरण करते रहने के लिए विवश करती रही। परिणामतः घर परिवार और ग्राम्य समाज की ओर से उसे आवारा समझा जाने लगा! पर गांव की एक बालिका जो बचपन से ही उसके साथ खेल कूद कर बड़ी हुई थी, यौवन-काल में मल्लिका के रूपों में उसकी काव्य-प्रतिभा से, उसके समूचे व्यक्तित्व से प्रेम करती रही। उसकी प्रतिभा को सम्मान की वस्तु समझती रही। अपनी माता अम्बिका के अनवरत विरोध के वावजूद मल्लिका किसी भी लोकापवाद की चिंता किए बिना आंतरिक भावना के स्तर पर कालिदास से प्रेम करती रही। उसी के स्नेह-प्रेम की छाया में प्रकृति और उसकी अनवरत प्रेरणाओं से कालिदास ने 'ऋतु संहार' नामक काव्य रचा। जिस प्रकार भी 'ऋतु संहार' उज्जयिनी के राज-दरबार में पहुंचा!

नोट

यहां सभी उससे अत्यधिक प्रभावित हुए। उज्जयिनी सम्राट ने कालिदास को बुलवाकर राज-कवि के सम्मानित पद पर प्रतिष्ठित किया। मल्लिका की आंतरिक प्रेरणा और आग्रह से उज्जयिनी पहुंच कर कालिदास ने मान-सम्मान, धन-वैभव और यश सभी कुछ प्राप्त कर लिया। विदुषी राजपुत्री प्रियंगु मंजरी से उसका विवाह भी हो गया, पर स्यात् कालिदास मानसिक सन्तोष और शान्ति न पा सका। एक प्रकार से या बाह्य दृष्टियों से अपने विगत जीवन को एकदम भुलाकर कालिदास अपने वर्तमान में ही रम गया, फिर भी वह अशान्त रहा, असन्तुष्ट रहा।

अपने उखड़े और भटके मन की शान्ति के लिए अब उसने अपना रुख राजनीति की ओर किया। वह मातृगुप्त के नाम से काश्मीर का शासक बन कर काश्मीर गया। पर स्वभावत: राजनीतिज्ञ न होने के कारण वह अपने-आपको राजनीतिक-क्षेत्रों में भी जमा न सका। उज्जयिनी-सम्राट का निधन हो गया। काश्मीर की प्रजा ने विद्रोह कर दिया और उसे संभाल पाने में असमर्थ होकर कालिदास वहाँ से भाग खड़ा हुआ। उधर उसकी अनवरत प्रतीक्षा और नितान्त उपेक्षा से टूट कर बेचारी मल्लिका ने जीवन जीने और शरीर को बनाये रखने की विवशता से बाध्य होकर कालिदास के प्रतिद्वंद्वी और अपने लिए घृणा के साकार रूप विलोम को अपना समर्पण कर दिया। उसकी माँ का भी रोग-शय्या पर एड़ियाँ रगड़-रगड़ कर स्वर्गवास हो गया। अपने घर में अब मल्लिका ने अम्बिका का और मल्लिका का स्थान उसे विलोम से प्राप्त बच्ची ने ले लिया था! काश्मीर से भाग कर वर्षों बाद कालिदास अपनी मूल भूमि से पुन: जुड़ने की साध लेकर, एक नये आषाढ़ की पहली वर्षा में भीगता हुआ, भागता हुआ अपने गाँव, मल्लिका के घर पहुँचा। वह जीवन को 'नये अर्थ' से आरम्भ करना चाहिता था, पर जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, तब तक वहाँ की परिस्थितियों में आमूल-मूल परिवर्तन आ चुका था। अपने-आप से, अपनी अनवरत परिस्थितियों और उनकी मार से असन्तुष्ट, असन्तुलित कालिदास उस परिवर्तन को सहन न कर सका। उसके लिए तिल-तिल टूट और बिखर कर भी मल्लिका ने जिस आन्तरिक भावना को सहेज रखा था, उसका कोई मूल्य नहीं था। उसकी स्थिति को बिना सुने-समझे कालिदास आषाढ़ी वर्षा में जैसे भीगता-भागता आया था, उसी प्रकार वह सदा के लिए जाने कहाँ पलायन कर गया। अन्तिम बार उसे पुकार कर, पर अन्त में परिस्थितियों के कारण आ गये जीवन के विवश वर्तमान यथार्थ को, अपनी बच्ची को चूमकर अपने सीने से और अधिक सटा कर रह गया! इसी कोण पर वस्तु-योजना का पर्यवसान हो जाता है।

इसी कथानक को नाटककार ने एक सफल नाटकीय परिवेश एवं दृश्य स्वरूप प्रदान किया है। तीन-अंकों में वस्तु का विभाजन किया गया है। उसका विस्तार और व्यापकता को बड़ा ही तीव्र विकास का आयाम प्राप्त हुआ है! नाटककार ने वस्तु-योजना की सूच्य-विद्या को भी अपनाया है। उसी के माध्यम से ग्राम-प्रान्तर में उसकी अनवरत प्रतीक्षा में बैठी मल्लिका को कालिदास को समस्त गतिविधियों एवं नव्य क्रिया-कलापों की सूचना मिलती रहती है। उज्जयिनी पहुँच कर कालिदास ने प्रियंगु मंजरी से विवाह किया, अनेक नये काव्य रचे, फिर काश्मीर का शासक बना और फिर वहाँ से भाग भी आया—इन सब बातों को वस्तु के अन्तराल में सूच्य रूप में सुघड़ता से संजोया एवं पिरोया गया है। इसी कारण नाटक में वर्णित कल्पित एवं अनुमानित तथ्य भी पूर्ण विश्वसनीय एवं ऐतिहासिक बन गए हैं। जहाँ तक वस्तु-विकास का प्रश्न है, वह सब विश्वसनीय, सीधे, सरल और द्रुत रूप में खड़ा हुआ है। बीच में सहायक या उप-वस्तुओं तथा दार्शनिक चर्चाओं की किसी भी प्रकार की बोझिलता भी नहीं है! परिणामत: प्रत्येक प्रकार का प्रेक्षक एवं पाठक सहज ही उसकी अन्त:सलिला की गहराई नाप पाने में समर्थ हो जाता है। वस्तु-विधान के बीच में दन्तुल, रंगिनी-संगिनी, अनुस्वार-अनुनासिक जैसे पात्रों की योजना से एक विशेष-प्रकार की वक्र भंगिमा तो आ ही गई है, नाटकीयता को भी प्रश्रय मिला है और मनोरंजक तत्त्वों का समावेश भी हो गया है। वस्तु-विधान में स्थायी प्रभाव छोड़ जाने वाले मार्मिक स्थल भी अनेक हैं। सभी पात्रों और उनके क्रिया-कलापों की योजना मूलत: कालिदास के आस-पास ही परिभ्रमित होती दिखाई गई है। अत: कालिदास को युग-युगों की सृजनात्मक चेतना का प्रतीक मान कर नाटककार जो कुछ भी कहना चाहता था, वह सब सुघड़ता से कह एवं सम्प्रेषित कर पाया है।

नाटकीय वस्तु-योजना में संकलन त्रय का विशेष महत्त्व माना जाता है। 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक में स्थान, समय और कार्य-संकलनत्रयता के इन तीन तत्त्वों में से 'समय' की रक्षा तो संभव नहीं हो सकी, ऐतिहासिक नाटकों

नोट

में हुआ भी नहीं करती; पर स्थान और कार्य की एकता ने इस कमी का कहीं भी अनुभव नहीं होने दिया। इसी कारण वस्तु-विधान के आदि, मध्य, अन्त को समझने, उसे समेटने में किसी भी प्रकार की कमी की अनुभूति नहीं होती। एक स्वाभाविक जिज्ञासा, उत्सुकता, कौतूहल आदि आद्यान्त प्रेक्षकों-पाठकों के मन में बने रहते हैं। यही सब वस्तु-विधान को सहज ही अभिनेय बना देते हैं। कालिदास और मल्लिका के प्रेम-सम्बन्धों को भी बड़ा ही सन्तुलित एवं सुव्यवस्थित आदान-प्रदान किया गया है। नाटकीय दृष्टियों से कार्य-व्यापार सभी कुछ अत्यधिक सुसंगठित एवं सुनियोजित है। त्रासदीय तत्त्वों की योजना बड़े ही भव्य एवं ऊर्जस्वित रूप में हो सकी है।

नाटक की वस्तु-योजना में कुछ भी प्रामाणिक नहीं है, पर नाटककार ने उस सब को कालिदास के साथ इतनी सूक्ष्मता एवं कलात्मकता से अनुस्यूत किया है कि सभी कुछ प्रामाणिक एवं ऐतिहासिक बन गया है।

अतः कुल मिला कर सभी दृष्टियों से 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक की वस्तु-योजना को सफल, सार्थक, प्रभावी एवं सम्प्रेषणीय ही कहा जाएगा।

28.1.2 पात्र और चरित्र-चित्रण

कथानक और उससे सम्बन्धित घटनाओं की सृष्टि पात्रों के द्वारा ही हुआ करती है। इस प्रकार यदि पात्र होंगे तो उनका चरित्र-चित्रण भी अनिवार्यतः होगा। नाटककार राकेश चूँकि कालिदास को सर्जनात्मक प्रतिभा का प्रतीक मान कर चला है। एक सर्जक को किस प्रकार की स्थितियों और अन्तर्द्वन्द्वों से गुजरना पड़ता है, यही सब चित्रण करना उसका उद्देश्य रहा है। इस दृष्टि से नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' को हम चरित्र-प्रधान कह सकते हैं। कालिदास मुख्य है, अन्य पात्रों की योजना उसी को बनता-बिगड़ता दिखाने के लिए की गई है, यह अलग बात है कि उसके बनने-बिगड़ने के प्रभाव से उसकी निकटतम मल्लिका की टूटन अंकित हो गई है। इसके साथ-साथ विलोम जैसे प्रतिद्वन्द्वी पात्रों का भी परिवेशगत सशक्त चित्रण हो गया है। कालिदास के नायक होते हुए भी वास्तव में नाटक में मल्लिका और विलोम छाये हुए दिखाई देते हैं। पर वास्तविकता यह है कि इनकी छाया बाह्य मात्र है जबकि इनकी छाया का आन्तरिक कारण भी कालिदास ही है। पात्रों के चारित्रिक उभारों में प्रत्यक्षतः न सही, परोक्षतः अवश्य ही कहीं न कहीं नियतिवादी चेतना काम करती हुई दिखाई देती है। तभी तो कालिदास, मल्लिका और विलोम जैसे पात्र अपने अभीप्सित पाकर भी नहीं प्राप्त कर पाते। सभी की नियति उन्हें जीवन की विडम्बनाएँ ही दे पाती है।

नाटक के कथानकीय पर्यावरण में पात्रों की योजना काव्य को ध्यान में रखकर उसकी आवश्यकताओं के अनुरूप की गई है। जिन विडम्बनाओं को नाटककार चित्रित करना चाहता है, सभी पात्र पारस्परिक अन्तः सम्बद्ध होकर उन्हें उभार देने में पूर्ण सफल हुए हैं। पात्र-योजना में नाटककार ने रंगमंचीय आवश्यकताओं और अभिनेयताओं का भी पूर्णतया ध्यान रखा है। नाटककार का जो मन्तव्य है, उसकी अभिव्यक्ति एवं सम्प्रेषण भी पात्रों के चरित्रों के माध्यम से सफला के साथ हुआ है। नाटककार ने पात्रों का चरित्र-चित्रण करने के लिए बीच-बीच में जो अनेक प्रकार के सशक्त रंग-संकेत दिये हैं, वे काफी प्रभावी एवं स्थिति के सर्वथा अनुकूल है। उनसे पात्रों की प्रवृत्तियों एवं अन्तः योजनाओं का आभास भी मिल जाता है। नाटककार ने विविध प्रकार के पात्रों की योजना कुछ इस प्रकार से की है कि एक समूचे युग का स्पष्ट और सशक्त प्रतिनिधित्व हो जाता है! यों 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक के पात्र व्यक्ति अधिक है, फिर भी वे वर्ग-रूपों को उजागर करने में सफल हुए हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। पात्रों का अन्तर्द्वन्द्व भी पूर्णतया और सफलता के साथ रूपायित हो पाया है। कालिदास आरंभ से ही द्वन्द्वग्रस्त व्यक्ति दिखाया गया है। मल्लिका के मन में पहले कोई द्वन्द्व न होकर अगाध विश्वास की भावना दिखाई गई है, पर कालिदास के जाने के बाद उसकी चेतना भी सामान्यतः द्वन्द्वग्रस्त हो जाती है। अम्बिका की मनः चेतना भी द्वन्द्वमय है, जबकि विलोम के बारे में नाटककार का विचार है कि वह अपना द्वन्द्व पी चुका है। लेकिन कम से कम कालिदास के उज्जयिनी न चले जाने तक वह भी न्यूनाधिक रूप से द्वन्द्वग्रस्त अवश्य रहता है। तभी तो वह बारम्बार

नोट

कालिदास-मल्लिका के विवाह का प्रश्न उठाता है। निपेक्ष भी आरम्भ में गांव के एक सहज सहानुभूतियों से संयत सरल युवक के रूप में हमारे सामने आता है, पर दूसरे अंक में उसकी चेतना में भी कालिदास को लेकर एक प्रकार का संघर्ष छिड़ जाता है, जिसे मल्लिका के सामने वह अभिव्यंजित भी करता है। इस प्रकार पात्रों के व्यक्तित्वों एवं चरित्रों को उभारने के लिए नाटककार ने मनोद्वन्द्व का यथेष्ठ आश्रय लिया है।

नाटक में पात्रों की संख्या भी निश्चित एवं सुनियोजित है। कथानक की आवश्यकता को ध्यान में रखकर ही उनका उचित नियोजन किया गया है। कालिदास और मल्लिका नाटक के मुख्य पात्र अर्थात् नायक और नायिका हैं। अम्बिका, मातुल, निक्षेप आदि प्रमुख सहायक पात्र हैं। विलोम प्रतिनायक या खलनायक है। शेष पात्रों में से प्रियंगु मंजरी और दन्तुल भी सहायकों की कोटि में आते हैं। रंगिनी-संगिनी, अनुस्वार, अनुनासिक सामान्य कोटि के पर सप्रयोजन योजित पात्र हैं। चरित्र-चित्रण की दृष्टियों से स्थिर और गतिशील-पात्रों की दो श्रेणियाँ स्वीकार की जाती हैं। इस दृष्टि से हम केवल मल्लिका और निक्षेप को ही गतिशील पात्रों की श्रेणी में रख सकते हैं, क्योंकि अन्ततोगत्वा इन्हीं पात्रों को मान्यताओं और धारणाओं में एक प्रकार का परिवर्तन दिखाई देता है। शेष पात्र आद्यान्त एक से ही बने रहते हैं। यों कालिदास के जीवन में अनेक परिवर्तन आते हैं, पर वे परिवर्तन मात्र बाह्य ही हैं। प्रवृत्यात्मक दृष्टियों से कालिदास आद्यान्त एक जैसा ही बना रहता है। जिस अन्तर्मुखी, अहंवादी और स्वात्मजीवी चेतना से उसके जीवन का आरम्भ होता है, अन्त में उसी सबमें विलीन होकर ही वह कहीं अज्ञात में खो जाता है। बाकी सब पात्र आदि से अन्त तक अन्तः-बाह्य दृष्टियों से अपनी परिवेशगत प्रवृत्तियों और परिस्थितियों से पूर्णतया जुड़े रहते हैं। इस जुड़ाव में ही उनकी चारित्रिक सफलता एवं सार्थकता है।

पात्रों की योजना और चरित्र चित्रण के साथ-साथ नाटक की ऐतिहासिक दृष्टि पर विचार करना भी आवश्यक है। ऐतिहासिक दृष्टि से इस नाटक में कालिदास, मातुल और वररूचि (चर्चा के रूप में आये पात्र) ही विशुद्ध ऐतिहासिक पात्र प्रतीत होते हैं। शेष सभी अनुभागों, किंवदन्तियों और नाटककार की कल्पना की देन है। रंगिनी-संगिनी, अनुस्वार अनुनासिक, निक्षेप, दन्तुल आदि पात्र तो एकदम कल्पित ही कहे जायेंगे। अम्बिका मल्लिका और प्रियंगु मंजरी अनुमानों के आधार पर कल्पित पात्र हैं। इनका आधार किंवदन्तियों को भी माना जा सकता है। विलोम भी नितान्त परिकल्पित पात्र है। उसकी परिकल्पना कालिदास का वैपरीत्य दिखाने के लिए ही की गई है। फिर भी ये कल्पनाएं इतनी सजीव, सूक्ष्म और सार्थक हैं कि सभी कुछ इतिहास ही बनकर रह गया है। इतिहास के फ्रेम में सभी पात्र इस सीमा तक फिट हैं कि उन्हें अनैतिहासिक कह पाना सम्भव प्रतीत नहीं होता। इस सारे विवेचन एवं विश्लेषण के निष्कर्ष स्वरूप हम पात्र-योजना और चरित्र-चित्रण की दृष्टियों से 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक सफल नाटक है उसकी सजीवता और विश्वसनीयता ही इसका मुख्य कारण है।

टास्क 'कालिदास एक असफल प्रेमी है' इस कथन पर टिप्पणी कीजिए।

28.1.3 कथोपकथन या संवाद

नाटक के स्वरूप-विधान और आकार-प्रकार के निर्माण की दृष्टिय से कथोपकथन या संवाद को मूल विधायक तत्त्व स्वीकार किया जाता है। अपनी नाटकीयता के कारण ही संवाद सामान्य प्रकार की बात चीत से अलग पहचाने जाते हैं। अतः नाटकीयता और अभिनेयता की योजना को संवादों का प्रमुख वैशिष्ट्य स्वीकार किया जाता है। इसके अतिरिक्त सम्वादों में मूल नाटकीय कथानक एवं कथ्य के उद्घाटन करने की सहज-स्वाभाविक शक्ति भी होनी चाहिए। जो कुछ भी कथ्य और कथानक के रूप में योजित किया गया है, उसे विकास की सबल गति दिशा प्रदान कर पाने में समर्थ होना भी संवादों का आवश्यक तत्त्व या गुण स्वीकार किया जाता है। संवाद वक्ता पात्रों के अन्तः बाह्य चरित्रों के उद्घाटन में जितने सफल होंगे उतने ही अच्छे एवं प्रभावी माने जाएंगे। चुस्ती, चुटीलापन, संक्षिप्तता, विषय और पात्रों की अनुकूलता, रोचकता भावात्मकता आदि अच्छे संवादों के अन्य महत्त्वपूर्ण गुण स्वीकार किये जाते हैं। एकमात्र और अन्तिम तथ्य यह है कि किसी नाटक में कथानक, चरित्र-चित्रण आदि जो कुछ भी होता

नोट

है, उस सबकी अन्तः योजना और समग्र अभिव्यक्ति संवादों द्वारा ही संभव हुआ करती है। इसी प्रकार सर्जक कलाकार अपने मन्तव्यों और विचारों को भी किसी न किसी पात्र के सम्वादों के माध्यम से ही रूपायित एवं व्यक्त करता है। इससे अलग है, कई बार नाटककार अन्तः कथाओं, सूचनाओं या सूच्य कथाओं को भी संवादों के द्वारा ही अन्तः योजित करता है। नेपथ्य में जो कुछ घटित होता है, उस सब की जानकारी भी संवादों के द्वारा ही प्राप्त हो पाती है! इन्हीं सब तथ्यों के आलोक में संवादों को नाटक का मूल विधायक तत्त्व स्वीकार किया जाता है। अतः उपरोक्त संवादीय तथ्यों के आलोक में ही 'आषाढ़ का एक दिन' के सम्वादों की सफलता असफलता का मूल्यांकन अपेक्षित है।

'आषाढ़ का एक दिन' नाटक के संवादों की प्रमुख विशेषता यह है कि यह काव्यमयता के महत्त्वपूर्ण गुणों से संयत है। इसका प्रमुख कारण है। नाटक का वर्ण्य विषय सम्वादों की योजना करते समय नाटककार ने पात्रों की स्थिति, प्रवृत्ति और स्वभाव को भी पूर्णतया ध्यान में रखा है। अतः उनके अन्तः बाह्य चरित्रों के उद्घाटन में प्रत्यक्षतः भी सम्वाद पूर्णतया सहायक हुए हैं। यहाँ कुछ संवादों का उदाहरण प्रस्तुत है।

मल्लिका : क्यों मां? क्यों तुम्हें इतना पूर्वग्रह है? क्यों तुम उनके सम्बन्ध में उदारतापूर्वक नहीं सोच सकतीं?

अम्बिका : मेरी वह अवस्था बीत चुकी है जब यथार्थ से आंखें मूंद कर जिया जाता है।

(अन्दर जाने लगती है। मल्लिका उठकर खड़ी हो जाती है।)

मल्लिका : और तुम्हारी यथार्थ दृष्टि केवल दोष ही दोष देखती है?

(अम्बिका मुड़कर पल भर उसे देखती रहती है।)

अम्बिका : जहाँ दोष है, वहाँ अवश्य वह दोष देखती रहती है।

मल्लिका : उनमें तुम्हें क्या दोषदि दिखाई देता है?

अम्बिका : वह व्यक्ति आत्म-सीमित है। संसार में अपने सिवा उसे और किसी से मोह नहीं है।

स्पष्ट है कि ये संवाद कालिदास, मल्लिका, अम्बिका–तीन पात्रों का एक साथ चरित्र-चित्रण करने वाले तो हैं ही, वस्तु-विन्यास और विकास में भी पूर्णरूपेण सहायक बनते हैं। अनेक बातों की जो सूचनाएँ संवादों के द्वारा प्राप्त होती है, उनसे कथानक को तो प्रवाह मिलता ही है। मुख्य पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं या गुण दोषों का भी उद्घाटन होता है। कालिदास के प्रियंगु-मंजरी के साथ विवाह वीरांगनाओं से सम्बन्ध, नाटकों के खेले जाने आदि की सूचनाएं नाटक में सम्वादों से ही मिल पाती है। संवादों में संक्षिप्तता, सरसता, रोचकता आदि के गुण भी विद्यमान हैं। कहीं-कहीं तो नाटककार ने तत्त्व और सारगर्भित एक शब्द संवाद के रूप में योजित किया है। पर नाटक के प्रायः प्रत्येक अंक के अन्त में और विशेषकर तीसरे अंक के अन्त में संवाद पर्याप्त लम्बे हो गये हैं। उसे हम आधुनिक नाट्य-शिल्प की अनिवार्यता की देन कह सकते हैं। ऐसे संवादों की अपनी कुछ विशेषतायें भी हैं। जैसे–वे समूचे वस्तु-विधान को एकत्रित कर उसे चरम परिणाम प्रदान करते हैं। वक्ता पात्रों के अन्तर्द्वन्द्व और अन्तर्मन्थन का स्वाभाविक प्रमाण है। उसमें नाटकीयता का पूर्ण समावेश विद्यमान है, अतः किसी भी प्रकार की ऊब या झुंझलाहट नहीं होती।

यों स्वगत-भाषण आधुनिक यथार्थवादी नाट्य-शिल्प में वर्जित माने जाते हैं और उनको अस्वाभाविक मानकर पूर्णतया बहिष्कार कर दिया गया है, पर एक अन्य संशोधित रूप में आधुनिक नाटकों में उनका प्रयोग होने लगा है, 'आषाढ़ का एक दिन' में भी हुआ है। उसे हम अधूराभाषित के परिष्कृत आधुनिक रूप में पात्र की स्वोक्ति कह सकते हैं। 'आषाढ़ का एक दिन में' कई बार इस प्रकार की स्वोक्तियों का प्रयोग हुआ है। दूसरे-तीसरे अंकों में ही विशेषतः मल्लिका की स्वोक्तियों के रूप में यह मिलती है। इनमें और स्वगत भाषण में अन्तर यह है कि स्वगत-भाषण अन्य पात्रों की उपस्थिति में किया जाता है, जबकि स्वोक्ति का प्रयोग पात्र अकेले में करता है। एक उदाहरण देखिए, दूसरे अंक में कालिदास के गांव में आगमन की सूचना मिलने और रंगिणी-संगिनी के आकर लौट जाने के बाद मल्लिका अकेले में कह रही है–

नोट

"आज वर्षों के बाद तुम लौटकर आए हो। सोचती थी कि तुम जाओगे तो उसी तरह मेघ घिरे होंगे, वैसा ही अन्धेरा-सा दिन होगा, वैसे ही एक बार वर्षा में भीगूंगी और तुमसे कहुंगी कि देखो मैने तुम्हारी सब रचानायें आदि पढ़ी हैं।"

और अभिनयात्मक रूप में वह इस प्रकार अपनी मन:स्थितियों की अभिव्यक्ति करती जाती है। इस प्रकार की स्वोक्तियों का संवादों के रूप में प्रयोग आज के नाट्य-शिल्प की अनिवार्य देन और मांग है। पर मुख्यत: नाटक में दो पात्री या अधिक पात्री संवादों की संक्षिप्त सरस, स्वाभाविक, पात्रानुकूल और काव्यमयी योजना ही हो पायी है। इस सब में ही 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक के संवादों की योजना की सफलता और सार्थकता है।

28.1.4 देशकाल-वातावरण

नाटकों के कथानक, कथ्य, पात्रों के चरित्र और साथ जुड़ी अन्य प्रकार की सभी बातों को विश्वसनीय एवं ग्राह्य बनाने के लिए सजीव और सशक्त वातावरण की देशकाल के अनुरूप योजना आवश्यक हुआ करती है। 'आषाढ़ का एक दिन' मूलत: ऐतिहासिक परिवेश और पर्यावरणों वाला नाटक है–यद्यपि इसमें युग बोध भी अनिवार्य तथा अन्त:स्यूत है अत: नाटककार ने इसमें पात्रों के स्वरूप-विधान, उनके अन्त:बाह्य विधान, गतिविधियों और संवाद-योजना आदि में प्रमुखत: ऐतिहासिक परिवेश का पूर्णतया ध्यान रखा है–यद्यपि हम उस सबसे मिलते-जुलते तत्त्व आज के ग्राम्य एवं नगरीय जीवन की विडम्बनाओं में भी सहज ही खोज सकते हैं। राकेश में कथ्य-कथानक के अनुरूप सजीव वातावरण–सृष्टि की अद्‌भुत क्षमता विद्यमान थी जिसका प्रमाण 'आषाढ़ का एक दिन' समेत सभी नाटकों में मिल जाता है।

वातावरण-सृष्टि के देश-काल के अनुरूप मुख्य दो रूप या अंग हुआ करते हैं–एक बाह्य और दूसरा आन्तरिक! बाह्य का सम्बन्ध प्रकृति भूगोल और सामाजिक या परिवेशगत आचार-विचारों के साथ रहा करता है, जबकि आन्तरिक का पात्रों की चरित्रगत प्रवृत्तियों, मनोद्वन्द्वों और रुचियों आदि के साथ। नाटककार ने बाह्य वातावरण-सृष्टि के बहुत सारे निर्देश तो नाटक में नए संकेतों के रूप में चित्रित कर दिये हैं और कुछ का पता हमें पात्रों के संवादों के द्वारा चल जाता है। जैसे कि नाटक के आरम्भ में ही नाटककार लिखता है–

"पर्दा उठने से पूर्व हल्का-हल्का मेघ गर्जन और वर्षा का शब्द, जो पर्दा उठने से अनन्तर भी कुछ क्षण चलता रहता है। फिर धीरे-धीरे धीमा पड़कर विलीन हो जाता है।" इसके बाद उसने अम्बिका के घर का जो चित्र प्रस्तुत किया है वह समग्र ग्राम्य-परिवेश को उजाकर करने वाला है। उसमें क्रमश: जो परिवर्तन आता है, वह भी अगले अंकों के वर्णन-ब्यौरों और रंग-संकेतों से स्पष्ट हो जाता है। इसी प्रकार आचार-विचारों और मान्यताओं आदि का ज्ञान पात्रों के संवादों से हो जाता है। प्रकृति और भूगोल का पता भी अनेकश: संवादों से हो जाता है। रंगिनी-संगिनी की मल्लिका से जो बातचीत होती है, उससे परिवेश का काफी ज्ञान होता है। प्रियंगुमंजरी एक स्थान पर अम्बिका से कहती है।

"यहां से बहुत दूर तक की पर्वत श्रृंखलाएं दिखाई देती हैं। ''' कितनी निर्व्याज सुन्दरता है ''' इस सौन्दर्य के सामने जीवन की सुविधाएँ हेय हैं।"

इस प्रकार के अन्य संवाद भी नाटक में खोजे जा सकते हैं कि जो देश-काल के अनुरूप बाह्य वातावरण के अध्ययन में विशेष सहायक हुआ करते हैं। बाकी नाटक के अध्ययन से बहुत सारी ग्राम्य एवं नगरीय रीति-नीतियों तथा अन्यान्य स्थितियों का भी पता चल जाता है। जैसे प्रेम-सम्बन्धों के साथ अपवादों का जुड़ना, विवाह संस्था से संबन्धित नैतिक मान्यताएँ एवं अवधारणाएँ पशुपालक के मुख्य धंधे, धान के मुख्य खाद्य होने, संस्कृत का प्रचार, व्यवसाय, औषधियों, मधु-घृत आदि के प्रयोग। इसी प्रकार नगरीय सभ्यता की चकाचौंध, वहाँ की नैतिकताओं का भाव–जैसे विवाह के बाद भी कालिदास का वार वनिताओं से सम्बन्धित होना, राजकर्मचारियों का दबाव, अहंपूर्ण व्यवहार, अकर्मण्यता, राजनीति और राजभवनों का कृत्रिम जीवन आदि नयी बातों का सम्बन्ध तत्कालीन वातावरण के साथ ही है, जिसका हमें नाटक से स्पष्ट पता चल जाता है। तब साहित्य, कला आदि का अत्यधिक मान था। ग्राम्य जन भी उससे सम्बद्ध और परिचित थे। तात्पर्य यह है कि बाह्य वातावरण के सन्दर्भों में देश-काल के अनुरूप प्राय: सभी बातों से हम सामान्यत: परिचित हो जाते हैं।

नोट

आन्तरिक वातावरण का सम्बन्ध लोगों की अन्तः प्रवृत्तियों के साथ जुड़ा रहा करता है। मनोद्वन्द्वों के रूप में नाटककार ने उसे भी बड़े सजीव रूप से उभारा है। जैसे सामान्यतः ग्राम्य-जन ईर्ष्या-द्वेष से पूरित थे। स्वार्थी भी थे। दूसरों की उन्नति भी उन्हें सह्य नहीं थी। विलोम अम्बिका, मातुल के माध्यम से इन बातों का सहज ही अनुमान हो जाता है। पर निक्षेप जैसे निश्छल युवक भी थे। राज-कर्मचारी एक ओर तो गर्व से ऐंठे हुए थे, जबकि दूसरी ओर उनमें खुशामद और चिरौरी का भाव सीमातीत था। प्रायः युगीन लोगों को अन्तः प्रवृत्तियों की दृष्टियों से स्वच्छन्द एवं स्वेच्छाचारी भी कहा जा सकता है। तभी तो अम्बिका के घर में प्रवेश के लिए या नारी-पुरुषों को पारस्परिक बातचीत के लिए किसी प्रकार की बाधा का सामना नहीं करना पड़ता। तात्पर्य यह है कि आन्तरिक वातावरण की भी एक स्पष्ट झलक नाटक में मिल जाती है। अतः देश-काल और वातावरण सृष्टि की दृष्टियों से भी 'आषाढ़ का एक दिन' को पूर्ण सफल नाटक कहेंगे।

28.1.5 भाषा-शैली

नाटकों में वही भाषा सर्वाधिक श्रेष्ठ मानी जाती है कि जो कुल मिलाकर रंगमंच के सर्वथा उपयुक्त हो। इस दृष्टि से भाषा का सरल और सुबोधगम्य होना अनिवार्य है। अभिनेय होने के कारण नाटकों का सम्बन्ध सभी प्रकार के प्रेक्षकों के साथ जुड़ा रहना चाहिए। ताकि वे उसे हृदयंगम कर सम्प्रेषित तत्त्वों एवं तथ्यों को अधिगृहीत कर सके। 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक का कथ्य, कथानक और पात्र मुख्यतः काव्यमय है। अतः स्वाभाविक काव्यमयता का गुण इसमें स्वतः ही आ गया है फिर भी नाटककार ने आज की यथार्थवादी नाट्य परम्परा का भाषायी दृष्टियों से भी ध्यान रखा है। इस कारण भाषा में पात्रों की स्थिति और स्तर आदि का ध्यान रखा गया है। देश-काल के अनुरूप शब्दों का प्रयोग भी इसमें सार्थक रूप में किया गया है। कथ्य, कथानक और पात्रों के चरित्रों एवं अन्तर्द्वन्द्वों को उभार कर सजीव बना देने में नाटक की भाषा को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। उसमें रोचकता का तत्त्व तो है ही यथा स्थान व्यंग्य विनोद की सहज क्षमता का भी उसने व्यापक परिचय दिया है। कुल मिलाकर हम 'आषाढ़ का एक दिन' की भाषा को सहज स्वाभाविक और साहित्यिक रंगमंच के उपयुक्त भाषा कह सकते हैं। एक उदाहरण से यह बातें पूर्णतया स्पष्ट हो जाती हैं।

प्रियंगु : लगता है यहाँ ग्राम-प्रदेश में रहकर भी तुम्हें साहित्य से बहुत अनुराग है।
(मल्लिका की आंखें झुक जाती है) किसकी रचनाएं हैं ये?

मल्लिका : कालिदास की।

प्रियंगु : (प्रियंगु की भौंहें कुछ संकुचित हो जाती है।) अब वे मातृ-गुप्त के नाम से जाने जाते हैं। यहां भी उनकी रचनाएं मिल जाती है?

मल्लिका : ये प्रतियाँ मैंने उज्जयिनी से आने वाले व्यवसायियों से प्राप्त की है।

समूचे नाटक की वास्तविक भाषा यही है, जबकि भावावेश के क्षणों में कहीं-कहीं अधिक काव्यमयता भी आ गई है। मल्लिका के भाषायी प्रयोगों में ऐसे क्षण विशेष आये हैं। विलोम की भाषा-शैली में व्यंग्य का वैदग्ध्य विशेष उभरा है। तत्सम शब्दों का प्रयोग प्रमुखता के साथ हुआ है। आधुनिक दृष्टि से कुछ अप्रचलित शब्द भी मिलते हैं। जैसे आस्तरण, तथ्य, उल्मुक आदि। भाषा-शैली में मुहावरों के प्रयोग के कारण भी सजीवता का समावेश हुआ है। दो-चार स्थलों पर संस्कृत की उक्तियों का प्रयोग भी हुआ है। अलंकरण की प्रवृत्ति भी कहीं-कहीं भावावेशमयी स्थितियों में दिखाई देती है।

जहाँ तक नाटकीय शैली का प्रश्न है, इसे हम यथार्थवादी परम्परा के कुछ-कुछ समस्या -प्रधान नाटकीय परम्परा का नाटक कह सकते हैं। इसी दृष्टि से मनोभावों के व्यक्तिकरण के लिए अनेक स्थलों पर डैशों और व्याख्या बिन्दुओं का प्रयोग किया गया है। नाट्य-शैली में त्रासदीय तत्त्वों का समावेश आद्यान्त द्रष्टव्य है। अन्त भी त्रासदीय ही कहा जायेगा। तात्पर्य यह है कि आज भाषा-शैली शिल्प की दृष्टियों से हिन्दी-नाटक जिस दिशा में बढ़ रहा है प्रस्तुत नाटक उस सब का एक प्रत्यक्ष दिशा-निर्देशक स्तम्भ है।

नोट

28.1.6 उद्देश्य और संदेश

'आषाढ़ का एक दिन' इतिहास और सामयिक जीवन के यथार्थ-बोध को लेकर रचा गया नाटक है। ऐसे नाटक किसी विशिष्ट भावनात्मक आदर्श को लेकर नहीं चला करते। ऐसे नाटक किसी पूर्व निर्धारित विशिष्ट उद्देश्य को लेकर परिचालित भी नहीं हुआ करते फिर किसी प्रकार का विशेष सन्देश देने की प्रवृत्ति भी ऐसे नाटकों की नहीं हुआ करती। इनका उद्देश्य और सन्देश तो वास्तव में व्यवहार जगत में जो कुछ घटित हो चुका या घटित हो रहा होता है, उसका मात्र बोध करा देना ही हुआ करता है। इन दृष्टियों से जब हम आलोच्य नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' का विवेचन और विश्लेषण करते हैं तो पाते हैं कि नाटककार व्यक्ति की सर्जनात्मक चेतना में परिव्याप्त युग-युगों के द्वन्द्वात्मक संघर्ष को ही यहां मुख्यत: रूपायित करना चाहता है। नाटककार कालिदास को युग-युगों की सृजनात्मक चेतना के द्वन्द्व का प्रतीक मानकर ही चला है। उसने एक अहंनिष्ठ, आत्मजीवी और द्वन्द्वग्रस्त व्यक्ति–पुरुष के हाथों से चिन्ता काल से उत्पीड़ित एवं शोषित होती आ रही नारी का चित्रण यहाँ प्रमुखता के साथ किया है। नाटककार के शब्दों में ही तथ्य की पुष्टि देखिए। अपने दूसरे नाटक 'लहरों के राजहंस' की भूमिका में उसने बड़े ही स्पष्ट शब्दों में कहा है–

"कालिदास मेरे लिए एक व्यक्ति नहीं, हमारी सृजनात्मक शक्तियों का प्रतीक है, नाटक मे वह प्रतीक उस अन्तर्द्वन्द्व को संकेतिक करने के लिए है जो किसी भी काल में सृजनशील प्रतिभा को आन्दोलित करता है। व्यक्ति कालिदास को उस अन्तर्द्वन्द्व से गुजरना पड़ा या नहीं, यह बात गौण है। मुख्य बात यह है कि हर काल में बहुतों को उससे गुजरना पड़ा है। हम भी आज उसमें से गुजर रहे हैं।" इसी प्रकार मल्लिका के बारे में भी उपरोक्त सन्दर्भो में ही नाटककार कहता है–'मल्लिका का चरित्र एक प्रेयसी और प्रेरणा का ही नहीं, भूमि में रोपित उस स्थिर आस्था का भी है जो ऊपर से झुलस कर भी अपने मूल में विरोपित नहीं होती।' इस स्पष्टीकरण से नाटककार का उद्देश्य स्पष्ट हो जाता है। वह द्वन्द्वग्रस्त जीवन के यथार्थ का बोध कराना चाहता है, उसमें उसे निश्चय ही सफलता मिली है।

इसके साथ या ऐसा करते समय सामान्यत: अन्य कुछ प्रश्न भी स्वत: ही नाटक में आ गये हैं। जैसे कलाकार को राज्यव्यवस्था का अंग बनना चाहिए या नहीं। अंग बनकर भी प्रत्यक्ष एवं व्यावहारिक राजनीति में भाग लेना चाहिए अथवा नहीं। कलाकार के प्रति सामाजिकों का दायित्व क्या है या कैसा होना चाहिए। प्रेम के बाद विवाह अनिवार्य है अथवा नहीं। इन प्रश्नों को उठाकर इन सबके बारे में यथार्थ जीवन में जो विद्रुप आ गए हैं, उनको नाटककार ने सशक्त ढंग से उभारा है। उनका यद्यपि कोई समाधान तो नहीं बताया और इस प्रकार कोई प्रत्यक्ष सन्देश भी नहीं दिया तो भी अनुमानत: या परोक्षत: नाटककार यही कहता प्रतीत होता है कि कलाकार को प्रत्यक्ष और व्यावहारिक राजनीति में भाग नहीं लेना चाहिए। विशाल का स्वतंत्र अंग बना रहकर ही वह अपने सृजन की भूमिका निभा सकता है। कलाकार सभी प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति का दायित्व लेना और निभाना चाहिए। प्रेम की स्थिति में यदि विवाह हो ही जाये तो स्वभाविक एवं उपयुक्त हो सकता है। कुल मिलाकर 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक के उद्देश्य एवं सन्देश के बारे में यही कुछ कहा जा सकता है। इन्हीं सन्दर्भों में उसका साफल्य भी अंकित किया जा सकता है।

स्व-मूल्यांकन

सही विकल्प चुनिए–

1. नाटक का नायक किस ऐतिहासिक पात्र का अनुसरण करता है–
   (क) ऋषि वाल्मीकी (ख) कवि चंद्रबरदाई (ग) संस्कृत कवि कालिदास
2. 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक की नायिका कौन है?
   (क) प्रियंगु मंजरी (ख) मल्लिका (ग) अंबिका
3. 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक में नाटककार ने किस परिवेश को उभारा है?
   (क) ग्रामीण जीवन (ख) नगरीय (ग) वन्य जीवन
4. 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक का खलनायक पात्र कौन है?
   (क) निक्षेप (ख) मातुल (ग) विलोम

28.1.7 रंगमंच और अभिनेयता

नोट

आज का नाटक रंगमंच और अभिनेयता की समस्त संभावनाओं को सामने रखकर ही रचा जाता है। इस आलोक में यदि एक वाक्य में हम कुछ कहना चाहें तो कह सकते हैं कि 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक साहित्यिक रंगमंच की समग्र आवश्यकताओं और सम्भावनाओं को ध्यान में रखकर ही लिखा गया है, व्यावसायिक रंगमंच की सभी प्रकार की सफल संभावनाएं भी इसमें विद्यमान हैं। इसका प्रमाण इस बात से मिल जाता है कि आज तक अनेक बार इस नाटक का अभिनय देश-विदेश में, खुले बन्द–सभी प्रकार के रंगमंच पर पूर्ण सफलता के साथ किया जा चुका है। यद्यपि कुछ आलोचकों ने 'आषाढ़ का एक दिन' की भाषा तथा अन्य अनेक दृष्टियों से काव्यमयता का समावेश के कारण इसे सफल रंगमंचीय नाटक न कहने का आग्रह दिखाया है, पर आज तक के अनेक बार के सफलतम मंचन ने उनके कथनों को नितान्त झुठला कर रख दिया है। इसकी काव्यमयता और साहित्यिकता किसी भी प्रकार के प्रेक्षक के लिए बोझिल प्रमाणित नहीं हुई, बल्कि सभी ने मुक्त कण्ठ से उसकी प्रशंसा की है।

नाटक में वस्तु-योजना एकदम सीधी-सपाट और समस्त नाटकीयता के तत्वों से संयत है। किसी भी प्रकार की जटिलता उसमें नहीं है कि जो किसी भी प्रकार के प्रेक्षक के लिए दुर्बोध्य हो सके। वस्तु-विधान के प्रत्येक अन्त:दृश्य की योजना विश्वस्त एवं परिचित-सी प्रतीत होती है। पात्र-योजना यद्यपि ऐतिहासिक है, तो भी सिवाए वेशभूषा के आज की स्थितियों से बाहर कुछ भी प्रतीत या आभासित नहीं होता। पात्रों का मनोद्वन्द्व एवं मनोवैज्ञानिक चरित्रांकन भी सहज और स्वाभाविक है। नाटककार ने रंगमंचीय योजनाओं की सहजता का ध्यान तो रखा ही है, उसके लिए सभी प्रकार के उचित निर्देश भी स्थान-स्थान पर दे दिये हैं। नाटकों में संवाद योजना और उनकी भाषा काव्यमय या साहित्यिक है, पर जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, उससे अभिनय में किसी प्रकार की बाधा नहीं आती, सम्प्रेषण में भी किसी दुरूहता का सामना नहीं करना पड़ता। कहा जा सकता है कि नाटककार सृजन-प्रक्रिया में प्रवृत्त होने से पूर्व से ही इन दिशाओं में सजग एवं सचेष्ट रहा है। इस कारण जटिलता किसी भी रूप में नहीं आ पाई है।

नाटककार राकेश अपने विद्यार्थी-काल से ही रंगमंच और अभिनय के साथ सम्बन्धित रहे हैं। फिर अपने नाटकों के मंचित होने के समय भी वे दिग्दर्शकों के प्राय: साथ ही रहे हैं। आज के यथार्थवादी रंगमंच को उन्होंने निकट से देखा-परखा और अभिनय तत्त्वों की भी निकट पहचान की। इन्हीं सब अनुभवों के आधार पर ही उन्होंने अपने अन्य नाटकों के समान 'आषाढ़ का एक दिन' में भी रंगमंचीयता और अभिनेयता का सब प्रकार से ध्यान रखा है। नाटक में पात्रों की योजना सीमित है। ऐतिहासिक पर्यावरण होते हुए भी उनको और उनके परिवेश की साज-सज्जा जटिल नहीं बल्कि पूर्ण सहज सरल रखी गयी है। अंक चाहे तीन हैं, पर आद्यान्त दृश्य एक ही बना रहता है। क्रमश: उसमें बहुत कम परिवर्तन करना पड़ता है। हास्य, व्यंग्य-विनोद के अंशों का भी पूर्णतया ध्यान रखा गया है। प्रत्येक घटना और उसका प्रस्तुतीकरण समग्रत: सहज एवं सुबोध्य रूप में हुआ है। नाटक में मार्मिक स्थल भी अनेक हैं, जो अपना स्थायी प्रभाव छोड़ पाने की अद्‌भुत क्षमता से संयत है। तात्पर्य यह है कि सामान्यत: रंगोपयोगी नाटकों में जो तत्त्व एवं तथ्य होने चाहिए, 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक मे वे सभी पूर्ण रूप से विद्यमान हैं। अत: इसकी अभिनेयता के सामने किसी भी प्रकार का प्रश्न-चिह्न अंकित नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार उपरोक्त विवेचन-विश्लेषण के आधार पर अन्त में निष्कर्षत: यही कहा जा सकता है कि आधुनिक नाटकों के तत्त्वों की कसौटी पर 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक सभी प्रकार से खरा उतरता है। वास्तव में पूर्ण आधुनिक और यथार्थवादी नाटकों की रचना-प्रक्रिया के बीच की यह एक ऐसी कड़ी है कि जिसने हिन्दी-नाटक की सभी प्रकार की संभावित उन्नतियों और प्रगतियों के द्वार उद्‌घाटत कर दिये।

28.2 सारांश

आधुनिक नाटकों का स्वरूप परम्परागत नाट्य-परम्परा से एकदम हटकर है। नाटक इस दृष्टि से आज परम्परागत आधारों पर नाटकों के विवेचन-विश्लेषण का कोई औचित्य नहीं रह गया। इस प्रकार नाटक पहले रस एवं किसी विशिष्ट उद्देश्यों को सामने रखकर रचे जाते थे। 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक में जिस प्रकार के और जिस ढंग

नोट

से कथ्य-कथानक की योजना की गई है, पात्रों की योजना और उनके चरित्र-चित्रण किये गये हैं, उन सब में परम्परा का निर्वाह किसी भी रूप में नहीं हुआ है बल्कि एक नव्य प्रक्रिया और प्रणाली ही नाटककार ने अपनाई है। नाटक मूलत: कथात्मक साहित्य का एक दृश्य विधानात्मक विधा और स्वरूप है। कथात्मक साहित्य के अंतर्गत आने वाले विधात्मक रूपों के आधुनिक परिप्रेक्ष्यों में मूख्यत: छ: तत्त्व स्वीकार किये जाते हैं। पर जहां तक कथात्मक-साहित्य के इस दृश्य-स्वरूप या विधा का प्रश्न है, दृश्यमयता के कारण इसके क्रमश: सात तत्त्व स्वीकार किय जाते हैं। यहाँ 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक के तात्त्विक विवेचन के लिए नाटक के सात मुख्य तत्त्व स्वीकार किए गए हैं। क्रमश: उन तत्त्वों के नाम हैं– 1. वस्तु योजना, कथात्मक या कथा वस्तु 2. पात्र और चरित्र-चित्रण 3. कथापकथन या सम्वाद 4. देशकाल और वातावरण 5. भाषा- शिल्प 6. उद्देश्य एवं सन्देश और 7. रंग-मंच एवं अभिनेयता। नाटक की वस्तु-योजना आधिकारिक दृष्टियों से इतिहास संयत होते हुए भी विशुद्ध ऐतिहासिक नहीं बल्कि कल्पना-प्रधान ऐतिहासिक है। क्योंकि नाटककार ने कथानक के नायक कालिदास को युग-युगों की सृजन चेतना का प्रतीक मानकर उसका चित्रण किया है। अत: वस्तु-विन्यास एवं विकास में आधुनिक बल्कि यथार्थ युग-बोध अधिक समन्वित एवं संयत हो पाया है। कथानक और उससे सम्बन्धित घटनाओं की सृष्टि पात्रों के द्वारा ही हुआ करती है। इस प्रकार यदि पात्र होंगे तो उनका चरित्र-चित्रण भी अनिवार्यत: होगा। नाटककार राकेश चूँकि कालिदास को सर्जनात्मक प्रतिभा का प्रतीक मान कर चला है। एक सर्जक को किस प्रकार की स्थितियों और अन्तर्द्वन्द्वों से गुजरना पड़ता है, यही सब चित्रण करना उसका उद्देश्य रहा है। इस दृष्टि से नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' को हम चरित्र-प्रधान कह सकते हैं। 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक के संवादों की प्रमुख विशेषता यह है कि यह काव्यमयता के महत्त्वपूर्ण गुणों से संयत है। इसका प्रमुख कारण है। नाटक का वर्ण्य विषय सम्वादों की योजना करते समय नाटककार ने पात्रों की स्थिति, प्रवृत्ति और स्वभाव को भी पूर्णतया ध्यान में रखा है। अत: उनके अन्त: बाह्य चरित्रों के उद्घाटन में प्रत्यक्षत: भी सम्वाद पूर्णतया सहायक हुए हैं। 'आषाढ़ का एक दिन' मूलत: ऐतिहासिक परिवेश और पर्यावरणों वाला नाटक है–यद्यपि इसमें युग बोध भी अनिवार्य तथा अन्त:स्यूत है। नाटक का कथ्य, कथानक और पात्र मुख्यत: काव्यमय है। अत: स्वाभाविक काव्यमयता का गुण इसमें स्वत: ही आ गया है फिर भी नाटककार ने आज की यथार्थवादी नाट्य परम्परा का भाषायी दृष्टियों से भी ध्यान रखा है। इस कारण भाषा में पात्रों की स्थिति और स्तर आदि का ध्यान रखा गया है। कुल मिलाकर हम 'आषाढ़ का एक दिन' की भाषा को सहज स्वाभाविक और साहित्यिक रंगमंच के उपयुक्त भाषा कह सकते हैं। नाटककार कालिदास को युग-युगों की सृजनात्मक चेतना के द्वन्द्व का प्रतीक मानकर ही चला है। उसने एक अहंनिष्ठ, आत्मजीवी और द्वन्द्वग्रस्त व्यक्ति–पुरुष के हाथों से चिन्ता काल से उत्पीड़ित एवं शोषित होती आ रही नारी का चित्रण यहाँ प्रमुखता के साथ किया है। 'आषाढ़ का एक दिन' में भी रंगमंचीयता और अभिनेयता का सब प्रकार से ध्यान रखा है। नाटक में पात्रों की योजना सीमित है। ऐतिहासिक पर्यावरण होते हुए भी उनको और उनके परिवेश की साज-सज्जा जटिल नहीं बल्कि पूर्ण सहज सरल रखी गयी है। आधुनिक नाटकों के तत्त्वों की कसौटी पर 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक सभी प्रकार से खरा उतरता है। वास्तव में पूर्ण आधुनिक और यथार्थवादी नाटकों की रचना-प्रक्रिया के बीच की यह एक ऐसी कड़ी है कि जिसने हिन्दी-नाटक की सभी प्रकार की संभावित उन्नतियों और प्रगतियों के द्वार उद्घाटत कर दिये।

28.3 शब्दकोश

1. **अभीप्सित–** वांछित, अभिलाषा
2. **निर्व्याज–** निर्विहन, छल कपट रहित
3. **स्वागत भाषण–** नाटकों में पात्र जो स्वयं कहता है उसे कोई और नहीं सुनता।

28.4 अभ्यास-प्रश्न

नोट

1. 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक का तात्त्विक विवेचन प्रस्तुत कीजिए।
2. आषाढ़ का एक दिन नाटक के संवादों के वैशिष्ट्य पर एक टिप्पणी कीजिए।
3. नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' का उद्देश्य स्पष्ट कीजिए।

उत्तरः स्व-मूल्यांकन

1. (ग) 2. (ख) 3. (क) 4. (ग)

28.5 संदर्भ पुस्तकें

1. *आषाढ़ का एक दिनः* मोहन राकेश– राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली।
2. *मोहन राकेश का साहित्य*– शरेशचन्द्र चुलकीमठ, किताबघर प्रकाशन, दिल्ली।
3. *हिंदी नाटक*–रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली।

LOVELY PROFESSIONAL UNIVERSITY
Jalandhar-Delhi G.T. Road (NH-1)
Phagwara, Punjab (India)-144411
For Enquiry: +91-1824-300360
Fax.: +91-1824-506111
Email: odl@lpu.co.in